पूर्ण संख्या— २०५

Approved by the Directors of Public Instruction, United Provinces and Central Provinces for use in Schools and Libraries. Reg. No. A. 708.

भाग ३५
VOL. 35.

मेष, संवत् १९८९

संख्या १
No. 1

अप्रैल १९३२

विज्ञान

प्रयागकी विज्ञान परिषत्का मुखपत्र

'VIJNANA' THE HINDI ORGAN OF THE VERNACULAR SCIENTIFIC SOCIETY, ALLAHABAD.

अवैतनिक सम्पादक

ब्रजराज एम. ए., बी. एस-सी., एल-एल. बी.,

सत्यप्रकाश, एम. एस-सी., एफ. आई. सी. एस.

प्रकाशक

वार्षिक मूल्य ३)] विज्ञान परिषत्, प्रयाग [१ प्रतिका मूल्य ।)

विषय-सूची

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥ तै० उ० ।३।५।।

भाग ३५ | मेष, संवत् १९८९ | संख्या १

मध्यवर्ती-संस्थाएं

[श्रीशंकर राव जोशी]

पाश्चात्य देशों और भारतकी अवस्थामें ज़मीन आसमानका अन्तर है। यूरोप अमेरिका आदिमें देहाती बैंकोंको भी काफी पूंजी मिल जाती है। किन्तु भारत के देहातों में पूंजी मुशकिल से जमा की जा सकती है। कारण कि, देहातोंमें सहकारी-समितियां, जिन लोगोंको सहायता पहुँचानेके लिये कायमकी जाती हैं, वे अधिकतर ग़रीब हैं। छोटे छोटे काश्तकारोंको बहुत कम लाभ होता है और अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शलभ आदिके कारण आये दिन अकालका भय बना ही रहता है। प्रतिवर्ष एक न एक आपदा आ ही जाती है, जिससे देहाती जनता, खासकर किसान, कर्जके बोझसे छुटकारा नहीं पा सकते हैं। इसके अलावा कई सामाजिक और धार्मिक रीत रस्मोंको पूरा करनेके लिये भी काश्तकारों पर अनुत्पादक कार्यों में किए हुए कर्ज का बोझ भी बढ़ता जाता है। यही कारण है कि काश्तकार, शिल्पकार आदि को कई वर्षों तक अधिक रुपया उधार देना पड़ता है। अतएव प्राथमिक-समितियों-के पास, कार्य-संचालनके लिये, काफी पूंजी का होना अनिवार्य्य है, जिससे सभासदों को वक्त ज़रूरत, उत्पादक और अनुत्पादक कार्यों के लिये, रुपया उधार दिया जा सके। यही कारण है कि पूंजीके लिहाज़से प्राथमिक समितियोंको स्वतंत्र बनानेका प्रयत्न किया जाना चाहिए। यह उद्देश तभी सिद्ध हो सकता है, जब कि स्थानीय पूंजापतियोंको समितिमें रुपया अमानत रखनेको उत्साहित किया जाय। मध्यवर्ती संस्थाएं यह काम सरलता पूर्वक कर सकती हैं। प्राथमिक-सभाओं को रुपया उधार दिलाना, सभाओंके रुपयोंको ब्याज पर देना, और

सभाओंके कार्य-संचालनपर देखरेख रखना ही मध्यवर्ती-संस्थाओं का काम है।

सन १९०४ में सहकारी-संस्था-कानून बनाया गया, जिसमें मध्यवर्ती-संस्थाओंके लिये कोई योजना नहींकी गई थी। उस वक्त यह सोचा गया था कि नागरिक संस्थाएं अपने सभ्यों की ज़रूरतें रफा करनेके बाद बची हुई पूंजी ग्रामीण-समितियोंको सूद पर देकर उनकी आवश्यकता पूरी करती रहेंगी। कई प्रान्तोंमें कुछ ऐसी संस्थाएं स्थापितकी गईं, जो मध्यवर्ती-संस्थाओं-का काम करती थीं। मध्य-प्रदेश, ब्रह्मदेशमें और मद्रासमें प्राथमिक समितियोंके संघ स्थापित किए गए, जो सम्बद्ध सभाओंके कारोबार पर देखरेख रखते थे। किन्तु अनुभवसे मालूम हुआ कि कानून इन संस्थाओंकी कुछभी सहायता नहीं कर सकता है। अनुभवसे यह भी मालूम हुआ कि प्राथमिक सभाओंको रुपया उधार देने, उनकी पूंजीको सूद पर उठाने, उनके कार्य-संचालन, हिसाब किताब आदि पर नज़र रखने और उन पर अँकुश रखनेके लिये मध्यवर्ती संस्थाओं-को अत्यन्त आवश्यकता है। अतएव सन १९१२ में कानूनमें परिवर्तन किया गया और सहकारी तत्व पर स्थापित एवं सहकारी-संस्थाओंके कारोबारको सरलता पूर्वक चलानेके उद्देशसे कायमकी हुई सभाओंको रजिस्टर करानेका प्रबन्ध कर दिया गया।

ब्रह्मदेशमें मध्यवर्ती संस्थाओं और प्राथमिक सभाओंके बीचमें 'संघों' की सृष्टिकी गई। समितियोंके कारोबार आदि पर देखरेख रखने केलिये ही ये संघ कायम किए गए हैं। किसी स्थानके चार पाँच कोसके इर्द गिर्दकी चार पाँच प्राथमिक सभाओंका एक संघ कायम किया जाता है। सभी सम्बद्ध सभाओं द्वारा चुने हुये सभ्योंकी साधारण-सभा ही इस संघ-का संचालन करती है। संघके हिसाब किताब-को लिखने, सम्बद्ध संस्थाओंके सेक्रेटरीको काम सिखाने और मदद देनेके लिये संघ एक वैतनिक मन्त्री मुकर्रर करता है। सम्बद्ध संस्थाओं के हिसाब किताबकी जाँच करने और उनके कारोबार में सहायता पहुँचानेके लिये संघ एक कमेटी मुकर्रर करता है। संघ यह भी ठहरा देता है कि किस सभाको अधिकसे अधिक कितना रुपया उधार दिया जा सकता है। संघ अपनी जिम्मेदारी पर प्राथमिक सभाओंको कर्ज दिलवाता है। मध्यवर्ती बैंक संघकी जमानत पर इस लिए विश्वास कर लेती है कि प्राथमिक-संस्थाएं उनकी सभासद होती हैं और कानूनसे सभाके कर्जकी जिम्मेदारी संघ परभी आती है। मर्यादित जिम्मेदारी वाली सभाओंकी तरह ये संघ भी रजिस्टर कर लिए जाते हैं। यद्यपि सभाओंके कर्जकी हद मुकर्रर कर दी जाती है, तो भी कई कारणोंसे, मध्यवर्ती बैंक इस हद पर पूरा विश्वास करनेको हिचकते हैं।

बम्बई प्रान्तमें संघ से आबद्ध प्रत्येक सभा प्रति सभासद पीछे एक निश्चित रकम देनेको बाध्य की जाती है। जितनी रकम सभासे संघको प्राप्त होती है, उससे ६ गुनासे अधिक रकम किसी हालतमें सभाको उधार नहीं दी जाती है। अकसर कहा जाता है कि सभाओंका निरीक्षण करने वाले—संघोंका लेन देनके कारोबारमें पड़ना हितकर नहीं है। किन्तु ब्रह्मदेशमें तो लेन देन करने वाले संघोंने अच्छी सफलता प्राप्तकी है।

हमारे मतसे रुपया उधार देने वाले मध्यवर्ती बैंक या प्रान्तिक बैंक यदि सीधे प्राथमिक सभाओं को रुपया उधार देना चाहें, तो सभाओंको एक सूत्रमें बाँधने वाले संघोंका होना अत्यावश्यक है।

संघ स्वयं सभाओंको रुपया उधार नहीं देते हैं। किन्तु सभाओंको कर्ज दिलानेमें अच्छी सहायता पहुँचाते हैं। रुपया उधार देनेका काम तो मध्यवर्ती बैंक ही करते हैं। मध्यवर्ती बैंक तीन प्रकार के होते हैं—१ व्यक्तियों को सभासद बनाने

वाले, २ प्राथमिक सभाओं को सभ्य बनाने वाले और ३ व्यक्तियों और सभाओं को सभासद बनाने वाले मिश्र बैंक।

पहले प्रकारके बैंकोंमें व्यक्ति ही मेम्बर बनाए जाते हैं। इस प्रकारके बैंक और जॉइण्ट स्टाक बैंकोंमें विशेष अन्तर नहीं है। हिस्से खरीदने वाले ही मेम्बर बनाए जाते हैं। जब तक ये बैंक प्राथमिक सभाओं को रुपया उधार देते रहते हैं, तभी तक वे रजिस्टर किए जाते हैं। सभासदोंके अलावा दूसरोंसे लेन देन करनेकी इज़ाज़त नहीं दी जाती है। इस प्रकारके मध्यवर्ती बैंकोंके मुनाफ़ा बाँटने पर अंकुश रखनेकी जरूरत है। कारण कि नफा पाने की वृत्ति को उत्तेजन मिलना अधिक संभव होता है। कुछ विशेषज्ञ इस प्रकारके मध्यवर्ती बैंकोंके खिलाफ भी हैं।

केवल प्राथमिक सभाओंको सभासद बनाने वाली मध्यवर्ती बैंक ही उत्तम मानी जाती हैं। कारण कि ये सभाओंको कर्ज देती—और उनपर देखरेख रखती हैं। प्राथमिक-सभाओंके सभासदोंमें से ही बैंक के कार्य-वाहक चुने जाते हैं, जिससे इनके—कार्य-संचालनमें कम खर्च बैठता है। किन्तु मुशकिल यह है कि अच्छे कार्य-कर्ता कम मिलते हैं। इन बैंकों में एक त्रुटि यह भी है कि मध्यम-वित्त की जनता को अपनी ओर आकर्षित करनेमें ये एकदम असमर्थ है, जिससे गाँव और नगर के बुद्धिमान लोग इनके प्रबन्धमें योग नहीं दे सकते हैं। लोगोंमें सहकारके सिद्धान्तोंका प्रचार करने और स्थानीय पूंजी बैंकमें आकर्षित करनेके लिये मध्यम-वित्तके लोगोंको इस ओर आकर्षित करना अत्यन्त आवश्यक है। इन त्रुटियोंके रहते हुए भी पंजाबमें कई ऐसे बैंक खोले गये हैं। युक्त-प्रान्त, बङ्गाल, बिहार और बम्बईमें ऐसे बैंक अस्तित्वमें हैं।

तीसरे प्रकारके बैंक ही जनताकी आवश्यकताके अधिक अनुकूल हैं। इन बैंकोंमें सहकारी-सभाएं और व्यक्ति सभासद बना लिए जातेहैं। सहकारी सभाओंको बैंकके हिस्से खरीदने होते हैं सभाओं द्वारा निर्वाचित व्यक्ति ही डायरेक्टर मुकर्रर किए जाते हैं और डायरेक्टरोंके बोर्डमें, सभाओं द्वारा निर्वाचित सभ्योंका बहुत मत रखा जाताहै। और इस प्रकार मुनाफ़ेकी बटनी पर पूरा अंकुश रखने का प्रयत्न किया जाता है, जिससे सम्बद्ध समितियोंके हितकी ओर दुर्लक्ष नहीं होने पाता है। व्यक्ति सभासदोंकी संख्या घटाकर और सहकारी सभाओंको अधिक संख्यामें हिस्से बेंचकर इनको सहकारी तत्व पर चलानेका पूरा पूरा प्रयत्न किया जाता है।

मध्यवर्ती बैंकका कार्यक्षेत्र ठहरा दिया जाता है। साधारणतः एक तहसील या ज़िला ही कार्य-प्रदेश नियुक्त किया जाता है। कार्यक्षेत्र बहुत संकुचितभी नहीं रखा जाना चाहिये, कारण कि इससे प्रबन्धका खर्च बहुत अधिक बढ़ जाता है। यदि कार्य-क्षेत्र अधिक विशाल होगा, तो हिसाब किताबकी जाँच, देखरेख आदिका खर्च बहुत अधिक बढ़ जायगा।

मध्य-प्रान्त, बरार, बिहार, बङ्गाल, युक्त-प्रान्त आदि में—मध्यवर्ती बैंक, प्राथमिक-समितियोंका रुपया अमानत रखतेहैं। बङ्गालमें, कुछ थोड़ेसे बैंक छोड़कर शेष सब बैंक दूसरे व तीसरे वर्गके हैं। पञ्जाबमें पहले वर्गके बैंकोंकी संख्या अधिकहै। अजमेर और आसाममें तीसरे वर्गके बैंकही अधिक हैं। कई प्रान्तोंमें मध्यवर्ती बैंक, प्रान्तिक-बैंकोंका काम करतेहैं।

मध्यवर्ती बैंकोंका प्रबन्ध डायरेक्टरोंका बोर्ड करताहै। नियमित समयपर और वक्त जरूरत, बोर्डकी बैठकें होती हैं। बोर्ड सम्बद्ध समितियों की साख और कार्य-प्रणाली ठहरा देता है। अधिकतर प्राथमिक सभाओंके प्रतिनिधिही बोर्डकी बैठकोंमें शरीक होतेहैं। स्थानीय परिस्थिति और सहकारके सिद्धान्त तथा उसकी कार्य-प्रणाली का अच्छा ज्ञान, हरएक डायरेक्टरको होना

चाहिए। कुछ प्रान्तोंमें डायरेक्टरोंके जिम्मे खास खास काम सौंप दिए जाते हैं । वे अपने सिपुर्द किये गए प्रदेशकी सभाओंको प्रबन्ध कार्यमें सहायता पहुँचाते, उनके कार्य-संचालनका निरीक्षण करते, कर्जके लिए आई हुई अर्जियोंकी जाँच परताल करते और बोर्डको रिपोर्ट पेश करते हैं। साधारणतः डायरेक्टर अपने प्रधान को वैतनिक प्रबंधक या सेक्रेटरी की सलाह से काम चलाने का अधिकार दे देते हैं। या अपनेमेंसे वैतनिक सिक्रेट्री मुकर्रर कर देते हैं । जिन बैंकों में वैतनिक सेक्रेटरी नहीं मुकर्रर किये जाते हैं, उनमें सेक्रेटरी को मुनाफे पर प्रति सैकड़ा कुछ बोनस दिया जाता है। किन्तु हिसाब किताब की जांच, दफतर का कामआदि के लिये तो वैतनिक नौकर ही रक्खे जाने चाहिये।

हिस्से बेचकर, रुपया अमानत रखकर, और कर्ज़ लेकर बैंक अपने कारोबारके लिए पूंजी एकत्रित करता है। मध्यवर्ती बैंकोंके हिस्सोंको कीमत १० से ५०० रुपया तक रखी जाती है। व्यक्तियों और प्राथमिक सभाओंके लिए हिस्सों की संख्या ठहरादी जाती है। और मुनाफा तकसीम करते समय भी प्रिफरेंशियल शेअर और साधारण हिस्सोंका विचार किया जाता है।

हिस्सों से सभाकी जिम्मेदारी मर्यादितकी जाने पर सभासदोंको उपनियमोंके अनुसार मत-प्रदान करनेका अधिकार दिया जाता है। जिन बैंकों में सभासदों को खरीदे हुए हिस्सों के अनुसार मत-प्रदान करनेका अधिकार रहता है, उनके लिए यह नियम बनाया गया है, कि इन संस्थाओं का कोई सभासद अधिकसे अधिक एक हजार रुपया से अधिक कोमतके या सभाकी कुल पूंजीके ⅕ भाग से अधिक मूल्यके हिस्से नहीं खरीद सकता है। किन्तु यदि अन्य साधनोंसे काफी पूंजी जमा करलेना मुमकिन न हो, खास हुक्मसे यह हद पाँच हजार रुपया या उससे अधिक ठहरादी जाती है। और तब एक सभासदको एक से अधिक मत देने का अधिकार नहीं रहता है। जिन बैंकों में सभाएं मेम्बर होती हैं, उनके लिए प्रतिनिधि द्वारा मत प्रदान करने का अधिकार दे दिया गया है। मध्यवर्ती बैंकोंके कार्य-संचालनमें प्राथमिक-सभाओंको प्रतिनिधित्व देनेके लिए इस नियमकी आवश्यकता है। ज्यों ज्यों सहकारका प्रचार होता जाय, और प्राथमिक-संस्थाओंके प्रतिनिधि मध्यवर्ती बैंकके कार्य-सञ्चालनमें ज्यादा दिलचस्पी लेने लगें, प्रतिनिधि द्वारा मत देनेका अधिकार धीरे धीरे स्थगित करदिया जाना चाहिए ।

कुछ प्रान्तों में यह नियम है कि प्राथमिक सभाएं मध्यवर्ती बैंकों से जितनी रकम कर्ज़ लेतीहैं, उनको उतनी ही रकम के हिस्से खरीदने पड़ते हैं। यह नियम यूरोपमें भी प्रचलित है। यूरोप और भारतके मध्यवर्ती बैंकोंमें जमीन आसमानका अन्तर है। प्राथमिक संस्थाओंके कोषमें जरूरतसे ज्यादा रकम जमाहो जाने पर, उसको समुचित प्रबंध कर सूद पर उठानेका कामही यूरोपके मध्यवर्ती बैंकों को करना पड़ता है। किन्तु भारतमें मध्यवर्ती बैंकों का मुख्य काम इधर उधरसे पूँजी जमा करके प्राथमिक सभाओंकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करना है। जरमनी आदि कुछ देशोंमें, प्राथमिक सभाएं अपनी पूँजीकी दस प्रतिशतसे अधिक रकम सहकारी सभाओंसे उधार नहीं लेती हैं। अतएव यूरोपका अनुकरण करनेसे भारतीय मध्यवर्ती बैंकोंका काम चल नहीं सकता है । इसके अलावा प्राथमिक सभाओं को अपने हिस्से भरने के लिए मध्यवर्ती बैंकोंसे अधिक रुपया कर्ज़ लेना पड़ेगा।

मध्यवर्ती बैंकोंका कारोबार अधिकांशमें अमानत रखी हुई रकमोंसे ही चलाया जाताहै। अतएव रुपया अमानत रखनेको मियाद मुकर्रर करने, एकत्रित हुए रुपयोंका समुचित प्रबन्ध करने और जिन रकमोंकी मियाद पूरी हो जाय, उनको चुकाने का प्रबन्ध करने की ओर पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए। प्राथमिक-सभाएं मध्यवर्ती बैंकों में छोटी छोटी रकमें अमानत रखती हैं। परन्तु ज्यों ज्यों

सहकार का प्रसार होता जायगा, अकृषिजोवियोंमें सहकारी-सभाओं के प्रति अनुराग बढ़ने लगेगा, और कृषिजीवियोंकी सहकारी-सभाएं अपने पैरों पर खड़ी होने लगेंगी और तब धीरे धीरे अमानत रकमें भी बढ़ने लगेंगी।

मध्यवर्ती बैंकों में चलतूखाते खोले जाते हैं। इन रकमों पर प्रतिशत २-३ सूद भी दिया जाता है। कई सुव्यवस्थित मध्यवर्ती बैंक्कोंमें अमानत रकमों-को चाहे जब चुकानेके लिए खास इन्तजाम किया जाताहै। किन्तु छोटे छोटे बैंक्क इस ओर ध्यान नहीं देते हैं। लोगों में मितव्ययिता के प्रति अनुराग पैदा करने के लिए मध्यवर्ती बैंकोंमें—सेविंगजके खाते खोलना निहायत जरूरी है।

एक वर्षके लिए अमानत रखी जानेवाली रकमों पर प्रतिशत ५ से ७ तक सूद दिया जाता है। एक वर्षसे अधिक मियादके लिए अमानत रखी जाने-वाली रकमों पर कुछ अधिक सूद दिया जाता है। सभासदोंको जिस सालाना सूदकी दर पर रुपया उधार दिया जाता है। उससे कुछ कम सूद पर रुपया अमानत रखा जाता है।

कई सहकारी बैंक जितनी मियादके लिए अमानतें रखती हैं, उससे अधिक लम्बी मियादके लिए रुपया उधार दे देती हैं। ऐसा करना जोखमसे खाली नहीं है। प्राथमिक सभाओंको थोड़ी मियाद-के लिए ही कर्ज दिया जाता है और यदि साल अच्छा निकल गया, तो रुपया जल्द वसूल भी हो जाता है। परन्तु कमसे कम भारतमें तो प्रति तीन सालमें एक और कभी कभी लगातार दो साल खराब निकल जाते हैं। अतएव पाँच छः सालके लिए रुपया उधार देना पड़ता है। और बहुत कम रकमें लम्बी मियादके लिए अमानत रखी जाती हैं। अतएव अधिक व्याजका लालच देकर रुपया खींचना हितकर है। लेकिन जिन प्रान्तोंमें लोग लम्बी मियादके लिए रुपया रखनेमें हिचकिचाते हों, या अमानतों पर ज़्यादा सूद देना पड़ता हो तो, लम्बी मियादके लिए रुपया मिलना बहुत कठिन हो जाता है। बैंकके मैनेजरोंको हमेशा याद रखना चाहिए कि लम्बी मियादका धंधा अपनी निजकी पूँजीसे अधिक रकमका हरगिज नहीं करें। साथ ही यह भी ख़याल रखना चाहिए कि जिस सालमें अमानत रखी हुई जितनी रकमकी मियाद खतम होती हो, उस सालमें उससे अधिक रकम कर्ज दी हुई वसूल आ जानी चाहिए।

अपनी साख कायम रखनेके लिए सहकारी बैंकको काफी रकम ऐसे व्यवसायमें लगाना चाहिए या अन्य कोई प्रबंध करना चाहिए, जिससे साखको धक्का लगनेका अवसर उपस्थित होने या अमानत रखनेवालोंको अपनी रकम वापस माँगने पर रुपया चुकाया जा सके। सहकारी बैंकके लिए इस प्रकारका प्रबन्ध करना अत्यन्त आवश्यक है। कारण कि प्राथमिक सभाओंको लम्बे समयके लिए कर्ज देना होता है और अनिवार्य्य कारणोंसे किश्तों-की अदायगी ठहरी हुई मुद्दत पर नहीं होती है। इसके अलावा सहकारी बैंकोंको प्रामिसरी नोट पर बाजारमें रुपया उधार भी नहीं मिल सकता है। प्रान्तिक बैंकोंकी स्थापनासे यह दिक्कतें कुछ अँशमें दूर हो सकती हैं।

मध्यवर्ती बैंकोंको, चलतू खातों और सेविंग्ज खातोंकी रकमोंको छोड़कर; एक साल तक अमानत खातेमें कुछ भी वसूल न आवेगा और एक साल तक कर्जकी किश्तें भी बिलकुल ही वसूल नहीं आवेंगी, ऐसा समझकर ही, रुपया उधार दिया जाना चाहिए। किन्तु कुछ विशेषज्ञ इसके खिलाफ हैं। उनका कहना है कि ऐसा करनेसे पूरा पूरा आर्थिक लाभ उठाया नहीं जा सकता है। और कर्ज़ दी हुई रकम पर अधिक सूद लेना भी अनिवार्य्य हो जाता है।

बंगाल, युक्तप्रान्त, बम्बई, मद्रास और पञ्जाबके कुछ मध्यवर्ती बैंकोंने, जाइंट स्टाक बैंकों या प्रेसि-डेंसी बैंकोंसे लम्बी मियादके लिए रुपया उधार लिया है। कहीं कहीं सहकारी बैंकोंके प्रामिसरी नोट पर भी रुपया उधार मिल जाता है।

कुछ प्रान्तोंमें मध्यवर्ती बैंक व्यक्तियोंको भी रुपया उधार देते हैं। व्यक्तियोंको रुपया उधार देना और प्राथमिक सभाओंको आवश्यकतानुसार कर्ज देना दो भिन्न कार्य हैं। अतएव दो भिन्न भिन्न संस्थाओंको ही यह काम अलग अलग करना चाहिए।

कई प्रान्तोंमें रजिस्ट्रार द्वारा निश्चित की हुई रकम तक ही प्राथमिक संस्थाओंको कर्ज दिया जाता है। किन्तु मध्यवर्ती बैंक अपने कार्य-क्षेत्रको प्राथमिक सभाओंको कर्ज़ देनेमें स्वतंत्र हैं। हमारे खयालसे ऐसा करना जोखिमसे खाली नहीं है। मध्यवर्ती बैंकोंको यूनियन (संघ) या अपने विश्वस्त एजंटके मार्फत ही प्राथमिक सभाओंको कर्ज देना चाहिए। किस प्राथमिक-सभाको अधिकसे अधिक कितना रुपया कर्ज दिया जाना चाहिए यह केवल सभासदोंकी आर्थिक अवस्था या उनकी उपार्जन शक्तिके अनुसार ही निश्चित नहीं किया जाना चाहिए। कर्ज की हद ठहराते समय यह भी देख-लेना चाहिए कि सभाके सभ्योंमें सहकारकी भावना किस हद तक प्रवेश कर पाई है और परस्पर सहयाता करनेके लिए वे किस हद तक तैयार हैं। रजिस्ट्रारकी पहले मंजूरी हासिल करके सहकारी सभाएं एक दूसरीको रुपया उधार दे सकती हैं।

यह शिकायत अकसर सुनी जाती है कि सभासदों को वक्त जरूरत और मौसम पर काफी रुपया नहीं मिलता है। यह शिकायत कुछ अंशमें सत्य भी है। काश्तकारोंको सालमें दो ही तीन बार रुपयोंकी अधिक जरूरत रहती है। अतएव सभाओंको जिस मौसम पर, जिस माहमें काश्तकारोंको रुपयोंकी जरूरत हो, उससे कुछ दिन पहले, कर्ज मिलने के लिये अर्जी पेश कर देना चाहिए। ऐसा करनेसे एक हद तक यह शिकायत दूर हो सकती है। परन्तु ऐसा करने पर भी कभी कभी रुपया मिलनेमें देरी हो जाती है। अतएव कुछ ऐसा प्रबन्ध किया जाना चाहिये, जिससे वक्त जरूरत रुपया मिलनेमें किसी प्रकारकी दिक्कत या देरी न हो। कुछ प्रान्तोंमें हरएक सभाके प्रतिनिधि को, जो बैंक का डायरेक्टर होता है, एक निश्चित रकम तक कर्ज मंजूर करनेका अधिकार दे दिया गया है, जिससे बहुत आसानी हो गई है। यदि प्रत्येक सभाके पास एक निश्चित रकम रख दी जावे, और उसे यह रकम वक्त जरूरत खर्च करनेकी अनुमति दे दी जावे, तो बहुत अच्छा हो, ब्रह्म देशमें ऐसा ही किया गया है।

कुछ प्रान्तोंमें कर्ज माँगते वक्त यह भी खुलासा करना पड़ता है कि किस कामके लिये रुपयोंकी जरूरत है। यह बात जाने बिना बैंकको किश्तें मुकर्रर करनेमें दिक्कतें पेश आती हैं। कर्ज चुकाने के लिये किश्तें मुकर्रर करते समय किन किन बातों पर विचार किया जाना चाहिये, यह बात हम पहले बतला ही आये हैं।

बाजारमें जिस सालाना सूदकी दर पर रुपया उधार दिया जाता है, उससे कुछ कम दर पर सभाओंको रुपया उधार दिया जाना चाहिये। मध्यवर्ती बैंकको सूदकी दर इतनी ऊँची रखना चाहिये, जिससे कारोबार चलानेका खर्च, अमानत रकमों पर दिया जाने वाला सूद आदि खर्च वसूल आजाय। अनुभवसे मालूम हुआ है कि मजबूत पाये पर जमे हुये मध्यवर्ती बैंक भी, जिस सूदकी दर पर रुपया उधार लेती है, उससे कम से कम २ या ३ प्रतिशतसे अधिक सूदकी दर पर प्राथमिक सभाओंको कर्ज नहीं दे सकतीं।

मध्यवर्ती बैंकको अपने मुनाफ़ेका प्रतिशत २५ अंश स्थायी कोषमें जमा करता पड़ता है। हमारे मतसे यदि इससे भी अधिक रकम कुछ वर्षों तक स्थायी कोषमें जमाकी जाती रहे, तो और भी अच्छा है। कई प्रान्तोंमें स्थायी कोषका रुपया बिलकुल अलग रखा जाता है। हमारे खयालसे ऐसा करने की ज़रूरत नहीं है। कारण कि वक्त जरूरत काफी रुपया मिलनेका पूर्ण प्रबन्ध कर लिया जाने पर इसकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती है।

मिश्र मध्यवर्ती बैंकों, और खास कर उन बैंकों में, जिनके सभासद व्यक्ति हैं, मुनाफेकी बटनी पर अंकुश रखना बहुत जरूरी है। कारण कि इन बैंकोंमें रुपया अमानत रखने वालों और कर्ज लेने वालोंमें एकता नहीं रहती है। अधिकाँश प्रान्तों में इस प्रकारका अंकुश रखा भी जाता है। कर्ज दी जाने वाली रकमों पर प्रतिशत जितना सूद लिया जाता है। उतना ही मुनाफा बाँटा जाना चाहिए। कुछ विद्वानोंका कहना है कि मध्यवर्ती बैंकमें रुपया अमानत रखने वालोंकी अपेक्षा, बैंकके हिस्से खरीदने वाले व्यक्ति कुछ ज्यादा जोखिम अपने सर लेते हैं। इसलिए अमानत रखी हुई रकमों पर प्रतिशत सूद दिया जाता है, उससे २ या ३ प्रतिशत अधिक दरसे मुनाफा बाँटा जाना चाहिए।

अकृषि जीवियोंकी बड़ी बड़ी सभाओंकी तरह मध्यवर्ती बैंकभी अपने मुनाफेका एक निश्चित भाग, मुनाफेकी बटनीका दर एकसा बनाये रखने के लिए लगने वाली पूंजीमें, आकस्मिक खर्चके लिए अलग रखी जाने वाली पूंजीमें या मकान फंड में जमा करते हैं। बम्बईमें प्रान्तिक बैङ्क ६ प्रतिशत के हिसाबसे मुनाफा बांटते हैं और बची हुई रकम कर्ज लेने वाली सभाओं और हिस्से खरीदने वालों-को बोनसके रूपमें तकसीम कर देते हैं। हिस्से वालोंकी बोनसकी रकम उनके नाम पर अमानत रख ली जाती है, और सभाओंका बोनसका रुपया कर्जके सूदमें, प्रति तीसरे वर्ष, छूट देनेके लिये रख लिया है। ऐसा करनेसे सूदकी दर घट जाती है।

प्राथमिक सभाओंकी अपेक्षा मध्यवर्ती बैङ्कके लिये यह अधिक आवश्यक है कि प्रतिवर्ष, प्रति तीसरे मास, अपने जमा खर्चका हिसाब छपवा कर प्रकाशित करावें। इससे सभासदोंको और रुपया अमानत रखनेवालोंको बैंककी साम्पतिक अवस्था मालूम हो जाती है।

यदि मध्यवर्ती बैङ्क अपने निजके भरोसे पर ही छोड़ दिए जायं, तो प्राथमिक सभाओंको कर्ज देने, उनकी रकमोंका समुचित प्रबन्ध करने आदिमें दिक्कतें पेश आयँगी और उनका कारोबार चलना कठिन हो जायगा। इसलिए मध्यवर्ती बैङ्कके रुपयों की घट बढ़का प्रबन्ध करने और उसकी हुंडियोंको सकारनेके लिए हर प्रान्तमें प्रान्तिक बैङ्कोंका स्थापित किया जाना बहुत ही जरूरी है। जिन प्रान्तोंमें प्रान्तिक बैङ्क स्थापित नहीं किए गए हैं, वहां मध्यवर्ती बैङ्क वक्त जरूरत एक दूसरेको रुपया उधार देते हैं। किन्तु ऐसा करना हानिकारक है। जिन प्रान्तोंमें मध्यवर्ती बैङ्क स्थानीय पूंजी खींचनेमें असमर्थ हैं, वहां बड़े बड़े नगरोंमें रहने वाले पूंजीपतियोंका रुपया बैङ्कमें खींचनेके लिए एक केंद्रस्थ बैङ्कका खोला जाना अत्यन्त आवश्यक है। यह बैङ्क मध्यवर्ती बैङ्कके कारोबारको संगठित करके उनके कारोबार पर निगरानी रखेगा और सारे प्रान्तकी रुपयोंको जरूरतका पता लगाकर उनकी आवश्यकताको पूर्ति करता रहेगा। सारे प्रान्तके लिए रुपयोंके केन्द्र रूप इस बैङ्कका खोला जाना अनिवार्य्य है।

इस प्रकारके केंद्रस्थ बैंक विहार, उड़िसा, मध्यप्रान्त और बरारमें स्थापित किये जा चुके हैं। युक्तप्रान्त, बङ्गाल और पञ्जाबमें केन्द्रस्थ बैंकोंकी सृष्टि की जा चुकी है।

यह बात निर्विवाद सत्य है कि प्रान्तिक बैंकोंके हिस्से सहकारी सभाओंके ही हाथमें होने चाहिएं। व्यापारी वर्गका आश्रय ग्रहण करनेके कारण बैंकके संचालन-सूत्र सहकारी-सभाओंके हाथमें न दिए जा सकें, तो भी हर्ज नहीं। किन्तु कार्य-क्रम और संचालन-पद्धति निश्चित करनेमें उनका पूरा हाथ रहना अनिवार्य्य है। यह सही है कि प्रान्तिक बैंकका कारोबार चलानेके लिए विशेषज्ञ और अनुभवी व्यक्तिकी जरूरत रहती है। अतएव इन बैंकोंके कारोबारमें सहकारी-सभाओंकी आवाजका कोई असर नहीं पड़ सकता है।

मध्यप्रान्त और बरारमें प्राथमिक-सभाएं मध्यवर्ती बैंकसे आबद्ध हैं। प्रान्तिक बैंक मध्यवर्ती बैंकको रुपया उधार देता, उसके रुपयोंको सूद पर

उठानेका प्रबन्ध करता और जरूरत आ पड़ने पर रुपया उधार दिलाता है। मध्यवर्ती बैंकके अभावमें प्रान्तिक बैंक ही इक्की दुक्की प्राथमिक-सभाओंको कर्ज देता और उनके कारोबार पर निगरानी रखता है। मध्यवर्ती बैंक कायम हो जाने पर, प्रान्तिक बैंक, यह काम उनके सिपुर्द कर देते हैं। सामान्यतः प्राथमिक सभाओंको मध्यवर्ती बैंकके मार्फत ही रुपया उधार दिया जाता है। मध्यवर्ती बैंकमें रुपया न रहने पर, प्राथमिक सभाओंको प्रान्तिक-बैंकसे रुपया कर्ज दिलानेका प्रबन्ध कर दिया जाता है।

सहकारी इमारतके केन्द्र रूप होनेके कारण इन संस्थाओंमें बहुत-सा रुपया जमा हो जाता है। अतएव यह बैङ्क, एक दूसरेका रुपया सूद पर उठानेमें सहायता करते हैं जबतक प्रान्तिक बैङ्ककी, और जहाँ प्रान्तिक बैङ्क नहीं, मध्यवर्ती-बैङ्ककी हुण्डियां, प्रेसिडेंसी बैङ्क मार्फत सकारे जानेका प्रबन्ध न होगा, तबतक वक्त जरूरत, काफी रुपया मिलनेमें पेश आनेवाली दिक्कतें दूर न होंगी। आशंकाकी जाती है कि सरकारके प्रयत्न और समस्त प्रजाकी शुभेच्छाका सहारा पाकरभी सहकारी बैङ्क, व्यापारी-बैङ्कोंसे पूरी पूरी सहायता नहीं प्राप्त कर सकेंगे। इस खामीको दूर करनेके लिए इम्पीरियल-बैङ्कको सृष्टिकी गई है। हमारे मतसे इस बैङ्कको सहकारी-सभाओंके कारोबार पर अंकुश और निगरानी रखनेकी अनुमति कदापि नहीं दी जानी चाहिए।

यक्ष्मा

[ले० श्री कमला प्रसाद जी एम० बी०]

१३ चर्म-यक्ष्मा

त्वचा दो पर्तोंको बनी रहती है पहला पर्त्त वा वास्तविक चर्म—यह संयोजक तथा सौत्रिक तंतुओंके मिश्रणसे बने एक मोटे गद्दे सा रहता है, जिसमें रक्तनलिकायें, वात तंतु स्नेह-ग्रन्थियां, स्वेद-ग्रथियां और रोम मूल इत्यादि वर्त्तमान रहते हैं।

दूसरा पर्त्त वा उपचर्म—यह चर्मको आच्छादित करता है, तथा पांच तलोंमें जो भिन्न प्रकार के कोषोंके निर्मित रहते हैं, विभक्त रहता है, किन्तु इसमें रक्तनलिकायें, वात-तंतु इत्यादि नहीं रहते।]

चर्म-यक्ष्माके रोगी बहुत कम पाये जाते हैं। × इस कमी का कारण सम्भवतः सूर्य-किरणकी प्रचुरता है। योरप तथा अन्य शीत प्रधान देशोंकी अवस्थाओंके विपरीत भारतवर्षमें सूर्य-रश्मियों की कमी नहीं होती, अथच यहां के अधिकांश निवासी अपना अधिक समय प्रायः अर्धनग्नावस्था में ही (केवल धोती या लंगोटी पहन कर) सूर्य-किरणों के मध्य रहकर बिताते हैं। सूर्य किरणें यक्ष्मा-कीटाणुओं तथा विषों को नष्ट करने में बहुत ही उपयुक्त हैं। अस्तु, यहांके निवासियोंकी त्वचा पर यक्ष्मा-कीटाणुओं का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। यहां चर्म-यक्ष्मा का विशेषतः वही रूप देखने में आता है जिसकी जड़ त्वचामें बहुत गहरी रहती है अर्थात् जहां सूर्य-किरणोंका अधिक प्रभाव नहीं पड़ता।

इसके अतिरिक्त इस देशमें दूध बहुधा उबाल कर पिया करते हैं, जिससे यक्ष्मा कीटाणुओं का (चर्म यक्ष्मामें पाशविक कीटाणु ही अधिक मिलते हैं) शरीर पर कम प्रभाव पड़ता है। यह एक दूसरा बड़ा कारण है जिस से यहां चर्म-यक्ष्माके रोगी बहुत कम मिलते हैं।

चर्म-यक्ष्मामें कीटाणुओंका साधारण वा पाशविक वा इनका कोई विकृत रूप मिल सकता है। ये कीटाणु बड़ी कठिनतासे मिलते हैं। स्वयं कौक प्रायः २०० चर्म यक्ष्माके रोगियोंके क्षतोंमें केवल एकमें ही यक्ष्मा कीटाणुओंको ढूँढ़ सका था। यक्ष्मा—क्षत कभी २ अन्य पीव उत्पन्न करने वाले कीटाणुओं द्वारा भी आक्रान्त हो जाता है और चिकित्साके समय इन्हीं माध्यमिक आक्रमणों की चिकित्सा होकर रह जाता है। वाह्य दृष्टिसे यह जान पड़ता है कि क्षत समूल नष्ट होगया किन्तु वास्तवमें यक्ष्मा ज्योंका त्यों रह जाता है।

आक्रमण की रीतियां

अन्य अवयवों की भांति इसपर आक्रमण की भी दो रीतियां होती हैं—शरीरके बाहरसे तथा शरीर के भीतर से।

शरीर के बाहर से आक्रमण

अर्थात् प्राथमिक आक्रमण त्वचा पर ही होता है। इस रीतिके निम्न लिखित उदाहरण दिये जा सकते हैं:—

(क) कसाइयोंका चर्म-यक्ष्मा। यह प्रायः बूचरों (पशुओंके मारने वालों) के हाथोंकी त्वचामें रुग्न पशुओंके मांस इत्यादिके सम्पर्कसे हो जाता है।

(ख) यक्ष्मा रोगियोंसे अधिक संसर्ग रहनेके कारण, डाक्टरों, परिचारिकाओं, एवं अङ्ग-विकृति-विज्ञानके शिक्षकोंको कभी २ यह रोग हो जाता है।

(ग) गोटी की टीकाके स्थानमें बाहरसे यक्ष्मा-कीटाणु प्रवेश कर जा सकते हैं। ऐसी अवस्था बहुत कम उपस्थित होती है।

× सभी प्रकार के त्वचा-रोगों की संख्या का ०·७५ %। (Captain A.Gupta M. B. Indian medical Record July 1925).

शरीर के भीतर से आक्रमण

(क) प्रकृत गर्तोंके बाहरी मुखपर इन गर्तोंमें वर्त्तमान यक्ष्मा केन्द्रोंसे कीटाणुओंके प्रसारके कारण चर्म-यक्ष्माका प्रादुर्भाव हो सकता है।

(१) यक्ष्मा कीटाणु-युक्त अपने ही बलगम द्वारा ओष्ठमें यक्ष्मा-क्षत-निर्माण।

(२) कंठ वा फुफ्फुसके यक्ष्मा-केन्द्रोंसे नासारन्ध्रों पर आक्रमण।

(३) कंठस्थ यक्ष्मा केन्द्रसे पलकों पर आक्रमण।

(४)अन्त्रस्थ केन्द्रसे गुदाका आक्रमण।

(५) मूत्र-संस्थानीय केन्द्रसे मूत्रेन्द्रिय की त्वचा पर आक्रमण ।

कभी २ तो आन्तरिक केन्द्रों की उपस्थिति इन्हीं बाहरी आक्रमणों द्वारा ही सूचित होती है।

(ख) त्वचाके भीतर किसी अन्य अवयव (लसीका-ग्रन्थियों, अस्थियों इत्यादि) में वर्त्तमान यक्ष्मा-क्षतोंके विस्तार से त्वचा पर आक्रमण। यह निम्नलिखित अवस्थाओंमें सम्भव है।

(१) त्वचाके निम्नस्थ आक्रान्त लसीका ग्रन्थियों द्वारा।

(२) लसीका नलिकाओंके यक्ष्मा जनित प्रदाह एवं सूजन द्वारा।

(३) त्वचाके निम्नस्थ यक्ष्मा-गुल्म द्वारा।

(ग) रक्तधारा द्वारा आक्रमण ।

(१) बहुसंख्यक-यक्ष्माके अंश-स्वरूप त्वचा का आक्रमण।

(२) गोटी इत्यादिके उपरान्त त्वचा का आक्रमण ।

अङ्ग विकृति

अङ्ग विकृति अन्य स्थानोंकी सी होती है। गांठे, विलगन, छोटे तथा बड़े व्रण, व्रणोंका एकमें मिलना और अन्तमें खटिक जमना इत्यादि सभी क्रियायें लक्षित होती हैं ।

भेद

निदान की दृष्टिसे इसके निम्न लिखित भेद माने जाते हैं:—

(क) साधारण वृक (Lupus Vulgaris). ×

(ख) शूकर-चर्म (Scrofulo-Dermia).❀

(ग) संचारित वृक (Disseminated-Lupus).

(घ) बेज़िन के कठोर चकत्ते (Bazins Erythema Induratum).

(ङ) स्वेद-ग्रन्थि-यक्ष्मा ।

(च) स्नेह-ग्रन्थि-यक्ष्मा।

(छ) यक्ष्मा-जनित त्वचा-व्रण ।

ये वास्तव में भिन्न २ अवस्थाओं के (एवं भिन्न २ स्थानोंमें उपस्थित होने के कारण) नाम हैं।

लक्षण एवं चिह्न ।

रोग प्रायः जीर्ण अवस्थामें ही देखा जाता है। बाह्य दृष्टिसे क्षतके भिन्न २ रूप, (गाठें, व्रण इत्यादि) लक्षित होते हैं। कभी २ पीव उत्पन्न करने वाले कीटाणुओंके आक्रमणसे इन क्षतोंमें पीवकी सृष्टि होती है। इनके निकटवर्त्ती तंतु कुछ कठोर रहते हैं। कभी २ एक साथही इनके कई रूप (व्रण, गाठें क्षत-चिह्न इत्यादि) देखे जाते हैं। बहुतसे यक्ष्मा-क्षतोंमें पीड़ा नहीं होती, ज्वर तो बहुत कम रोगियों को आता है।

उपद्रव

क्षत यदि त्वचा तकही सीमित रह जाता तो चर्म-यक्ष्मा स्वयँ एक ऐसा रोग नहीं है जिससे बहुत भय की आशङ्का को जाय। किन्तु बात ऐसी नहीं है। यक्ष्मा कीटाणु अवकाश पाकर भी चुप नहीं रह सकते। कभी २ तो लसीका धारा वा रक्त-धारा में मिलकर सर्वांग-यक्ष्मा उपस्थित कर देते हैं, कभी श्लैष्मिक कलाओं पर प्रभुत्व जमाते

× Lupus=वृक, Vulgaris=साधारण।
❀ Scrofula=शूकर,Dermia चर्म ।

अथवा स्वयँ त्वचा में कुछ ऐसे परिवर्त्तन करते जिससे कैन्सर इत्यादि गुल्मों के उत्पन्न होने की अधिक सम्भावना हो जाती।

निदान

त्वचा-व्रणों की परीक्षा करते समय अन्य अवयवों की परीक्षा करना भी अत्यन्त आवश्यक है। निदान के लिए प्रायः वे ही उपाय काम में आते हैं जो फुफ्फुस-यक्ष्मा-निदान के लिए हैं। टुबर्कुलिन प्रतिक्रिया विशेष काम की होती है। थोड़ा सा ५% टुबर्कुलिन मिश्रित मरहम संदिग्ध क्षत में ही लगा दिया जाता है। यदि स्थानीय प्रति-क्रियायें उपलब्ध हुईं तो समझा जायगा कि क्षत वास्तव में यक्ष्मा-जनित ही है।

अन्य चर्म रोगों से पृथक्करण।

(क) उपदंश जनित चर्म-रोग। उपदंश की तृतीयावस्था में ऐसे त्वचाव्रण मिलते हैं जो प्रायः साधारण-वृक से मिलते जुलते हैं। किन्तु यक्ष्मा प्रायः युवावस्था का रोग है और उपदंश की तृतीयावस्था वृद्धावस्था में ही अधिकतर उपस्थित होती है। यक्ष्मा-क्षत पीले वा भूरे रंग के होते हैं और उपदंश के क्षत रक्ताभ (ताम्रवर्ण) होते हैं। यक्ष्मा के क्षत-चिह्न रज्वाकार और मोटे होते हैं; उपदंश के क्षत-चिह्न पतले और घुंघचाये हुए रहते हैं। अन्य स्थानों में यक्ष्मा का वर्त्तमान रहना क्षत के यक्ष्मा-जनित होने की ओर संकेत करता है। यही बात उपदंश के लिए भी लागू है। रक्त परीक्षा की प्रतिक्रिया (Wasserman Reaction) कभी २ उपदंश में भी नहीं मिलती। पांशुज नैलिद (Potassium Iodide) का उपदंश जनित क्षतों पर पूरा प्रभाव पड़ता है, किन्तु यक्ष्मा-क्षत ज्यों के त्यों रह जाते हैं।

(ख) जीर्ण त्वचा-प्रदाह (Chronic Dermatitis) इस रोग में खुजाहट होती है और क्षत-स्थान से कुछ द्रव निर्गत होता रहता है, तथा इस में गांठों का पता नहीं रहता।

(ग) त्वचा-गुल्म। कैन्सर कभी २ चर्म-यक्ष्मा का रूप धारण करता है। किन्तु इसके उलटे हुए किनारे, तंतुओं की बहुत दूर तक विस्तीर्ण कठोरता एवं इसकी शीघ्र वृद्धि इसे चर्म-यक्ष्मा से पृथक् करती हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य चर्म-रोगों से पृथक् करने के लिए पूर्व कथित अन्य साधनों की सहायता ली जा सकती है।

भविष्य।

रोगी की अवस्था निम्नलिखित बातों पर विशेष रूप से निर्भर करती है।

(क) क्षत की अवस्था। यदि साथ २ (अन्य कीटाणुओं द्वारा उत्पन्न) प्रदाह भी वर्त्तमान हो तो यह इस बात का द्योतक होगा कि रोगी की शक्ति बहुत कुछ नष्ट हो गयी है। और वह रोग से युद्ध करने में बहुत ही असमर्थ है।

(ख) त्वचा के अतिरिक्त अन्य स्थानों में यक्ष्मा केन्द्रों का वर्त्तमान रहना। यह टुबर्कुलिन-चिकित्सा (जो इसके लिए बहुत ही उपयुक्त है) का विरोधी होगा।

(ग) अन्य शक्ति-क्षय-कारी रोगों—म्लेरिया, मधुमेह, उपदंश इत्यादि-का वर्त्तमान रहना। इन से रोगीकी शक्ति और भी नष्ट हो जाती है अथवा ये बहुत सी चिकित्साओं के बाधक होते हैं।

चिकित्सा

(क) साधारण-चिकित्सा (चिकित्सा प्रकरण देखिये)

(ख) टुबर्कुलिन-चिकित्सा। टुबर्कुलिन की विरोधी अवस्थाओं के अतिरिक्त इस प्रकार की चिकित्सा प्रायः बहुत ही उपयुक्त होती है। (चिकित्सा प्रकरण देखिये) सर्व प्रथम इसकी एक बहुत छोटी मात्रा दे दी जाती है और इसके फलाफल पर ध्यान रक्खा जाता है। इस मात्रा के उपरान्त ही रोगी की अवस्था कुछ सुधरने लगती है। तापक्रम इत्यादि बढ़ता नहीं। दूसरी

मात्रा तीन सप्ताह के बाद दी जाती है और तीसरी मात्रा इसके दो सप्ताह उपरान्त। तत्पश्चात् प्रत्येक सप्ताह में एक मात्रा दी जा सकती है।

यह चिकित्सा बहुत दिनों तक लगातार की जाती है और तभी कुछ फल की आशा भी हो सकती है। अन्य ओषधियों द्वारा चिकित्सा इस रोग में कुछ भी लाभ नहीं पहुँचाती।

(ग) प्रकाश-चिकित्सा (चिकित्सा प्रकरण देखिये)

स्थानीय (क्षतों की) चिकित्सा।

इसके उपाय तो अनेक हैं किन्तु किस को किस काम में लाया जाय इसकी विवेचना चिकित्सक की बुद्धिमत्ता पर निर्भर करती है।

(क) रश्मिम् (Radium)। यह एक प्रकार का त्वचा-प्रदाह उत्पन्न कर देता है, जिसके शांत होने पर क्षत-स्थान में एक क्षत-चिह्न मात्र रह जाता है। यह उन स्थानों की चिकित्सा के लिए उपयुक्त है जहां रौञ्जन–किरणों, ओषधियों अथवा क्षत-चिकित्सा (Surgical treatment) द्वारा काम नहीं लिया जा सकता—मुख के बाहरी एवं भीतरी अंशों में अथवा नासा-रन्ध्रों में।

यह चिकित्सा बहुत महँगी पड़ती है।

(ख) रौञ्जन किरण। ये किरणें व्रणों (ulcers), एक ओर को खुलने वाले पतले, लम्बे घावों (Sinuses) तथा पीनोन्नत तंतुओं (thickenings) की चिकित्सा के लिए बहुत उपयुक्त हैं। इनके द्वारा यक्ष्मा-जनित क्रियाओं में कुछ लाभ नहीं पहुँचता केवल अन्य माध्यमिक क्रियायें शांत हो जाती हैं। इनकी बड़ी मात्रायें कैन्सर उत्पन्न कर सकती हैं।

जिन क्षतों में व्रण नहीं हो गये हों उनकी चिकित्सा इन किरणों द्वारा व्यर्थ होगी।

(ग) स्थानीय प्रकाश चिकित्सा। (देखिये यक्ष्मा की सूर्य-चिकित्सा)

इसके उपयुक्त वे रोगी हैं जिनके क्षतोंमें व्रण नहीं हो गया हो और वे (क्षत) बहुत सीमित हो।

(घ) विद्युत्। हाथ वा पैर की उंगलियों के क्षत यापन (Ionization) द्वारा बहुत ही लाभान्वित होते हैं। जो क्षत गाठों के से एवं पृथक् रहते हैं उन्हें विद्युत् द्वारा जला देना उचित है। किन्तु इस रीति से जलाये गये स्थानों में क्षत-चिह्न बहुत विस्तीर्ण होते हैं। मुख इत्यादि के क्षतों की चिकित्सा के समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है।

(ङ) क्षत चिकित्सा (Surgical Treatment)

(१) काट कर निकाल देना। यह तभी सम्भव है जब यक्ष्मा-क्षत सीमित हो तथा उपयुक्त स्थान में हो। सूकर–चर्म में यदि अधःक्षेपण क्रिया नहीं हुई हो तो यह उपाय लाभदायक होता है, यदि अधःक्षेपण क्रिया हो गई हो तो अधःक्षेपित पदार्थ को खुरच कर निकाल देना तथा क्षत को दाहक रासायनिक पदार्थों द्वारा जला देना उचित है।

(२) घिस डालना। यदि क्षत बहुत विस्तीर्ण हो तो उसे खुरच कर दाहक पदार्थों द्वारा जला दिया जाता है, किन्तु यह क्रिया भय से रहित नहीं है।

(३) चीरना। क्षत को कई अंशों में चीर दिया जाता है, जिस से उसमें स्वच्छन्द रक्तागम होने लगता है और अन्त में वहां पर प्रदाह उत्पन्न हो जाता है। इस प्रदाह के शांत होने पर क्षत रोग मुक्त हो जाता है और उसके स्थान में क्षत-चिह्न रह जाता है। यह चिकित्सा मुख के क्षतों के लिए विशेष उपयुक्त होता है।

(च) बायर की रक्तावरोध विधि (Biers' Hyproemic method)

यदि क्षत किसी हाथ वा पाँव में हो तो उसके ऊपर उस अङ्ग को बाँध दिया जाता है, जिस से क्षत में रक्ताधिक्य हो जाता है। × क्षत यदि दूसरे

× क्योंकि शिराओं के चिप जाने के कारण रक्त हृदय की ओर लौट नहीं सकता।

स्थान में हो तो शून्योत्पादक कटोरियों (Vacuum-Cups) द्वारा रक्ताधिक्य का प्रबंध किया जाता है। इस क्रिया से क्षत पूर्वापेक्षा कुछ स्वस्थ हो जाता है अवश्य, किन्तु रोगमुक्त नहीं होता।

(छ) कर्बनद्वि-ओषिद हिम। (Carbon dioxide snow). । यह हिम कुछ क्षण (½ से १ मिनट) तक क्षत के साथ संलग्न रक्खा जाता है। जिस से क्षत तथा उसके निकटवर्ती तन्तु बर्फ के से जम जाते हैं। फलतः ये सभी तंतु नष्ट हो जाते हैं और उनमें प्रदाह उत्पन्न हो जाता है तथा इस प्रकार क्षत रोग-मुक्त हो जाता है। इस चिकित्साके बार २ दुहरायी जाने की आवश्यकता होती है। यह साधारण-व्रृक के लिए बहुत उपयुक्त है।

(ज) स्थानीय टुवर्कुलिन चिकित्सा—

५ % जीर्ण टुवर्कुलिन मिश्रित मरहम क्षत में लगाया जाता है, जिस से उसमें प्रदाह उत्पन्न हो जाता है, तथा क्षत के निकटवर्ती तंतु अन्य अवयवों की सहायता के बिना ही प्रति-विष (anti-bodies) प्रस्तुत कर लेते हैं। जिससे क्षत रोग मुक्त हो जाता है।

इसके बार २ दुहराये जाने की आवश्यकता होती है, और यह रीति संधिस्थलोंके निकटवर्ती क्षतोंके लिए विशेष काम की होती है।

(झ) ओषधियां।

ओषधियों द्वारा चिकित्सा का उद्देश्य क्षतको नष्ट करना तथा निकटवर्ती तंतुओंको यथा-साध्य कम क्षति पहुँचाना है। इसका सिद्धिके लिए दाहक रसायनिक पदार्थों का प्रयोग किया जाता है। किन्तु इनके प्रयोगके पूर्व क्षत की अवस्था (ओषधि-प्रयोगके उपयुक्त है वा नहीं) का विचार कर लेना आवश्यक है। उदाहरणार्थ यदि पहले से ही प्रदाह ने विकराल रूप धारण किया हो तो दाहक ओषधियोंके व्यवहारके पूर्व अन्य दवाओं से इसे शान्त कर लेना होगा, यदि व्रण होगया हो तो उसे मरहम द्वारा स्वस्थ करलेना होगा, यदि क्षत पर पपड़ियां जमगई हों तो उन्हे बोरिकाम्लसेंक × द्वारा हटा दिया जायगा। इन कार्यों के उपरांन्त दाहक ओषधियोंका प्रयोग अधिक लाभदायक होता है।

ऐसी दाहक ओषधियोंकी तालिका तो बहुत बड़ी है किन्तु उनमेंसे कुछही का प्रयोग किया जाता है।

(१) पारद-अम्ल-नोषेत (Acid Nitrate of mercury) यह एक तिनकेकी नोक पर लेकर गांठ (यक्ष्मा-गांठ) में प्रवेश करा दिया जाता है। यदि ऐसा करनेसे अधिक पीड़ा होती हो तो उसे कम करनेके लिए उसी स्थानमें क्षारीय पदार्थोंको लगा दिया जाता है। यह दवा बहुत कड़ी होती है और इसका व्यवहार खूब सावधानीके साथ करना चाहिए।

(२) त्रिहर-सिरकाम्ल (Tri-chlor-acetic-acid)। यह भी एक कड़ी दवा है, और इसका व्यवहार भी उपर्युक्त रीति से किया जाता है।

(३) विटपिकाम्ल-क्रियोसोट-लेप (Salicylic creosote Plaster)। इसमें विगलित तंतुओंको नष्ट करने का काम विटपिकाम्ल द्वारा होता है क्रियोसोट केवल पीड़ाको कम करने में सहायता करता है।

× कुछ बोरिकाम्ल चूर्ण (Boric Acid Powder) को जलमें घोलकर उसमें फ़लालेन का एक टुकड़ा रख कर उसे उबाला जाता है। जब टुकड़ा उबलने लगता है तब उसे एक दूसरे मोटे कपड़ेमें रख कर निचोड़ लिया जाता है। यह गर्म टुकड़ा (रोगी को जितना गर्म सह्य हो) क्षत स्थान पर रख कर उस पर रुई की एक गद्दी डाल कर साधारण पट्टीसे बांध दिया जाता है। इसका उद्देश्य है क्षत-स्थानमें गर्मी पहुँचाना जिससे रक्त नलिकायें स्फालित हो जाती हैं अथच प्रचुर परिमाण में श्वेताणुओं का आगम होता है जिससे प्रदाह-जनित क्रियायें के शान्त होनेमें सहायता मिलती है।

पाशुंज परमांगनेत (Potassium permanganate)। इसके चूर्ण वा घोल का व्यवहार किया जाता है। इसका ५% घोल क्षत में प्रत्येक दिन (दिन में एक बार) तब तक लगाया जाता है जब तक क्षत पर एक काली पपड़ी नहीं पड़ जाती। इस पपड़ी को हटा कर पुनः यही क्रिया कई सप्ताह तक की जाती है। अथवा चूर्ण को क्षत-व्रणमें छिड़क कर, कुछ देरके उपरान्त इसे धो डाला जाता है तथा क्षत-स्थानमें कोई शांतिदायक पदार्थ लगा दिया जाता है।

(५) नवजात नैल (Nascent Iodine) यह मुख, नाक इत्यादि की श्लैष्मिक कलाओंकी चिकित्साके लिए बहुत उपयुक्त है। इसके लिए रोगीको सैंधक नैलिद की बड़ी २ मात्रायें खिलाई जाती हैं तथा नासा रन्ध्रोंमें (क्षत-स्थानमें) उदजन परोषिद (Hydrogen-peroxide) में भिंगी हुई रूई की बत्तियोंको रख दिया जाता है। नासा रन्ध्रों को श्लैष्मिक कला से निकलता हुआ सैंधक-नैलिद उदजन-परौषिदके साथ मिल जाता है जिससे शुद्ध नैलिनकी उत्पत्ति होती है जो यक्ष्माक्षत पर आक्रमण करता है।

उपर्युक्त सभी रीतियां किसी एकही रोगीके लिए उपयुक्त नहीं होतीं। अस्तु, जो जिसके कामकी हो सके, उसीसे काम लेना उचित है। कभी कभी ऐसा होता है कि यदि एक रीति से लाभ नहीं हुआ तो दूसरे या तीसरे प्रकार की चिकित्सा की जाती है।

१४ चक्षु-यक्ष्मा।

इसके रोगी और भी कम मिलते हैं। प्रायः १००० चक्षु-रोगियोंमें चक्षु-यक्ष्मा-रोगियोंकी संख्या की १ से ३ तक हो सकती है*। अभग्न नेत्र-श्लेष्मिका वा कनीनिका पर यक्ष्माकीटाणुओंका कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। अस्तु, प्राथमिक चक्षु-यक्ष्मा का सम्भावना बहुत कम रहती है। माध्यमिक रूप से यक्ष्मा का आक्रमण सम्भव है। किन्तु बहुत से यक्ष्मा-क्षत वास्तव में इनही कीटाणुओं द्वारा आक्रान्त रहते हैं या नहीं यह विवाद-ग्रस्त है।

*डाक्टर वैद्यनाथ भादुड़ी एम० बी० (Indian Medical Record-July 1925).

प्रकाश रासायनिक प्रक्रियाओं पर तीव्रता, तापक्रम, घोलक आदिका परिणाम, कलोदों पर प्रकाशका परिणाम, रासायनिक प्रकाश (Chemiluminescence) और विकिरण सिद्धान्त (Radiation hypothesis).

[ले० श्री वा. वि. भागवत, एम० एस-सी०]

प्रकाश रासायनिक प्रक्रियाओं पर घोलकका परिणामः—

ऐसा माना गया है कि जिन प्रकाश रासायनिक क्रियाओंमें आइन्स्टाइनके प्रकाश सम सिद्धान्त का पालन नहीं होता उन पर घोलकका बहुत असर होता है। लेकिन इस विषयमें अभी हमको ठीक तरहसे कुछ मालूम नहीं है। नैलिनीद्रिन्का ओषदीकरण, अंगारिनका संघट्टभवन और टाल्वीनका अरुणीकरण प्रक्रियाएं भिन्न भिन्न घोलकमें किस तरहसे बर्ताव करती हैं यह भी मालूम किया गया है। इनके आधार पर विन्थरने यह कहा कि घोल की माध्यमिक संख्या जैसे बढ़ती जाती है वैसे ही प्रकाश रासायनिक क्रियाकी गति कम होती जाती है। विन्थरके इस विचारमें अन्य बहुतसे अपवाद हैं। हरिणीकरण पाये हुये सिरकाम्लका विभाजन ज्वलकमें जिसकी माध्यम संख्या ४'३ है, जल्द होता है। यही प्रक्रिया बानजावीनकी माध्यम संख्या कम अर्थात् २'३ होते हुये भी इस घोलमें धीरे धीरे होती है। इसी कारण विन्थरका कहना सत्य नहीं माना जा सकता। घोलककी भिन्नताके साथ संकीर्ण अणु तैयार होते हैं और उनके कारण प्रकाश शोषण बदल जाता है। इसीलिये घोलकके साथ प्रक्रियाकी गति बदलती है। इन सब बातोंसे प्रकाश रासायनिक क्रिया पर घोलकका परिणाम इतना सुलभ नहीं होता जितना कि ताप प्रक्रिया पर होता है।

ओषजनके कार्यका विरोधी स्वरूप—बहुतसी प्रकाश रासायनिक प्रक्रियाओंमें ओषजन विरोधी उत्प्रेरकका कार्य करता है। उद्जन और हरिन्के संयुक्तीकरणकी गति ओषजनकी विद्यमानतामें कम होती है, यह पहिले ही कहा जा चुका है। ओषहरिद्रिन संश्लेषण गतिको भी यह रोक देता है। लूथर और गोल्डबर्ग कहते हैं कि ओषजन विरोधी स्वरूप हरएक प्रकाश रासायनिक प्रक्रियामें दिखाई पड़ता है, विशेष करके हरिद्रीकरण प्रक्रियाओंमें, जहां पर हरिन्वायु प्रकाशका शोषण करके अन्य लंबाईकी लहरें बाहर फेंकता है। यह लहरें ही कार्यकारी होती हैं, लेकिन ओषजनकी विद्यमानतामें इनका शोषण हो जानेके कारण, क्रिया की गति कम हो जाती है। फासजीन संश्लेषणकी गति ओषजनके दबावके साथ कम होती जाती है, यानी जैसा दबाव बढ़ता है वैसा वैसा ही ओषजनका विरोधी स्वरूप अधिकाधिक दृष्टिगत होता है। लेकिन यह सब कम दबाव पर। यदि दबावका परिमाण ज्यादा हो तो यह नियम पाला नहीं जाता और ओषजनके समाहरण और क्रियाकी गतिका गुणनफल कुछ देर तक बढ़ता जाता है। जब ओषजनका दबाव संयुक्त वायु मिश्रणमें प्रतिशत २० से अधिक होता है तो प्रकाश रासायनिक गति स्थिर हो जाती है, फिर वह और कम नहीं होती। इन सब बातोंसे यह ठीक मालूम होगा कि ओषजनसे बहुत सी प्रक्रियाओंकी गति कम होती है।

प्रकाश रासायनिक क्रियाओंका आवेश काल—उदहरिकाम्ल विश्लेषण प्रक्रियामें आवेशकाल रहता है यह तो पहिले ही कह चुके हैं। यह आवेशकाल अन्य प्रक्रियाओंमें भी दिखाई देता है। अमोनियाकी विद्यमानतामें मद्यानार्द्रकी हरिदीकरण प्रक्रिया और पांशुजकाष्ठेतकी अरुणि-करण प्रक्रिया आवेशकाल बताती है। पांशुज काष्ठेत क्रिया अरुणिन् परमाणुसे होता है। यह परमाणु अमोनियासे संयुक्त होते हैं और इस कारण क्रियाको आवेशकाल प्राप्त होता है। बानजावीन मद्यानार्द्रके ओषदीकरणमें तथा

इमलिकाम्लके अरुणिकरणमें भी कुछ आवेशकाल रहता है। आवेशकालका मतलब यह है कि क्रिया एकदम शुरू नहीं होती, कुछ देर तक वह शुरु ही नहीं होती, फिर बादमें होने लगती है। जितनी देर तक क्रिया रुकी रहती है उतने कालको आवेशकाल कहते हैं।

प्रकाश रासायनिक काल परिणाम (After effect)–यदि प्रक्रियाको प्रकाशमें शुरू कर दिया जाय और बादमें प्रकाशको हटा दिया जाय तोभी प्रक्रिया होती रहती है, बंद नहीं होती। इसीको प्रकाश रासायनिक काल-परिणाम कहते हैं। वस्तुतः यह प्रक्रिया प्रकाश बिना नहीं होती, लेकिन एकबार प्रकाशकी सहायतासे शुरू कर दी गई तो फिर प्रकाशकी कुछ ज़रूरत नहीं पड़ती। यह काल परिणाम बहुत सारी प्रक्रियाओंमें देखा गया है। टाल्बीनके श्यामिदीकरणमें तथा फेलिंग घोलके विश्लेषणमें यह परिणाम दिखाई देता है। आइडोफार्मके ओषदीकरणमें यही परिणाम जलार्ड तथा स्लाटनिकाफ ने देखा है। लेकिन यदि यह प्रक्रिया मद्यमें की जाय तो यह काल परिणाम नहीं दिखाई देता। प्रकाशमें क्रिया शुरु होतीहै और प्रकाश निकाल लेनेके बाद फिर रुक जाती है। यदि अन्य घोल लिये जायें तो क्रिया बादमें अंधेरेमें भी होती है लेकिन उसकी गति प्रकाशसे कम रहती है, तथा समाहरणके साथ कम होती जाती है। अन्य प्रक्रियाओंमें भी यह काल परिणाम रहता है। यह काल परिणाम क्यों रहता है, इसका भी चर्चा की गयी है। प्रकाश उत्तेजनतासे उत्तेजित अणुकी आयु बढ़ती है। वस्तुतः यह आयु $१०^{-८}$ सेकंड होती है, लेकिन कभी कभी $१०^{-४}$ तक बढ़ भी जाती है। यानी अणु ज्यादा देर तक उत्तेजित रह सकते हैं यदि प्रकाश बंद कर दिया जाय तो भी उनकी आयु धीरे धीरे घटनेसे जब तक यह आयु $१०^{-८}$तक नहीं आती तब तक क्रिया अंधेरेमें चलती रहती है। बादमें बंद हो जाती है। उत्तेजित अणुकी आयु बढ़ना यही इस काल परिणामका कारण है।

प्रकाश विरोध क्रिया—कुछ प्रक्रियाओंकी गति प्रकाशसे बढ़ती तो नहीं है, लेकिन कम होती है। इस प्रकारकी प्रकाश क्रियाको प्रकाशविरोध क्रिया कहते हैं। यह बात कुछ ओषदीकरणोंमें, विशेष करके पराकासनी किरणोंमें चेस्टाइड्ज़ ने प्रथम देखा। उसके बाद ट्राउटस् और थाम्स् ने इन ओषदीकरणोंका लाल तथा कासनी किरणोंमें अध्ययन किया। इन सब प्रक्रियाओंमें प्रकाशसे क्रियाकी गति कम मालूम हुई।

प्रक्रिया	अंधेरेमें गति	लाल किरणमें गति	पराकासनी किरणोंमें गति
सैन्धक गन्धित् + ओषजन	२३६	३०२	१६०
ताम्रस हरिदका अमोनियामें घोल + ओषजन	२५४	२७०	१६०
ताम्रस हरिदका उदहरिकाम्ल घोल + ओषजन	२११	१६४	५६

आलमंड और मडीसन तथा धरके मतानुसार कोई भी प्रक्रिया प्रकाशमें नहीं रुकती। इसी कारण ट्राउट्सके प्रयोग पर शंका प्रदर्शितकी गयी है।

कलोद पर प्रकाशका परिणाम तथा आवर्त अवक्षेपण—पराकासनी, बीटा तथा रौञ्जन किरणोंका कलोद पर क्या परिणाम होता है इस बारेमें बहुत कुछ देखा गया है। केरोली, डोल्टर आदि लोगों ने बहुत से प्रयोग किये हैं। प्रकाशसे कलोदाणुका संघट्टभवन होता है और वे नीचे बैठ जाते हैं यह देखा गया है। यदि स्वर्णम्का घोल पिपोल मद्यानार्द्र पद्धतिसे बनाया जाय तो रौञ्जन किरणोंसे उसका अधःक्षेपण होताहै यह कार्य गेलेकी ने किया। हेनरी और मेयर ने यह देखा कि, लोहिक उदौषिद घोल सरीखे धनविद्युतीय घोल बीटा किरणोंसे अधःक्षेपित

होते हैं; लेकिन ऋणविद्युतीय घोल पर उनका कुछ परिणाम नहीं होता। श्वार्ज़ और फ्रेडरिक ने रौञ्जन किरणोंसे, परऔष्य कलोदकी विद्यमानतामें होने वाले उदजनपरौषिदके उत्प्रेक्षीय विश्लेषणको रोक दिया। इस रुकावटका कारण अधःक्षेपण नहीं हो सकता, क्योंकि यदि कलोदीय घोलको प्रकाशनके बाद १६ घंटे रख दिया जाय तो फिर विश्लेषण शुरू होता है। अब दृश्य तथा पराकासनी किरणोंका क्या प्रभाव पड़ता है यह देखा जायगा।

फार्मर और पार्कर कहते हैं कि यदि परऔष्यम्-के कलोदमें हवामें कार्बनिकाम्ल छोड़ कर और कुछ विद्युत विश्लेष्य न हो तो पराकासनी किरणोंमें उसका अधःक्षेपण होता है। यदि विद्युत विश्लेष्य-युक्त कलोद हो तो, यह अधःक्षेपण और जल्द होता है तथा समाहरण घटानेसे प्रकाशका परिणाम बढ़ता जाता है। यंग और पिम्प्रीका धन और ऋण विद्युतीय कलोद पर का कार्य महत्व पूर्ण है। उन्होंने यह देखा कि, प्रकाशसे लोहिक उदौषिद तथा इसी प्रकारके अन्य धन विद्युतीय घोलका ध्रुवागमन कम कम होता जाता है, किन्तु मैस्टिक राल आदि कलोदोंका ध्रुवागमन तो बढ़ता है। धर और गांगुलीने सूर्य प्रकाशका क्या परिणाम होता है यह देखा है। सब गन्धिद कलोद सूर्य प्रकाशसे अधः-क्षेपित होते हैं। प्रथम गन्धकका ओषिदीकरण हो कर बादमें कलोदका अधःक्षेपण होता है। यदि मैस्टिक, दम्मर राल आदि कलोद प्रकाशमें रखे जायँ तो वे और भी अधिक स्थायी हो जाते हैं। उन्होंने यह देखा कि, प्रकाशसे जिनका अधःक्षेपण होता है उनका अन्धगुणक प्रकाशमें रखनेसे बढ़ता जाता है और अन्य कलोदोंका अन्धगुणक (Extinction coefficient) कम हो जाता है। कलोदका अधःक्षेपण प्रकाशसे होनेके दो कारण हैं। एक तो स्थिरत्व देनेवाले यवनोंका नष्ट होना, दूसरा अणुओंकी कार्यकारिणी शक्ति कम होना। शायद पहिला कारण दूसरेसे अधिक महत्वका है।

लिसिगँग चक्रपर प्रकाशका क्या परिणाम होता है, यह भी देखा गया है। कुस्टरने रजत द्विरागेत और रजत हरिद्के चक्र पर प्रकाशका परिणाम देखा है। हैशेक ने सीस रागेत और सीस द्विरागेतके अगरमेंके चक्र पर प्रकाशका परिणाम मालूम किया। अंधेरेमें तो ये चक्र एक सरीखे बनते जाते हैं, किन्तु प्रकाशमें कुछ चक्रोंके बीचमें बहुत सारी जगह खाली पड़ी हुई दिखाई देती है। लिसिगँग कहता है कि हैशेक द्वारादेखा हुआ प्रकाश और अंधेरेका परिणाम शायद तापक्रमके अन्तरके कारणसे दिखाई देता हो। स्वर्ण कलोदके चक्र यदि विटपिकाम्ल (सिलिसिकाम्ल) में बनाये जायें तो उनकी संख्या प्रकाशसे बढ़ती है। धर और चटर्जीने भी यह देखा है कि यह चक्र संख्या बढ़ती है। उन्होंने पारद नैलिद, सीस नैलिद, सीस रागेत आदि के जिलेटिन, अगर तथा शैलिकाम्लमें चक्र बनाये। प्रकाशसे कलोदका अधःक्षेपण बढ़नेके कारण चक्रोंका संख्या भी बढ़ती है। यदि प्रकाशकी तीव्रता बढ़ाया जाय तो अधःक्षेपणकी गति इतनी बढ़ती है कि चक्र बनना कठिन हो जाता है।

प्रकाश परिभ्रमण (Photophoresis)—जब कलोदको प्रकाशित करनेसे उनके कणोंकी गति विविक्षित दिशामें होने लगती है तब इस क्रियाको प्रकाश परिभ्रमणता कहते हैं। यदि कलोदाणु प्रकाशकी तरफ जाते हों तो उसको सव्य और प्रकाशसे दूर जाते हों तो उसको अपसव्य प्रकाश परिभ्रम-णता कहते हैं।

प्रकाशकी सहायतासे कलोद बनाना—प्रकाशकी सहायतासे बहुतसे पदार्थोंके कलोद बनाये गये हैं। स्वेडबर्ग ने यह कहा कि यदि किसी धातुको जिससे उसका ओषिद बिलकुल अलग कर दिया गया हो किसी घोलकमें रखा जाय और फिर पराकासनी किरणोंसे प्रकाशित किया जाय, तो उस धातुका कलोद प्राप्त होता है। रजतम्, ताम्रम् आदिके कलोदइस तरहसे बना सकते हैं। परऔष्यम्, स्फटम् आदिके इस तरहसे नहीं बनते। कलोदका

समाहरण कुल जितना प्रकाश पड़ा हो उस पर निर्भर है। यदि प्रकाशकी मात्रा बढ़ायी जाय तो तैयार हुये कलोदका समाहरण भी बढ़ता है, तथा अधिक देर प्रकाशित करनेसे कलोदाणुका आकार बढ़ता है। इसका कारण यह है कि प्रथम जो छोटे छोटे कलोदाणु तैयार होते हैं उनका संघट्ट भवन हो कर कलोदाणुका आकार बढ़ता जाता है। स्वेडबर्ग ने यह बतलाया कि, यदि स्वर्णकलोद हरिद्स्वर्णाम्लके अवकरणसे प्रकाश या अंधेरेमें बनाया जाय तो प्रकाशमें बने हुये कलोदाणु अंधेरेमें बने हुये कलोदाणुसे सूक्ष्मतर रहते हैं। यह कार्य पराकासनी प्रकाशका है। नार्डेनसन ने यह देखा कि रोञ्जन किरण तथा रश्मिशक्तिक किरणका कुछ असर नहीं होता। किन्तु अंधेरेमें होनेवाली प्रक्रियाओंकी गति उनके अस्तित्वमें बढ़ती है। धातुओंको प्रकाशित करनेसे कलोद क्यों बनता है, इसके स्पष्टीकरण करनेकी कोशिशकी गई है। यह कहा जाता है कि प्रथम प्रकाशसे उद्जन परौषिद् तैयार होकर उसकी प्रक्रियासे धातुओषिद या धातुउदौषिद बनकर घोलकमें घुल जाता है। बादमें इस धातुओषिद या उदौषिद्का प्रकाशसे अवकरण होकर फिर धातु बनती है जो कि अब कलोद स्वरूपमें दिखाई देती है। इस तरहसे प्रकाशको सहायतासे कलोद बनते हैं। यह स्पष्टीकरण सब लोगों ने नहीं माना है। प्रकाशसे सोमलका कलोद भी बनाया गया है। इस कलोदका रंग समाहरण पर निर्भर है। कभी पीला, कभी पराकासनी होता है। यह कार्य डेडे और वाल्थेर ने किया। इस कलोद पर विद्युत्-विश्लेष्यका कुछ असर नहीं होता।

जीव कलोद (Biocolloids) पर प्रकाशका परिणाम—पराकासनी किरणोंका अंडसित पर क्या परिणाम होता है यह बोवी ने देखा है। यदि ताजा अंडसित कार्ट्ज पारदवायु दीपसे प्रकाशित किया जाय तो उसका अधःक्षेपण १½ घंटेमें शुरू हो कर पैंतीस घंटेमें संपूर्ण होता है। यदि उसमें पानी मिलाकर समाहरण कम किया जाय, या अमोनियम गन्धेत मिलाया जाय तो यह अधःक्षेपण जल्द होता है। यदि बैलका रक्तरस कार्ट्ज़ बरतनमें रखकर प्रकाशित किया जाय तो उसका अधःक्षेपण होता है किन्तु कांचके बरतनमें नहीं होता। इससे ऐसा मालूम होता है कि यह अधःक्षेपण छोटी पराकासनी किरणोंसे होता है। यह प्रकाश अधःक्षेपण ताप अधःक्षेपण सरीखा ही है, क्योंकि अधःक्षेपित पदार्थ मद्य, पानी विरलअम्ल आदिमें नहीं घुलता, किन्तु विरलक्षारमें तुरन्त ही घुल जाता है। बोवो और उसके अनुयायियों ने जीवन-कोष्ठ पर जिनका स्वरूप कलोद रूप है, प्रकाशका असर देखनेकी कोशिश की है। उन्होंने यह बतलाया है कि परमेसियम कैण्डेटमका (Paramecium candatum) अधःक्षेपण पराकासनी किरणोंसे थोड़े ही देरमें होता है।

कोष्ठोंकी (Cells) जीव रासायनिक अवस्था और उनकी प्रकाश चलता (Sensitivity) का क्या सम्बन्ध है यह सोचकर कोरेज कहता है कि प्रकाशका परिणाम कोष्ठोंमेंके प्रत्यामिन पर होता है, पृष्ठ कलोदों पर नहीं होता। कोष्ठ बहुत प्रकारके कलोदोंसे बना हुआ है। प्रकाशका परिणाम इसी लिये उसमेंके सब कलोदों पर एक ही सरीखा नहीं होता। यदि अंडसित ऋण विद्युत्से युक्त हो तो प्रकाशसे अधःक्षेपण होता है। लेकिन यदि अंडसित धनविद्युतसे युक्त हो तो प्रकाशसे अधःक्षेपण तो नहीं होता किन्तु अणु और भी सूक्ष्मतर बनके कलोदकी स्थिरता बढ़ती है। यह कार्य क्लार्कका है। प्रकाशसे हेमीटो पारफिरिनके अस्तित्वमें फिब्रिनोजनका अधःक्षेपण घटता है, क्योंकि उससे फिब्रिनोजनका और अधिक घुलनशील प्रत्यामीनमें परिवर्तन होता है, ऐसा हावेलका कहना है। बर्ग कहता है कि प्रकाशसे कोष्ठोंका जीवनरस इस तरहसे बदलता है कि उसके साथ यदि कुछ लवण मिल गये तो अधःक्षेपण होता है। यदि कनीनिकाके कोष्ठोंमें खटिक लवण या सैन्धक शैलेत हो तो आँख प्रकाशसे और अधिक जलजलाहट करने

लगती है। बर्ग ने मछलीको खटिक लवणके घोलमें तथा सैन्धक शैलेतके घोलमें रखकर प्रकाशित किया, तुरन्त ही उसकी आँखोंमें कटेरक्ट पड़ा या वह अंधी होगयी। नोराकका कहना है कि प्रकाशका परिणाम कोष्ठों पर एकदम नहीं होता, किन्तु प्रकाश शक्तिका रासायनिक शक्तिमें प्रथम परिवर्तन होता है शाञ, क्रिबिलिख, आदिके विचारसे प्रकाशका परिणाम विशेष करके कोष्ठमेंके प्रत्यामिन पर ही होता है। स्पीगल-अडालफ ने यह बतलाया कि यह प्रत्यामिनका परिणाम, विद्युत विश्लेषयसे, समाहरणसे, कलोद पुराना होनेसे कम अधिक होता जाता है।

तीव्रता और गतिका प्रकाश-रासायनिक-प्रक्रियाओंमें सम्बन्ध—प्रकाशकी गति तीव्रताके साथ किस तरहसे बदलती है इस बारेमें भिन्न भिन्न अनुभव हैं। कुछ प्रक्रियाओंकी गति प्रकाशकी तीव्रताकी समानुपाती होती है तो कुछमें यह वर्गमूलके समानुपाती रहती है। यानी तीव्रता दुगनी करनेसे क्रियाकी गति दुगनी नहीं होती लेकिन दुगनेसे कम रहती है। धर और भट्टाचार्यका तो कहना यह है कि कुछ प्रक्रियाओंकीही नहीं किन्तु सभी प्रक्रिआयोंकी गति और तीव्रताका सम्बन्ध वर्गमूलसे लेकर तीव्रताके वर्ग तक समानुपाती हो सकता है। यह बात अंधेरेमेंकी गति और उसकी प्रकाश रासायनिक गतिके परस्पर सम्बन्ध पर निर्भर है। यदि प्रकाश रासायनिक गति बहुत न हो और क्रिया अन्धेरेमें धीरे धीरे होती हो तो तीव्रता बढ़ानेसे गति उसी परिमाणमें नहीं बढ़ती। ऐसी अवस्थामें क्रियाकी गति तीव्रताके वर्गमूलके समानुपाती होती है। यदि क्रिया अन्धेरेमें बहुत जल्द होती हो और प्रकाशसे यह गति कम परिमाणमें बढ़ती हो तो गति तीव्रताके समानुपाती या तीव्रताके वर्गके समानुपाती होगी। हमने यह मानकर कि उत्तेजित अणुसे प्रकाश रासायनिक क्रिया होती है और उनकी संख्या तीव्रतासे बढ़ती है एक समीकरण निकाला है जिससे तीव्रता और गतिका सम्बन्ध समानुपाती या वर्गमूलके समानुपाती हो सकता है यह बतलाया है। लेकिन क्रियाकी गति तीव्रताके वर्गके समानुपाती रहती है यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि यदि यह कहना ठीक माना जाय तो अनुत्तेजित अणुकी संख्या कम होती हुयी भी उतनी ही तीव्रता बढ़ानेसे उत्तेजित हुये अणुकी संख्या बढ़ती है यह मानना पड़ेगा। लेकिन उत्तेजित अणुकी संख्या अनुत्तेजित अणु पर निर्भर है। यानी यदि अनुत्तेजित अणुकी संख्या कम होती जावेगी तो उतनी ही तीव्रतासे उत्तेजित होने वाले अणुकी संख्या घट जानी चाहिये। इसी लिये गति तीव्रताके वर्गके अनुपाती नहीं हो सकती। जितनी प्रक्रियाएं देखी गयी हैं, उनमें यह सम्बन्ध समानुपाती या वर्गमूलके समानुपाती पाया गया है। इसीलिये हमारा कहना ठीक है। उदहरिकाम्ल-के संश्लेषणमें यह सम्बन्ध एकबार तीव्रताके वर्गके समानुपाती देखा गया है। इसी प्रकार धर और भट्टाचार्य ने भी देखा है। धर ने यह सम्बन्ध कृत्रिमतासे पाया है, यह ध्यान रखना आवश्यक है। उन्होंने कुछ ऐसे पदार्थ घोलमें मिला दिये जिससे प्रकाश प्रक्रिया बहुत ही कम हो गयी, यानी ऐसे पदार्थ मिलाये जो क्रियाको रोक देते हैं। हम कहते हैं कि इसी कृत्रिमताके कारण उनको ऐसा दिखाई दिया कि, गति प्रकाशकी तीव्रताके वर्गके समनुपाती है। उदहरिकाम्ल विश्लेषणमें भी क्रियाको रोकने वाले पदार्थ रहते हैं यह ठीक मालूम है। प्रकाशसे प्रथम इनको नष्ट करना पड़ता है तब कहीं प्रकाशरासायनिक क्रिया शुरू होती है। इसीलिये प्रकाशका कुछ भाग इसको नष्ट करनेमें ही चला जाता है। बचे हुये प्रकाशसे फिर क्रिया होती है। यदि तीव्रता बढ़ाई जाय तो अब इस तरहसे कार्यमें न आने वाला हिस्सा कम हो जाता है। उससे यह मालूम होता है कि प्रकाश दुगना करनेसे गति दुगनेसे भी अधिक बढ़ गयी। वस्तुतः यह सत्य नहीं है। प्रथम प्रकाशका बहुत सारा हिस्सा क्रियाके विरोध करने वाले पदार्थोंको नष्ट

करनेमें व्यय हो जानेके कारण ऐसा दिखाई देता है। यदि यह पदार्थ सब नष्ट हो जाय तो फिर बाद में तीव्रता बढ़ानेसे गति उससे अधिक परिमाणमें बढ़ती हुई कभीभी नहीं दिखाई देगी। उदजन और हरिनकी प्रक्रियाका अध्ययन मिसेस चैपमन, मिस कानफेल्ड और मुल्लर, बेली और बार्कर, तथा मार्शल ने किया है। बेली और बार्करके प्रयोगसे तीव्रता और गतिका संबन्ध वर्गके अनुपाती देखा गया। मार्शलने कहा कि गति तीव्रता के वर्गमूल के अनुपाती रहती है। मिस कार्नफेल्ड आदिने यह संबन्ध समानुपाती बतलाया। इस भिन्नताका कारण वे नहीं दे सके। हमारे ऊपर दिये हुये सिद्धान्तोंसे तो अब यह कारण स्पष्ट है। बहुधा यह सम्बन्ध तीव्रताके वर्गमूलके ही समानुपाती पाया जाता है। इसीसे यह कहा जाता है कि यदि प्रक्रिया सव्यसे प्रकाशरासायनिक ही केवल हो तो गति तीव्रताके वर्गमूलके अनुसार बदलती है। पांशुज काष्ठेत और नैलिन, तथा पांशुज काष्ठेत और अरुणिन आदि प्रक्रियाओंमें यही सम्बन्ध देखा गया है। उदनैलिकाम्लका ओषदोकरण भी तीव्रताके वर्गमूलके अनुपाती पाया गया है। हरोपररौप्याम्ल का उद्लेषण, उदपरौषिद का विश्लेषण आदि प्रक्रियाओंकी गति तीव्रताके समानुपाती रहती है। द्विश्यामिनका विश्लेषणभी समानुपाती होता है।

प्रकाश रासायनिक प्रक्रियाओंका ताप गुणक (Temp. coefficient):—यदि प्रकाश रासायनिक प्रक्रिया का तापक्रम बढ़ाया जाय तो क्रियाकी गति बढ़ती है। तापक्रम १०° बढ़ानेसे गति जितनी गुनी बढ़ती है उसको ताप-गुणक कहते हैं। यह तापगुणक ताप रासायनिक प्रक्रियामें तो होता है लेकिन प्रकाश रासायनिक प्रक्रियाओंमें यह हो सकता है या नहीं यह सोचना अति महत्व का है। आइन्स्टाइनके प्रकाश रासायनिक तुल्य सिद्धान्त के अनुसार प्रकाश रासायनिक प्रक्रियाकी गति पर तापका कुछ असर न होना चाहिये। वस्तुतः प्रयोग से तो ताप गुणक प्रकाश रासायनिक प्रक्रियाओंमें भी पाया जाता है। आइन्स्टाइन ने यह सिद्धान्त तापगति शास्त्रकी सहायतासे निकाला। यदि 'अब' अणुका 'का' प्रकाशसे 'अ' और 'ब' में विश्लेषण होता हो तो अब + का = अ + ब। बादमें स्थित गतिशास्त्रसे उसने यह निकाला कि एक प्रकाश काण्टमसे एकही अणुका विश्लेषण होता है। इससे ऐसा समझा जाता है कि तापका प्रकाश रासायनिक गति पर कुछ असर नहीं होगा। यदि आइन्स्टाइनके सिद्धान्त पर ठीक तरहसे विचार किया जाय तो यह ध्यानमें तुरन्त आयगा कि, उसने दो बातें मान ली हैं। एक तो सब अणुओंकी गत्यर्थक सामर्थ्य एक ही है और दूसरी, यह सामर्थ्य तापक्रम बढ़ानेसे नहीं बढ़ती। यह दोनों ही बातें गलत हैं। मैक्सवेलके नियमसे सब अणुओंकी गत्यर्थक सामर्थ्य (Kinetie energy) एक नहीं होती तथा तापक्रमके साथभी बढ़ती जाती है। इसीलिये प्रकाश रासायनिक प्रक्रिया पर तापका भी परिणाम होना चाहिये। आइन्स्टाइनका सिद्धान्त केवल कुछ अवस्थामें ही सत्य हो सकता है; अन्यथा नहीं। इसीलिये आइन्स्टाइनके सिद्धान्तसे तापका प्रकाश रासायनिक क्रिया पर कुछ असर नहीं होना चाहिये यह कहना ठीक नहीं है। टालमन ने भी यही कहा है। उसने उत्तेजित अणुकी कल्पनासे यह बतलाया कि तापगुणक तब ही एक रहेगा, यानी तापका कुछ असर नहीं होगा जब सब अणुओंकी गत्यर्थक सामर्थ्य एक ही होगी। लेकिन वास्तवमें ऐसा कभी भी नहीं होता। इसीलिये रासायनिक प्रक्रियाओंका भी तापगुणक होना ज़रूरी है। मार्सेलिन बर्थेलो ने सबसे पहिले यह बात बतलाई कि प्रकाश रासायनिक प्रक्रियाओं पर वही परिणाम होगा जो कि तापका ताप रासायनिक प्रक्रियाओं पर होता है। गोल्डबर्ग ने यह कहा कि ताप प्रक्रिया के तापगुणकसे प्रकाश रासायनिक प्रक्रियाका तापगुणक कम होता है।

इसकी यह कहावत आजभी सत्य है। धरने भी यही बात देखी है, इतना ही नहीं, किन्तु यह तापगुणक प्रकाशसे गति कितनी बढ़ी है इस पर निर्भर है। मैंने भी यही बात देखी है कि यदि यह बढ़ती अधिक हो तो तापगुणक कम रहता है। प्लाटनिकाफ ने यह तापगुणक तीन ही प्रकारके होते हैं ऐसा कहा। एक १.०४, दूसरा १·२ और तीसरा १·४। उसका कहना अब ग़लत माना गया है। प्रकाश रासायनिक प्रक्रियाओंका ताप गुणक २·३ और इससे भी अधिक बहुत सी प्रक्रियाओं में पाया गया है।

तापक्रम के साथ प्रकाश रासायनिक क्रिया क्यों बढ़ती जाती है, यह समझाने के लिये ऐसा माना जाता है कि अणु शोषित प्रकाश से तबही उत्तेजित हो सकते हैं, यदि उनकी सामर्थ्य कुछ चरम सामर्थ्यसे अधिक हो। यदि यह चरम सामर्थ्य 'च' हो, यानी यह शक्ति वह हो जिससे अणु उत्तेजित हो सकते हैं, तब तापक्रम और तापरासायनिक प्रक्रियाकी गति का संबंध $\frac{\text{तल (स्थि)}}{\text{तता}} = \frac{\text{नच}}{\text{रता}^{2}} \left(\frac{d \log k}{dt} = \frac{Ne}{RT^{2}} \right)$ जहां पर 'स्थि' स्थिरांक है; ता=तापक्रम; न= एक ग्रामाणु में की अणु संख्या; र = वायु स्थिरांक। यदि अणु 'का' प्रकाश शक्तिका शोषण करता हो, तो प्रकाश रासायनिक प्रक्रियाका तापगुणक $\frac{\text{तल (स्थिः)}}{\text{तता}} = \frac{\text{न (च − का)}}{\text{रता}^{2}}$) से बतलाया जाता है। इस समीकरण से यह स्पष्ट है कि प्रकाश-रासायनिक-तापगुणक तापरासायनिक-तापगुणक से कम रहेगा। तथा यदि 'का' या प्रकाश शक्ति बढ़ गयी, यानी प्रकाश की झूलन संख्या बढ़ाई, तो भी यह उसके साथ घटता जायगा। यह दोनों बातें प्रयोग से भी देखी गई हैं लेकिन इस समीकरण से यह भी निकलता है कि, जितने क्वाण्टमोंका शोषण हुआ वे सब ही अणुको उत्तेजित करने के कार्य में लाये जावेंगे ऐसा नहीं है। यह समीकरण प्रथम प्रोटोलुंगोने निकाला। बाद में इसी को टालमन्नें बढ़ाया। यदि उत्तेजित होने के लिये 'अणु' में चरमशक्ति होना जरूरी है यह माना जाय, तो यह बतलाया जा सकता है कि प्रकाशकी झूलन संख्या का प्रकाश रासायनिक क्रिया की तन्मात्रा पर कुछ प्रभाव नहीं होगा। यदि कुछ थोड़ा मालूम हुवा तो बिलकुल थोड़ी झूलन संख्या बढ़ाने से, जोकि चरम झूलन संख्या से अधिक भिन्न नहीं है, यदि शोषित प्रकाश की झूलन संख्या चरम झूलन संख्या से थोड़ी अधिक हो तो यह बतलाया जा सकता है कि इससे जिन अणुओंकी शक्ति शून्य है वे भी उत्तेजित हो सकते हैं। इसका मतलब यह कि सब अणु उत्तेजित होंगे। इसी लिये झूलन संख्या और बढ़ाने से तन्मात्रा की संख्या बढ़ नहीं सकती। वस्तुतः झूलन संख्या के साथ तन्मात्रा की संख्या बढ़ती है। इसी लिये 'चरमशक्ति की' कल्पना ठीक नहीं मानी जा सकती ऐसा बथुंड का कहना है। बोडेन्स्टाइन कहता है कि प्रकाश रासायनिक क्रिया के लिये प्रकाश से उत्तेजना होने से हीं कार्य नहीं होता लेकिन उसके लिये दूसरी जातिके अणुकी भी उत्तेजना आवश्यक है। यह उत्तेजना ताप से होती है। इसी लिये प्रक्रिया दोनों प्रकार के अणुओं पर निर्भर होने से प्रकाश रासायनिक प्रक्रिया का भी तापगुणक होता है। यदि प्रक्रिया क और ख दो प्रकारके अणुओंमें होती हो तो क की उत्तेजना प्रकाशसे ही केवल होती है और 'ख' की केवल ताप से ही। लेकिन प्रक्रिया होने के लिये 'क' और 'ख' इन दोनों जातियोंके अणु मिलना जरूरी है। इसी लिये प्रक्रिया पर तापका भी असर दिखाई देता है। यदि बोडेन्स्टाइनका यह कहना ठीक माना जाय तो हमने यह बता दिया है कि प्रकाश रासायनिक और तापरासायनिक तापगुणक एक ही होंगे। लेकिन यह बात प्रयोग से मालूम नहीं होती प्रयोग से तो प्रकाशक्रिया का तापगुणक ताप-

क्रियाके तापगुणक से हरवक्त कम ही पाया जाता है। इस कारण बोडेन्स्टाइनका विचार उचित नहीं माना जा सकता।

यह देखा गया है कि तापक्रमके साथ घोलककी शोषण शक्ति बढ़ती है। यदि तापक्रम बढ़ाया जाय तो प्रकाश का शोषण भी अधिक होता है। ऐसा माना जाता है कि इसी कारण तन्मात्राका ताप-गुणक होता है। यह कहना ठीक नहीं है यह हमने बतलाया है। तन्मात्रा की संख्या किस तरह से शोषण के साथ बदलती है यह देखा गया। इस से यह मालूम हुआ कि तन्मात्रा की संख्या शोषण बढ़ने से घटती जाती है। यदि तापक्रमके साथ घोलक की शोषण शक्ति बढ़ती हो तो तन्मात्रा किसी हालत में बढ़ नहीं सकती। तन्मात्रा की संख्या शोषण के साथ क्यों कम होती है इसका स्पष्टीकरण किसी ने नहीं किया। किन्तु हमारे विचार से यह बात तो बिलकुल स्पष्ट है। तीव्रता और प्रक्रिया की गतिके संबंधमें यह बतलाया था कि तीव्रता बढ़ानेसे गति उसी परिमाणमें अधिक नहीं होती किन्तु कम परिमाणमें बढ़ती है। शोषण और प्रकाशकी तीव्रता समानुपाती है। तीव्रता दुगनी करनेसे प्रकाशशोषण भी दुगना होता है। इसी लिये तीव्रता का तन्मात्रा पर जिस तरह का परिणाम होगा उसी तरह का परिणाम प्रकाश शोषणका होगा। तीव्रता बढ़ानेसे गति कम परिमाणमें बढ़नेके कारण विभाजित अणुकी संख्या और तीव्रता का संबंध कम होता जायगा। इसी कारण प्रकाशशोषण बढ़ने से भी तन्मात्रा की संख्या घट जायगी। तापक्रम बढ़नेसे प्रकाश शोषण क्यों अधिक होता है यह ठीक तरहसे मालूम नहीं है। कोई कहते हैं कि उदकरण कम होता है। उदकरण कम होनेसे तो पानीका परिमाण बढ़ता है और घोलका समाहरण कम हो जाता है। लेकिन घोलका समाहरण घटनेसे तो प्रकाश शोषण घटता है। इसीलिये उदकरण कम होनेसे शोषण बढ़ता है यह कहना असत्य है। ऐसा समझा जा सकता है कि अणुकी संकीर्णता कम होती है, या अणुकी संख्या बढ़ती है और शोषण भी बढ़ता है। प्रकाश रासायनिक प्रक्रियाओं के तापगुणक होनेके कारण बहुतसे हैं। एक तो तापसे अणुकी गत्यर्थक सामर्थ्य बढ़ती है। उनकी आयु बढ़नेसे प्रक्रिया होने की संभावना अधिक होती है। अणुओं की समाघात संख्या भी बढ़ती है, और प्रकाश रासायनिक प्रक्रियाकी गति अँधेरे में होने वाली प्रक्रियाकी गति पर भी निर्भर होती है। यंग और स्टनले कहते हैं कि घोलक को हिलाना (Stir) भी एक कारण है। प्रक्रिया की गति घोलको हिलानेसे बदलती है, लेकिन ऐसी प्रक्रियाओंमें गति तीव्रताके वर्गमूलके समानुपाती होना जरूरी है। हिलानेसे गति बढ़ती है और इसी कारण जब ताप-गुणक हिलाकर निकाला जाता है, तो कम ही पाया जाता है।

विकिरण सिद्धान्तः—(Radiation hypothesis) यह सिद्धान्त प्रकाश रासायनिक तथा ताप रासायनिक क्रियाओं के तापगुणक स्पष्टीकरण करनेके लिये निकाला गया है। यदि शर्करा विपर्यय प्रक्रिया ली जाय तो इसका गुणक ४·३ है। यानी तापक्रम १० डिग्री बढ़ानेसे गति स्थिरांक चौगुना होता है इसी प्रकार नैलिन और पांशुज काष्ठेतकी क्रियाका ताप गुणक ७·३ है। गति, ताप क्रमके साथ क्यों बढ़ती है? यह तो सत्य है कि तापक्रम बढ़नेसे अणुकी गत्यर्थक सामर्थ्य बढ़ती है; किन्तु इसके बढ़नेसे ही क्या गति चौगुना या सातगुना बढ़ सकती है? यह प्रश्न महत्वका है। यह सिद्धान्त विशेष करके एकाणु प्रक्रियाके वास्ते दिया गया है। अणुको गत्यर्थक सामर्थ्य $\frac{1}{2}$ म ग^2 होता है, जहां पर 'म' अणुकी मात्रा और 'ग' गति है। इस हिसाबसे गत्यर्थक सामर्थ्य $\frac{3}{2}$ 'रता' के बराबर है, जहां 'र' वायु स्थिरांक और 'ता' तापक्रम है। यदि तापक्रम १० डिग्रीसे बढ़ाया जाय तो यह सामर्थ्य प्रति सैकड़ा २ या ३ परिमाणमें ही बढ़ती है। इससे तापगुणक ज़्यादा

से ज़्यादा १.०२ या १.०३ ही हो सकता है, अधिक नहीं हो सकता। किन्तु यह तापगुणक तो ७तक बढ़ता हुआ पाया गया है। तो फिर इसको किस तरहसे समझाना चाहिए। आरहिनिअसने इसके लिये एक समीकरण निकाला, जिसकी सिद्धान्तसे कुछ पुष्टि नहीं थी। यह समीकरण उसने गणित शास्त्रसे नहीं निकाला किन्तु वैसेही रख दिया। यह समीकरण $\frac{\text{त ल (स्थि)}}{\text{त ता}} = \frac{\text{अ}}{\text{र ता}^2}$ जहां पर 'अ' को आरहिनिअसका स्थिरांक कहते हैं। यदि तापगुणक मालूम हो तो उस प्रक्रियामें 'अ' क्या होगा यह मालूमहो सकता है और उस से यह समीकरण कहाँ तक ठीक है यह भी देख सकते हैं। यह समीकरण करीब करीब ठीक है।

तापके साथ ताप रासायनिक क्रिया इतनी क्यों बढ़ती है इसका स्पष्टीकरण प्रथम ट्राउट्ज़, पेरां और लुईस ने किया। उन्होंने कहा कि हर एक तापक्रम पर कुछ परालाल विकिरण भी होते हैं, और इनकी तीव्रता तथा भूलन संख्या बढ़नेसे गति तापके साथ बहुत बढ़ती है। यह तो मालूम है कि हरएक तापक्रम पर तप्त पदार्थसे कुछ विकिरण जरूर निकलते हैं और विकिरणकी भूलन संख्या तथा तीव्रता तापके साथ बढ़ती है। जैसे सूर्य प्रकाशका तापक्रम ४००० से ४०००० तक होनेसे इससे दृश्य, परालाल और पराकासनी विकिरण निकलते हैं। लेकिन रासायनिक प्रक्रियामें अध्ययन के ३०० से ४००° डिग्री तकके तापक्रमका उपयोग होता है अतः उससे केवल परालाल विकिरणही पा सकते हैं। इसीलिये तापक्रमके साथ अणुका गति गत्यर्थक सामर्थ्य बढ़नेसे ही केवल नहीं बढ़ता किन्तु वह इन निकलने वाले परालाल किरणोंके शोषणसे भी बढ़ती है। इसलिये तापक्रमके साथ तापगुणक इतना बढ़ाहुआ दिखाई देता है। यह सिद्धान्त कहां तक सत्य है यह जानना कठिन था, क्योंकि प्रयोगसे यह किस तरहसे देखा जाय, यह बड़ा भारी प्रश्न था। मार्सेलिन और राइस ने इसी विचारको लेकर, स्थित गति शास्त्रसे (Statistical mechanics) और क्वाण्टम सिद्धान्तसे एक समीकरण बनाया जिससे गति और ताप का संबंध बतलाया। आश्चर्यकी बात यह है कि यह समीकरण वही निकला जो आरहिनिअसने यों ही मान लिया था। $\frac{\text{त ल (स्थि.)}}{\text{त ता}} = \frac{\text{का}}{\text{र ता}^2}$ जहां पर 'का' स्थिरांक है और यह 'स्थि'. भू' के बराबर है, जहां पर स्थि को प्लैंकका स्थिरांक और 'भू' को भूलन संख्या कहते हैं। इस समीकरणसे परालाल विकिरण सिद्धान्त सत्य है या नहीं यह जाननेका रास्ता खुल ही गया। यदि तापगुणक मालूम हो तो 'भू' क्या होगा यह निकाल सकते हैं। तापगुणक प्रयोगसे ज्ञात होता है, इसीलिये 'भू' यानी शोषित परालाल विकिरण क्या होगा यह मालूम होगा। यदि इस तरहसे निकाली हुई भूलन संख्याका शोषण सचमुच होता हो तो इस प्रकाशसे प्रक्रियाको प्रकाशित करनेसे उसका शोषण जरूर होना चाहिये। यह देखा गया है कि कुछ क्रियाओंमें सचमुच इस भूलन संख्याका शोषण होता है और इसी कारण यह सिद्धान्त सत्य हो सकता है। यह कहा गया है कि प्रक्रिया इन शोषित किरणोंसे ही हो सकती है। लैंगम्योरने इस सिद्धान्तका विरोध करते हुये कहा, प्रक्रिया शोषित किरणोंसे होती है ऐसा नहीं है। कभी तो प्रकाश का शोषण होते हुये भी प्रक्रिया नहीं पायी जाती, और कभी शोषण न होते हुये भी प्रक्रिया देखी गयी है। विकिरण सिद्धान्त इसको ठीक तरहसे नहीं बतला सकता। प्रक्रिया प्रत्येक शोषित किरण द्वारा नहीं होती, विशेष करके प्रथम श्रेणीको या एकाणु प्रक्रिया एकाणु प्रक्रियामें अणुका विभाजन स्वयं होना चाहिये और जब तक अणुकी शक्ति उसको विश्लेषित करनेको समर्थ न होगी प्रक्रिया कभी न होगी। इसका मतलब यह है कि प्रकाशित तथा शोषित किरणकी शक्ति कमसे कम

इतनी होना चाहिये, जिसको लेकर अणु विश्लेषित हो सके। इस क्रमसे कम विश्लेषित शक्तिको हम निकाल सकते हैं। अणुको विश्लेषित करनेके लिये जितनी तापशक्ति लगती है, वही विश्लेषित शक्ति है। इस शक्तिको जानकर प्रकाशकी भूलन संख्या कमसे कम कितनी होनी चाहिये जिसको शोषित कर, अणु विश्लेषित हो, यह जान सकते हैं। क्योंकि क=स्थि, भू=विश्लेषित शक्ति इस समीकरणसे 'भू' मालूम होती है। इससे कम भूलन संख्या पर प्रक्रिया नहीं होगी। इस भूलन संख्याको 'विश्लेषक' भूलन संख्या कहते हैं। धरने यह बतलाया कि, प्रक्रिया कुछ विशेष भूलन संख्याके नीचे नहीं होगी किन्तु उससे भूलन संख्या ज्यादा हो तो जरूर होनी चाहिये। इसका मतलब हरएक प्रक्रियाकी अलग अलग 'विश्लेषक-भूलन संख्या' होती है। लैंगम्योरने बतला दियाकि प्रक्रिया इससे छोटी भूलन संख्यामें भी होती है और इससे बड़ीसे कुछ प्रक्रिया नहीं होती। यह लैंगम्योरका विकिरण सिद्धान्तके बारेमें बड़ा भारी आक्षेप है। दूसरी बात यह है कि ऐसी प्रक्रियाएँ वास्तविकमें मालूम हो नहीं है, जिनको ठीक तरहसे प्रथम श्रेणी की प्रक्रिया कह सकें।

आरहिनअसने अपना समीकरण स्पष्ट करने के वास्ते यह कहा कि हरएक घालमें जिसमें प्रक्रिया होती है, दो तरहके अणु पाये जाते हैं। एक उत्तेजित और दूसरे अनुत्तेजित। प्रक्रिया उत्तेजित अणुसे होती है। तापक्रम बढ़ानेसे उत्तेजित अणु को संख्या बढ़ती जाती है। लेकिन यह अणु उत्तेजित कैसे होते हैं यह एक समस्या थी। मैक्सवेलके सिद्धान्तके अनुसार हरएक अणुकी गत्यर्थक सामर्थ्य करीब करीब एकही होना चाहिए, और यदि ऐसा हो तो एकही सामर्थ्य होने वाले एक जातिके अणुके उत्तेजित और अनुत्तेजित ऐसे दो प्रकार नहीं हो सकते। यह उत्तेजन ताप विकिरण या परालाल विकिरणों से होता है ऐसा विकिरण सिद्धान्त कहता है। यदि परालाल विकिरणोंसे भी प्रकाश रासायनिक क्रिया हो जाय तो इससे 'विकिरण सिद्धान्त' की बहुत बड़ी पुष्टि होगी। केवल परालाल किरणों में धर और भट्टाचार्य ने बहुत सी प्रकाश रासायनिक प्रक्रियायोंकी हैं। अन्य वैज्ञानिकों ने पराकासनी तथा दृश्य प्रकाशसे ही कार्य किया था और उन्होंने सोचा कि, परालाल किरण प्रकाश रासायनिक नहीं होते। यह तो बात सत्य है कि किरणोंकी लहरलंबाई बढ़नेसे क्रियाकी गति घटती है और इसीलिये परालाल किरण ज्यादा लंबाईके होनेसे क्रियाकी गति बहुत ही कम होती है; किन्तु ऐसी हालतमें भी इन किरणोंसे भी क्रिया होती है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। इसी लिये ताप गुणक बढ़नेका कारण केवल गत्यर्थक सामर्थ्यका बढ़ना ही तापक्रमसे जनित नहीं है। परालाल किरणोंका अधिक शोषण होना भी इसका कारण है। ताप क्रम बढ़ानेसे परालाल किरणोंकी संख्या तथा तीव्रता और भूलन संख्या बढ़कर क्रियाकी गति बहुत ही अधिक होती है। इसी कारण ताप गुणक ४ या ७·३ इतना अधिक पाया जाता है।

रेखादिग्प्रधान प्रकाश की क्रिया (Linearly Polarised):—प्रकाश रासायनिक प्रक्रियाओं पर दिग्प्रधान प्रकाशका क्या परिणाम होता है इसके बारेमें बहुत कुछ मालूम नहीं है। चतुरोहरिद अल्फा षड नैफ्थलाइनकी प्रकाश क्रिया दिग्प्रधानता की दिशा पर निर्भर हैं। रेखा दिग्प्रधानता को दिशा दो रहती हैं। एक तो रवे की अक्षकी दिशामें; और दूसरी उसकी बिलकुल खड़ी (Perpendcular)। यह कार्य वैगर्टका है। पडोआ कहता है कि, कुछ रवोंमें प्रकाश क्रिया की गति दिशाके साथ बदलती है और किसीमें नहीं बदलती। रवेदार दालचिनिकाम्लके परिवर्तनमें दिग्प्रधानता की दिशाका कुछ असर नहीं होता किन्तु पूर्व-नोषो बानजावमद्यानार्द तथा दालचिनीलीदिन

(शेष अगले अंक में)

गैसों का द्रवीकरण

[ले० श्री आत्मा राम एम० एस-सी०]

फ़ैरेडे और ओन्स के अनुसन्धान

यह तो प्रायः सभी विज्ञान ज्ञाता जानते होंगे कि अमोनिया गैस पानी में घुल जाती है, और इसके घुलने से अमोनिया घोल तैयार होता है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण रसायन क्रियाओं में पाये जाते हैं और यह एक साधारण सी बात है परन्तु क्या यह भी संभव है कि अमोनिया गैस बिना किसी द्रव पदार्थ में मिलाये जाने के स्वयं द्रव रूप में परिवर्तित हो जाय। यदि देखा जाय तो बातचीत में इसकी संभावना प्रकट करना कोई विशेष कठिन बात नहीं है परन्तु ध्यान देने पर विदित होगा कि यह समस्या एक अति दुष्कर कार्य्य है। जान डाल्टन ने जिसका पहिले वर्णन आ चुका है, अणु सिद्धान्त स्थापित करनेके पश्चात् यह भी बतलाया था कि यदि किसी गैस को घने दबाव में रक्खा जाये तो सम्भव है कि गैसके परमाणु इतने पास पास आ जायें कि उनके मिलनेसे गैस दशासे द्रवदशा उत्पन्न हो जाये। इसकी सम्भावना वान डर वाल्स ने भी दी परन्तु कोई ऐसा उपाय नहीं था जिससे कि यह गैस द्रव दशा में परिवर्तित की जायें। जहां तक इतिहाससे पता लगता है गैसों को द्रव दशा में दर्शानेवाला जगत विख्यात वैज्ञानिक माइकेल फ़ैरेडे था। उसने कई गैसें द्रवदशा में परिवर्तित कीं। फ़ैरेडेने जितने भी अनुसन्धान किये उनसे एक नया ही रास्ता भविष्यके लिये खोल दिया, इस कारण फ़ैरेडे की जीवनी संक्षिप्त रूप में इस स्थान पर देने का उद्योग किया जायेगा। फ़ैरेडे के पश्चात् कम से कम दो व्यक्ति और ऐसे हैं जिनका कार्य्य इस क्षेत्र में अद्भुत हुआ है, केमरलिंग ओन्स और सर जेम्स-डेवार। यूं तो और भी कई वैज्ञानिकोंने इस में अच्छा कार्य्य किया है जैसे लिण्डे, रावेलविस्की, ओज़लविस्की इत्यादि परन्तु यहां पर केवल फ़ैरेडे, और ओन्स के ही अनुसन्धानों का वर्णन किया जावेगा।

माईकेल फ़ैरेडे (१७९१-१८६७)

विज्ञानके क्षेत्रमें आजकल ऐसा कौन होगा जो कि माइकेल फ़ैरेडेके नामसे परिचित न हो। माइकेल फ़ैरेडे उन इने गिने १९वीं सदीके वैज्ञानिकोंमें से हैं जिन्होंने विज्ञान होके लिये अपना जीवन सर्वस्व दे दिया था। वस्तुतः हम फ़ैरेडेको आधुनिक विज्ञानका पिता कह सकते हैं। आजकल विद्युत्के जो भी कुछ लाभ उठा रहे हैं उसका श्रेय उसीको है। एक विद्युत् इञ्जीनियरकी जितनी महत्ता है तथा जो कुछ भी सम्पत्ति वह कमाता है उसका कारण फ़ैरेडेके आविष्कार ही हैं। उसके आविष्कारोंके आधार पर जितनी नवीन खोजें हुई हैं उनका मूल कारण हमारे मतमें फ़ैरेडे ही कहा जा सकता है। ऐसा कहना कोई अतिशयोक्ति न होगी।

आधुनिक समयका सबसे अद्भुत तथा चमत्कारक आविष्कार बेतारका तार है। इसका श्रेय मारकोनीको मिला हुआ है। परन्तु यह भी विज्ञानके अन्य आविष्कारोंको भांति, एक मनुष्यके परिश्रमका फल नहीं है। इसमें समय समय पर सब मनुष्यों ने भाग लिया है। इस चमत्कारी आविष्कार में भारतका कुछ भाग है; सर जगदीशचन्द्र वसु ने इस विभागमें काफ़ी समय तक नामी कार्य किया है। माइकेल फ़ैरेडेका भी सम्बन्ध बेतारके तारसे है। वह उसका मूल कारण है। अगर बेतार प्रयोगोंको छोड़ दिया जावे तो हम बिना किसी संकोचके कह सकते हैं कि बेतार तरंगोंके विचार उसीसे आरम्भ होते हैं। बेतारके कार्यमें उसके सिद्धान्तोंकी झलक आज तक विद्यमान है। भले ही फ़ैरेडेको स्वप्नमें भी बेतारका ध्यान न हो परन्तु वह उसके प्रवर्त्तकोंको श्रेणीमें अवश्य है।

फ़ैरेडेका जन्म सन् १७९१ की २२वीं सितम्बर को हुआ। इसका पिता लोहारका कार्य करने

वाला ग़रीब व्यक्ति था जिसका निवास स्थान योर्कशायरमें था। उस समय कौन जानता था कि ऐसे व्यक्तिका पुत्र विज्ञानके महर्षियोंमें से एक होगा, जो कि सारा जीवन वैज्ञानिक अनुशीलन तथा प्रयोगों ही में बिता देगा।

फ़ैरेडेका बचपन बहुत कम विदित है। उसका बचपन पिता की निरी आर्थिक दुर्दशामें व्यतीत हुआ है। जब कि वह बालक ही था योरोपमें नैपोलियन युद्ध छिड़ा हुआ था। ऐसे समयमें खाद्य पदार्थोंकी वैसे ही देशमें कमी रहती है फिर ग़रीबोंको तो उनका पूर्णरूपमें प्राप्त होना अत्यन्त कठिन हो जाता है तथा अति साधारण जीवन ही उन्हें बहुत मूल्यवान हो जाता है। इस कारण फ़ैरेडेके पिताको केवल खाद्य सामग्री इकट्ठा करनेके लिये बेहद परिश्रम करना पड़ता था। घरमें चार बच्चे थे। पिता बड़े धार्मिक थे और उनका धर्म प्रेम उन्हें किसी अनुचित उपायसे अपने कुटम्बका पोषण करनेकी आज्ञा न देता था, अतः सारा परिवार दरिद्रतासे निर्वाह करता था। फ़ैरेडेके पांच वर्ष इस प्रकार केवल उसके कमरोंमें रहते हुए बीते। आज यहां निवास स्थान है तो कुछ दिनों बाद दूसरी जगह और फिर तीसरी जगह। फ़ैरेडेके बाल्य जीवनकी अवस्था उसीके शब्दोंमें सुनना अधिक अच्छा होगा। फ़ैरेडे कहा करता था कि "मेरी माँ बचपनमें सप्ताहके आरम्भमें हर एक को रोटीका चौथाई टुकड़ा दिया करती थी जो कि उसे सप्ताहके अन्त तक निबाहना पड़ता था।"

ऐसी दरिद्र अवस्थामें दुनियांके एक महान् वैज्ञानिक ने पोषण पाया। वह लड़का, जिसे कि पाठशालाकी साधारण शिक्षा भी धनाभावके कारण न मिल सकती थी, और जो कि अपना सारा समय सड़क पर गोलियां खेलनेमें गँवाया करता था आगे चल कर बहुत बड़ा वैज्ञानिक हुआ और उसने योरोप भरकी विख्यात वैज्ञानिक समितियोंसे उपाधि तथा मान प्राप्त किये।

दरिद्रताके कारण फ़ैरेडेको बहुत छोटी अवस्था में नौकरी करनी पड़ी। १३ वर्षकी उम्र पर उसे एक पुस्तक-विक्रेताकी दुकान पर रख दिया गया। उन दिनों समाचार पत्रोंका मूल्य बहुत हुआ करता था। उन्हें केवल धनी पुरुष ही ख़रीद सकते थे दूसरे केवल किराये पर ही काम चलाते थे। इस दुकान पर फ़ैरेडेका कार्य समाचार पत्रोंको प्रातःकाल बांटना तथा सायंकालमें उनको वापिस इकट्ठा कर लाना था। यह कार्य वह बहुत दिनों तक करता रहा। उसके कार्यसे उसका स्वामी पूरी तरह संतुष्ट रहा और इसके पारितोषिक रूपमें वह जिल्दसाज़ीके कार्यमें भर्ती कर लिया गया और उसका कार्य सीखने लगा। अब यहांसे फ़ैरेडेके जीवनका दूसरा भाग आरम्भ होता है जिसमें कि उसका विकास हुआ।

इस विभागमें फ़ैरेडे ने जिल्दसाज़ीका कार्य सीखा और अच्छी योग्यता प्राप्तकी। साथ ही साथ इस व्यापारमें उसने विद्युतीय विज्ञानका प्रथम ज्ञान प्राप्त किया। जो पुस्तकें जिल्द बंधनेके लिये आती थीं वह उनका अध्ययन भी करता जाता था। जो कुछ वह विज्ञानकी पुस्तकोंमें पढ़ता था उस पर केवल पढ़ कर ही सब्र न कर लेता था उसका वह पूरी तरह मनन करता था और जब तक प्रयोगों द्वारा उन बातोंको ठीक न जान लेता था तब तक उसे शान्ति न मिलती। प्रयोगोंमें वह अपने बनाये हुये यंत्र ही उपयोगमें लाता था तथा कभी कभी अपनी मुट्ठी देख कर अन्य यन्त्रोंसे भी काम लिया करता था। इस प्रकार धीरे धीरे उसने काफ़ी योग्यता प्राप्त कर ली और शिक्षित और अच्छी संस्कृतिके कई मित्र भी बनाये।

कुछ समय तक वह ऐसे ही कार्य करता रहा। सन् १८१२ में हमारे भावी वैज्ञानिकको एक सुअवसर प्राप्त हुआ। एक बार म० डान्स, जो कि रायल इंस्टीट्यूशनके सभासद थे, जिल्द बनवाने उसी दुकान पर आये जिस पर फ़ैरेडे काम करता था। ये महाशय फ़ैरेडेके नामसे पहले ही परिचित थे और उसके गुणोंके विषयमें भी बहुत कुछ सुन

चुके थे। जिस समय ये दुकान पर आये, फ़ैरेडे सर्व-संग्रह-ग्रन्थ (encyclopedia) के लेख पढ़नेमें तल्लीन था। जब उन्होंने ऐसा देखा तो बहुत प्रभावित हुये और उनके हृदयमें उसके उत्साहके बढ़ानेकी इच्छा हुई। दूसरे दिन प्रसिद्ध रसायनवेत्ता सर हम्फ्री डेवीका व्याख्यान होने वाला था। उन्होंने उसमें सम्मिलित होने की उसे सलाह दी तथा बिना मूल्यके व्याख्यानका टिकट भी दिया। यह एक अमूल्य अवसर था और यहीं उसका वैज्ञानिक संसारमें प्रवेश हुआ। निश्चित समय पर व्याख्यान हुआ। फ़ैरेडे भी उसमें उपस्थित था। वहां पर उसने साथ साथ व्याख्यानके नोट बहुत उत्साह पूर्वक लिये जिन्हें उसने बादको व्याख्या चित्रोंके साथ पूरा पूरा लिखा। यह उसका प्रथम प्रयत्न था।

इस समय तक फ़ैरेडेकी जिल्दसाज़ीकी शिक्षा पूरी हो चुकी थी। इसमें उसने पूरी योग्यता प्राप्त की। उसका स्वामी उसकी योग्यता पर बहुत ही मुग्ध था और इसके फल-स्वरूप उसे अपने व्यापार में भाग देनेको तैयार था। परन्तु फ़ैरेडेकी इच्छा न हुई। यह उसके लिये धनवान बननेका अच्छा अवसर था और अगर इस व्यापारमें भाग ले लेता तो बहुत सम्भव था कि कुछ समयमें अपने स्वामी-के समान ही सम्पत्तिवान हो जाता। पर ईश्वरको ऐसा करना स्वीकार न था। उसका जीवन विज्ञान-के लिये हुआ था और विज्ञानके लिये ही बीता। वह एक आविष्कारक तथा अनुसंधानकर्त्ता था। व्यापार उसकी प्रकृतिके अनुकूल न था और प्रकृति-विरुद्ध कार्य करके कोई मनुष्य सफलता नहीं पा सकता। फ़ैरेडेको व्यापार विभागमें रहना बहुत ही बुरा लग रहा था और प्रत्येक दिन उसको उस विभागमें भारी था। उसकी उत्कट इच्छा थी कि वह विज्ञानका अध्ययन करे। वह कहा भी करता था कि व्यापार सर्वदा स्वार्थ तथा सद्गुणोंका घातक है। विज्ञानदेवी चाहती है कि उसके भक्त उदार व सद्गुण सम्पन्न हों। ऐसा विचार करते हुये एक दिन उसे एक बात सूझ पड़ी। उसने एक पत्र सर हम्फ्री डेवीको लिखा और उसके साथ साथ अपने लिये नोट भी भेज दिये। पत्रमें उसने विज्ञानके अध्ययनार्थ एक अवसर दिये जानेकी प्रार्थनाकी थी।

पत्र ने डेवीके सन्मुख एक समस्या उत्पन्न कर दी क्योंकि एक नवीन व्यक्तिके लिये उनके पास कुछ कार्य न था। बहुत कुछ सोचने पर भी कुछ समझमें न आया। एक मित्र ने सलाह दी कि बोतलें धोने पर रख लिया जाय। बहुत सोच विचारके बाद फैरेडेको बुला भेजा गया। सर डेवी ने उससे कहा कि "विज्ञान अत्यन्त ही कठिन है, सरलतासे समझमें नहीं आता, फिर आविष्कार-का तो कहना ही क्या है।" परन्तु उसका उत्साह असीम था और इन बातोंसे उस पर कुछ भी असर न पड़ा। सर डेवी ने जब यह हाल देखा तो उसे २५ शिलिंग साप्ताहिक पर अपने यहां एक सहायक बना लिया। जब डेवीके मित्र उसके आविष्कारोंकी प्रशंसा करते थे तो डेवी कहता था कि "पर हाँ, मेरा सबसे उत्तम आविष्कार तो फैरेडे है।"

सहायक होनेके कुछ दिन बाद वह डेवीको बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ और शीघ्र ही कठिन कठिन व्याख्यानोंमें डेवीकी सहायता करने लगा। उसके इस व्यवहारसे हमारे जगत्प्रसिद्ध रसायन वेत्ता ने भी जान लिया कि भविष्यमें फैरेडे एक महान वैज्ञा-निक होगा। सन् १८२३ में सर डेवीने प्रसिद्ध २ विज्ञानके केन्द्रों व वैज्ञानिकोंसे मिलनेके लिये देशा-टन किया। इसमें दो वर्षका समय लगा। फैरेडे भी इस देशाटनमें साथ था। दोनों ने कई स्थानोंका भ्रमण किया तथा प्रसिद्ध वैज्ञानिकोंसे मित्रताकी। उनमेंसे कुछ स्थान ये हैं—पैरिस, जिनेवा, फ्लोरैन्स, रोम, और नेपल्स। दोनों वैज्ञानिक सन् १८२५ के अप्रेल मासमें लौटे। वापिस आकर फैरेडे ने प्रयोग-शालाके सहायकका कार्य फिर अपने हाथमें ले लिया।

फैरेडेको इस देशाटनसे बहुत लाभ हुआ। अब तक उसकी योग्यता विज्ञानमें बहुत बढ़ गई थी और भ्रमणमें मिले हुए वैज्ञानिकोंकी मित्रता ने सोनेमें सुगन्धका कार्य किया। इससे वह बहुत उत्साहित हुआ और उसने नियमानुसार अनुसंधानका विचारकर लिया। यहाँसे फैरेडेके जीवनका तीसरा भाग आरम्भ होता है ; उसके जीवनका यह भाग केवल विज्ञानकी खोजोंमें ही बीता है। इस समयमें उसने उन सिद्धान्तों व आविष्कारोंको ढूँढ़ निकाला जिनके बिना वैज्ञानिक संसारमें भावी उन्नति होना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव भी था।

सन् १८२० में आर्स्टेड ने विद्युत् धारा वा चुम्बकका सम्बन्ध ढूँढ़ निकाला। यह एक बड़ी मनोरञ्जक बात थी। फैरेडेने उस समय तक विद्युत् और चुम्बकत्वके विषयमें जो कुछ ज्ञात था उस सबको लिखा। इसके साथ वह रायल इन्सटीट्यूशनको प्रयोगशालामें और भी कुछ अनुसंधान करता रहा।

सन् १८२५ ई० में फ़ैरेडे डेवी की जगह पर रायल इन्स्टाट्यूशनमें अध्यक्ष बना। यह एक आश्चर्यमय अवसर था। एक लोहारके लड़केसे साधारण सहायक बन कर उसी प्रयोगशालाका अध्यक्ष नियुक्त हुआ। परन्तु अभी बहुत कुछ होने को शेष था यह उसकी महान खोजका कार्य था, कदाचित् इसीलिये वह उत्पन्न हुआ था।

ऊपर कहा जा चुका है आर्स्टेड ने विद्युत् धारा व चुम्बकत्वके सम्बन्धको प्रगट किया। अरागोने विद्युत् धाराको चुम्बकत्व शक्तिको बतलाया। इन दोनों बातोंसे फ़ैरेडेको एक सुन्दर कार्य सूझ पड़ा। वह चुम्बकत्वसे विद्युत् धारा उत्पन्न करना था। सोच विचारके बाद फ़ैरेडेने "भविष्यका कार्य—चुम्बकत्वसे विद्युत् धारा" लिख कर भविष्यके स्मरणार्थ रख लिया। अवकाश मिलने पर उसने इस कार्यको हाथमें लिया। उसने आर्स्टेडके प्रयोग को उलटके किया। प्रयोग सफल हुआ और १८३१ में उसने चुम्बकत्वसे विद्युत् धारा निकालनेका सिद्धान्त ढूँढ़ निकाला। अगर चुम्बकीय क्षेत्रमें एक चालक आगे पीछे घुमाया जावे तो उल्टी सीधी धारा उत्पन्न होती है। चालक (Conductor) के बन्द कर देनेसे धारा भी बन्द हो जाती है। इस खोजसे यह प्रगट हो गया कि विद्युत्, चुम्बकत्व और गतिमें एक निकटतम सम्बन्ध है तथा अत्यन्त वेगवान पदार्थ विद्युत्को उत्पन्न करते हैं। मोटर और डायनेमोमें यही सिद्धान्त काम करता था।

चूंकि धारा चालकके चलानेसे ही मिलती है और बन्द करनेसे बन्द हो जाता है, चलाते रहने पर एक दशा ऐसी होती है जब कि धारा शून्य हो जाती है। इस प्रकार लगातार धारा नहीं प्राप्त होती, लगातार धाराके लिये लगातार गति अत्यन्त आवश्यकीय तथा मुख्य थी। फ़ैरेडेने नाल चुम्बक के बेठन (Coil) का प्रयोग करके एक मशीन बनाई जिसमें लगातार गति आसानीसे हो सकती थी और इसके परिणाममें लगातार धारा मिल सकती थी। इसे हम सर्व प्रथम डाइनैमो कह सकते हैं जो कि यंत्रीय (Mechanical) बलको विद्युत् बलमें परिणत करनेका एक उपाय है। बेठन परिवर्तक (Transformer) के कार्योंमें यह मूल कारण है। इस सिद्धान्तके प्राप्त हुए बिना रौञ्जन किरणोंकी खोज होना बिलकुल असम्भव था, तथा इन किरणों द्वारा मनुष्य जातिको जो लाभ हुआ है वह भी न हो सकता।

डाइनैमोके सिद्धान्तमें एक उन्नति हुई। एम्पीयरने बतलाया कि विद्युत कुंडली (Circuit) व चुम्बकत्वमें कोई भेद नहीं है और इन दोनोंका प्रभाव भी एक ही होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार स्थायी चुम्बकोंकी आवश्यकता न रही क्योंकि एक कुंडलीका प्रभाव दूसरी कुंडली या बेठन (Coil) पर उसी प्रकार काममें लाया जा सकता है जिस प्रकार कि एक चुम्बकका बेठन पर। ये सब आविष्कार इस बातको सिद्ध करते हैं कि

विद्युत् और चुम्बकत्वमें एक अति निकटतम सम्बन्ध है।

यहाँ पर फैरेडेके जीवनकी एक कथा देना अनुचित न होगा। एक बार वह लोगोंको अपने आविष्कारोंके विषयमें बतला रहा था। ये आविष्कार अत्यन्त नवीन अवस्थामें थे। उसी समय एक महिलाने पूछा कि इन आविष्कारोंका क्या लाभ है? उसने उत्तर दिया कि "एक नवजात शिशुसे मनुष्य जातिको क्या लाभ!" आगे चलकर ये आविष्कार ऐसे ही सिद्ध हुए जैसे कि फैरेडेने बतलाये थे।

फैरेडेके कार्य ने अपने बाद आने वाले वैज्ञानिकोंका मार्ग साफ़ कर दिया था। उसे आवेश बेठन (Induction coil) वा परिवर्तक और डायनैमोका जन्मदाता कह सकते हैं। उसके कार्य ने तारलेखा (Telegraphy) वा तारवाणी (Telephony) को सम्भवता प्रगटकी तथा बेतारके मूल सिद्धान्तके कारण उसकी ही खोजें हैं। ये चुम्बकोय शक्तिकी लहरें हो हैं जो कि आकाशी में विद्युत धारा उत्पन्न करती हैं। क्लार्क मैक्सवैल के विद्युतीय चुम्बकत्वके कार्यमें भी उसने सहायता दी है। विद्युत विश्लेषणके नियम, जो कि रसायनिक कारखानोंकी वर्तमान उन्नति का कारण है उसीके परिश्रमके परिणाम हैं। ये नियम उसीके नाम पर फैरेडे-सिद्धान्त कहे जाते हैं।

पाठकों को यह पढ़ कर विदित हो गया होगा कि फ़ैरेडे के अनुसन्धान वर्तमान सभ्यता के मुख्य कारण हैं। फ़ैरेडेसे पहिले विद्युत धारा केवल वोल्टा बाटरियों से ही ली जाती थी। उनकी शक्ति कम होनेके कारण उससे कोई अधिक लाभ नहीं हो सकता था परन्तु फ़ैरेडेके इस अनुसन्धान के बाद ही बड़े बड़े डायनैमो तैयार किये गये। वर्तमान काल को सचमुच में विद्युत काल कहा जा सकता है। प्रत्येक कार्य्य विद्युत के ही आधार पर सुगमता और सरलतासे किया जाता है। ५० फ़ीसदीसे अधिक रसायनिक वस्तुयें इसीके प्रयोग से बनाई जाती हैं।

फैरेडेका दूसरा बड़ा आविष्कार बानजावीन निकालना था जो उसने १८२६ में किया। यह पदार्थ उसने कोलतारको स्रवण (Distill) करके प्राप्त किया। जो रंग पदार्थोंकी रसायन क्रिया जानते हैं वही फ़ैरेडेके इस अनुसन्धान का मूल्य पूरे तौरसे समझ सकते हैं। लग भग प्रत्येक रंग इसी वस्तुसे बनता है जैसे नीला, लाल रंग इत्यादि।

फ़ैरेडे ने फौलाद और धातुसंकरों पर भी विशेष कार्य्य किया था। जो यंत्र वह तैयार करता था वह अधिकतर उसी फ़ौलादसे बनवाता था जोकि उसने बनाई हो।

फ़ैरेडे ने स्वर्णकलोद तैयार किया और उसके लिये एक नई विधि भी बतलाई जो फ़ासफ़ोरस को ज्वलक घोलमें प्रयोग करने पर निर्भर है। साथ साथ उसने इस कलोदको अवक्षेपण होनेसे रोकनेके लिये उसमें मधुरिन और कई पदार्थोंका प्रयोग किया। पाठक फिर देखेंगे कि इस प्रयोग से उसने शिल्पकारीको कितना लाभ पहुँचाया क्योंकि इसीके आधार पर रोशनाई और बहुत सी ऐसी वस्तुओंका बनाना निर्भर है।

गैसोंके द्रवीकरण में तो उसका महत्व अकथनीय है। हरिन् सबसे पहिले उसी ने द्रवदशा में प्रदर्शित किया था। इस प्रकार द्रव्यके गत्यर्थक सिद्धान्त को पूरा आधार मिला। उसने माध्यमिक संख्या (Dielectric Constant) की परिभाषा दी और इसके संबन्ध में बहुतसे प्रयोग किये।

फ़ैरेडे अपने प्रयोगोंके लिये सर्वदा संसार में विदित रहेगा। उसका एक दूसरा विश्वविख्यात प्रयोग "फ़ैरेडे असर" पर है। वह यह कि यदि प्रकाश की किरणें किसी चुम्बकीय क्षेत्र में गुज़रें तो वह दिक्प्रधान हो जाती हैं इस से चुम्बकीय रसायन की नीव पड़ी।

फैरेडे केवल प्रयोगिक ही नहीं बल्कि दार्शनिक (Theorist) भी था। विद्युत में "शक्ति रखायें" इत्यादि उसीके मस्तिष्क का चमत्कार है।

इतनी थोड़ी जगह में फैरेडेके पूरे अनुसन्धान अच्छी तरह नहीं वर्णन किये जा सकते।

माईकेल फ़ैरेडे बहुतही अच्छी संस्कृतिका व्यक्ति था। दूसरों की उन्नति वह हृदयसे चाहता था और ज्ञान प्राप्त की इच्छा करनेवालों की सहायता के लिए वह सदा तैयार रहता था। वह अपने जीवनमें एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक हुआ पर घमंड उसे छू भी न गया था। वह कहा करता था कि, "मैं कोई आविष्कारक नहीं हूँ। ये तो मेरे हाथमें कुछ चमकीले पदार्थ आ गये हैं।" इस आत्माने एक महान वैज्ञानिकका जीवन व्यतीत करते हुए सन् १८६७ में २५ वीं अगस्तको परलोक गमन किया। आजकल विद्युत विज्ञान उसके समयसे बहुत ही बढ़ गया है, पर तो भी वह अभी तक विद्युतका पिता कहा जाता है तथा वैज्ञानिक संसारने उसके नामको अमर करनेके लिये जैसा कि अन्य वैज्ञानिकों के साथ होता रहा है, एक फ़ैरेडे नामकी इकाई खोल दी है।

*—इस लेख में श्री प्रेम बहादुर वर्म्मा के लेख से अधिक सहायता ली गई है।

केमरलिंग ओन्स

(१८५३–१९२६)

(KAMMERLINGH ONNES)

हाइक् केमरलिंग ओन्सका जन्म २१ सितम्बर १८५३ में ग्रोनिनगेन (Groningen) हालेण्ड में हुआ था। ऊटरिच् की नेशनल साइन्स की फेकल्टी ने १८७२ में इस युवा विद्यार्थी की निपुणता स्वीकार कर उसको सुवर्ण पदक प्रदान किया। उसका विद्याध्ययन ग्रोनिनगेनमें हुआ और १८७९ में उसे डाक्टरकी उपाधि प्राप्त हुई। इस उपाधिकी थीसिसके लिए उसने "एक अक्ष पर पृथ्वी घूमती है इसके नए प्रमाणों" पर कार्य किया था। इस समय वह डेल्फ्ट (Delft) के पालीटेकनीशियममें सहायकका कार्य करता था। १८८२ की ११ नवम्बरको, जब वह २९ वर्षका हो चुका था, लेडेन विश्वविद्यालयमें प्रयोगिक भौतिक शास्त्र और अंतरोक्त विद्याका प्रोफेसर नियुक्त हुआ।

ओन्स एक जगह लिखता है, वेण्डरवाल्सके "सम्बद्ध अवस्थाओंके सिद्धान्त" के पढ़नेसे मैं गैसोंको अवस्था पर प्रयोग करनेके लिए उत्तेजित हो गया और इस कारण उसे भौतिक शास्त्रके उस भाग पर आविष्कार करने पड़े जिसके कारण उसकी ख्याति संसारमें फैल गई। १८८१ में ही उसने महत्वपूर्ण गणित सम्बन्धी एक मूल लेख लिखा था। उसमें उसने गैसों और द्रवोंके तापगति-विज्ञान (Thermodynamics) में गत्यर्थक सिद्धान्त (Kinetic Theory) का उपयोग बतलाया था। अपनी एक नवीन विधि द्वारा उसने १९०१ में बहुत ही लघु तापक्रम पर कई गैसोंका अभ्यास किया और देखा कि अवस्थाओंके समीकरणमें से एक भी गैसोंके लक्षणोंको ठीक प्रकारसे प्रदर्शित नहीं करता। उसने एक नया 'अवस्था-समीकरण' (Equation) बनाया जो लघु तापक्रमों पर ठीक लागू होता है।

करीब—१९०° शतांश मापकके नीचे पररौप्यम् का तापमापक यन्त्र बेकार हो जाता है। १९०७ में ओन्स ने प्रयोगों द्वारा देखा कि सीसे और सुवर्ण-के बाधा-ताप-मापक-यन्त्रों (resistance thermometers) का उपयोग अधिक लाभदायक हो सकता है।

ओन्स लिखता है—"दस साल तक मैं अपने अवकाशके समयको इसी काममें लगाता रहा कि द्रवित गैसोंकी सहायतासे निम्नतम तापक्रमों पर भी किस प्रकार भौतिक गुणोंकी परीक्षा की जा सकती है।" उसने अपनी कुशलतासे ऐसी

विधियोंकी आयोजना की कि निम्नतम तापक्रमों पर भी भौतिक-परिणाम लेने सम्भव हो गये।

उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति "हिमजनिक" ("Cryogenic") प्रयोगशाला बनानेके लिये अर्पण कर दी, जो संसारमें अपना चमत्कार दिखाये बिना न रही।

'साईंटीफिक अमेरिकन' ने एक समय लिखा था—"उसने अपने तथा अपने विश्वविद्यालयके लिए एक ऐसा स्मारक बना दिया है जिसके लिए उसके देशवासियोंको घमण्ड हो सकता है। ओन्स अद्भुत आविष्कारोंके लिये प्रसिद्ध हैं और यह शाला अपने ढंगकी निराली है और विज्ञानमें उसका नया स्थान है; इतना नया कि एक नवीन शब्द "क्रायोजेनिक" (Cryogenic) उसके वर्णन करनेके लिए बनाया गया।"

इस प्रयोगशालामें ओन्स ने १९०८ में हिमजन (Helium) गैसको द्रवित कर सारे वैज्ञानिक संसारको चकितकर दिया। उसने पिक्टे (Pictet) की उन्नतकी हुई शीतली-भवन (Cooling) की कैस्केड-रीति तथा शीतलीभवनकी पुनर्जनन विधि (Regenerative method) से जिसे हेम्पसन और लिण्डे ने उन्नत किया था सहायता लेकर इस गैसका द्रवीकरण किया। कई उत्तम शून्य पम्प (Vacuum pump) द्वारा और ०·३ सम. दबाव पर द्रव हिमजनको उबालनेसे ओन्स केल्विन-शून्य (absolute zero) के ऊपर ०·९° तापक्रम तक पहुँच सका था। १९२६ में कीसों (Kesom) ने लेडेन प्रयोगशालामें हिमजन गैसको ठोस अवस्था में प्राप्त किया। यह लघु-तापक्रम कार्योंमें सबसे महत्वका अन्वेषण था।

लघु-तापक्रम हिमस्थापकों (Cryostats) की उन्नति होते ही, ओन्स गैसोंके और गैसोंके मिश्रण के तापकम, दबाव, आयतन और समतापक्रमों (Isotherms) को दबाव और तापक्रमके विविध परिवर्तनों पर मापनेकी विधिको विश्वसनीय एवं शुद्ध करनेमें लग गया। उसने लघुतापक्रमों पर वस्तुओंके घनत्व वाष्प-दबाव, वैद्युतिक, चुम्बकीय और प्रकाशीय गुणोंका भी अध्ययन किया।

उसने अधिक दबावका पारद-दबाव-सूचक (Mercury manometer) बनाया और उसकी सहायतासे गैसोंकी सङ्कोचनीयता (Compressibility) मालूम की।

१९१३ में पुरस्कार देते समय नोबेल कमेटी ने इन बातोंका ध्यान रक्खा था—"उसके लघुतापक्रमों पर पदार्थोंके गुणोंके अन्वेषण, जिससे कि और आविष्कारोंके साथ साथ द्रव हिमजनकी प्राप्ति हुई।"

ओन्स ने १९१३ में लघु तापक्रम पर धातुओं-की चालकता पर अन्वेषण किया जो "अति चालकता" (Superconductivity) के नामसे प्रसिद्ध है। धात्विक चलनके सिद्धान्तसे, जो "ऋणाणु गैस" (electron gas) के नामसे विख्यात है यह समझ सकते हैं कि किसी धातुकी बाधा तापक्रमके कम होनेसे कम होती जावेगी या यह कि धातुकी बाधा अति लघु तापक्रम पर एक दमसे बढ़ने लगेगी क्योंकि ऋणाणु इतने कम तापक्रम पर एक प्रकारसे जमने ("Freeze" होने) लगेंगे। ओन्स ने एक बड़े महत्वका अन्वेषण किया कि केल्विन शून्यके कुछ अंश ऊपर तापक्रम पर कुछ धातुओंकी बाधा एकदमसे शून्य हो जाती है (या उसकी मात्रा बहुत ही कम हो जाती है)। उसने सीसाके तारके बेठनके दोनों सिरोंको गला कर एक कुंडली बनाई और इसमें पास वाली विद्युतीय चुम्बक कुंडलीको तोड़ कर उपपादित विद्युत् प्रवाह किया और जब बेठनका तापक्रम बहुत ही कम रक्खा तब धारा कई घंटों तक प्रवाहित होती रही। 'साइण्टीफिक अमेरिकन' इस अन्वेषणके बारेमें लिखता है कि "इसमें कोई संदेह नहीं कि इस वर्ष के वैज्ञानिक आविष्कारोंमें यह बड़े मार्केका आविष्कार है।"

१९२३ में केमरलिंग ओन्सने प्रोफेसरके पदका

त्याग किया और २१ फरवरी १९२६ को इस संसार से चल बसा।

उसे कई एकाडेमियों, समितियों और गवर्मेंटों ने सम्मान प्रदान किये। १९१२ में रायल सोसाईटी ने रमफोर्ड पदक प्रदान किया और १९१६ में अपनी सभाका विदेशी मेम्बर चुना। बर्लिन और डेल्फ़्ट (Delft) विश्वविद्यालयों ने उसे आनरेरी उपाधिसे सम्मानित किया। १९०४ मे उसे शेवेलियर (Chevalier) और १९२३ में नीदरलैण्डके काननकेशरी (Commander of the order of lion of Neitherlands) की पदवियें मिलीं।

केमरलिंग ओन्समें प्रयोगिक कुशलता और हाथकी सफाईके सिवाय दो और गुण थे जिनके कारण वह इस महत्वको पहुँच सका। ये उसका अपार धैर्य और ऊंचे दर्जेकी प्रबन्धकर्तृणी शक्ति थी।

प्राप्ति स्वीकार

डाबर पंचांग—बिना मूल्य वितरित।

डाबर (डाक्टर एस-के बर्मन) लिमिटेड कलकत्ता द्वारा प्रकाशित संवत् १९८९ का पंचांग हमें मिला है जिसमें शकुन्तला सम्बंधी कई चित्र हैं और तिथिपत्र आदि और उनके दवाइयों की सूची है। जिन सज्जों को जरूरत हो मुफ्त में उक्त पते से मँगा लें।

———कृष्णानन्द

समालोचना

वैदिकधर्मी समाज—लेखक श्रीमंगलानन्द पुरी। प्रकाशक—एल० एस० वर्मा ऐण्ड कम्पनी १७३ अत्रिअनुसूया प्रयाग पृष्ठ १२० मूल्य ॥)

स्वामी मंगलानन्द पुरी आर्यसमाज के एक सन्यासी हैं। उन्होंने इस पुस्तक में अपने कई नये विचारों को प्रकट करके यह प्रस्ताव किया है कि "वैदिकधर्मी समाज" के नाम से एक नया समाज कायम किया जाय, जिसमें बहुत से सनातनधर्मी—पौराणिक जो अवतार, मूर्त्तिपूजा, मृतकश्राद्ध और भूतप्रेत आदि को मानते हैं वे भी इस नाम के समाज में सम्मिलित हो सकें। पुस्तकके पढ़ने से यही प्रतीत होता है कि स्वामी मंगलानन्द पुरी आर्यसमाज और पौराणिक दोनों मतोंके अनेक मन्तव्यों व सिद्धान्तों की खिचड़ी पकाना और स्वयं उसका आचार्य या प्रवर्त्तक बनना चाहते हैं। परन्तु जहाँ तक मैंने विचार किया है उनके इस नये समाजके कई सिद्धान्त ऐसे दूषित हैं जो लोग न मानेंगे। संभव है इस पुस्तकके कई विचार कुछ लोगों को पसन्द हो जाँय पन्तु पुस्तक के सभी विचार लोगों को पसन्द न आवेंगे क्योंकि इसमें पौरणिक मत व आर्यसमाज दोनों को मिला कर एक करने की अथवा आर्यसमाज को दो दलों में विभक्त करने की चेष्टा की गई है। अतः मेरा अनुमान है कि उक्त स्वामी जी एक नया समाज स्थापित करने में सफल न होंगे। चूँकि वेद और विज्ञान दोनों ही विचार-स्वातंत्र्य के पक्षपाती हैं अतः स्वामीजीके दो एक नये विचार अवश्य ही उत्तम जँचते हैं पर उनके सभी विचार उत्तम और मान्य नहीं जँचते।

———कृष्णानन्द

वैज्ञानिक पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका भाग १—ले० प्रो० रामदास गौड़, एम. ए., तथा प्रो० सालिग्राम, एम.एस-सी. ।)
२—मिफताह-उल-फ़नून—(वि० प्र० भाग १ का उर्दू भाषान्तर) अनु० प्रो० सैयद मोहम्मद अली नामी, एम. ए. ... ... ।)
३—ताप—ले० प्रो० प्रेमवल्लभ जोषी, एम. ए. तथा श्री विश्वम्भरनाथ श्रीवास्तव ... ॥=)
४—हरारत—(तापका उर्दू भाषान्तर) अनु० प्रो० मेहदी हुसेन नासिरी, एम. ए. ... ।)
५—विज्ञान प्रवेशिका भाग २—ले० अध्यापक महावीर प्रसाद, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद १)
६—मनोरंजक रसायन—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम. एस-सी. । इसमें साइन्सकी बहुत सी मनोहर बातें लिखी हैं। जो लोग साइन्स-की बातें हिन्दीमें जानना चाहते हैं वे इस पुस्तक को जरूर पढ़ें। ... १॥)
७—सूर्य सिद्धान्त विज्ञान भाष्य—ले० श्री० महावीर प्रसाद श्रीवास्तव, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद
मध्यमाधिकार ... ... ॥=)
स्पष्टाधिकार ... ... ।॥)
त्रिप्रश्नाधिकार ... ... १॥)
चन्द्रग्रहणाधिकारसेउदयास्ताधिकारतक १॥)
८—पशुपक्षियोंका शृङ्गार रहस्य—ले० अ० सालिग्राम वर्मा, एम.ए., बी. एस-सी. ... -)
९—ज़ीनत वहश व तयर—अनु० प्रो० मेहदी-हुसैन नासिरी, एम. ए. ... ... -)
१०—केला—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली =)
११—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली ।)
१२—गुरुदेवके साथ यात्रा—ले० अध्या० महावीर प्रसाद, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद ।=)
१३—शिक्षितोंका स्वास्थ्य व्यतिक्रम—ले० स्वर्गीय पं० गोपाल नारायण सेन सिंह, बी.ए., एल.टी. ।)
१४—चुम्बक—ले० प्रो० सालिग्राम भार्गव, एम. एस-सी. ... ... ।=)
१५—क्षयरोग—ले० डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा, बी. एस. सी, एम-बी. बी. एस ... -)
१६—दियासलाई और फ़ास्फ़ोरस—ले० प्रो० रामदास गौड़, एम. ए. ... ... -)
१७—कृत्रिम काष्ठ—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली =)
१८—आलू—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली ... ।)
१९—फसल के शत्रु—ले० श्री० शङ्करराव जोषी ।-)
२०—ज्वर निदान और शुश्रुषा—ले० डा० बी० के० मित्र, एल. एम. एस. ... ।)
२१—कपास और भारतवर्ष—ले० पं० तेज शङ्कर कोचक, बी. ए., एस-सी. ... -)
२२—मनुष्यका आहार—ले० श्री० गोपीनाथ गुप्त वैद्य ... ... १)
२३—वर्षा और वनस्पति—ले० शङ्कर राव जोषी ।)
२४—सुन्दरी मनोरमाकी करुण कथा—अनु० श्री नवनिद्धिराय, एम. ए. ... ... -)॥
२५—वैज्ञानिक परिमाण—ले० डा० निहाल करण सेठी, डी. एस. सी. तथा श्री सत्य-प्रकाश, एम. एस-सी० ... ... १॥)
२६—कार्बनिक रसायन—ले० श्री० सत्य-प्रकाश एम-एस-सी० ... ... २॥)
२७—साधारण रसायन—ले० श्री० सत्यप्रकाश एम० एस-सी० ... ... २॥)
२८—वैज्ञानिक परिभाषक शब्द, प्रथम भाग—ले० श्री० सत्यप्रकाश, एम० एस-सी० ... ॥)
२९—बीज ज्यामिति या भुजयुग्म रेखा गणित—ले० श्री० सत्यप्रकाश, एम० एस-सी० ... १।)
३०—सर चन्द्रशेखर वेङ्कट रमन—ले० श्री० युधिष्ठिर भार्गव एम० एस-सी० ... =)
३१—समीकरण मीमांसा प्रथम भाग ... १॥)
३२—समीकरण मीमांसा दूसरा भाग—ले० स्वर्गीय श्री पं० सुधाकर द्विवेदी ... ॥=)
३३—केदार बद्रीयात्रा ... ।)

पता—मंत्री विज्ञान परिषत्, प्रयाग।

मुद्रक—शारदा प्रसाद खरे, हिन्दी-साहित्य प्रेस, प्रयाग।

पूर्ण संख्या— २०६

Approved by the Directors of Public Instruction, United Provinces and Central Provinces for use in Schools and Libraries. **Reg. No. A. 708.**

भाग ३५
VOL. 35.

वृष, संवत् १९८९
मई १९३२

संख्या २
No. 2

विज्ञान

प्रयागकी विज्ञान परिषत्‌का मुखपत्र

'VIJNANA' THE HINDI ORGAN OF THE VERNACULAR SCIENTIFIC SOCIETY, ALLAHABAD

अवैतनिक सम्पादक

ब्रजराज एम. ए., बी. एस-सी., एल-एल. बी.,

सत्यप्रकाश, एम. एस-सी., एफ. आई. सी. एस.

प्रकाशक

वार्षिक मूल्य ३)] विज्ञान परिषत्, प्रयाग [१ प्रतिका मूल्य।)

विषय-सूची

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।। तै० उ० ।३।५।।

भाग ३५ | मिथुन, संवत् १९८९ | संख्या २

सनई (Sunn-hemp)

भाग १

(ले० ठाकुर दूधनाथसिंह कृषि कालेज, कानपुर)

सन, सनी या सनई की खेती भारतवर्ष में, मुख्यतः संयुक्त प्रान्त तथा मध्यप्रदेश में, रेशे के लिये की जाती है। संस्कृत की पुरानी पुस्तकों में भी इसका वर्णन मिलता है और इसके रेशे की उपयोगिता का ज्ञान यहां के लोगों को बहुत दिन से है। नीचे जो कुछ भी सनई के खेती के बारे में लिखा जा रहा है वह केवल इसी प्रान्त के लिए लागू है।

भूमि

यह फस्ल हल्की भूड़ जमीन (light soil) में जहाँ बरसात का पानी नहीं भरता है अच्छी होती है। होवर्ड साहब अपनी "भारतीय कृषि" नामक पुस्तक में लिखते हैं कि पानीका भरना रेशे की फस्ल के लिए और उससे कहीं अधिक बीज के लिए हानिकारक है और इस हेतु नीची या मटियार भूमि में इसकी खेती सफलता के साथ नहीं की जा सकती। पाल साहब* का कहना है कि सन, उन सब ज़मीनों में जहाँ जूट और धान की खेती की जा सकती है पैदा हो सकता है। परन्तु लेखकोंका मत इसके बिलकुल प्रतिकूल है। हां हरी खाद के लिए यह फस्ल किसी भी ज़मीन में बोई जा सकती है। नदियों तथा बड़े तालाबों के आस पास यदि यह फस्ल बोई जाय तो इसके सड़ाने की बहुत सुविधा हो जाय।

बोवाई

रेशे के लिए प्रति एकड़ ७०-८० पौंड और बीज के लिए २५-३० पौंड बीज बोना चाहिये। हरी खाद के लिए भी लगभग १ मन बीज बोया जाता है।

* Pal, *u*. C.-Ag. Ledger, 7, 1908-9

बोने के बाद ३ दिन के अन्दर ही बीज जम आता है।

बीज के लिए वर्षा प्रारम्भ होते ही सनई बो दी जाती है और दिसम्बर के अन्त में फस्ल काटने योग्य हो जाती है। रेशेके लिए यह फस्ल सितम्बर के अन्त में, जब सनई भली भाँति फूल जाती है और उसमें फलियाँ लगनी आरम्भ हो जाती हैं तैयार होती है। इस समय पौदों में रेशा बढ़िया और अधिक मात्रा में होता है। जो रेशा बीज पकने के बाद पौदों से निकाला जाता है वह मोटा (Coarse) और मैले रङ्ग का होता है और साथ ही साथ इस समय रेशे की पैदावार भी घट जाती है। रेशे की यह कमी बीज की पैदावार से नहीं पूरी होती और इसी कारण फूल के समय रेशा निकाल लेना अधिक अच्छा है।

बोवाई, जमने तथा काटने का समय भिन्न भिन्न प्रान्तों में जल वायु के अनुसार भिन्न २ होता है।

निम्नलिखित कोष्टक से पता चल जायगा कि एक एकड़ सनई बोने में क्या खर्च पड़ता है और क्या आमदनी होती है।

कोष्टक नं० १

सनई के (रेशे के लिए)

	खर्च रु—आ—पा	आमदनी
जुताई और पटाई२	४—०—०	*रेशा १० मन ८० रु०
बीज ८० पौंड	४—०—०	दर ८) प्रति मन
बोवाई	१—०—०	इसके अतिरिक्त सूखी
काटना और बोझ बांधना	३—०—०	लकड़ियाँ जलाने को मिलती
सड़ाना और रेशा निकालना	१५—०—०	हैं और खेत में नोषजन की
खेत का लगान सितम्बर तक	५—०—०	वृद्धि होती है।
	३२—०—०	

* कानपुर १२ ($C_{१२}$) जाति की सनई की पैदावार तथा भाव दिया गया है।

सनई (बीज के लिये)

	खर्च रु०—आ०—पा०	आमदनी
जुताई और पाटा लगाना२	४—०—०	
बीज ३० पौंड	१—८—०	१० मन बीज ४०)
बोवाई	१—०—०	दर ४) प्रतिमन
कटाई	३—०—०	इसके अतिरिक्त
मड़ाई और बीज की सफाई	५—०—०	लकड़ी और खेत में
दिसम्बर तक का लगान	१०—०—०	नोषजन की वृद्धि।
	२४—८—०	

इस प्रान्त में उन लकड़ियोंका जो रेशा निकालनेके बाद बच रहती हैं कोई खास इस्तेमाल नहीं है परन्तु दक्षिणी भारतके टिनिवली और गोदावरी ज़िलोंमें इसकी बहुत मांग है और इस कारण वहां पर सनईके अधिक दाम मिलते हैं। इस प्रान्तमें सनईकी सूखी लकड़ियां केवल जलानेके काममें आती हैं। मुरादाबाद ज़िलेके बिलारी तहसीलमें रेशे निकालनेकी मज़दूरीके बदले सनई लकड़ियां दी जाती हैं।

क्षेत्रफल

सनईके क्षेत्रफलका ठीक पता लगाना कठिन है क्योंकि सरकारी कागज़ोंमें सब प्रकारके पाटका क्षेत्रफल एक जगह दिया हुआ है। इस क्षेत्रफलका बहुत बड़ा भाग सनईका ही है यहां तक कि भारतके बहुतसे प्रान्तोंके पाटके क्षेत्रफलसे केवल सनईके क्षेत्रफलका मतलब है।

कोष्टक नं० २ से विदित हो जायगा कि भारत के भिन्न २ प्रान्तों में सनई की कितनी खेती की जाती है।

कोष्टक नं० २

पाट (Hemp—विशेषतया Sunnhemp) का क्षेत्रफल एकड़ में

प्रान्त	१९२४-२५	१९२५-२६	१९२६-२७	१९२७-२८	१९२८-२९
बङ्गाल	६२९००	६२७००	६०७००	५८४००	५८२००
विहार और उड़ीसा	१८७००	१८६००	२१७००	१९६००	१५३००
बम्बई	१६२४४५	१०५२५१	९९७९८	१०९७९५	१०२६२९
वर्मा	—	—	—	—	—
मध्य प्रदेश तथा बरार	१३८७७३	१५८७१९	११३२९९	९२७९२	८४९४७
मदरास	१४१८०६	१७७५७०	११२९४१	९६१[illegible]	१०३०६७
पञ्जाब	२३०९	३३६७	३६८८	३१२३	२९००
संयुक्त प्रदेश आगरा व अवध	१७६७००	२४४५८१	२४९६६१	१९०४९४	१५६६९०

कोष्टक नं० ३ में इस प्रान्त के उन ख़ास ज़िलों के सनई का क्षेत्रफल दिया गया है जहाँ इस फस्ल की अधिक खेती होती है।

कोष्टक नं० ३*

पाट (अधिकतर सनई) का क्षेत्रफल एकड़ में

१९३०—३१

बरेली	१३५४४
शाहजहाँपुर	७४०४
पीलीभीत	७५४७
इलाहाबाद	१३६२६

* जलवायु तथा शस्य रिपोर्ट १९३०-३१ (Season & Crop Report) से उद्धृत

बनारस	२२५५२
जौनपुर	२०८०८
आज़मगढ़	१२८०२
सुलतानपुर	५२५६
प्रतागढ़	१५०४०

बनारस, जौनपुर, इलाहाबाद, प्रतागढ़, और आज़मगढ़ की जल-वायु सनई की खेती के लिये बहुत ही अनुकूल है और साथ ही साथ इन जगहों में इसके सड़ाने के लिये पानी का भी प्रबन्ध सरलता से हो जाता है। उपयुक्त जिलों में यह फस्ल अधिकतर रेशे के लिये बोई जाती है। इसके अतिरिक्त शिवपुर में, जो बनारस छावनी स्टेशन से लग भग ३ मील दूरी पर स्थित है, सनई के रेशे की एक फैक्टरी है जिसमें रेशे को साफ़ करके बाहर भेजने के लिये गांठ (Bales) बनाई जाती हैं और इस कारण बनारस तथा आस पास के ज़िलों के किसानों को अपना रेशा बेचने में बहुत सुविधा होती है। कोष्टक नं० ४ और ५* से, और देशों के साथ अंगरेज़ी भारतके सनईके व्यवसायका पता चल जायगा।

सनई के पौदे की उपयोगिता

सनई के पौदों के जड़ में भी और फलीदार पौदों की तरह घुंडियां होती हैं जिनके कारण हवा से यह नोषजन ले सकता है। फूले हुये सनई के पौदे में निम्न लिखित चीजें होती हैं।†

नोषजन	०.३४५	%
स्फुरि काम्ल	०.१८६	%
पांशुज क्षार या पोटास	०.४०७	%
जल	८०.५	%

यदि फूल के समय एक एकड़ सनई की फस्ल को खेत में जोत दिया जाय तो निम्नाङ्कित वस्तुएँ उस खेत को मिल जांयगी।

नोषजन	६२—९७ पौंड
स्फुरिकाम्ल	३४—५३ पौंड
पांशुज क्षार या पोटास	७३—११४पौंड

एक एकड़ अच्छी हरी सनईकी खादसे खेतको ५३—५५ मन शुष्क कार्बनिक पदार्थ (Organic-matter) मिलता है। यदि डंठल रेशे के लिये सड़ा लिये जावें और केवल पौदों की जड़ और ऊपरी हिस्से खेत में जोत दिये जावें तो लगभग १ टन हरी खाद खेतको प्राप्त होगी और ३१ पौंड नोषजन खेत में जमा हो जायगा। खेत को यदि हरी सनई की खाद दी जावे तो प्रति पौंड नोषजन के लिये ३ आने खर्च पड़ेगा। और यदि नोषजन के वास्ते खली जैसी खाद दी जावे तो प्रति पौंड नोषजन के लिये लगभग ८ आना खर्च पड़ेगा।

*निम्नाङ्कित कोष्टक न० ६ में, भिन्न भिन्न खादों में कितनी नोषजन, स्फुरिकाम्ल और पोटास की मात्रा होती है दी गयी है।

*Annual Statement of the sea-borne trade of British India wih British Empire and Foreign countries for the fiscal year ending 1930. Volume I

† Patil-Bulletin 47, 1911. Dep. Ag. Bombay.

* Mukerji, N. G.—Hand Book of Indian Agriculture.

Thacker Spink & Co:, Calcutta.

कोष्ठक नं० ४

कितना पाट (Hemp) (ख़ासकर सन) निम्नलिखित देशों को भेजा गया ।

	माल			दाम		
	१९२७-२८	१९२८-२९	१९२९-३०	१९२७-२८	१९२८-२९	१९२९-३०
	हंडरवेट	हंडरवेट	हंडरवेट	रु०	रु०	रु०
यूनाइटेड किंगडम	७७१७८	६२१५५	७२७९९	१५१९५७३	९६९७७२	११९४१८२
अदन और रियासतें	...	...	९	...	...	१७५
सिलोन	३७८	५४६	५३२	५०६२	६४५६	७,६०७
न्यूसाउथ वेलस	...	...	...	...	...	...
आस्ट्रेलिया (टोरल)	...	...	...	...	...	...
न्यूज़ीलैन्ड, मैनारी और अंग्रेज़ी समूआ	७२	...	३६	१५३०	...	९५०
और अंग्रेज़ी राज्य	६	१४	६	१२०	३१५	१३०
योग सारा अंग्रेजी राज्य	७७६३४	६२७१५	७३३८२	१५२६२९५	९७६५४३	१२०३०४४

कोष्टक नं० ५

पाट (Hemp)- खासकर सन-जो विदेश जाता है।

देशों का नाम जहाँ माल भेजा जाता है तथा भारत के उन प्रान्तों का नाम जहाँसे माल जाता है।	माल			दाम		
	१९२७-२८ हन्डरवेट	१९२८-२९ हन्डरवेट	१९२९-३० हन्डरवेट	१९२७-२८ रुपया	१९२८-२९ रुपया	१९२९-३० रुपया
उत्तरी रूस	७९१	९४४	११८९	१५८००	१५८५५	३३२५०
फिनलैन्ड	...	...	२६२	...	...	६५००
लटविया	...	४३७	...	...	७९५०	...
स्वीडेन	३२५०	६६९४	६७९०	५०९९०	११२०२०	१०२४८६
नारवे	१६१	...	२००	३३५०	...	३५००
डेनमार्क	७३७७	३६५३	६६२१	१२३८७९	६८१२५	१०३५७४
जरमनी	५००७२	५४६७२	६१९९७	८३८४८१	९२३८६३	९४६९८२
नेदरलैन्ड	...	...	२३१	...	...	३५४०
बेलजियम	२४८१३५	२९७१३०	१८०६३८	३९७८६९७	४५९३०४४	२७६५००५
फ्रांस	१७५१२	२४५१६	२००८६	३०२८५९	३७८२५६	३२३४७६
स्पेन	११५६	२२३७	२११२	२२२३५	३५४००	३९८५०

पुर्तगाल	८२४	१७०७	३१३५	१३३००	२६७५०	५७०२
इटली	२८४६०	६५८२१	२६३८१	४१४७१६	६६१६४४	४१४६८५
बलगेरिया	...	२६७४	६००	...	५६०५०	१३१६०
सर्व क्रोट स्लोवेन स्टेट	...	...	७१४	...	...	१२०००
ग्रीस	१२१७३	१८६१६	२१२६०	२०५३७०	२८४६००	३२२०११
सीरिया	१०५	...	...	२०००	...	...
मस्कट राज तथा ट्रूशियल ओमन	२८४४	२६३९	२३६६	५६०२२	५४०६१	४७०६१
अरबकी और देशी रियासतें	११३८	८६६	५६२	१७६६०	१७२४०	११५८१
फारस	१८८	३६६	१७४	३७६२	६४२०	४०७१
जापान	...	३५०	...	...	७७००	...
ईजिप्ट (मिश्रदेश)	२५०१	...	...	३७०००	...	...
इटैलियन पूर्वी एफ्रीका (सोमाली लैन्ड इरीट्रिया	६१	६८	१०५	१६३७	१३६०	१४५०
यूनाइटेड स्टेट्स आफ् अमेरिका						
वाया अटलांटिक कोस्ट	२६७६४	१५५२६	२२७४६	४६५४३०	२१८५१७	४२८३८५

	माल			दाम		
और बिदेशी देश	...	...	३६	...	१२८	४२०
योग-विदेशों का	४०६५१२	४९८३८२	३६१५७७	६५५६८१८	७७७५३३६	५९३००३९
बंगाल का भाग	३४१८०१	४५३९१३	३१५६८९	५३६७०२७	६८०६६४०	४७१०८८५
बम्बई ,, ,,	११२३१४	८७७२६	१०३५७२	२२००६००	१६३८३४१	१८५८३८७
मद्रास ,, ,,	३००३१	१९४५१	१५६९८	५१५४८६	३०६७७८	२६३८११
बर्मा ,, ,,	...	...	...	...	१२०	...
योग	४८४१४६	५६१०९७	४३४९५९	८०८३११३	८७५१८७९	६८३३०८३

कोष्टक नं० ६

खाद	नोषजन (N)	स्फुरिकाम्ल ($P_2 0_x$)	पोटास ($K_2 0$)
सड़ा हुआ गोबर	०·६ %	०·१७ %	...
सड़ा हुआ मैला (Poudrette)	०·६ %	०·५ %	...
अंडी की खली	७·० %	२·९ %	...
नीम की खली	५·० %	१·५ %	२·६
सनई का पौदा	०·३४५%	०·१८९ %	...
			०·४०७

ऊपर कही हुई बातों से बड़ी सुगमता से ज्ञात हो सकता है कि एक ही दर्जे तक भूमि को उपजाऊ बनाने के लिये सनई की हरी खाद की अपेक्षा कितने दाम की गोबर की खाद या अंडी या नीमकी खली की आवश्यकता होगी। यह प्रत्यक्ष है कि खेत में हरी सनई की खाद देने में और खादों के अपेक्षा बहुत कम खर्च पड़ता है। लेखकों ने सनई से मिलान करते समय वैज्ञानिक खादों पर (Artificial fertilizers) बिलकुल ध्यान नहीं दिया है क्योंकि इनके दाम मामूली खादों के अपेक्षा बहुत अधिक लगते हैं।

निम्नाङ्कित कोष्टकों में कुछ ऐसे तजरबों (प्रयोगों) का फल दिया गया है जिसमें यह पता चलाने का यत्न किया गया था कि भिन्न २ खादों का असर भिन्न २ फस्लों की पैदावार पर क्या पड़ता है।

कोष्टक न० ७

प्रयोग	गन्ने की पैदावार प्रति एकड़ (मनों में)	कच्ची चीनी प्रति एकड़ (मनों में)	शुष्क पदार्थ प्रति एकड़ (मनोंमें)
सनई की हरी खाद	८४७ ± ३२	८७·० ± ३·६	२४६·१ ± ८·०
बिना खाद	६४६ ± २२	६७·२ ± २·६	२००·१ ± ६·६

कोष्टक न० ८

प्रयोग	दर प्रति एकड़ (मन)	प्रति एकड़ गेहूं की पैदावार	प्रति एकड़ कपास की पैदावार जो गेहूँ के बाद लिया गया
		मन—सेर—छटाँक	मन—सेर—छटाँक
गोबर की खाद	४००	२०—६—४	१५—१७—८
सड़ा मैला	४००	२४—२८—१२	१४—२२—१५½
नीमं की खली	२०	२३—२२—८	१६—१८—१२
सनई की हरी खाद	...	२४—३५—०	१६—३५—०
बिना खाद	...	२०—३३—१२	१३—३०—३५

यह आश्चर्य्य जनक बात है कि बिना खाद वाले खेत में गोबर की खाद वाले खेत की अपेक्षा अधिक पैदावार हुई। सम्भव है कि उस खाद का पहिले फस्ल में असर न हो पाया हो।

कोष्टक न० ९

प्रयोग	दर प्रति एकड़ मन	बाँसमती धान की पैदावार प्रति एकड़ (कानपुर) पौंड
गोबर की खाद	१००	१३८७
हड्डी की खाद (Bone Superphosphate)	१४० पौंड	११२१
अंडी की खली	१५	१६३४
सनई की हरी खाद	३० सेर बीज बोया गया	२४८६

भोजन

[ले० पं० गौदत्त शर्मा]

सभ्यताके इतिहासमें मनुष्यकी कभी भी इतनी उन्नति नहीं हुई जितनी कि उन्नीसवींके पिछले तथा बीसवीं शताब्दिके प्रारम्भिक कालमें हुई है। परन्तु संसारमें विशेषतया भारतमें, पाकशास्त्रकी बहुत ही कम उन्नति हुई है। जिन लोगोंने स्वास्थ्य विज्ञानका कुछ भी अध्ययन किया है वह जानते हैं कि रोगोंका मुख्य कारण अशुद्ध भोजन ही है तथा स्वास्थ्यके लिये वायु पानी आदि के साथ ही साथ शुद्ध भोजन भी आवश्यकीय है। हम बनावटी तरीक़ोंसे भोजनको अच्छा बनानेका प्रयत्न करते हैं और सोचते हैं कि इन अप्राकृतिक उपायों द्वारा हम प्रकृति पर विजय पाजायेंगे। यद्यपि विज्ञान की इतनी उन्नति हो चुकी है तथापि बहुत से मनुष्य अभी इससे भी अनभिज्ञ हैं कि स्वास्थ्य किन चीज़ों पर निर्भर है।

हम तक पहुंचनेके पूर्व ही अधिकतर भोज्य पदार्थोंका वह तत्व जो कि स्वास्थ्यके लिये आवश्यकीय है उनमें से निकल चुकता है। अधिकतर हम भोजनको देखनेमें सुन्दर बनानेके लिये ही उस तत्व को खो बैठते हैं जिसके खोनेसे भोजन की पौष्टिक शक्ति कम हो जाती है। प्रायः हम मैदा (White flour) अधिकतर व्यवहारमें लाते हैं तथा मिठाई और भांति भांति में रंगके शरबतका अधिक व्यवहार करते हैं परन्तु हम यह नहीं जानते कि ऐसा करनेके लिये हमें शाकको अवैज्ञानिक ढंगसे पकाना पड़ता है जिससे खानेके वह क्षार (Alkaline salts) जो स्वास्थ्यके लिये परमावश्यकीय हैं कम होजाते हैं। हम किसी तरह भी प्रकृतिसे नहीं जीत सकते। भोजन अपनी प्राकृतिक दशामें ही खानेसे अधिक पौष्टिक होता है। अप्राकृतिक उपायों द्वारा पका भोजन आवश्यकतासे अधिक खाया जाता है। हम भलेही अधिक न खाना चाहें परन्तु सुस्वादु होनेके कारण हमें अधिक खाना ही होता है। यहाँ तक कि कभी कभी तो आवश्यकतासे तीन या चार गुणा तक खाजाते हैं, और हमें मालूम नहीं होता कि हम अधिक खारहे हैं। यह ही नहीं किन्तु हम प्रायः एक ही समय अनेक प्रकार के अन्न तथा मसालों से बना हुआ भोजन खाजाते हैं। इसीलिये भारत की आयुका औसत (Average) सौ वर्ष से गिरते गिरते केवल २१.४ वर्ष ही रह गया है।

हम देखते हैं कि जंगली पशु अनेक भांति का भोजन न खाकर केवल एक या दो वस्तु ही खाते हैं। और जो कुछ भी वह खाते हैं उसे उसकी प्राकृतिक दशामें ही खाते हैं तथा उसे भी खूब चबा चबा कर खाते हैं। यही कारण है कि वे सदैव हट्टे कट्टे ही दीख पड़ते हैं। अपनी आयु-पर्यन्त वे बहुत ही कम अस्वस्थ होते हैं। पालतू पशु यद्यपि प्राकृतिक दशा में ही रहे भोजन को ग्रहण करते हैं तथा चबा चबा कर भी खूब खाते हैं किन्तु उनका मालिक उनसे अधिक काम लेने के लिये उन्हें बेमेल एवम् अप्राकृतिक पदार्थ खिला देते हैं। इसी लिये वे अधिक अस्वस्थ रहते हैं। प्रकृति का अध्ययन करने से पता चलता है कि जंगली जानवर उसी जाति के पालतू जानवरों से हमेशा कहीं अधिक बलवान होते हैं। किसी भी पालतू जानवर को आप कितना ही अच्छा तथा देखने में पौष्टिक भोजन खिलाइये वह उसी जातिके जंगली जानवरसे ही कमज़ोर दृष्टिगोचर होगा। सो मनुष्य जो कि भांति भांति का भोजन एक ही साथ करता है एवम् अवैज्ञानिक ढंग से पके भोजन से अपनी क्षुधातृप्ति करता है बहुधा रोगी रहा करता है तथा अकाल मृत्यु का शिकार बन जाता है।

हमारे वर्तमान ज्ञान के अनुसार मनुष्य का शरीर बनाने के लिये लगभग १८ तत्व चाहियें। ये तत्व हमें भोजन के साथ ही मिलने आवश्यकीय हैं। इन तत्वों में से कुछ कार्बनिक यौगिक (Organic Compounds) हैं इसलिये हमारे भोजन में इनकी उपस्थिति आवश्यकीय

है। इनके बदले औषधि के तौर पर अकार्बनिक लवण (Inorganic Salts) खाने से काम नहीं चल सकता। ऐसा करनेसे स्वास्थ्यको बहुत हानि होती है और फल स्वरूप मनुष्य एक न एक दिन मर जाता है। खेद की बात है कि स्वास्थ्य विभाग (Medical department) इस ओर बहुत कम ध्यान देता है। कुछ दिन हुये यह समझा जाता था कि जिस भोजन के खाने से मैदे (System) में जितनी ही अधिक गर्मी उत्पन्न हो उतना ही वह भोजन अच्छा होता है। परन्तु अब यह सिद्ध किया जा चुका है कि भोजन की पौष्टिक शक्ति नापने का यह उपाय ठीक नहीं है। कुछ भोजन ऐसे हैं कि जो गर्मी तो खूब पैदा करते हैं किन्तु उनके सेवन से स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और कुछ ठीक इसके विपरीत होते हैं।

हमारे देश वासियों का यह विचार है कि भोजन की मुख्य पौष्टिक शक्ति घी में रहती है। माना कि मनुष्य के भोजन में घी का भी कुछ भाग रहना चाहिये परन्तु बहुत सी चीजें घी से भी अधिक आवश्यकीय हैं और खेद की बात है कि उनकी ओर विरले ही ध्यान देते हैं, बल्कि जैसे कम घी होने से भी भोजन कम पौष्टिक हो जाता है ऐसे ही अधिक घी होनेसे भी भोजन हानिकारक हो जाता है।

जैसे हमारे भोजन में घी रहना आवश्यकीय है ठीक उसी प्रकार भोजन में 'प्रोटीन' (Protein) भी एक आवश्यकीय पदार्थ है। प्रोटीन कई प्रकार की होती है। दाल तथा दूध की प्रोटीन में बहुत अंतर है और इनके गुण भी भिन्न भिन्न हैं। सब डाक्टरों की राय है कि प्रोटीन भोजन का एक आवश्यकीय पदार्थ है और मनुष्य को रोज़ कम से कम दो औंस (Ounce) प्रोटीन अवश्य खानी चाहिये। प्रोटीन दूध, दाल, शाक, फल, अंडे, मांस आदि में खूब होती है। अंडे तथा दूध की प्रोटीन और प्रकार की प्रोटीनसे अच्छी होती है। बिना प्रोटीनका भोजन व्यर्थ है।

पौष्टिक भोजनका एक और आवश्यकीय तत्व विटामीन (Vitamin) या प्राण तत्व है। बीस वर्ष पहिले तक इस तत्वको कोई भी नहीं जानता था। अब भी इसके बारेमें अधिक मालूम नहीं है। किन्तु हां प्रोटीन की भांति ये भी कई प्रकारके होते हैं और भोजनमें इनकी उपस्थिति भी आवश्यकीय है। अभी हाल ही में चूहों पर प्रयोग किया गया था। कुछ को किसी विशेष प्रकारका विटामीन नहीं दिया तथा दूसरोंको किसी दूसरी प्रकारका नहीं दिया गया। बाक़ी सब खाना खूब दिया गया। तो कुछ दिनके बाद मालूम हुआ कि कोई तो खूब खाना मिलने पर भी सूखकर पिंजर होगया है तथा किसीके शरीर की गठन बिगड़ गई है इत्यादि। यह तत्व फल, शाक तथा दूधमें पाये जाते हैं। इसीलिये हमारे भोजनमें फल शाक आदि भी आवश्यकीय हैं।

इन सब चीज़ोंके होते हुये भी कुछ अकार्बनिक लवणोंकी आवश्यकता होती है। परन्तु मनुष्य की आवश्यकता भर के लिये ये लवण फल, शाक आदिमें काफी रहते हैं, इनके अलग खाने को कुछ आवश्यकता नहीं हैं।

हमारे कुछ भाई कहते हैं कि मनुष्यको बलवान बननेके लिये तथा भोजनको पूरीतौर पर पौष्टिक बनानेके लिये टानिक (tonic) को आवश्यकता होती है। परन्तु वे भूले हैं, टानिक लाभके बदले हानि करता है। जिस समय इसका सेवन किया जाय उस समय भले ही लाभदायक सिद्ध हो किन्तु अन्तमें हानिकारक ही सिद्ध होता है। इसका हमारे शरीर पर ठीक वही प्रभाव होता है जो थके बैल पर लाठीका होता है। जैसे लाठी लगनेसे बैल उस समय भले ही तेज़ चल ले किन्तु बादको बैठ जाता है वैसे ही टानिकसे क्षणिक लाभ कुछ भले ही प्रतीत हो किन्तु बादको हानिके सिवा कुछ भी नहीं होता।

हमारे भोजनके लिये दूध एक बहुत ही अच्छी चीज़ है। जो चीज़ें हमारे भोजनमें होनी चाहिये

दूधमें वे सब मौजूद हैं। प्रोटीन दूधमें खूब होती है। प्राणतत्व भी इसमें प्रायः सब प्रकारके होते हैं। किसी किसी दूधमें सी-प्राणतत्व (C vitamin) नहीं होता और यदि होता है तो आवश्यकता से कम सो उसमें हम नारंगीका रस मिला सकते हैं। चूना, स्फुर (Phosphorus) मगनीसम्, लोहा, नैलिन, मांगनीज़ तथा और बहुत से लवण रहते हैं। दूधतो एक प्रकारका आदर्श भोजन ही है।

हमारे कुछ देश वासियोंका कहना है कि भारत-बासी अत्यन्त दरिद्र होनेके कारण फल नहीं खा सकते। फलसे उनका मतलब अंगूर सेव आदि क़ीमती फलोंसे होता है। अमरूद पपीते आदि सस्ते फल इनके मतानुसार हानिकारक होते हैं तथा शाक इत्यादि तो बिलकुल ही व्यर्थ समझे जाते हैं। परन्तु उनको यह मालूम नहीं कि यद्यपि अंगूर सेब आदि बहुत लाभदायक होते हैं तथापि अमरूद पपीते आदि भी उनसे कुछ अधिक कम लाभदायक नहीं होते। यहां तक कि शाक आदि भी यदि अप्राकृतिक एवम् अवैज्ञानिक ढंगसे न पकाये गये हों तो उतने ही गुणकारक होते हैं। फल कोई भी सड़ा होने से अथवा अधिक खानेसे हानिकारक हो सकता है। फिर अमरूद ही को बीमारीका एजेण्ट कैसे माना जा सक्ता है। हमें शाक इत्यादि को वैज्ञानिक रीति से पकाना चाहिये ताकि उसकी पौष्टिक शक्ति कम न हो। जो प्रोटीन तथा प्राणतत्व अंगूर आदि में होते हैं वही शाकमें भी होते हैं।

भारत सरीखे फल-प्रधान देश की आयु का औसत (average) संसार की किसी भी जातिसे कम हो इसका कारण हमारा दुर्भाग्य है। यह कभी नहीं माना जा सकता कि प्रकृति ने फल तथा भोजनमें भारतको किसी भी देशसे पीछे रक्खा है। फल ही में क्यों, प्रकृति ने तो भारत को हर चीज़में शिरोमणि ही रक्खा है। उस ही भारत की आयु का औसत २१.४ हो यह महानाश्चर्य की बात है। प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि इस शास्त्रका भली प्रकार अध्ययन करे।

विकासवाद

[लेखक—विकास प्रिय]

विज्ञानसे अपरिचित सामान्य शिक्षित जनता कुछ दिनोंसे यह समझने लगी है कि वैज्ञानिक लोग अब प्राकृतिक विकासवादमें विश्वास नहीं रखते हैं और विश्व प्रहेलिकाओंकी सिद्धिके लिये किसी नये समाधानके लिये उत्सुक हैं। इस कल्पनामें कुछ अधिक तत्व नहीं है, प्रत्युत यह कहा जा सकता है कि यह कल्पना बिलकुल निराधार है, क्योंकि वैज्ञानिक वस्तुतः इस विकास वादकी जितनी पुष्टि आजकल देख रहे हैं उतनी पहले कभी नहीं देखी गई थी, वे सभी एक मतसे इस सिद्धान्तको स्वीकार करते जा रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस मतके कुछ प्रतिवादी आजकल भी उसी प्रकार विद्यमान है जिस प्रकार डार्विनकी 'ओरिजिन आव् स्पेसीज़' नामक ग्रन्थके प्रकाशित होनेके समय थे। पर सामान्यतः समस्त वैज्ञानिक संसार इस विकासवादका पक्षपाती ही है।

साधारणतः व्यक्तिगत रूपसे प्रकृतिवादियों की सम्मति कुछ भी क्यों न हो पर मुख्यतः केवल एक ही वैज्ञानिक, अरलैंगनके प्रोफेसर फ्लाइशमेन ऐसे हैं जिन्होंने खुले रूपमें विकासवादका स्पष्ट विरोध किया है। उनका कहना है कि "ज्यों ज्यों वे पशुओंके प्रजनन-विकासका अध्ययन और तत्सम्बन्धी सिद्धान्तोंकी विवेचना करते जा रहे हैं त्यों त्यों उनको यह दृढ़ विश्वास होता जा रहा है कि विकासवादका सिद्धान्त एक प्रकार का विचित्र माया-जाल है। यह सिद्धान्त अपने प्रयोग फलों और उनकी विवेचनाओंमें छल से भरा हुआ प्रतीत होता है, पर वस्तुतः इससे किसी निश्चित सिद्धान्तकी आशा करना व्यर्थ

है।" दूसरे स्थान पर उक्त प्रोफेसर ने विकासवाद को 'मृत सिद्धान्त' लिखा है। प्रोफेसर फ्लाइसमेन जीव-वैज्ञानिक संसार में विकासवाद के एक मात्र विरोधी हैं। पर इसमें आश्चर्य ही क्या है? जिस प्रकारका भ्रमरहित प्रमाण विकासवादके सम्बन्धमें आप चाहते हैं वह तो प्राप्त होना कठिन ही है।

पर ऐसी कौनसी बात है जिससे प्रेरित होकर वैज्ञानिक विकासवादको सन्देह की दृष्टिसे देखने लगते हैं, और इस वादको छोड़ देनेके लिये उत्सुक होजाते हैं? इसका मुख्य कारण यह है कि वैज्ञानिक इस विषयमें एक मत नहीं हैं कि विकासक्रम किस प्रकार कार्य करता है या इसके वास्तविक कारण क्या हैं, एवं इन्हीं प्रकार और कारणोंके सम्बन्धमें कभी कभी तो घोर वितण्डा उठने लगता है। कुछ वैज्ञानिकोंका तो यह विश्वास है कि वर्तमान ज्ञानके सहारे तो इन प्रश्नोंका उत्तर देना असम्भव है, उन्होंने अपने परीक्षणोंका क्षेत्र परिवर्तित कर दिया है,पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने विकासवाद को ही छोड़ दिया है। किसी बातको प्रमाणित मान लेना एक बात है और उस बातके लिये सन्तोष-जनक समाधान ढूँढ़ना यह दूसरी बात है।

हम यहां भिन्नभिन्न सम्मतियाँ रखनेवाले व्यक्तियोंके कुछ उद्धरण देंगे जिनसे पता चल जावेगा कि लोगोंका मतभेद किस बातमें हैं। सन् १९१४ में अमेरिकन एसोसियेशन फार एडवान्समेण्ट आव् साइंसके सभापति प्रो० ई. बी. विल्सन ने अपने सम्भाषणमें कहा था कि "जीववेत्ता विकासवादके सामान्य सिद्धान्तों और अवतरण संबंधी नियमोंको छोड़ दे रहे हैं जिससे कि 'पैतृकता' और 'परिवर्तन' अपने आप चल सकें। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि विकासवादमें कोई सन्देह है, या इसकी प्रहेलिकाओंमें कोई रुचि कम हो गई है। यह तो स्वतः परिचालित एक नीति थी कि जिससे यह और भी अधिक सिद्ध होगया कि प्रहेलिकाओंका किसी दूसरे प्रकार समाधान करना असम्भव है। कोई दूसरावाद उतना भी सन्तोषजनक नहीं है जितना कि विकासवाद। 'फ्राइबुर्गके प्रोफेसर गुष्टाव् स्टाइन-मेन भी जो अवतरणके सम्बन्धमें अनोखी और विलक्षण ही सम्मति रखते हैं और जिनके विचारों का घोर खंडन भी किया जाचुका है विकासवादमें दृढ़ विश्वास रखते हैं। उनके शब्द ये हैं:—

"विकासका जो सिद्धान्त पचास वर्ष पूर्व डार्विन ने पुनर्जीवित किया था अपने वर्तमान रूपमें अनैतिहासिक है। यह सच है कि हमने वैज्ञानिक परीक्षणों की विधियों पर आधिपत्य और आतंक जमा रखा है। पर तब भी विज्ञान इसकी विजय पर प्रसन्न नहीं है। केवल कुछ आशावादी कुतार्किक व्यक्ति ही ऐसे हैं जो इसके द्वारा प्राप्त की गई सफलता पर मस्त हैं, अन्यथा वैज्ञानिक और साधारण जनता दोनों ही इसे सन्देह की दृष्टिसे देखते हैं। पर अवतरणके सिद्धान्तमें कोई सन्देह नहीं कर रहा है और चैतन्य संसारको समझनेके लिये इसे परमावश्यक अनुभव किया जा रहा है। गत दस वर्षमें जितनी इस सिद्धान्त की दुर्दशा हुई है उतनी पहले कभी नहीं हुई थी। अब तो बार बार यह प्रश्न उठा दिया जाता है कि विकासका क्रम किस प्रकार है अथवा विकास क्यों होता है। कोई भी इसका सीधा और सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे पाता है। जब कोई पूछता है कि दुपाओंसे दूध पिलाने वाले चौपायोंका किस प्रकार विकास हुआ तो कोई तो किसी प्रकारके पेटसे सरकने वाले जानवरोंसे इनका विकास बताता है, कोई किसी और से। कोई तो इतिहासके आदिकालीन लुप्तप्राय विशिष्ट जन्तुओंसे विकास बतादेता है और यदि उससे पूछा जाय कि वे जन्तु लुप्त क्यों होगये तो इसका गोलमाल उत्तर ही मिलता है। यदि विकासके सिद्धान्तों—जैसे पैतृक नियम, निर्वाचन सिद्धान्त आदिके विषय में पूछा जाय तो केवल व्यक्तिगत मनोकल्पनायें ही बतादी जाती हैं जिनकी सत्यता सन्देहजनक है। विकासवाद की किसी विशेष श्रेणी को कोई मुख्य समझता है तो कोई उसे अधिक महत्व

नहीं देता और कोई तो उसे बिल्कुल व्यर्थ समझता है।"

मैण्डेलवाद के विशेष परिपोषक मिस्टर बेटसन डार्विनवाद के विरोधी होते हुए भी कहते हैं, कि जीवन सम्बन्धी बहुत सी ऐसी समस्यायें हैं जिनके विषय में यही मानना पड़ता है कि कदाचित् विकासवाद सत्य है। पर यह विकास किस प्रकार और क्यों हुआ इसके विषय में हम बिल्कुल अबोध हैं।

इन सब उद्धरणों से पता चल जायगा कि विकासवादके प्रमुख विरोधी भी मूलरूपसे इसकी सत्यता को स्वीकार करते हैं, विरोध केवल क्रम, विस्तार और कारण के निर्णय में ही है। ऐसा होते हुए विकासवाद को मृत-वाद कहना उचित नहीं है। यह सम्भव है कि कदाचित् डार्विन द्वारा दिया गया विकास क्रम ठीक न हो पर विकास-वाद तो ठीक ही है। 'डार्विनवाद' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है, कभी कभी तो यह विकासवाद का पर्याय समझा जाता है और कभी कभी डार्विन द्वारा निर्दिष्ट विकासक्रमका ही द्योतक होता है। अतः इस शब्दके प्रयोगमें भी सावधानी रखने की आवश्यकता है। यदि कोई डार्विन के विकासक्रमका विरोध करता है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वह विकासवादका विरोध कर रहा है।

चेतन विकासवादका आरम्भ सब से पहले यूनानी दर्शन शास्त्रमें पाया जाता है। बादको रोमवासी और मध्यकालीन लेखकोंने भी इसका कुछ उल्लेख किया है। वस्तुतः समानता और एकता दिखानेमें मनुष्य को कुछ विशेष आनन्द स्वतः आता है। पर आरम्भ कालीन ये विचार तो केवल कल्पना-गत ही थे, लोगोंने इन कल्पनाओंको प्रमाणोंसे सिद्ध न किया और न कभी उन्होंने प्रत्यक्ष बातोंको स्थापित कर नियमित करनेका ही प्रयत्न किया। प्राचीन लेखक जो कुछ लिखते आये उसको बिना परीक्षा किये ही आगेके लेखक सच और प्रमाणित मान लेते थे। जब तक जीव विज्ञान और वनस्पति शास्त्रकी वृद्धि न हुई और परीक्षित और निरीक्षित विषयोंको संकलित और नियमित न कर लिया गया, तब तक इसके अति-रिक्त और हो ही क्या सकता था। पर अठारहवीं शताब्दी के अन्त और १९ वींके आरम्भ तक ऐसा न हो सका और उसके बाद भी अधिक उन्नति न हुई। वैज्ञानिक विचार अभी अपरिपक्व थे। लोग उनको ग्रहण करनेमें हिचकिचाते थे। इसका फल यह हुआ कि लैमार्कके विचारोंका किसीने स्वागत न किया और कुवियरके विरोध की उपस्थितिमें इन्हें पनपने न दिया गया।

यह कितने महत्वकी बात है कि लैमार्क (१७४४-१८२९) ने भी जातियोंका निरीक्षण करके विकासके सम्बन्धमें उसी प्रकारके विचार प्रस्तुत किये जिस प्रकारके लगभग ५० वर्ष बाद डार्विनने किये थे। जाति (Species) शब्दका प्रयोग पहले तर्कशास्त्रमें किया जाता था पर बाद को जान रे (१६२८-१७०५) ने इसका प्रयोग वनस्पतियों और पशुओंके लियेभी किया। जाति शब्दसे उसका तात्पर्य उन विशिष्ट समूहों से था जिनमें परस्पर समागम होसकता था। न्यायमें भी 'समानप्रसवात्मिका जातिः' कहा गया है जिसकाभी यही तात्पर्य है। जाति शब्दका औरभी अधिक निश्चित बोध स्वेडिश वैज्ञानिक लिनेयस (१७०७-१७७८) ने कराया, जिसने पशुओं और वनस्पतिओंके आधुनिक वर्गीकरण और नामकरण को जन्म दिया। लिनेयसके विचारोंमें कुछ असम्बद्धताभी पायी जाती है, पर उसके नाम पर जो सिद्धान्त प्रचलित है वह यह मानता है कि जाति वे निश्चित समूह हैं जो पृथक् पृथक् उत्पन्न किये गये। लिनेयस-वादजो डार्विनके समय तक प्रचलित रहा यह मानता है कि 'जातियोंकी उतनी ही संख्या है जितनीकि आरम्भमें परमात्माने बना दी'। लेमार्कने जिसने जीवविज्ञान और वनस्पति-शास्त्रका बहुत कुछ अध्ययन किया, लिनेयसवादका

विरोध करना अनिवार्य समझा और उसने विकासवाद द्वारा पशु-अवतरण की व्याख्या करनी आरम्भ की ।

लेमार्कका मुख्य ग्रन्थ "फिलोसोफी ज़ूलोज़ीक" (Philosophie Zoologique) बड़ाही जटिल और कल्पना पूर्ण है, और उसमें उल्लिखित बातें बहुधा प्रमाण रहित हैं, केवल उसमें नियमित वर्गीकरणही महत्व पूर्ण है। उसका कहना है कि जातियोंकी भावना अस्वाभाविक और कृत्रिम है, प्रकृतिमें तो केवल व्यक्तियाँ है जिनमें उत्तरोत्तर श्रेणीबद्ध सम्बन्ध है । लेमार्कके अधिकांश ग्रन्थमें उन कारणों पर विचार किया गया है जिनके द्वारा पशुओंमें परिवर्तन हुआ । परिस्थितिकी अनुकूलता और प्रतिकूलताही इस परिवर्तनका मुख्य कारण बतायी गयी है । जिन जिन अंगोंसे पशुओंने अधिक व्यवहार लिया, वे वे अंग विकसित होते रहे और जिन अंगोंसे कम काम लिया जाने लगा, वे अंग धीरे धीरे लुप्त होने लगे । गुफाओं या समुद्रस्तलों के समान अँधेरे स्थानमें रहनेवाले पशु अन्धे हो गये, पर दृष्टिशक्तिके स्थानमें उनकी स्पर्श-शक्ति अधिक बलवती होगई क्योंकि स्पर्श द्वारा ही वे अधिकतर चीजोंकी पहचान करते थे। परिस्थितियाँ अतिशीघ्र और सदा परिवर्तित होती रहती हैं, इनके अनुसारही पशु अपनी आदत बना लेता है, और फलतः शनैः शनैः तदनुसार उसमें परिवर्तन होने लगते हैं।

लैमार्कके विचारोंका पता बहुधा लैमार्कके उक्तग्रन्थ 'जीव वैज्ञानिक दर्शनशास्त्र' से लगाया जाता है पर जैसा गिआर्ड (Giard) ने कहा, उसके विचारोंका औरभी अच्छा पता उन क्रमबद्ध व्याख्यानों से लगाया जा सकता है जो पेरिस म्यूज़ियम में दिये गये थे। गिआर्डका कहना है कि "लैमार्क ने अनगिनती जातिओंका परीक्षण और निरीक्षण करके 'Flore francaise' और 'Encyclopedie methodique' में विवरण और वर्गीकरण दिया है। पचास वर्षकी आयुमें उसे यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि निम्न श्रेणीके पशुओंके विषयमें भी इसी प्रकारका ग्रन्थ संकलित किया जाय। तीस वर्षके घोर परिश्रमके पश्चात् लैमार्क इस योग्य हुआ कि वह पशुओंके परिवर्तनके सम्बन्ध में कुछ निश्चित विचार प्रस्तुत कर सके।" १८०६ के एक प्रारम्भिक व्याख्यानमें से निम्न उद्धरण देना अच्छा होगा :—

"इस विषयके सम्बन्धमें मैंनेजो कुछ निरीक्षण और परीक्षण किया है उसमें बाधायें और आपत्तियाँ बहुत सी अवश्य हैं, पर मुझे इसका दृढ़ विश्वास हो रहा है कि संसारमें जातियोंकी संख्या उतनी अधिक नहीं है जितनीकि अब तक मानी जाती रही है । वस्तुतः जातियाँ बहुत ही कम हैं, अधिकांशतः सब एकही हैं, उत्तरोत्तर उनमें कुछ अनिर्वचनीय अन्तर अवश्य हो गये हैं। यह तो सबके ही सामान्य अनुभव की बात है कि स्थान, जलवायु, भोजन और जीवनचर्याके अनुसार पशुओंके कद, रूप, अंग विकास, रंग, आयु और पारिश्रमिक प्रवृत्ति परिवर्तित हो जाती है ।

"जिन्होंने निरीक्षण किये हैं वे इस बातको जानते हैं कि पशु यदि किसी अंगसे अधिक और बराबर काम लें तो वह अंग विकसित और अधिक बलवान हो जाता है, और यह विकास उसी अनुपातमें होता है जिसमें कि उससे काम लिया गया है। इसी प्रकार यदि कोई अंग व्यवहारमें न लाया जाय तो वह अंग चेतनाविहीन, दुर्बल और क्षीण होने लगता है, यहाँ तक कि बादको वह बिलकुल लुप्त भी हो जाता है ।

"यह भी अनुभवकी बात है कि इस प्रकार परिस्थितियों द्वारा जो परिवर्तन किन्हीं व्यक्तियोंमें होता है, वह उन व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं रहता है प्रत्युत उनकी भावी सन्तानोंमें भी वही परिवर्तन प्रकट हो जाता है। ये बातें सर्वथा सत्य हैं और इनमें कोई सन्देह नहीं कर सकता है, हाँ उनकी बात अलग है जिन्होंने प्रकृति और उसके

कार्योंका कभी भली भांति निरीक्षण नहीं किया है।"

लैमार्क के अनुयायी नहीं के ही बराबर थे, और इसलिये और भी कम कि कुवियर नामक व्यक्ति जो उस समय फ्रान्समें सर्वमान्य और सर्वोपरि समझा जाता था, इसका विरोधी था। जर्मनीमें भी नये विकासवादका स्वागत न हुआ क्योंकि वहाँ प्रकृतिवेत्ताओं ने इस वादको इस बुरे और आपद्जनक रूपमें प्रस्तुत किया था कि वहां के गम्भीर और मननशील व्यक्ति इसे उपेक्षा से देखने लगे। लिनेयसवाद पचास वर्ष तक इतना सर्वमान्य समझा जाता रहा कि डार्विनका कहना यह है कि उसे कोई भी ऐसा व्यक्ति न मिला जिसे उक्त वादमें विश्वास न हो।

डार्विनवादके लिये एक दूसरे ही विज्ञानने मार्ग साफ़ किया। यह था भूगर्भविज्ञान जिसका सामान्यतः जीव विज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता है। सर चार्ल्स लायल (१७९७--१८७५) का ध्यान पृथ्वीके इतिहासकी विवेचनाकी ओर आकर्षित हुआ। उसके पूर्व इस सम्बन्धमें कुवियरका 'प्रलयवाद'(Catastrophism) मान्य समझा जाता था। प्रलयवाद का अभिप्राय है कि भूमिके इतिहास में बहुतसे ऐसे समय आये हैं जबकि भयंकर प्रलय उपस्थित हुई और इस प्रलयके कारण भूमिका स्वरूप छिन्न भिन्न होकर परिवर्तित हो गया। डी ओरबिग्नी (d' Orbigny) ने २७ प्रलयोंका उल्लेख किया है। प्रलयके पश्चात् जब शान्ति उपस्थित होती थी, तब विशेष प्रकारके पशु और वनस्पति उत्पन्न होती थीं। पहली प्रलयके पश्चात् जो जीव उत्पन्न हुए उनकी अपेक्षा दूसरी प्रलयके बाद उत्पन्न हुए जीव अधिक विकसित थे। इस प्रकार हर एक प्रलय पहली की अपेक्षा उच्च थी। इन प्रलयोंको नाटकके पटाक्षेप समझना चाहिये। प्रत्येक पटाक्षेपके बाद नये नट उपस्थित होते हैं और पुराने लुप्त हो जाते हैं। इस प्रकार फलतः आधुनिक जीव जन्तुओं और वनस्पतियोंकी रचना हुई। कुवियर इस प्रकारकी नित नई रचनाओंके सम्बन्ध में स्पष्ट घोषणा करनेमें सावधान रहता था और उसने इन सबके अनेक कारण प्रस्तुत किये। पर वह रचनाओंमें विश्वास करता था, और उसके उत्तराधिकारियों ने उसे ही 'प्रलयवाद' का जन्मदाता ठहराया।

जेम्स हटन (१७२८--१७९७) ने यह विचार प्रस्तुत किये कि विश्वकी इन प्रहेलिकाओंका समाधान उन शक्तियोंके अध्ययन करने से हो सकता है जो आज कल भी संसारमें काम कर रही हैं। इस बात पर लोगोंने अधिक ध्यान न दिया पर लायल ने हटनके इस विचारके महत्वका अनुभव किया। उसने कहा कि जो शक्तियाँ इस समय संसारमें दृष्टिगत नहीं होती हैं, उनकी विद्यामानता प्राचीन समयमें कल्पित करना उचित नहीं है, और उनके आश्रय कर प्राचीन घटनाओं का समाधान नहीं किया जा सकता है। लायलने आधुनिक वर्तमान शक्तियोंका ही प्राचीन घटनाओं में प्रयोग किया। इस प्रकार कुवियरके प्रलयवादके सर्वथा विपरीत लायलको यह 'एक रसवाद' या 'साम्यवाद' था। इस वादका आशय यह है कि इतिहासके प्रत्येक समयमें एक ही प्रकारकी शक्तियाँ काम करती रही हैं और उनके कारण सृष्टिमें उत्तरोत्तर क्रमबद्ध नियमित विकास होता आता है। उसने एक ग्रन्थ 'भूगर्भ विज्ञान' (Principles of Geology) लिखा है। इसके पहले संस्करण में उसने जो विचार प्रस्तुत किये थे वे तो जीव-विकासवाद से बिलकुल मिलते जुलते थे, पर बाद को सन्तोषप्रद प्रमाणोंके अभावमें अन्य संस्करणोंमें वह विकासको कुछ छोड़ता सा प्रतीत होता है। इंगलैंडमें भूगर्भवेत्ताओं पर लायल की धाक बहुत ही अधिक थी, डार्विन लायलका मित्र हो गया था, अतः लायलके विचारोंसे वह बहुत कुछ प्रभावित हुआ जैसा कि उसने अनेक स्थलों पर स्वीकार किया है। प्रत्युत यह भी कहा जा सकता

है कि डार्विन ने लायलके विचारोंको ही जीवविज्ञान में प्रयुक्त किया।

विकासवादके इतिहासमें डार्विनने एक नया ही पृष्ठ आरम्भ किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि विकासवादके इतिहास में सबसे ऊंचा स्थान चार्ल्सडार्विन (१८०९-१८८२) को प्राप्त है। उसने जीव-विज्ञान में ही नहीं, प्रत्युत ज्ञानके प्रत्येक विभागमें क्रान्ति उत्पन्न कर दी। यह भी कोई कम आश्चर्यप्रद बात नहीं है कि जिस समय डार्विन ने अपने विचारोंको प्रकट किया था ठीक उसी समय एलफ्रेड रसेल (१८२३--१९१३) ने भी जातियोंके मूलके सम्बन्धमें उसी प्रकारके विचार प्रस्तुत किये। बिना किसी द्वेषभावके दोनोंने परस्पर सहयोगसे एक प्रारम्भिक लेख सन् १८५८ में प्रकाशित किया, पर इस लेख की ओर जनता का अधिक ध्यान आकर्षित न हुआ। हमारा तात्पर्य्य यहाँ यही है कि वस्तुतः यह कहना कठिन है कि विकासवाद का प्राथमिक श्रेय डार्विन को देना चाहिये या वालेस को।

विज्ञानके इतिहासमें १८५८ में डार्विनकी पुस्तक 'ओरिजिन आव् स्पेसीज़' प्रकाशित होना बड़े महत्व की बात समझी जाती है, इसने समस्त विचारोंमें हलचल मचा दी। यह हर्ष की ही बात है कि डार्विनके कार्य की वैसी उपेक्षा नहीं की गई जो उससे पूर्व लैमार्कके विचारोंकी की गई थी। इस का कारण यह है कि डार्विनके विचारोंके स्वागतके लिये लायलने भूगर्भविज्ञान में एक अच्छा क्षेत्र तैयार कर रखा था। इसके अतिरिक्त डार्विनके विचारोंका प्रचार इसलिये भी अच्छी प्रकार होसका कि उसने अपनी कल्पनाओंको पुष्टिमें यथाशक्य सन्तोषजनक प्रमाण इकट्ठे कर रखे थे। निस्सन्देह पहले तो उसे भी घोर विरोधका सामना करना पड़ा, बहुत से व्यक्तियों ने तो उसे कटु अपमान-जनक शब्द भी कहे, पर उसने अपना सिद्धान्त इतनी सादगी, और निभ्रान्ततासे रखा था कि अन्त-तोगत्वा सभी उसके पक्षके होगये। यहाँ पर यह

भली प्रकार समझलेना चाहिये कि डार्विनवादके दो पृथक् पृथक् अंग हैं। एक तो यह कि युक्ति प्रमाण और उदाहरणोंसे डार्विन ने अपने २० वर्षके निरीक्षणों द्वारा दिखा दिया था कि चेतन संसार की प्रहेलिकाओंका सबसे सुन्दर समाधान विकासवाद द्वारा ही हो सकता है। इस बातको तो सभी वैज्ञानिकों ने मान लिया। पर यह विकास क्यों होता है इसकी व्याख्याके लिये डार्विन ने स्वाभाविक निर्वाचन (Natural selection) का सिद्धान्त रखा। यह डार्विनवादका दूसरा अंग था। इस विषयको वैज्ञानिकों ने पूर्णतः अङ्गीकार न किया और इसके सम्बन्धमें आरम्भसे लेकर आज तक, कभी कम कभी अधिक, विवाद होता ही आरहा है। पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि विकास की व्याख्या के सम्बन्धमें स्वाभाविक निर्वाचन का सिद्धान्त ही सर्व प्रथम बुद्धिमत्ताका सिद्धान्त है, जिसके द्वारा भिन्न भिन्न जातियोंके पारस्परिक परिवर्तनका कारण निर्दिष्ट किया जासकता है। इसके सम्बन्धमें हक्सलेके जो विचार हैं, वे कुछ प्रकाश अवश्य डालेंगे। उसका कथन है कि "सन् १८५८ के पूर्व इस विषय पर उसकी कोई निश्चित सम्मति नहीं थी और इसके दो कारण थे। एक तो यह कि पारस्परिक जाति-परिवर्तनके सम्बन्धमें जो प्रमाण मिलते थे वे समुचित न थे, और दूसरा यह कि इस परिवर्तन की व्याख्याके लिये जो कारण बताये जाते थे वे सन्तोषजनक न थे।" हक्सलेको स्वाभाविक निर्वाचनके सिद्धान्तने कभी पूरा संतोष न दिया, पर तब भी इस सिद्धान्त ने उसे पूर्ण और कट्टर विकासवादी बनानेमें सहायता अवश्य दी।

डार्विन ने विकासवादको क्यों और कैसे अपनाया इसका विवरण उसके स्वलिखित जीवन चरित्रसे पता चल सकता है। उसका कहना है कि "बीगल (Beagle) नामक जहाज पर उसने जो पंचवर्षीय यात्रा (१८३१-१८३६) की थी वह उसके जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना थी। इस समय का अधिक भाग दक्षिणी अमरीकाके अन्तःप्रदेशोंमें

घूमनेमें बीता। वहाँ जो निरीक्षण किये, उनके आधार पर जातियोंके पारस्परिक परिवर्तनमें उसे पूरा विश्वास हो गया। वहाँ उसे तीन प्रकार की बातें मिलीं जिन्होंने उसके विचारों की पुष्टि की। (१) अरजेण्टाइन दलदलोंके पृष्ठतलों पर उसे विशालकाय लुप्त पशुओंके अवशेष मिले जो यद्यपि आजकलके वहाँ रहनेवाले पशुओंसे बहुत कुछ भिन्न थे पर उनमें समानता भी काफ़ी थी। (२) जब वह उस महाद्वीपमें दक्षिण की ओर मुड़ा तो उसे उत्तरोत्तर क्रमबद्ध लक्षणों वाले पशु मिले। ज्यों ज्यों दक्षिणकी ओर बढ़ता जाता था त्यों त्यों पशुओंमें क्रमशः थोड़ा थोड़ा भेद मिलता जाता था। विकासवाद का सिद्धान्त ही इस अन्तर की भलीप्रकार व्याख्या कर सकता था। (३) सबसे महत्व की बात उसे गेलापेगोस द्वीप समूहमें मिली। यह एक्वेडर तटसे ५०० मील पश्चिमको ज्वालामुखी-द्वीपोंका एक समूह है। सामान्यतः समस्त द्वीपोंमें अमरीकन जातिके पशु और पौधे थे पर तोभी इनमें विशेष भिन्नता थी। यही नहीं, प्रत्येक द्वीपमें कुछ ऐसी जातियाँ थीं जो अन्य द्वीपोंमें नहीं थीं। इस प्रकार की समता और विषमता ने डार्विनको आश्चर्य्यमें डाल दिया और इन द्वीपोंके अनुर्वर स्थलों की इस विचित्र लीला पर वह मुग्ध होगया।

सन् १८७७ के एक पत्रमें डार्विन लिखता है—"जब मैं बीगल जहाज़ पर था तब मैं जातियों की स्थिरतामें विश्वास रखता था, पर मुझे स्मरण है कि कभी कभी मेरे मस्तिष्कमें अनिश्चित सन्देह भी हो उठते थे। जब मैं १८३६ की पतझड़ ऋतुमें घर वापस आया, मैं अपनी पत्रिकाको प्रकाशित करने की तैयारीमें लगगया। उस समय मुझे बहुत सी बातोंसे यह पता चला कि अनेक जातियोंका एक ही मूल है......पर तब भी दो तीन वर्षोंके बाद तक जातियों की पारस्परिक परिवर्तनशीलता पर मुझे दृढ़ विश्वास न हुआ।" बादको जब उसे पारस्परिक परिवर्तनशीलता पर विश्वास हो भी गया तो भी उसे इस परिवर्तनके कारणोंका ठीक ठीक पता न चला। लायल ने भूगर्भ विद्यामें जिस विधिका उपयोग किया था, उसके ही आश्रय पर डार्विन ने समस्त निरीक्षित फलों को एकत्रित कर क्रम-बद्ध करना आरम्भ किया। पालतू पशुओं और बाग़ के वृक्षों की अनेक नई जातियां मनुष्यों ने स्वयं तैयार की हैं, जो पारस्परिक समागम और परिस्थितियों को परिवर्तित करने से बनती हैं। डार्विन ने ऐसे दृष्टान्तों का भी संकलन किया। डार्विन लिखता है कि इन सब के आधार पर उसने स्वाभाविक निर्वाचन का नियम स्थिर किया। "यह नियम ही ऐसी कुंजी है जिससे मनुष्य प्रकृति-रहस्य को खोल कर अनेक लाभदायक पशुओं और वनस्पतियों की जातियां बना सकता है पर प्रकृति में यह निर्वाचन का नियम किस प्रकार प्रयुक्त हो सकता है, यह मेरे लिये कुछ समय तक एक पहेली ही रही"। एक बार डार्विन माल्थस का जनसंख्या विषय पर एक प्रसिद्ध लेख पढ़ रहा था, उस लेख ने डार्विन की आंख खोलदी, वह स्वयं कहता है—"पशुओं और वनस्पतियों में जीवन-संघर्ष का दृश्य प्रत्येक स्थल पर दिखाई पड़ता है। इस बात को मान कर मुझे यह सुझाई पड़ा कि जहां जहां जिसके लिये परिस्थिति अनुकूल हो, वहां वहां वह जाति सुरक्षित रह सकेगी, और परिस्थिति की प्रतिकूलता ही जातिके लुप्त होने का कारण हो जायगी। अनुकूल परिवर्तन सुरक्षित रहेंगे और प्रतिकूल परिवर्तन नष्ट होते जावेंगे। इस सिद्धान्तके आधार पर ही नई नई जातियाँ बन सकेंगी, इसी बातका मानकर मैंने व्याख्या करनी आरम्भ की।"

डार्विनके मस्तिष्कमें अन्य विचारोंका विकास किस प्रकार हुआ, यहाँ उसका उल्लेख करना अनावश्यक है। तात्पर्य्य केवल इतना ही है, कि अनवरत परिश्रम और कुशल निरीक्षणोंके पश्चात् डार्विन ने अपना जगत् प्रसिद्ध विकासवाद निर्धारित किया।

प्रकाश रासायनिक प्रक्रियाओं पर तीव्रता, तापक्रम, घोलक आदिका परिणाम, कलोदों पर प्रकाशका परिणाम, रासायनिक प्रकाश (Chemiluminescence) और विकिरण सिद्धान्त

(Radiation hypothesis).

[ले० श्री वा० वि० भागवत, एम० एस-सी०]

(गतांक से आगे)

सेबोनिकाम्लके परिवर्तन में क्रिया की गति दिग्प्रधानता की दिशा के साथ बदलती है ऐसा पडोआने देखा है। यदि इन रवोंका पीस दिया जाय तो दिग्प्रधान प्रकाश की और सीधे प्रकाशकी प्रक्रिया में कुछ अन्तर नहीं मालूम होता।

रवोंके प्रकाश रासायनिक परिवर्तन में प्रकाश दिग्प्रधानता की दिशा का बहुत ही कम परिणाम होता है। यदि दिग्प्रधान प्रकाश, बीटा चतुरोहरिद-अलफा षोडशोनफ्थलिन पर गिरे तो दिग्प्रधान दिशा बदलने से क्रिया की गतिमें कुछ फरक नहीं होता, और क्रियाकी गति से भी प्रकाश का दिग्प्रधान में रूपांतर हुआ है या नहीं यह भी नहीं कह सकते। जब प्रकाशोत्तेजक पदार्थ रवेदार नहीं होता तब प्रकाशका परिणाम कुछ भिन्न होता है। वायगर्ट कहता है कि,बेरवेदार पदार्थोंपर दिग्प्रधान प्रकाशका विशेष परिणाम होता है। यदि रजतहरिद को सफेद प्रकाशमें कुछ थोड़ी देर रखकर फिर हरे, नीले, पीले आदि रंगके प्रकाशसे प्रकाशित किया जाय तो वह हरे रंगसे हरा, पीलेसे पीला दिखाई पड़ता है। यह सिद्ध है कि, यह भिन्न भिन्न रंगके रजतहरिद कुछ भिन्न भिन्न रासायनिक यौगिक नहीं है; किन्तु यह रंग कलोदाणुकी संख्या तथा उनके आयतन पर निर्भर है। प्रकाश से रजतहरिदाणुका विश्लेषण होकर सूक्ष्म कलोदाणुमें परिवर्तन होता है। यह कलोदाणु रजतहरिदके पृष्ठभाग पर फैलते हैं। यदि यह कलोदाणु भिन्न भिन्न आकारके हों तो रजतहरिद का रंग आकारके अनुसार अलग अलग मालूम होता है। यह प्रक्रिया उसी तरह की है जैसे कि सुवर्ण कलोदके बारेमें भी देखी गयी है। यह तो ज्ञात है कि, इस कलोदका रंग सुवर्ण कलोदाणुके आकारके साथ बदलता है। वायगर्टने यह भी कहा है कि, दिग्प्रधान प्रकाशका परिणाम इतनाही नहीं होता, किन्तु एकही वक्त दो तरह के रंग दिखाई देते हैं याने पदार्थ कुछ देर तक अंधेरेमे या प्रकाशमें रखने से अलग अलग रंग बतलाता है।

इसीको द्वयवर्णता या डायक्रोइज़म् (dichroism) कहते हैं। यह दृश्य इतना सुलभ नहीं है किन्तु संकीर्ण है। यदि प्रकाशन का वक्त ज्यादा या कम किया जाय तो यह स्वभाव बहुत अच्छी तरहसे या कम परिमाणमें दिखाई पड़ता है। ज़ोशर और कोपर ने भी इस द्वयवर्णता को देखा है और वे कहते हैं कि, यह दृश्य लाल प्रकाशसे ही नहीं, सफेद प्रकाश से भी पाया जाता है।

गोलीय दिग्प्रधान प्रकाश परिणामः—गोलीय दिग्प्रधान प्रकाशसे प्रकाश क्रियाशील यौगिक (optieeally active) तैयार करने की बहुत कुछ कोशिश की गयी है किन्तु कुछ भी सफलता नहीं पायी गयी। यदि यौगिक जिससे प्रकाश-क्रियाशील यौगिक बनाना चाहते हैं, खुद प्रकाश क्रियाशील न हो तो नहीं बन सकता। अक्रियाशील यौगिकसे अभीतक प्रकाशक्रियाशीलयौगिक नहीं बनाया गया है। प्रकृतिमें अक्रियाशील कर्बनद्विओषिदसे तमाम प्रकाश क्रियाशील पदार्थ तैयार होते हैं। प्रकृतिके और कृत्रिम प्रयोगोंमें यह फरक क्यों है ? वैज्ञानिकों ने इस बात को सोचा और कहा कि, यदि प्रकाश क्रियाशील बनाते वक्त अक्रियाशील यौगिकको गोलीय दिग्प्रधान प्रकाशसे प्रकाशित किया जाय तो यह हो सकता है। गाच और डाउगिनिन काटन, डावेल, हेन्ले और हाख, शबुलिज़ फ्राउएडलर,

जेगर, ज़ोशर और कोपर, कुन और ब्राऊन ने इस तरहसे प्रयत्न किया लेकिन किसी भी अक्रियाशीलसे प्रकाश क्रियाशील यौगिक नहीं पाये। इतना होनेपर भी गोलीय दिग्प्रधान प्रकाशसे यह होना संभव है ऐसा विश्वास है।

रासायनिक प्रकाशः—यदि त्रिओषिद का विश्लेषण किया जाय तो बहुत उष्णता पैदा होती है। उसी प्रकार अमोनियम द्विरागेत तथा पांशुज परमैंगनेतके विश्लेषणमें किसी हालतमें यह शक्ति उष्णता या परालाल किरणोंके स्वरूपमें पैदा न होने दी जाय तो फिर वह दृश्य प्रकाशके रूपमें दिखाई देती है। इस रासायनिक तरहसे पैदा होने वाले प्रकाशको रासायनिक प्रकाश कहते हैं। स्फुरके ओषदी करणमें, विशेष करके कम दवाव पर इस तरह का प्रकाश पैदा होता है। यह बहुत पहिलेसे ही मालूम है; लेकिन अब यह दृश्य अन्य प्रक्रियाओं में भी देखा गया है। सिलिकोनके ओषदोकरण में यह प्रकाश पैदा होता है ऐसा काउस्की और ज़ोशर का कहना है। यदि इसी सिलिकोनके रंगोंके साथ शोषण यौगिक बनाये जांय तो इनके ओषदी करण में इस तरह का प्रकाश निकलता है। यदि उदजन परमाणु क्षार धातुकी वायुके अस्तित्वमें या अंगारिन्में विश्लेषित हुये, तब भी यह प्रकाश पैदा होता है। इस प्रकाशका प्रकाश चित्र खींचने पर बोन हाफर ने देखा कि, यह चित्र क्षारधातुके किरण चित्र या अंगारिन्के फ्लोरोसन्स (दमक) चित्रके सदृश्य हैं। इस प्रकारके प्रकाशको उत्तेजित रासायनिक प्रकाश कहते हैं। हावर और ज़ीशा ने इस तरहका लवणजन और वायु रूप धातुओंके संयोगमें देखा है। यह प्रकाश किस तरहसे पैदा होता है इस बारेमें भिन्न भिन्न विचार हैं। परमाणु की शक्ति जब बढ़जाती है तब यह प्रकाश निकलता है। जिस परमाणुसे रासायनिक प्रकाश निकलता है वह प्रथम बहुत शक्ति वाले अणुओं पर जब गिरता है तब अणुके इस परमाणुसे मिलकर वह उत्तेजित होता है, जिससे फिर प्रकाश निकलता है। इस तरहका स्पष्टीकरण सब प्रक्रियाओंमें ठीक नहीं मालूम होता। ऐसी प्रक्रियाओंमें माध्यशोषण यौगिकोंका बनना और इनके द्वारा शक्तिकी लेन देन होती है ऐसा समझना ज़रूरी है। विश्वास और धर ने बहुत से रंगोंके ओषदीकरणमें रासायनिक प्रकाश देखा है। यह ओषदीकरण उदजन परोषिद या ओषोनसे किया गया। इन रंगों में जो दमकीले थे वे ही हरवक्त अच्छा प्रकाश देते थे। ऐसे पदार्थोंसे पैदा होनेवाले प्रकाशकी तीव्रता अधिक होती है। इस से दमकीले रंगके अणुओंका ओषदीकरण एक दमसे होता है ऐसा मालूम होता है। इसीलिये प्रकाश निकलता है, बादमें ओषदीकरणसे पैदा हुये यवन बाकीके अणुओंको उत्तेजित करते हैं। अब यह अणु ओषोन तथा ओषजनके साथ मिलकर प्रकाशको पैदा करते हैं। कुछ उत्तेजित अणु बिना संयोग पाते हुये अनुत्तेजित होते हैं और ऐसे करनेमें प्रकाश देते हैं। यह तो ठीक मालूम है कि दमकीले रंग के अणु जल्द उत्तेजित तथा अनुत्तेजित होते हैं। इसीलिये प्रकाशकी तीव्रता अधिक होती है। बहुत सी ओषदीकरण प्रक्रियाओंमें बहुत उष्णता पैदा होती है। अमोनियम द्विरागेतका ओषदीकरण इसी तरहका है, उसमें ताप तथा प्रकाश दोनों हो पैदा होते हैं। यदि सैन्धकम्का टुकड़ा पारद-हरिद्के साथ पीसाजाय तो प्रकाश निकलता है। इस से यह समझा जा सकता है कि प्रक्रियामें जो शक्ति पैदा होती है उसमेंसे थोड़ीसी अणु शोषित करके उत्तेजित होते हैं। बादमें यह उत्तेजन नष्ट होते वक्त उनकी शक्ति प्रकाशके दृश्य स्वरूपमें बाहर फेंक दी जाती है। जलके अस्तित्वमें इस तरहका प्रकाश जल्द दिखाई देता है। शायद पैदा हुवेयवनोंका जलमें अणुके साथ संकीर्ण संयोग होता हो और इसीलिये यवन अणुके साथ ज़्यादा देर रहनेसे उनकी उत्तेजनाका और तद्वारा रसायनिक प्रकाश पैदा होनेकी संभावना बढ़ जाती है। स्फुरके रासायनिक प्रकाशके बारेमें बहुत कुछ

संशोधन हुआ है। यह प्रकाश हवा या ओषजन-का दबाव घटनेसे बढ़ता है। सोचा गया है कि, यह प्रक्रिया दो अवस्थायोंके मिलनेसे होती है। प्रथम स्फुरसे स्फुर त्रिओषिद बनता है। इससे प्रकाश नहीं पैदा होता किन्तु बादमें जब इसका स्फुर पंचोषिदमें ओषदीकरण होता है तब प्रकाश निकलता है। यह दोनों प्रक्रियायें वायु स्वरूपमें होती है। साधारण दबावसे स्फुरका वायुरूपमें परिवर्तन कम होता है। यदि दबाव कम किया जाय तो यह परिमाण बढ़ता है और इसी लिये विरल दबाव पर प्रकाश तीव्र रहता है।

फ्लोरोसन्स और फास्फोरेसन्स(दमक और चमक)—जब पदार्थको प्रकाश करनेके बाद अन्धेरेमें लानेसे उससे प्रकाश निकलता है तब ऐसे दृश्यको फास्फोरेसन्स या चमक कहते हैं। खटिक गन्धिद इस तरहसे बर्ताव करता है। यदि पदार्थको जब तक प्रकाशमें रखा जाय तब तक ही उससे नये तरहका प्रकाश निकले तो इस बर्ताव को फ्लोरोसन्स या दमक कहते हैं। इस तरहका दृश्य बहुत सारे फ्लोरेसिन, इओसिन आदि रंगोंमें देखा गया है।

रजत लवणिदों पर प्रकाशका परिणाम तथा प्रकाश लेखन

[लेखक श्री वा. वि. भागवत]

प्रकाशसे रजतहरिद काला पड़ता है यह फैब्रीकस ने सर्व प्रथम १६वीं शताब्दीमें देखा। यही बात इटलीके वैज्ञानिक बेकारिअस ने १७५६ में फिर देखी। इस प्रक्रियामें हरिन्वायु पैदा होती है यह बात शेले ने बतलायी और सेनिबार और सीबेक ने प्रयोग से यह सिद्ध किया कि प्रकाश की भिन्न भिन्न लहरों का परिणाम भिन्न भिन्न होता है तथा कासनी प्रकाशसे प्रक्रिया तुरन्त होती है। उन्होंने यह भी देखा कि रजतहरिद जिस रंगके प्रकाशसे प्रकाशित किया जाता है उसी रंगका हो जाता है, किन्तु यदि बादमें अन्य रंगसे प्रकाशित किया जाय तो अब पहिला रंग जाकर नया रंग ग्रहण कर लेता है। प्रकाशसे रजतहरिद काला क्यों होता है, तथा भिन्न भिन्न रंगका क्यों दिखाई पड़ता है इस बारेमें मत भिन्नता है। ली, लुथर, गुअ और बाडर आदि लोगोंका यह कहना है कि, प्रकाशसे रजतहरिदका विभाजन होकर उपहरिद बनता है तथा हरिन वायु भी निकलता है। यह उपहरिद रजतहरिदमें भिन्न भिन्न परिमाणोंमें मिलकर भिन्न भिन्न रंग उत्पन्न कर देता है। भिन्न भिन्न लहरों की किरणोंका परिणाम एक ही न होनेसे विभाजनसे बने हुए उपहरिदका परिणाम भिन्न भिन्न होता है। इसी लिये हरएक प्रकार की किरणोंसे प्रकाशित करनेसे रजतहरिदका रंग एक ही नहीं पाया जाता। वोलमर, ट्रिव्हेली आदि के विचारसे भिन्न भिन्न उपहरिद बनते हैं और इनका रंग भिन्न भिन्न होता है।

लोरेन्स, रायएडर्स, वायगर्ट, नॉडक, ज़िगमाएडी आदि का यह कहना है कि रजतम् तथा हरिन पैदा होते हैं। और तैयार हुये रजतके फ़ैलनेसे रजत हरिदके साथ भिन्न भिन्न प्रकाश-प्रक्रियात्मक हरिद बनते हैं। रजतको रजतहरिदमें फैलाकर लीमें प्रकाशके बिना भिन्न रंगके उपहरिद बनाये हैं। यह उपहरिद प्रकाशसे पैदा होने वाले उपहरिदके समान हैं, लेकिन इस प्रकार जो पदार्थ बनते हैं वे उपहरिद ही हैं ऐसा नहीं बतलाया गया है। किन्तु इस बारे में जो कुछ प्रयत्न हुये वे सब निष्फल ही हुये। इसीलिये रायएडर्स कहता है कि, रजतहरिद का रंग रजताणुके आकार पर निर्भर है। जिस तरहसे सुवर्णकलोदका रंग कलाणु की भिन्नता के साथ बदलता है उसी तरह प्रकाशसे जिस आकार के रजताणु पैदा होते हैं उनके अनुसार रजतहरिद का रंग बदलता जाता है। इन बातोंसे प्रकाश-प्रक्रियात्मक लवणिद, कलोद रजतम् और लवणिद का मिश्रण है ऐसा समझना चाहिये। प्रकाश लेखन पट बनानेके लिये जिन पायसोंको काममें लाते

हैं उनमें रजतलवणिद्के कलोद प्रमुख हैं। विशेष करके रजतअरुणिद और अल्पांशमें रजतनैलिद जिलेटिनके साथ कार्यमें लाते हैं। रौञ्जन किरणोंसे ऐसा ज्ञात किया गया है कि इन कलोदाणुओं की रचना रवेदार रहती है—प्रकाशका प्रकाशलेखन पट पर किस तरहसे प्रभाव पड़ता है यह बहुतों ने देखा। उनके कार्यका सारांश निम्न दिया है :—

(१) जिस अणु पर प्रकाश गिरता है उसी अणु पर प्रक्रिया होती है। आसपासके अणु पर कुछ असर नहीं होता। यदि अणु बड़ा हो तो परिणाम जल्द होता है (२) यदि भिन्न पायस लिये जाँय तो अणुका आकार एक होते हुये भी परिणाम भिन्न भिन्न होगा (३) अणु की उत्तेजना विशिष्ट केन्द्रसे होती है। अणु पर संपूर्ण क्रिया होने के वास्ते उस पर एक केन्द्र काफी है। (४) केन्द्र पृष्ठ पर तथा भीतर भी होते हैं किन्तु हर वक्त प्रक्रिया पृष्ठ केन्द्रसे शुरू होती है। अणुमें केन्द्र किस तरह से निर्माण होते हैं यह ठीक मालूम नहीं। प्रकाशसे रजतपरमाणु बनते हैं और रजतहरिदाणु इनका शोषण करते हैं। यही स्थान केन्द्र कहलाता है और प्रकाश की क्रिया यहां शुरू होती है।

रजत लवणिदोंके विभाजनकी तन्मात्रा क्या होती है यह मालूम किया गया है। पायसोंको प्रकाशित करनेके बाद विभाजनसे पैदा हुये रजतम् को नोषिकाम्लमें घोलकर कितना विभाजन हुआ यह ज्ञात करते हैं। लेकिन तन्मात्राकी संख्याके बारेमें मतभेद है। वायगर्टने विशेष अवस्थामें तन्मात्राकी संख्या एक पायी लेकिन अन्यावस्थामें हरवक्त एकसे बहुत ही कम रही। एगर्ट और नाडक कहते हैं कि यह संख्या केवल अतितीव्रता पर एकसे कम होती है अन्यथा नहीं। यह बात ध्यानमें रखना जरूरी है कि, रजत अरुणिदसे प्रकाशका कितना शोषण हुआ, पर यह ठीकसे मालूम नहीं। बहुत सा प्रकाश तो पृष्ठ पर ही घुले होनेसे विकीर्ण होता है और यह लक्षण जिलेटीनमें जो शोषण दिखाई पड़ता है वह जिलेटीनका ही होता है। इसी कारण रजतलवणिदसे शोषित होनेवाले प्रकाशका अंश जितना शोषित हुआ मालूम होता है उससे बहुत ही कम रहता है। वायगर्टने रजत हरिद्के विभाजनसे पैदा होनेवाले रजतम् और समयका ग्राफ खींचा तब उसका आकार S सरीखा मिला। इस से क्रिया स्वयं उत्तेजित है यह स्पष्ट है। रजत हरिद में कुछ फरक नहीं हुआ अतः प्रकाशका उस पर परिणाम नहीं होता किन्तु रजतम् प्रकाशका शोषण करता है और प्रक्रिया शुरू होती है। एगर्ट और नाडक S सरीखा ग्राफ न पा सके। उनका कहना यह है कि रजत हरिदसे विभाजित होकर निकला हुआ हरिन घुले हुए रजत लवणसे मिलकर फिर रजत हरिद बननेके कारण उसका परिमाण वही रहता है और प्रकाशका कुछ परिणाम नहीं होता ऐसा मालूम पड़ता है। स्वेडबर्ग, और स्लाडेने प्रक्रिया पाये हुये अणु और समयका ग्राफ खींचा तब उनको S आकार का ग्राफ मिला। इन अनुसन्धानोंसे वायगर्टके प्रयोगोंको पुष्टि होती है।

रजत लवणिदके काले पड़नेमें अन्य पदार्थोंका प्रभाव—यह प्रभाव भिन्न भिन्न तरहका होता है। कभी कभी यह प्रभाव उत्प्रेरकके स्वरूपका होता है। लेकिन इस प्रकारकी घटनाका स्वरूप ज्ञात नहीं है। रजत हरिद्के प्रकाश विभाजनमें पानीका बहुत कुछ असर होता है, यह बात सेनीबार ने १९०२ में देखी। यदि रजत हरिद बिलकुल सूखा हो तो उस पर प्रकाशकी क्रिया नहीं होती किन्तु थोड़ा भी पानी होनेसे वही क्रिया तुरन्त होती है, ऐसा स्पीलर और बेकरका कहना है। कोबल्ट हरिद तथा पारद हरिदसे प्रक्रिया गति बढ़ती है लेकिन क्षारधातुओंके हरिदोंके अस्तित्वमें यही गति कम होती है।

ऊपर बतायी हुई प्रक्रियाएं प्रेरणात्मक हैं। इसके अलावा अन्य तरहकी याने युगल प्रक्रियाएं भी दिखाई पड़ती हैं। कुछ पदार्थोंके अस्तित्वमें रजत हरिद्या अरुणिदका विभाजन जल्द होता

है। यह पदार्थ खुद प्रक्रियामें भाग लेते हैं। रजत हरिद या अरुणिदके विभाजनसे पैदा हुये अरुणिन या हरिनके साथ मिलकर ये उलटी प्रक्रियाको रोक देते हैं और लवणका एक भाग कम होकर बिलकुल निकल जानेसे विभाजन होता ही रहता है। यदि हरिन् या अरुणिन् निकल न जाय या उन पदार्थों से मिल न जाय तो फिर रजतसे मिलकर उलटी क्रिया शुरू होगी जो कि विभाजनको रोक देगी, रजत नोषेत, इम्लेत, नीबूएत आदि यौगिक तथा नोषित (nitrite), अमोनिया, जिलेटिन आदि अवकरण पदार्थ यही कार्य करते हैं। (१) र रु + प्रकाश ⇄ र + रु. (२) र रु + जिलेटिन + प्रकाश → र + जिलेटन रु. इसी तरह से २ र रु + पां नो ओ$_२$ + उ$_२$ओ → २र + २ उ रु पा नो ओ.

जो पदार्थ ग्राहकोंका कार्य करते हैं उनसे क्रिया की गति ही बढ़ती है ऐसा नहीं किन्तु अब रजत लवणिद लम्बी लहरोंसे भी उत्तेजित हो सकता है। याने उसकी प्रकाशोत्तेजता बढ़ती है। उत्तेजना का यह विशेष प्रकार है।

रजत हरिदकी उत्तेजिता तथा अरुणिदकी उत्तेजिता उनकी अधःक्षेपण अवस्था पर निर्भर है यह बात बहुत दिनोंसे मालूम है। यदि अधःक्षेपणके वक्त रजत नोषेत या और कोई घुलनशील रजत लवण अधिक परिमाणमें हो तो उत्तेजिता बढ़ती है, और पांशुज अरुणिद या हरिद अधिकांशमें होनेसे वह घटती है। माध्यमिक क्रियाओंके कारण प्रकाश लेखन-कागजका प्रकाशोत्तेजन बढ़ता है ऐसा कहा जाता है। फांजा और फाँकबर्गने ऐसा देखा है कि रजत नोषेत प्राथमिक प्रक्रियाओंमें भी भाग लेता है। रजत हरिद या अरुणिद यदि अरुणिद की रजत परकी प्रक्रियासे बनाया जाय और बादमें शून्य हवामें रखकर शोषित वायु निकाल दी जाय तो प्रकाशकी ३५० अ के ऊपरकी लहरों से प्रक्रिया नहीं होती। यदि अरुणिदका अधःक्षेपण अरुणिन जलके अस्तित्वमें किया गया तब भी यह बात देखी जाती है। रजत हरिदको रजत नोषेतकी अधिकावस्थामें अधःक्षेपित करनेसे अब ६२०० अं तकके लंबी लहरों का भी परिणाम होता है। यह उत्तेजिता रजत अरुणिदको 'पांओउ' के अस्तित्वमें प्रकाशित करनेसे दिखाई देती है। फ्रंकबर्गर और फान का कहना यह है कि केवल पृष्ठ भाग पटका रजत अरुणिद ही लाल प्रकाशसे विभाजन पाता है। उसके नीचे का अरुणिद ५७८० अँसे ज्यादा लंबाई की लहरोंसे विभाजित नहीं होता। और यदि रजत अरुणिद जो ४७५० अँसे कम लंबाई की लहरोंसे ही उत्तेजित होता है, पहिले ४३५० अँसे छोटी लहरोंसे प्रकाशित किया जाय तो फिर वह ५७८० अँ तककी किरणोंसे भी विभाजित होता है। इस उत्तेजना का स्पष्टीकरण फांजा और फ्रैकन्बर्गरने निम्न तरहसे किया है:— रजत हरिदका रौञ्जन किरणचित्र वाइजलीने लिया और कहा, यद्यपि रजत अरुणिद आंखों से रवेदार नहीं दिखाता, तब भी वह रवेदार है और यह रवे सूक्ष्माकार रहते हैं। जिस तरह रवेमें उसके यवन ठीक तरहसे व्यवस्था के साथ रहते हैं वैसे ही रजत अरुणिदके रजत और अरुणिद यवन हर एक रजत अरुणिद रवेमें ठीक तरहसे बैठाये हुवे रहते हैं। (नं० १).

```
+ − + − + − +      + + + + + + +
− + − + − + −      + − + − + − +
+ − + − + − +      − + − + − + −
       र रु(नं०१)   + − + − + − +
                      रु + र° (नं० २)
```
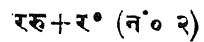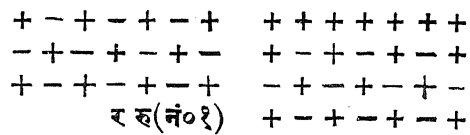
जब रजत अरुणिद का प्रकाशसे विभाजन होता है तब अरुणिद यवनसे एक ऋणाणु रजत यवनसे मिलता है। इसके उलटे जब रजत हरिदका रजत नोषेतकी अस्तित्वमें विभाजन होता है तब प्रथम रजत अरुणिदाणु रजत यवन को शोषित करके धन विद्युत शक्तिसे युक्त होते हैं। जब पृष्ठभाग पर सब ओर रजताणु फैले हुये होते हैं तब अरुणिद यवनके ऋणाणु को रजत

यवनसे मिलनेमें इतनी शक्तिकी आवश्यकता नहीं होती जितनी जब पृष्ठभाग पर सब दूर अरुणिदाणु ही फैले रहते हैं तब लगती है। इसी कारण पृष्ठभाग पर रजताणु रहनेसे लंबी लहरोंसे याने कम शक्ति को लहरोंसे भी रजत अरुणिद पर प्रकाशको प्रक्रिया होती है। रजत हरिद, सै ओ उ, अमोनिया, सैन्धककर्बनेत आदिके अस्तित्वमें भी लंबी लहरोंसे विभाजित होता है। क्षारोंके प्रभावसे 'र ओ' रजत ओषिद जो प्रकाशसे जल्द विभाजन पाता है, बनता है और इसी कारण लंबी लहरोंसे भी उनके अस्तित्वमें प्रक्रिया होती है। ऐसा फांजा और फ्रँकनवर्गर का कहना है।

रजत अरुणिद को लालरंग प्रकाशसे प्रकाशित करनेसे उसका रंग भूरे से अधिक काला नहीं पड़ता। इसका कारण यह है कि, प्रक्रिया पृष्ठभाग पर होने वाले शोषित रजत दल या रजत ओषिदसे होती है। जब वे नष्ट होते हैं तब क्रिया बंद होती है और अब लाल प्रकाश का भीतरके रजत अरुणिद पर कुछ असर नहीं होता।

यदि रजत अरुणिद को पहिले ४३५० से छोटी लहरोंसे प्रकाशित किया जाय तो बादमें ५७८० अँ तक की लहरों का भी उस पर परिणाम होता है यह ऊपर कहा ही है। ऐसा क्यों होता है इसका स्पष्टीकरण फाँजा और फ्रान्कनबर्गरने किया है। उनका कहना यह है कि, पहिले विभाजन से रजत यवन पैदा होते हैं, और इनका शोषण पृष्ठभाग पर रजत अरुणिदमें होता है। इसी कारण ऊपर बताये अनुसार अब लंबी लहरोंका भी इस पर असर पड़ता है। रजत अरुणिदाणुके विभाजनके लिये १११००० कलारी सामर्थ्यकी जरूरत है, लेकिन वह ४३५० अँ लंबाईके लहरसे जिसकी सामर्थ्य ६५००० कलारी है, विभाजित होता है। इस से रजत परमाणुके शोषणकी सामर्थ्य जो ३००० कलारीसे ऊपर है वह भी कार्यमें आती है और फिर बादमें रजतअणुका विभाजन होता है ऐसा दीखता है।

प्रकाश लेखन पट को १०० डिग्री तक गरम करनेसे भी उसकी उत्तेजिता बढ़ती है ऐसा मासाकीनें देखा है। इस तरहसे उसने यह बताया कि साधारण प्रकाशलेखन पट को गरम करनेसे उस पर १००० अँ तक की लंबी लहरों का परिणाम होता है। पैन्क्रोमैटिक प्रकाश पटको गरम करके तो उसपर १०००० अँ तक की लंबी लहरोंका प्रभाव पड़ता है। इस उत्तेजिताका कारण ठीक तरहसे ज्ञात नहीं, किन्तु जिलेटिनके अस्तित्व में ही यह प्रक्रिया होती है ऐसा देखा गया है। शायद अधिक तापक्रमों पर जिलेटिन अवकरणका कार्य करता हो और उससे रजत अरुणिदका अवकरण हो कर कुछ रजत प्राप्त होता हो। यह रजत बादमें रजत अरुणिद द्वारा शोषित होनेसे ऊपर बताये हुवे सिद्धान्त के अनुसार पट उत्तेजना पाता है। जेङ्कलने रजत नैलिदके विभाजनका अध्ययन किया है। उसका कहना यह है कि इस प्रकाश विभाजनमें रजत पैदा होनेसे पैदा हुये रजत अणुके आकारनुसार रजत नैलिदका रंग भिन्न भिन्न दीखता है। पानीके अस्तित्वमें जब रजत अरुणिद का विश्लेषण होता है तब अरुणिन निकलता है। यह अरुणिन यवनोंके रूपमें रहता है ऐसा नुटरका कहना है। इस प्रकारसे पैदा हुआ रजत नोषिकाम्ल में नहीं घुलता और रजत अरुणिदके विश्लेषण की तन्मात्रा संख्या करीब करीब एक रहती है।

प्रकाशसे रजत लवणिद काले पड़ते हैं या क्या होता है इसके विषय कायशरने विचार किया है। उसका कथन है कि रजत अरुणिदमें कलोद रजत मिल जानेसे यह काला रंग पैदा होता है। कितना रजत अलग हुआ, यह जाननेके लिये प्रकाश लेखन पट को पहिले धोकर बादमे २० मिनिटतक क्षारात्मक सैन्धक गन्धकी गन्धेतमें रखते हैं। इस तरहसे रजत लवणिद घुल जाता है और फिर बचे हुए अवक्षेपको जला कर तोला

जाता है। नीले रंगके वास्ते तन्मात्राकी संख्या प्रकाशनका वक्त भिन्न भिन्न रख कर निकाली गयी है। जब प्रकाशनका वक्त थोड़ा रहता है और प्रकाशन सैन्धक नोषेतके अस्तित्वमें किया जाता है, तब तन्मात्रा की संख्या करीब करीब एक होती है। लेकिन जलके अस्तित्वमें तथा ज्यादा देर प्रकाशन करने से यह संख्या एकसे बहुत ही कम होती है।

गुप्त प्रतिमा या चित्र किस तरहसे बनता है इसका स्पष्टीकरण कायफरने काण्टम सिद्धान्तसे किया है। इसके लिये रजत अरुणिदके रवेकी घटनामें क्या अन्तर संभव है, यह विचारना चाहिये। रजत यवनोंके अस्तित्वमें उत्तेजित होनेकी क्रिया अम्ल-घोलमें भी होती है, लेकिन उदोषिद यवनोंके शोषित होनेसे उत्तेजिता आती है यह कहना ठीक नहीं है, ऐसा प्रयोगसे मालूम होता है। यदि ज्वलिन ग्राहक का कार्य करना हो तो रजत अरुणिद्की अरुणिद यवनोंके अस्तित्वमें होने वाली उत्तेजिता अम्ल तथा शिथिल घोलमें एक ही पायी जाती है। रजत हरिदभी रजत अरुणिद सरीखा बर्ताव करता है। जिस तरहसे रजत अरुणिद रजतके अस्तित्व में तथा जिससे उदोषिद यवन तैयार होते हैं ऐसे सैन्धककर्बनेत आदि पदार्थोंके अस्तित्वमें, उत्तेजित होताहै, उसी तरह रजत हरिदभी उत्तेजित होकर ६१५० अँ तककी लम्बी लहरोंसे विभाजित हो सकता है। थैलम् यवनोंसे रजत अरुणिद पर ६१५० अँ से अधिक लम्बी लहरोंकी भी प्रक्रिया होती है।

रजत अरुणिद तथा रजत हरिदका प्रकाशोत्तेजन रजत लवणिद अणु पर यवनोंका शोषण होनेसे होता है, ऐसा फ्रांजा और स्टीनरका विचार है। लवणजन ग्राहकके कार्य करने वाले यवनोसे यह उत्तेजिता नहीं आती किन्तु यदि उनके अस्तित्वसे प्राथमिक प्रकाशरसायन प्रक्रियापर कुछ प्रभाव पड़ता हो तो फिर उनसे उत्तेजना पायी जाती है। धनयवनोंका परिणाम उनके शोषित होने पर निर्भर है। पृष्ठभाग पर उनका जब शोषण होता है तब प्रकाश लहरोंसे उसका विभाजन होता है। रजत अरुणिद जिसमें अरुणिद यवन हैं है और रजत अरुणिद जिसमें रजत यवन अधिक हैं, दोनों शायद लाल रंगके प्रकाशका शोषण एकही परिमाणमें करते हैं, किन्तु लाल किरणोंसे दूसरे प्रकारमें ही प्रकाशरसायनिक क्रिया होती है, क्योंकि जब रजत अधिकांशमें होता है, तब पैदा हुये रवे अरुणिदसे मिलकर उलटी क्रिया को रोक देता है। फ्रांजा, फ्राँमहर्ज़, और कारागुनिस का यह विचार है। इस बातकी सत्यता जाननेके लिये रजत अरुणिदके प्रकाशशोषणमें शोषित यवनोंका क्या परिणाम होता है यह देखा गया। जिसमें रजत यवन अधिक हैं ऐसे रजत अरुणिदके शोषणमें और जिसमें अरुणिदयवन ज्यादा है उसके प्रकाश शोषणमें भेद है। यदि केवल रजत अरुणिदका प्रकाशशोषण देखा जाय तो वह इन दोनों से कम है। कासनी प्रकाशकी तरफ भी जिसमें रजत यवन ज्यादा है उसका प्रकाश शोषण अधिक है। कासनी रंगसे बढ़ते हुये यदि लम्बी लहरोंका प्रकाश शोषण देखा जाय तो इन दोनोंके प्रकाश शोषणका फरक बढ़ता जाता है। इसी कारण जिसमें रजत यवन ज्यादा है उसकी उत्तेजिता जिसमें अरुणिद यवन अधिक हैं उस रजत अरुणिदसे अधिक होती है और इसीलिये लम्बी लहरोंसेभी उसपर प्रक्रिया होती है। शोषित यवनोंके स्वरूप पर रजत अरुणिदका प्रकाश शोषण तथा उत्तेजिता निर्भर है यह बात ऊपरके अनुभवसे सत्य है ऐसा जानना चाहिए। रजत अरुणिदका विभाजन, उसके रवेमें की अरुणिद यवनकी घटना पर निर्भर है। जब रजतका रजत अरुणिदके पृष्ठपर शोषण होता है तब अरुणिदयवन कमजोर होता है और इसी कारण अब लम्बी लहरोंसे भी उसका विभाजन होता है।

जब रजत या थैलम् यवनोंका क्लोद रजत अरुणिदसे शोषण होता है या सीसयवन का सीस अरुणिद शोषण करता है, तब धनयवन

कमज़ोर हो कर प्रकाश शोषण लम्बी लहरोंकी तरफभी बढ़ता है। फेलडमन ने जिलेटिनसे अलग किये हुये रजत हरिदको ३६५० अँ लहर लंबाई की एक रंगीय किरणोंसे प्रकाशित किया। लवणिद को पानी में रखा था और निकला हुआ हरिन उदहरिकाम्ल और उपहरसान्लके स्वरूपमें पाया गया। इस तरहसे प्रक्रियाकी तन्मात्राकी संख्या निकाली गयी। वह ०.८६ आयी। प्रक्रियामें रजत पैदा होता है और इसीलिये प्रकाश शोषण बढ़ा हुआ मालूम होता है इस कारण तन्मात्रा की संख्या एकसे कम रहती है और आइन्स्टाइनके प्रकाशरसायन समसिद्धान्तका पालन ठीक तरह से नहीं होता।

रजत अरुणिद तथा रजत हरिदका शोषण चित्र एगर्ट और शिमट ने प्रकाश लेखनकी सहायतासे निकाला है। रजत अरुणिदमें सबसे अधिक शोषण ४७०० अँ लहरमें तथा रजत हरिद्का ४००० अँ लहरमें होता है। रजत अरुणिदको प्रकाशित करनेसे कुछ रजत भी पैदा हुआ लेकिन शोषण चित्र पर उसका असर कुछभी न हुआ। टाँयने रजतलवणोंके प्रकाश-विद्युत और प्रकाश चालक गुणोंमें भेद किया है। प्रकाशविद्युत् परिणाम में ऋणाणु बिलकुल अलग हो जाता है लेकिन प्रकाश चालकतामें ऋणाणु धनाणुसे छूट तो जाता है, लेकिन उससे बिलकुल अलग नहीं होता। किन्तु उससे जुड़ा हुआ ही रहता है। प्रकाशविद्युत् परिणाममें ऋणाणु अणुसे साफ उड़ जाता है। प्रकाश लेखन प्रक्रियातो लम्बी लहरोंसे भी होती है यह तो ऊपर देखा गया है। इन लंबी लहरोंकी शक्ति इतनी नहीं होती कि, जिससे रजत अरुणिदाणुसे एक ऋणाणु साफ अलग हो जाय। इसी कारण प्रकाश लेखन प्रक्रियाकी घटना प्रकाशविद्युत् परिणाम मय नहीं होसकती। शायद यह घटना प्रकाश चालकताके कारण स्पष्ट हो सकती है।

भिन्न भिन्न लहरोंका प्रकाश लेखन तथा प्रकाश चालकता पर एकही स्वरूपका परिणाम होता है। रजत अरुणिद्के पायस पर ५००० अँ से अधिक लंबी किरणोंका कुछ असर नहीं पड़ता और प्रकाशचालकताभी यहां से ही शुरू होती है ऐसा कोव्लेअने देखा है। लहर लंबाई जैसी कम होती जाती है वैसीही प्रकाश चालकता तथा प्रकाशलेखन परिणाम बढ़ता जाता है। शायद्ये दोनों परिणाम एक ही हों। इस से प्रकाशसे गुप्तचित्र बनते वक्त ऋणाणु अरुणिदयवनोंसे निकलकर रजतयवनोंसे मिलते हैं और इस तरहसे रजत तथा अरुणिद् अलग होते हैं ऐसा दिखाई पड़ता है। जब प्रकाश गलाये हुवे रजत अरुणिद् पर गिरता है तब प्रकाशधारा शुरू होतीहै और थोड़ीही देरमें उसकी तीव्रता स्थिर हो जाती है। प्रकाशलेखन परिणाम तथा प्रकाशसे पैदा होने वाले विद्युत परिणाम—जैसी प्रकाशचालकता—एकही कारणसे याने ऋणाणु अरुणिदयवनमें अलग होनेसे होते हैं इसमें कुछ संदेह नहीं। गुप्त चित्र बननेमें अरुणिदका अलग होना और रजत परमाणु का इकट्ठा होना यह दो बातें होना आवश्यक है यह बात ऊपरके विचारोंसे बिलकुल स्पष्ट है।

रजत गन्धिद, रजत थलिद, रजत शशिद आदि उत्तेजन पदार्थोंका क्या कार्य है इसका विचार शेपर्ड, ट्रिव्हेली और लव्हलंडने किया। इन पदार्थोंसे केंद्र पैदा होते हैं जहां पर रजत अरुणिद्से विभाजन पाया हुआ रजत इकट्ठा होता है। इस तरहसे रजत अणु इतने मोटे होते हैं कि, प्रकाश लेखन पट को उभारनेसे (develop) गुप्त चित्र दिखाई देता है। रजत परमाणु जो केंद्रका कार्य करते हैं उनका आकार कुछ विशिष्टाकारसे बड़ा हो तभी वे केंद्रका कार्य कर सकते हैं। यदि गन्धकी कर्बमिद, सैन्धक गन्धकी गन्धेत, द्विव्यिल समगन्धकी श्यामेत, रालील समगन्धकी श्यामेत, द्विव्यील गन्धकी कर्बमिद आदि पदार्थोंको जिलेटिनके साथ काममें लाया जाय तो जिलेटिन उत्तेजित हो जाता है और फिर 'परिपक्कता पद्धति' की कुछ जरूरत नहीं रहती।

पायसको ४० डिग्री पर बहुत देर रखनेसे या १०० डिग्री तक गरम करनेसे वह उत्त जित होता है। इसको 'परिपक्तापद्धति, कहते हैं। ऐसे पायसोंसे तयार किये हुये प्रकाश लेखन पट पर लंबी लहरों का भी असर होता है। प्रकाशनसे, थैलसहरिद, रजत हरिद और सीसहरिदकी माध्यमिक संख्या बढ़ती है, किन्तु यदि रजत हरिद्को थोड़ी देर ही प्रकाशित किया जाय तो कुछ भी फरक नहीं मालूम होता।

यदि गुप्त अरुणिद यवनसे ऋणाणु निकल कर रजत पर जानेसे बनती हो तो रजत अरुणिद रवेकी रचना बादमें बदलनी चाहिये, ऐसा सोच कर कोख और वोलगर ने रौञ्जन किरण चित्रसे फोटो खींचा। इन्होंने अरुणिद और रजत के वलय एकके ऊपर एक गिरे हुवे पाये, इससे यह बिलकुल स्पष्ट है किउपलवणिद नहीं बनते और प्रकाश लेखन प्रक्रियामें रजतम अणुका रजत लवणिदोंसे शोषण होता है। सिल्वरस्टाइनने प्रकाश लेखन परिणामको काण्टम सिद्धान्तसे स्पष्ट करनेकी कोशिश की, लेकिन उसके विचार और प्रयोगसे देखी हुई बातें इनमें भिन्नता पायी गयी। बादमें उसने केंद्रीभवन (Concentration specks) विचारोंसे कुछ बातें निकालीं जिनकी सत्यता प्रयोगसे भी देखी गयी।

यदि रजतको, जो प्रकाश लेखन पायसमें बिखरा हुआ है, द्विरागेत और गन्धकाम्लमें घोला जाय तो रजत घुल जाता है। शायद द्विरागेत यवनोंसे उत्तेजिता पर प्रभाव पड़ता हो। सैन्धक गन्धितमें रजत नहीं घुलता तथा रजत लवणिद्से बनने वाले उसके संकीर्ण यौगिक स्थिर होनेसे उनको पानीसे धोकर जिलेटिन से अलग करना सुलभ है। रजत हरिद, रजत अरुणिद, रजत नैलिद और रजत गन्धकी श्यामिदका अवकरण परमाजूफलोल, मीटोल, उदकुनोन, उदाजीवन उदहरिद, उदौषील अमीन उदहरिद आदिसे होता है। यह अवकरण सैन्धक गन्धितके अस्तित्वमें बढ़ता है ऐसा रामबिहारीलाल और धर ने देखा है। यदि ऊपर बताये हुये अवकरण पदार्थोंका वजन एक ही लिया जाय तो सैन्धक गन्धितका परिमाण बढ़ाते जानेके साथ अवकरण भी बढ़ता जाता है। सैन्धक गन्धित जितना अधिक हो उतना अवकरण अधिक होता है। रजत नैलिद ठीक तरहसे काला होनेके पहिले ही उसका सोलरायजेशन होता है और थैलस-अरुणिदसे रजत अरुणिदकी उत्तेजिता जैसी बढ़ती है, वैसी थैलस नैलिदसे रजत नैलिदकी भी उत्तेजिना बढ़ती है।

प्रकाश लेखन (photography)

प्रकाश लेखन प्रक्रिया के बारेमें सबसे पहिले नीप्से डी सेंट विक्टर ने (१८२५) इस कार्यके लिये जुडिआ के सत्व का उपयोग किया। यदि यह सत्व प्रकाशित किया जाय तो कार्बनिक घोलकमें वह नहीं घुलता। इस तरहसे प्रकाश रासायनिक क्रियाके द्वारा चित्र खींचा जाता है, किन्तु इस सत्वकी उत्तेजिता प्रकाश लेखनके लिये काफ़ी नहीं है।

आजकलकी प्रकाश लेखन प्रक्रियाका अन्वेषक डागुरी है। इसीनें सबसे पहिले प्रकाश लेखन पट तैयार किया। इस विधिमें रजतके पत्रको अंधेरेमें नैलिनके साथ रखते हैं। इस तरहसे रजतके ऊपर रजतनैलिदका आवरण आता है। अब अंधेरे में फोटो खींची जाती है। इस तरीकेमें प्रकाशका कुछ दृश्य प्रभाव नहीं होता, किन्तु गुप्त चित्र बनजाता है और जब पारदवायु उस पर छोड़ा जाता हैतब प्रकाशित किये हुये भाग पर वह चिपक जानेसे रजतके साथ संकर होता है। अब संकर पाये हुये भागसे जितना प्रकाश परावर्तन होता है उतना बिना संकर पाये हुये भागसे नहीं होता। इसी कारण कुछ दूरसे उस पटकी तरफ देखा जाय तो तस्वीर दिखाई पड़ती है और सैन्धक गन्धकी गन्धेतसे इस चित्र को स्थिर कर सकते हैं।

डागुरीकी पद्धति सुलभ नहीं है। टालबोटने इसी कारण अन्य पद्धति निकाली, जिसमें रजतलवण से बनाये हुये कागज को प्रकाशनके बाद अवकरणात्मक घोलकमें रखते हैं। अब हम उलटा चित्र(नेगेटिव) पाते हैं और इसकी सहायतासे चाहे जितने सीधे चित्र (पोज़ीटिव) निकाल सकते हैं। नीप्से डी सेंट-विक्टरने इसमें अण्डसित मिलाकर सुधार किया। बादमें स्काटआर्चरने कोलोडियनको अधिक उचित समझा। सन्दस्त नैलिद और अमोनियम अरुणिदके मद्यघोलमें प्रथम कोलोडिअन घोल मिलाया। बादमें कांचकी पट्टीपर इसको ठीक फैलाकर उसको रजत नोषेतके घोलमें रखनेसे रजत अरुणिद तथा रजत नैलिदका आवरण कांच पर चढ़ता है। यदि गीली पट्टी काममें लाना हो तो कार्यके थोड़ी देर पहिले ही उसको तयार करना चाहिये। नहींतो उसकी उत्तेजिता नष्ट हो जाती है। यदि सूखी पट्टी (Plate) चाहतेहो तो टैनिन या अण्डसित मिलाकर उसको उत्तेजित करके सुखाना जरूरी है। इसको उभारनेके लिये (Develope) परमाणुफलोल, लोहगन्धिद आदिका उपयोग किया जाता है, और चित्रको स्थिर करनेके लिये सैन्धक गन्धकी गन्धेतका घोल ही आवश्यक है।

सन् १८७१ में मेडाक्सने जिलेटिन रजत अरुणिदके पट प्रकाशलेखनके लिये बनाये। इन्हींको आजकल सब लोग कार्यमें लेते हैं। इस विधिमें पांशुज अरुणिद घोल और रजत नोषेतका जिलेटिन मिलाया हुआ घोल अँधेरेमें या लाल-प्रकाशमें एक साथ मिलाकर प्रकाश उत्तेजित पायस बनाते हैं। अब रजत अरुणिद अवक्षेपित रूपमें नहीं पाया जाता किन्तु इस पायस को ठंडा करनेसे जेली मिलती है। जेली को पानीसे धोकर घोलपदार्थ अलग करते हैं। बादमें साफ हुई जेलीको गरम करके पिघलाते हैं और फिर उसको कांचकी पटली पर, कागजपर या सेलुलाइड पर चिपकाते हैं। यदि पटलीका तापक्रम बहुत देर तक ४० डिग्री शतांश रक्खा जाय तो उसकी उत्तेजिता बढ़ती है। यही परिणाम उसको थोड़ी देर १००° तक गरम करनेसे होता है। इस प्रक्रिया को 'परिक्वता' (Ripenning) कहते हैं। परिपकता पद्धति के कारणही जिलेटिन रजत अरुणिद पटली इतनी उपयुक्त हो सकती है। उत्तेजिता बढ़नेसे पटली को थोड़ी देर प्रकाशित करनेसे भी गुप्त चित्र तैयार होता है। अभी तक रजत लवणिदसे अच्छी प्रकाशलेखन पटलिया नहीं बन सकी हैं। रजत अरुणिदके विभाजनका परिमाण कुछ ज्यादा नहीं है, किन्तु गुप्त चित्र तुरन्तही बनते हैं यह विशेष है। जब उलटे चित्रसे सीधी तसवीर बनाते हैं तब उसको कितनी देर प्रकाशित करना चाहिये यह प्रश्न उलटे चित्र बनाते वक्त जितने महत्वका है उतना इस समय नहीं नहीं रहता। इसी कारण बहुत सारे प्रकाशोत्तेजक पदार्थ इसवास्ते कार्य में लाये जाते हैं।

गुप्त चित्र कैसे तैयार होता है? इस बारेमें भिन्न भिन्न लोगोंके भिन्न भिन्न विचार हैं। प्रकाश के प्रभावसे कुछ रासायनिक क्रिया तो होती नहीं प्रत्युत यह फरक केवल भौतिक है। रजत अरुणिदके अणु कलोद स्वरूपसे रवेदार बन जाते हैं। यह विचार डागुरीके पटके बारेमें सत्य है क्योंकि उसमें पारद कुछ भाग पर बैठता है और कुछ पर नहीं। यह तो मालूम है कि यदि किसी पदार्थका पृष्ठभाग ऊँचा नीचा हो तो उस जगह पारद काफी बैठ जाता है। इससे डागुरी पटमें अणु कलोद स्वरूपसे रवेदार स्वरूपमें परिवर्तित होजाते हैं यह सत्य है। लेकिन अन्य प्रकारकी प्रकाश पटली में अणु स्वरूपमें भिन्नता नहीं होती, क्योंकि पटली को प्रकाशित करने के बाद यदि उसको पहिले सैन्धक गन्धकी गन्धेतसे धोया जाय तबभी बाद में उभारनेवाले घोलसे तसवीर दिखाई देती है। अर्थात् रजत अरुणिदका प्रकाशसे इस तरहसे स्वरूप बदलता है कि प्रकाशित रजत अरुणिद सैन्धक गन्धकी गन्धेतमें नहीं घुलता। इस प्रकार

के भौतिक विचारोंको आजकल कोई नहीं मानता। प्रकाशसे रजत अरुणिदमें रसायनिक क्रिया होती है इसमें कोई भी शक नहीं किन्तु यह रासायनिक स्वरूप किस तरह का है इस बारेमें मतभेद है।

प्रकाशसे प्रकाश लेखन पटली काली होती है यह देखा गया है। प्रकाशसे रजतअणु पैदा होने से ऐसा होता है ऐसा सब वैज्ञानिकोंका मत है, किन्तु उनका ऐसा कहना है कि इतनी थोड़ी देरके प्रकाशनसे अतिसूक्ष्म रजताणु पैदा होते हैं। व्होलमर और शाम के विचारसे तीव्रप्रकाशमें रजताणु उत्पन्न होते हैं, लेकिन गुप्त चित्र तैयार होनेका कारण, उपलविणदका बनना है। ओषदीकरणीय पदार्थोंसे यह गुप्त चित्र नष्ट नहीं होता यह बात उनके विचारों की समर्थक है लेकिन रागिकाम्ल, परमांगनिकाम्ल, लवणिद आदि ओषदीकरणीय पदार्थोंसे तो वह नष्ट होती है। रागिकाम्ल और नोषकाम्लके मिश्रणसे भी वह नष्ट होती है ऐसा एडर ने देखा किन्तु विरल नोषिकाम्लसे कुछ प्रभाव नहीं होता और तीव्रनोषिकाम्लसे भी प्रक्रिया बहुत धीरे धीरे होती है। यदि जिस पायसमें पटली बनाई गयी उसमेंके अणु सूक्ष्म हों तो गुप्त चित्र ओषदीकरणीय पदार्थोंसे जल्द नष्ट होता है, जिससे रजतधातु तथा रजत अरुणिद घुलसकते हैं जैसे नोषिकाम्ल और अमोनियमगन्धको श्यामिद—गुप्ततसबीर तुरन्त ही घुलकर नष्ट होती है। गुप्तचित्र ओषदीकरणका विरोध करता है यह बात उन विचारोंके विरुद्ध नहीं है कि रजतके सूक्ष्माणु तैयार होते हैं। यह तो मालूम है कि, उसी पदार्थके चित्र कलोदावस्थामें भिन्न आते हैं। लुपो-क्रॅमर ने यह बताया कि, यदि रजत और रजतअरुणिदके कलोद मिलाये जायँ और तुरन्त ही नोषिकाम्ल छोड़ा जाय तो रजत अलग कर सकते हैं। यदि उसमें गन्धकाम्ल छोड़कर प्रथम अधःक्षेपण कियाजाय तो रजतअणुका रजतअरुणिदमें शोषण होजाता है और अब नोषिकाम्लसे हम रजतको अलग नहीं कर सकते। यानी नोषिकाम्लकी प्रक्रिया नहीं होती। इसी तरह प्रकाश लेखन पटलीको प्रकाशित करनेसेजो रजताणु पैदा होते हैं वे रजत अरुणिदमें शोषित हो जानेसे ओषदीकरणीय पदार्थोंसे गुप्त चित्र तुरन्त नष्ट नहीं होता। यह बात स्पष्ट करनेके लिये उपलवणिद बनते हैं यह सिद्धान्त रखने की कुछ जरुरत नहीं है। प्रकाश लेखन पटलीको पहिले स्थिरकर (fix) बादमें भी चित्रको उभार सकते हैं (develop) इसवास्ते स्थिर करनेके बाद इसको रजतनोषेत और अवकरणात्मक पायरोगेलालमें घोल में रखना जरूरी है। इस तरहसे रजतअवकरण धीरे धीरे होता है। और विभाजनसे पैदा हुआ रजत पटली के उस भाग पर बैठता है जिसको प्रकाशित किया है। यह तो प्रेरणाका उदाहरण है। जिस भाग पर प्रकाशसे पहिले रजतअणु पैदा हुये और इस तरह गुप्त चित्र बना उसी भाग पर रजतनोषेत और पायरोगेलालके मिश्रण घोलका विभाजन होता है यानी वे अणु विभाजनके लिये केन्द्रका कार्य करते हैं। जिस तरह अतितृप्त घोलमें एक रवेदारअणु छोड़नेसे सब घुला हुआ पदार्थ बैठता है यानी यह अणु केन्द्रका कार्य करता है वही हालत ऊपर होती है।

वैज्ञानिकीय

विद्युत् का एक नया उपयोग—

दक्षिणी कैलिफोर्निया (उत्तरी अमेरिका) की एडिसन कम्पनी के वैज्ञानिकोंने विद्युत् द्वारा पौधों की वृद्धि उत्तेजित करने की चेष्टा की। इनके यह प्रयोग सफल हुए। पौधोंके आस-पासकी जमीनको विद्युत् धारा द्वारा गरम किया गया। फलस्वरूप वृद्धि साधारण गतिसे अधिक हुई। यदि बाजारमें सब जगह की उपज एक ही समय आवे तो साधारणतः भाव घट जाता है। पर यदि कुछ भाग बाजारमें जल्दी भेजा जा सके तो अधिक मूल्य उठता है। इन अमेरिकन प्रयोगोंका यही उद्देश्य है कि समयके पहले खेतोंकी उपज बाजार में आ सके। इस प्रकार अच्छा मूल्य भी लगेगा और जनता को फसल की चीज नियत समयके पहले मिल जायगी।

प्रयोग इस प्रकार किया गया। एक ही प्रकार की दो क्यारियाँ तैयार की गईं। एक में ४-४ फीट दूर और ८ इंच गहराई पर रक्षित (Insulated) तार गाड़ दिया गया और इसमें से इस प्रकार विद्युत् धारा भेजी गई कि मिट्टीका तापक्रम ७०° फसे अधिक न बढ़ा। दूसरी क्यारी विद्युत् धारोंसे वंचित रही पर और सब बातें पहले की ही भाँति थीं। दोनोंमें ककड़ीके बीज लगाये गये। पौधे बड़े होने पर यह पाया गया कि विद्युत् धारा से प्रेरित भागमें आधीसे अधिक फसिल बहुत जल्दी तैयार हो गई और बेचने को भेजी जा सकी। बिजली वाले भागसे २० पौण्ड (लगभग २६०) अधिक आय हुई।

प्रयोग महत्व पूर्ण अवश्य है। पर भारतीय वातावरणके लिये इनकी उपादेयता कम है। कारण एक तो यहाँ विद्युच्छक्ति इतनी सस्ती नहीं है कि ऐसे कामोंके लिए उसका उपयोग हो सके। अमेरिका इत्यादि विदेशोंमें बिजली इतनी सस्ती मिलती है कि जिस मात्राके लिये हम यहाँ ।=) देते हैं वहाँ उसके लिए लगभग)॥ देना पड़ेगा दूसरे भारतवर्षमें साधारणतः फल और तरकारी इतनी सस्ती है कि बाजारमें उपज जल्दी आनेसे विशेष लाभ होने को आशा नहीं है। उदाहरणार्थ जो ककड़ी यहाँ)। या)॥ में मिलेगी वही अमेरिकामें ५-६ आने की होगी और फिर इतने उष्णता प्रधान देश में विद्युत् द्वारा ताप उत्पन्न कर अधिक अन्तर होने की संभावना नहीं है। फिर भी प्रयोगोंसे पता चलता है। कि विज्ञानका दिनों दिन मनुष्यके साधारण जोवन पर कितना अधिक प्रभाव पड़ता जाता है।

(२) आचार्य रमन की नई खोज

आधुनिक भौतिक वैज्ञानिकोंने प्रकाश क्या है इस प्रश्न पर बहुत अधिक मनन किया है। २०वीं शताब्दीमें प्लैंक, आइन्स्टाइन इत्यादि महापुरुषोंके अनुसन्धानोंसे यह सिद्ध हो चला कि कुछ प्रयोगोंके फलको समझनेके लिए प्रकाशका तरंगसिद्धान्त अपर्याप्त है। यहां कह देना उचित होगा कि इससे पहले वैज्ञानिकों ने यह मतस्थिर कर लिया था कि प्रकाश एक स्थानसे दूसरे स्थानपर तरंगोंके रूपमें जाता है। नवीन मतके अनुसार प्रकाश कणोंके रूपमें चलता है। यह शक्तिके कण १८६००० मील प्रति सेकेण्डकी तीव्र गतिसे चलते हैं। इनकी कल्पना बन्दूककी छूटी हुई गोलीसे की जा सकती है। आधुनिक राइफल से छूटी गोली केवल आगेही नहीं जाती परन्तु लट्टूकी भांति चक्कर खाती हुई जाती है। प्रकाशके कण सिद्धान्तसे और काम्प्टन और रमन-असरसे सिद्ध हो गया था कि प्रकाश में तीव्र गतिके कण तो होते हैं पर वैज्ञानिक संसारके सामने यह प्रश्न उपस्थित था कि यह राइफ़िलकी गोलीके समान चक्कर खाते हैं या नहीं। हालही में एक फ्रेञ्च वैज्ञानिकने कुछ प्रयोग किये जिनसे उन्होंने यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की कि प्रकाशके कण चक्कर नहीं खाते। फिर दो जर्मन वैज्ञानिकों ने

रमन असर पर कुछ प्रयोग किये जिनसे बहुत ही आश्चर्यजनक फल मिले।

आचार्य रमन और उनके सहयोगी भगवन्तम ने अंग्रेजी पत्रिका "नेचर" में एक पत्र लिखा है जिसमें वह कहते हैं कि जर्मन वैज्ञानिकों के प्रयोगों का यह अर्थ है कि प्रकाशके कण राइफिलकी गोलीके समान चक्कर खाते हैं। कलकत्तेमें अपनी प्रयोगशालामें रमन ने कर्बन द्विओषिद पर जो प्रयोग किये उनसेभी यह मत समर्थित होता है। यदि आचार्य रमनका मत ठीक है तो प्रकाशके कणसिद्धान्त के इस समर्थन ने रमन-असर का महत्व बहुत बढ़ा दिया है और आचार्य रमनभी इस नवीन खोज के लिये बधाई के पात्र हैं। परन्तु लेखकके मतानुसार इनका जो अर्थ आचार्य रमन कर रहे हैं उससे यह निर्विवाद सिद्ध नहीं होता कि प्रकाशके कण चक्कर लगाते हैं। ठीक बात क्या है, यह रमनके पूरे फल प्रकाशित होने पर या और प्रयोग होने पर कही जा सकेगी।

—युधिष्ठिर भार्गव

समालोचना

व्याधि विज्ञान—प्रथम भाग- ले० आशानन्द पंचरत्न, दयानन्द आयुर्वेदिक कालेज, लाहौर। प्रकाशक मेनेजर विराट फार्मेसी, चेम्बरलेनरोड, लाहौर। सजिल्द, पृष्ठ संख्या ३६६। सचित्र सं० ४०। मूल्य ३॥=)।

दयानन्द आयुर्वेदिक कालेज लाहौरके छात्रों की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर इस पुस्तक की रचना की गई है। इस पुस्तक का प्रथम भाग हमारे सम्मुख है, द्वितीय भाग भी शीघ्र प्रकाशित होने वाला है। पाश्चात्य रोग निदान का विवरण इस पुस्तकमें योग्य रचयिता ने दिया है। लेखन क्रम के सम्बन्धमें भूमिकामें लिखा है कि "इस ग्रन्थमें प्रथम रोग परीक्षाके सामान्य विषय स्टैथ-स्कोप, थरमामीटर, मूत्र परीक्षा आदि लिखे गये हैं, तत्पश्चात् एक एक व्याधिका समुचित वर्णन करते हुए सम्पूर्ण संक्रामक व्याधियां लिखी गई हैं। और अन्तमें आहार जन्य व्याधियों का वर्णन करके प्रथम भाग समाप्त कर दिया गया है।" शेष कुछ विषयों जैसे रक्त, फुफ्फुस, वृक्क तथा आमाशय रोगादि द्वितीय भागमें लिखे जावेंगे।

ग्रन्थके पहले चार अध्यायोंमें रोग परीक्षाका उल्लेख है, ५ वें अध्यायमें मूत्र परीक्षा, ६ ठे में सूक्ष्मजन्तु (रोगाणु या प्रेरणाणु का विवरण), ७-६ वें अध्यायोंमें भिन्न भिन्न प्रकारके ज्वरोंका वर्णन है। १०-११ वां अध्याय संक्रामक रोग सम्बन्धी है। १२ वें में क्षयरोग और १७ वें में मधुमेह और वात रक्त का विवरण है, १८ वें अध्याय में विटेमिन की कमी से होने वाले बेरी-बेरी, स्कर्वी आदि रोगोंका उल्लेख है। लेखकने विटेमिनके लिये खाद्यौज शब्द प्रयोग किया है। पुस्तकके अन्तमें अंग्रेज़ी पर्य्यायों की सूचीभी दी हुई है। विषयको स्पष्ट करनेके लिए लेखकने अनेक तिरंगे, और बहुतसे चक्र भी दिये हैं। तात्पर्य्य यह है कि पुस्तक बहुतही रोचक और उपयोगी हो गई है। पुस्तक की भाषा सरल और शुद्ध है और प्रत्येक विषय बहुतही स्पष्ट रीतिसे समझाया गया है। इस प्रकार की पुस्तकें हिन्दी साहित्यके लिये गौरव की बात हैं। इस सफलता के लिये हम पञ्चरत्न जी को बधाई देते हैं।

पारिभाषिक शब्दों के सम्बन्धमें कुछ हमारा मतभेद है जो कि स्वाभाविक ही है।

मूत्र परीक्षा सार— ले० पं० माखनलाल वैद्य भूषण; प्रकाशक गङ्गोत्री भवन, नई सड़क, देहली। पृ० २४, छपाई साधारण मूल्य ॥) जो कि अधिक है।

इसमें मूत्र की परीक्षाके सम्बन्धमें कुछ ज्ञातव्य बातोंका विवरण है। पुस्तक साधारण है। हिन्दीमें इस विषय की अच्छी पुस्तकें विद्यमान हैं।

वैज्ञानिक पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका भाग १—ले० प्रो० रामदास गौड़, एम. ए., तथा प्रो० सालिग्राम, एम.एस-सी. ।)
२—मिफताह-उल-फ़नून—(वि० प्र० भाग १ का उर्दू भाषान्तर) अनु० प्रो० सैयद मोहम्मद अली नामी, एम. ए. ... ... ।)
३—ताप—ले० प्रो० प्रेमवल्लभ जोषी, एम. ए. तथा श्री विश्वम्भरनाथ श्रीवास्तव ... ॥=)
४—हरारत—(तापका उर्दू भाषान्तर) अनु० प्रो० मेहदी हुसेन नासिरी, एम. ए. ... ।)
५—विज्ञान प्रवेशिका भाग २—ले० अध्यापक महावीर प्रसाद, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद १)
६—मनोरंजक रसायन—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम. एस-सी. । इसमें साइन्सकी बहुत सी मनोहर बातें लिखी हैं। जो लोग साइन्स-की बातें हिन्दीमें जानना चाहते हैं वे इस पुस्तक को जरूर पढ़ें। ... १॥)
७—सूर्य सिद्धान्त विज्ञान भाष्य—ले० श्री० महाबीर प्रसाद श्रीवास्तव, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद
मध्यमाधिकार ... ... ॥=)
स्पष्टाधिकार ... ... ।॥)
त्रिप्रश्नाधिकार ... ... १॥)
चन्द्रग्रहणाधिकारसेउदयास्ताधिकारतक १॥)
८—पशुपक्षियोंका शृङ्गार रहस्य—ले० अ० सालिग्राम वर्मा, एम.ए., बी. एस-सी. ... -)
९—ज़ीनत वहश व तयर—अनु० प्रो० मेहदी-हुसैन नासिरी, एम. ए. ... ... -)
१०—केला—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली -)
११—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली ।)
१२—गुरुदेवके साथ यात्रा—ले० अध्या० महावीर प्रसाद, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद ।-)
१३—शिक्षितोंका स्वास्थ्य व्यतिक्रम—ले०स्वर्गीय पं० गोपाल नारायण सेन सिंह, बी.ए., एल.टी. ।)
१४—चुम्बक—ले० प्रो० सालिग्राम भार्गव, एम. एस-सी. ... ... ।=)
१५—क्षयरोग—ले० डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा, बी. एस. सी, एम-बी. बी. एस ... -)
१६—दियासलाई और फ़ास्फ़ोरस—ले० प्रो० रामदास गौड़, एम. ए. ... ... -)
१७—कृत्रिम काष्ठ—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली =)
१८—आलू—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली ... ।
१९—फसल के शत्रु—ले० श्री० शङ्करराव जोषी ।-)
२०—ज्वर निदान और शुश्रुषा—ले० डा० बी० के० मित्र, एल. एम. एस. ... ।)
२१—कपास और भारतवर्ष—ले० पं० तेज शङ्कर कोचक, बी. ए., एस-सी. ... -)
२२—मनुष्यका आहार—ले० श्री० गोपीनाथ गुप्त वैद्य ... ... १)
२३—वर्षा और वनस्पति—ले० शङ्कर राव जोषी ।)
२४—सुन्दरी मनोरमाकी करुण कथा—अनु० श्री नवनिद्धिराय, एम. ए. ... ... -)॥
२५—वैज्ञानिक परमाणु—ले० डा० निहाल करण सेठी, डी. एस. सी. तथा श्री सत्य-प्रकाश, एम. एस-सी० ... ... १॥)
२६—कार्बनिक रसायन—ले० श्री० सत्य-प्रकाश एम-एस-सी० ... ... २॥)
२७—साधारण रसायन—ले० श्री० सत्यप्रकाश एम० एस-सी० .. .. २॥)
२८—वैज्ञानिक परिभाषक शब्द, प्रथम भाग—ले० श्री० सत्यप्रकाश, एम० एस-सी० ... ॥)
२९—बीज ज्यामिति या भुजयुग्म रेखा गणित—ले० श्री० सत्यप्रकाश, एम० एस-सी० ... १।)
३०—सर चन्द्रशेखर वेङ्कट रमन—ले० श्री० युधिष्ठिर भार्गव एम० एस-सी० ... =)
३१—समीकरण मीमांसा प्रथम भाग ... १॥)
३२—समीकरण मीमांसा दूसरा भाग—ले० स्वर्गीय श्री पं० सुधाकर द्विवेदी ... ॥=)
३३—केदार बद्रीयात्रा ... ।)

पता—मंत्री विज्ञान परिषत्, प्रयाग।

मुद्रक—शारदा प्रसाद खरे, हिन्दी-साहित्य प्रेस, प्रयाग।

पूर्ण संख्या—२१२ Approved by the Directors of Public Instruction, United Provinces and Central Provinces for use in Schools and Libraries. Reg. No. A. 708.

भाग ३६
VOL. 36.

मीन, संवत् १९८९

फरवरी, १९३३

संख्या ५
No. 5

विज्ञान

प्रयागकी विज्ञान परिषत्‌का मुखपत्र

'VIJNANA' THE HINDI ORGAN OF THE VERNACULAR SCIENTIFIC SOCIETY, ALLAHABAD.

अवैतनिक सम्पादक

ब्रजराज एम. ए., बी. एस-सी., एल-एल. बी.,

सत्यप्रकाश, डी. एस-सी., एफ. आई. सी. एस.

प्रकाशक

वार्षिक मूल्य ३)] विज्ञान परिषत्, प्रयाग [१ प्रतिका मूल्य ।)

विषय-सूची

श्री निवास रामानुजन

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥ तै० उ० ।३।५॥

भाग ३६ | कुम्भ, संवत् १९८९ | संख्या ५

हिन्दी साहित्य सम्मेलन ग्वालियरके विज्ञान विभाग के सभापति

० गोपाल स्वरूप जी भार्गव का सम्भाषण

...न वाक्यों में अलौकिक शब्द रचना तथा रसमय भावों का समावेश हो उन्हें काव्य ...ते हैं। काव्य की रचना, तथा रसके रूपान्तरों का ...पादन करनेवाले ग्रन्थों को प्राचीन समय में ...हित्य ग्रन्थ कहते थे। सारांश यह कि लक्षण ग्रन्थों ... साहित्य तथा उदाहरण ग्रन्थों को काव्य कहते ...। किन्तु वर्तमान समय में किसी भाषा के समस्त ...थों को साहित्य के अन्तर्गत मानते हैं और साहित्य ... दो बड़े अङ्ग—काव्य और विज्ञान माने जाते ... काव्य—गद्य, पद्य हो अथवा चम्पू हो—दृश्य अथवा श्राव्य हो, प्रश्न यह है कि उसका विज्ञान ...क्या सम्बन्ध है। इस प्रश्न का उत्तर देने का ...त्न करने के पहले यह आवश्यक है कि हम विज्ञान का अर्थ और उसका क्षेत्र समझ लें।

साधारण मनुष्य की यह धारणा है कि विज्ञान एक विषय विशेष है। जिस प्रकार भूगोल, इतिहास गणित आदि अन्योन्य विषय हैं उसी प्रकार विज्ञान भी एक विषय है; किन्तु यह धारणा भ्रम मूलक है। विज्ञान कोई विषय विशेष नहीं है किन्तु वह एक अध्ययन प्रणाली है, जो समस्त भ्रमों को दूर कर सत्य के अन्वेषण में सहायक होती है। इस प्रणाली का मुख्य साधन "निरीक्षण" है। जिस बात की हमें खोज करनी हो, उसका निरीक्षण करने से ही हम उसके रहस्य का पता चला सकते हैं। निरीक्षण भी दो प्रकार की अवस्थाओं में किया जा सकता है। एक तो प्राकृतिक अवस्था में, दूसरे कृत्रिम अवस्था में। प्राकृतिक अवस्था में तो हम केवल एकाग्र मन और शुद्ध अन्तःकरण से बड़ी सावधानता से प्रकृति के लीलागार में उसकी अनेक रहस्यमयी घटनाओं का निरीक्षण करते हैं और जो कुछ दृष्टि गोचर होता है उसे सच्चाई और

ईमानदारी के साथ नोट करते जाते हैं। तदनन्तर इन नोट की हुई बातों पर विचार करके उनको शृङ्खलाबद्ध करने का प्रयत्न करते, उनका कोई परिणाम निकाल कर एक सिद्धान्त विशेष पर पहुँच जाते हैं। निरीक्षण करने में अनेक साधनों का प्रयोग भी किया जाता है—चाहे वह साधन निर्जीव वैज्ञानिक यंत्र हो अथवा जीते जागते समाज का कोई संगठन विशेष हो। उदाहरण के लिए ज्योतिष शास्त्र को ले लीजिये। तारों अथवा नक्षत्रों, ग्रहों और उपग्रहों के सम्बन्ध में दूरबीन आदि यंत्रों का प्रयोग किया जा सकता है। जल, वायु, वर्षा आदि के सम्बन्ध में भी अनेक यंत्र काम में आते हैं, किन्तु समाज शास्त्र सम्बन्धी अनेक समस्याओं के रहस्योद्घाटन में पहले सामाजिक सङ्गठनों द्वारा अनेक सूचियाँ अथवा सारिणियां बनानी पड़ती हैं और तब उनसे कुछ परिणाम निकल सकता है। जैसे प्रायः निर्धन देशों या समाजों में पुत्र अधिक उत्पन्न होते हैं। धन सम्पन्न देशों अथवा समाजों में पुत्रियां अधिक जन्म लेती हैं। यह सिद्धान्त कई देशों के लाखों कुटुम्बों की सारिणियां बना कर उनका अध्ययन और विचार करने से निकाला गया है। कुछ ऐसे भी विषय हैं जिनमें निरीक्षण करने के समय हम परिस्थितियों को इच्छानुकूल बदल सकते हैं। उदाहरण के लिए नमक और गंधकाम्ल की प्रतिक्रिया ले लीजिये। नमक की मात्रा का थोड़ा या अधिक होना, उसका घोल गाढ़ा या पतला होना, गंधकाम्ल का गाढ़ा या पतला होना, परस्पर प्रतिक्रिया के समय उनका तापक्रम नीचा या ऊँचा रहना इत्यादि बातें हमारी इच्छा पर निर्भर हैं और हम इन दोनों पदार्थों की प्रतिक्रिया अनेक परिस्थितियों में करा सकते हैं।

अतएव निरीक्षण की दृष्टि से विज्ञान के दो विभाग हो जाते हैं:—

(१) अवलोकनात्मक (observational science)
(२) प्रयोगात्मक (Experimental science)

अतएव यह स्पष्ट हो गया होगा कि क्रमबद्ध, पक्षपात रहित निरीक्षण और परीक्षण से किसी विषय का अध्ययन करने की प्रणाली ही विज्ञान कहलाती है। जो विषय इस प्रणाली से अध्ययन किया जाता है वही विज्ञान के विस्तृत क्षेत्र में सम्मिलित हो जाता है। अतएव आजकल अर्थशास्त्र, इतिहास, सुप्रजननशास्त्र, वनस्पति शास्त्र, जन्तु, रसायन, भौतिक, ज्योतिष, आदि अनेक शास्त्र विज्ञान के अन्तर्गत आ गये हैं। सच पूछिये तो आपके प्राचीन साहित्य ग्रन्थ, अर्थात् छन्दो ग्रन्थ भी वैज्ञानिक ग्रन्थही हैं। भाव-भेद, रसभेद, अर्थभेद; आदि सभी मानव-प्रकृति—निरीक्षण के ही परिणाम हैं, इसी लिए विज्ञान के साम्राज्य में इनको स्थान प्राप्त है। अतएव सतयुग के ऋषियों ने विज्ञान के इस महत्व को समझ कर गदगद कंठ उसको प्रशंसा यदि इन शब्दों में की तो क्या आश्चर्य है:—

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् ॥ विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायंते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति ॥ विज्ञानं प्रयन्त्यभिशंविशन्तीति ॥

विज्ञान के तथ्यों का, उसके आविष्कृत सिद्धान्तों का ऐसे रूपमें प्रचार करना कि जन समुदाय का उससे न केवल मनोरंजन हो प्रत्युत् उनकी शारीरिक आर्थिक, मानसिक और अध्यात्मिक उन्नति हो—यही काम काव्यका है।

कविता का जन्म करुणा के गर्भ से वैज्ञानिक नियमों के अनुसार हुआ और निरीक्षण द्वारा ही उसका आविष्कार हुआ।

तथा विधं द्विजं दृष्ट्वा निषादेन निपातितम्
ऋषे धर्मात्मनस्तस्य कारुण्यं समपद्यत
ततः करुण वेदित्वात् अधर्मोऽयमिति द्विजः
निशम्य रुदतीं क्रौंचीमिदं वचन ब्रवीत
मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः
यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काम मोहितम्
तस्येत्थम् ब्रुवतश्चिन्ता बभूव हृदिवीक्षतः
शोकार्ते नास्य शकुनेः किमिदं व्याहृतं मया

पादबद्धोऽत्तर समस्तंत्रीलय समन्वितः—
शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा।

सच्ची भगवद् भक्ति जनता की सेवा करना है। अनन्त चतुर्दशी की कथामें बतलाया है कि अनन्तभगवान की खोजमें कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण वनों और पर्वतों में भटकता हुआ जब एक स्थानपर पहुँचा तो एक वृद्ध ब्राह्मण मिला, जो उसे एक गुफामें लेगया। वहां उसको भगवान् के असीम वैभव का दर्शन हुआ और उसने भगवान से पूछा कि वह वृद्ध ब्राह्मण कौन और गुफा क्या थी। भगवान उसको उत्तर देते हैं—

ब्राह्मणोऽसावनन्तोऽहं गुहा संसारगह्वरम्।

अतएव काव्य की कसौटी यही है कि वह ज्ञान और विज्ञान का आश्रय न छोड़े, उनकी सेवा में, उनकी मर्यादा की रक्षा में तत्पर रहे। जब कभी वह इस उच्च आदर्श से गिर जाता है, तो बड़ा अनर्थ होता है, जैसा कि पिछली शताब्दी के कुछ कवियों की रचनाओं से भारतमें हुआ।

वैज्ञानिक विधि

हम बतला चुके हैं कि विज्ञान एक अध्ययन की शैली है। इस शैली का जन्म भारत में हुआ। भारतवासियों से इसे अरब वालों ने सीखा, उन्होंने स्पेन निवासियों को सिखाया और स्पेन से सारे संसार में इसका प्रचार हुआ।

भारत अरब वालों को सिखाकर इस शैली को भूलने लगा था—उसी का परिणाम यह था कि उसकी हर प्रकार से अधोगति होगई—यहाँ तक कि धर्म प्राण हिन्दुओं का धर्म भी मिथ्या विश्वासों और अज्ञान के आवर्त में ढक गया था। अब प्रायः ५०,६० वर्ष से फिर से यह शैली भारत में आई है, किन्तु धर्म अथवा ज्ञान का आश्रय छूट जाने से जो अपकार इसने यूरोप में किया, वह भारत में होने का भय है। अतएव हम को चाहिये कि ज्ञान और विज्ञान दोनों का हम सम्पादन करें।

भगवती श्रुति का भी यही उपदेश है:—

विद्यां चा विद्यां च यस्तद्वेदोभयं ँ सह
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया मृतमश्नुते॥

अभ्युदय और निश्रेयस दोनों का सम्पादन करने वाला धर्म है। इनमें से केवल एकको ही पुष्ट करने वाल धर्म लंगड़ा है:—

अन्धतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया ँ रताः
अन्य देवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्ययाः
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्व्यचचक्षिरे॥

वैज्ञानिक साहित्य

हिन्दुओं का जो धर्म का आदर्श था, उसके अनुसार ज्ञान और विज्ञान दोनों का साथ साथ चलना परमावश्यक था। अतएव दोनों का प्रचार कदम-कदमपर साथही साथ होता था। स्वास्थ्य रक्षा, शरीर संगठन, नाड़ी विज्ञान, आरोग्य विज्ञान आदि की शिक्षा—कर्म तथा उपासना के ग्रन्थों में ईश्वर अथवा आकाशतत्व के समान सर्वत्र व्यापक है। तथापि इन विषयों के अनेक ग्रंथ प्राचीन संस्कृत साहित्य में विद्यमान थे। बहुतों का तो अब नामतक नहीं मालूम, बहुतों के नाम और उनके ग्रंथकारों के नाम जहां तहां संस्कृत ग्रन्थों में पाये जाते हैं। कुछ विद्याओं और कलाओं की चर्चा रामायण तथा महाभारत और पुराणों में मिलती है। संस्कृत का प्रचार पिछली शताब्दी तक रहा और जो कुछ भी शिक्षा मिलती थी वह संस्कृत द्वारा ही मिलती थी। परन्तु ब्राह्मणों के अतिरिक्त बहुत कम अन्य जाति के लोग पढ़ते पढ़ाते थे। ब्राह्मण सभी विद्याओं में निपुण होते थे, यहां तक कि शिल्प शास्त्र तक के भी पंडित ब्राह्मणों में ही पाये जाते थे। केवल व्यवहारिक ज्ञान अन्य वर्णों के आदमियों को दिया जाता था। अतएव धीरे धीरे शिल्पियों में नये नये अनुसंधान तथा आविष्कार करने की योग्यता न रही।

हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य

पहला धार्मिक महाकाव्य तुलसीबाबाने हिन्दी-भाषा में रचा। ब्राह्मणोंने उस समय उन्हें बहुत

बुरा भला कहा, किन्तु वह लोकोपकार के भाव से विचलित न हुए। आधुनिक विज्ञानका पहला ग्रन्थ संस्कृत में लिखा गया था। वह ग्रंथ था बापूदेव-शास्त्री की त्रिकोण मिति। उसी का अनुवाद उसके एक शिष्य—पं० वेणीशंकर ने हिन्दी में छपवाया। यह ग्रन्थ १८५९ में छपा, किन्तु इसके ४ वर्ष पूर्वही आगरे में पं० कुंजबिहारीलाल ने लघुत्रिकोणमिति नाम का ग्रन्थ छपवाया था। धन्य है कि यू०पी० की राजधानी आगरे के एक ब्राह्मण ने यह काम किया, परन्तु प्रतीत होता है कि उस समय आगरा और काशी में प्रतिद्वंदिता थी और काशी निवासी आगरे वालों से बाज़ी मार लेगये—यदि आगरे में आगरा ट्रेक्ट सोसाइटी काम कर रही थी तो बनारस में बनारस इंस्ट्यूट जुटी हुई थी, उधर गवर्मेंट भी ग्रंथों का अनुवाद कराने का प्रयत्न कर रही थी।

गवर्मेंट की ओर से पहला ग्रन्थ "वाह्यप्रपंच-दर्पण" नामक छापा गया। यह Mann's lessons in general knowledge का अनुवाद था जो पं० मथुराप्रसाद मिश्रने किया था। पं० जी अंग्रेज़ीके धुरंधर विद्वान थे। उन्होंने प्रेक्टिकल इङ्गलिश तथा ट्रिलिंग्वल डिक्शनरी बनाई थी। यह २०६ पृष्ठ का डिमाई साइजका ग्रंथ है, जो मोटे टाइपमें छपा है। उसका प्रतिपाद्य विषय है भौतिक भूगोल—फिज़िकल ज्याग्रेफी। इस ग्रन्थ में आदिमें कोई मङ्गलाचरण नहीं है, परन्तु अंतमें यह सवैया दिया है:—

सेवक राम महागुण धाम
सुमिश्र कनौजिया हैं जस लीन्हों।
ता सुत भौ मथुरा परसाद
जुशास्त्रन के सब स्वादहिं चीन्हों।
स्वारथ औ परमारथ हेतु
रच्यौं अनुवाद सबै सुख दीन्हों।
प्रीतिहि साथ सुनाथहिं अर्पण
वाह्य प्रपंच सुदर्पण कीन्हों।
इति अलम्—शुभम्।

इसके अगले साल सं० १८६० में—"सिद्ध पदार्थ विज्ञान" नामी ग्रंथ—प्रयागसे प्रकाशित हुआ। इसके अनुवादकर्ता पं० वंशीधर, मोहनलाल तथा कृष्णदत्त हैं। यह ग्रन्थ प्रारम्भक यन्त्र शास्त्र का (mechanics) है। इसमें पदार्थ के गुण, गति के नियम, उत्तोलन दण्ड, आकर्षण, पच्चड़, पेच, घिरनी (Pulley) ढलवा तल, आदि बातें दी हैं।

इसी वर्ष पं० बालकृष्ण शास्त्री खण्डकरकी अनुवाद की गई "खगोल विद्या" प्रयाग में छपी। यह प्रारम्भिक ज्योतिष शास्त्र की पुस्तक है। इसमें ग्रहोंका, चन्द्रमाका, तथा ज्वार भाटेका वर्णन है।

आगरा, बनारस और इलाहाबाद के उद्योगों से उत्तेजित हो लखनऊ में भी कुछ चर्चा चली। प्रारम्भिक यन्त्र शास्त्रपर—एक अच्छा ग्रन्थ पं० विजयशंकर ने छपवाया। इसमें जल स्थिति विज्ञान तथा गैसों का भी वर्णन है। जल निकालने के भी यंत्रों तथा पेंडुलम अर्थात् लोलक का भी वर्णन है। पहियों का कलों में कैसे प्रयोग होता है, यह भी इस ग्रंथमें दिखाया है। पुस्तक के अन्तमें यह दोहा है।

पंडितवर श्रीलाल के, तनय विजय शिव नाम
सकल पदार्थन को रच्यो, विद्या सार ललाम
भांति भांति के यंत्र को, जानन हेत बखान
1865
मध्य बाण रस नाग भू, ईसा शक पहिचान

दो वर्ष बाद जयपुर के राजवैद्य कालिनएस वैलैनटाइन ने—वायु सागर अर्थात् वायुकी उत्पत्ति और रसायन विद्या के वर्णन में "संक्षेप पाठ" नामकी पुस्तक छपवायी। सं० १८७४ में "चित्रकारी सार" नामकी पुस्तक—पं० वंशीधर ने प्रकाशित कराई। अगले वर्ष फिर बनारस में कार्य शुरू हुआ। अबतक लखनऊ वाली पं० विजयशंकर की पुस्तक को छोड़, उपर्युक्त सब किताबों का प्रकाशन सरकार ने किया था। किन्तु अब वह समय आया कि अनुवादों को छोड़ स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने का साहस हुआ, और

यह नार्मल स्कूल लखनऊ के गणिताध्यापक थे।

गवर्मेंट की सहायता के बिना प्रकाशन किया। यह श्रेय बनारस कालिज के प्रोफेसर प० लक्ष्मीशङ्कर मिश्र को प्राप्त है। इन्होंने १८७५ में पदार्थ-विज्ञान-विटप नामक ग्रन्थ छापा। इसमें प्रारम्भिक रसायन और भौतिक शास्त्रों के नियमों का वर्णन है। ताप, प्रकाश, विद्युत्, चुम्बक, रसायनिक योग आदि बातें दी हैं।

पं० जीने अन्य कई ग्रथ लिखे जो स्वतन्त्र और मौलिक थे:—त्रिकोण मिति (१९७३); प्रकृति विज्ञान विटप, गति विद्या, स्थिति विद्या। इसके अतिरिक्त आपने लोक प्रिय व्याख्यान भी दिये, जिनमें से एक वायुचक्र विज्ञान, भाग १ तथा २ छपवाये भी। यह व्याख्यान बनारस इंस्टिट्यूट में स ७४ में दिये और उसी साल छपवाये। आपने गणित कौमुदी नामक पुस्तक भी लिखी थी।

सं० ८२-रसायन प्रकाश नामक पुस्तक का दूसरा सँस्करण लखनऊ के प्रसिद्ध नवल किशोर के छापे खाने में छपा। इसका पहला सँस्करण शायद आगरा स्कूल बुक सोसायटी की ओरसे कलकत्ते से प्रकाशित हुआ था। इसकी भूमिका दोहों में लिखी है। उसके अन्तिम दोहे में लिखा है "इन्दुव्योम निधि निशापति, करसम्वत् निर्धार। कार्तिक शुक्ला पंचमी भयो ग्रन्थ गुरुवार" अतएव सं० १९०१ वि० में यह ग्रन्थ रचा गया। यदि यह मानलें कि उसी वर्ष छपगया तो यह पुस्तक ८८ वर्ष पहले छपी होगी और यह पाश्चात्य विज्ञान संबन्धी पहली पुस्तक रही होगी जो हिन्दी में छपी थी। इसके रचयिता पं० बद्रीलाल आगरा निवासी थे, जो काशी में अध्यापकी करते थे। आपने पारिभाषिक शब्दों के सम्बन्ध में कितनी खरी बात कही है:—

❀ दोहा ❀

अङ्गरेजी के शब्दको, देख न भूलो कोय।
पृथक् शब्द तिनके सबै, मिलत न भाषा मोय॥
अप्रसिद्ध जे शब्द हैं, तिनको लिखे न जान।
अर्थन को मिलवो कठिन, सम्भ्रम होत निदान॥

इन शब्दों में हिन्दीकी बेबसी व्यक्तस्वर से बोल रही है। शब्द होते हुए भी चुप रहना पड़ता है। जबतक राजा का सहारा न हो भाषा का उद्धार कौन करें। सं० १८८२ में ही "सृष्टि का वर्णन" नामकी पुस्तक नवल किशोर प्रेसने छापी और सं० १८८३ में "खेती की विद्या के मुख्य सिद्धान्त" शाहजहां पुर के आर्य दर्पण प्रेस ने प्रकाशित किया। इसके अनुवादकर्ता थे लाला काशीनाथ खत्री; जो सिरसा जिला इलाहाबाद के रहने वाले थे। इन्होंने अपनी बनायी हुई पुस्तकों पर खूब इनाम पाया। यह कृषि विद्या का पहला ग्रन्थ था।

अब हम उन दो पुस्तकों की कुछ चर्चा करेंगे जिनके प्रकाशन ने यूरोप में भी हलचल पैदा कर दी थी। यह दो ग्रन्थ स्वर्गीय स्वनाम धन्य पं० सुधाकर द्विवेदी के थे। इन ग्रन्थों के नाम चलन कलन तथा चल-राशि कलन हैं। पहला ग्रन्थ सं० १८८५ में प्रकाशित हुआ। यह पूरे हिन्दू ठाट बाट से निकला। नाम हिन्दी था ही, टैटिल पेज पर "श्रीजानकीवल्लभो-विजयते" छपा था, पहले पृष्ठपर "श्रीगणेशाय नमः" शोभा पा रहा था। मुख पृष्ठ के ऊपरले भाग में हिन्दी में नाम आदि थे और निचले भागमें अँग्रेजी में छपे थे। पं० मथुरा प्रसाद ने तो अपना ग्रन्थ अपने "नाथ" के अर्पण किया था, परन्तु द्विवेदी जीने "सर लायल" को।

इस पुस्तक की उपयोगिता और उत्तमता के सम्बन्धमें बांदा के मजिस्ट्रेट मिस्टर होल्ट ने भूमिका में लिखा है:—"An Indian student may be able to pursue his studies right through his Univ. Course in his own language." "The general plan of the book follows that of the well known treatise by Todhunter, but much additional and original maettr has been introduced; and in many cases specially in treating of vanishing fractions Todhunter's methods have been matearillv siwnli fied." उस समय टोडहँटरकी पुस्तकें इँगलेण्ड तथा भारतमें सर्वोत्तम पाठ्य पुस्तकें

मानी जाती थीं। उसकी पुस्तक से भी अधिक अच्छी पुस्तक रचना, बड़े गौरव का काम था।

यूरोप के Nation आदि पत्रों ने इस ग्रँथ की मुक्त कँठसे प्रसँशा की-अतएव पँ० सुधाकर जी ने हिंदीभाषा की तो सेवा की ही, किन्तु उस अवनति के युगमें भो भारत का गौरव बढाकर अमर कीर्ति कमाई। भारतके नाते यहां पर लाला रामचन्द्र के ग्रन्थ का भी उल्लेख कर देना परमावश्यक है। लाला-साहब ने न्यूनतम और महत्तम विषय पर एक पुस्तक उर्दू में लिखी थी और उसका अँग्रेजी रूपान्तर भी छपवाया था। द्विवेदी जी अपनी भूमिका में लिखते हैं कि इनको इस काम के लिए अर्थात् चलन कलन के एक अध्याय के लिखने के लिए गुण ग्राहक यूरोपीय विद्वानों ने डैरेक्टरों से २००० रु० का इनाम दिलाया। भूमिका के अन्तमें पँ० जी लिखते हैं।

सम्वत विधु-वारिधि निधी,धरा, दशहरा कार
ग्रन्थ सिंधु बुधि नावधरि, कियो सुधाकर पार
श्री कृपाल द्विजवर तनय–विनय करत कर जोरि
सुनि गुनि सिखि लिखि ग्रन्थ येहि
लीजिय तत्व पछोरि॥

ग्रन्थके अन्तमें लिखा है।

हरिगीत

यह चलन कलन कृपाल दत्तज श्रीसुधाकर कृतमहा।
महिमा अपार प्रकार आकर जानि जो जन मन गहा
येहि लोक सो करि विविध कीरति बुध कहाय शिरोमणी
धन धाम नाम सुकाम पूरित होय गुणगण अग्रणी।

परन्तु शोक है कि यद्यपि काशी में इतनी सँस्कृत पाठशालाएँ हैं, जहां अनेक ब्राह्मण बालक निः शुल्क शिक्षा पाते हैं, तथापि इस ग्रन्थ से बढकर अथवा उसके समान ग्रन्थ रचना तो दूर रही, उसके पढने वाले भी न मिले। यदि सम्मेलन की विवरण पत्रिका और विज्ञान न प्रकाशित हुआ करते तो इस ग्रंथ का नाम भो भूल जाते। इस ग्रन्थमें परिभाषा तथा रीतिके सम्बन्ध में श्लोक और दोहे—गुरुरूप से दिये हैं। जैसेः—

$$\frac{\text{ताचा}}{\text{ताय}} = \sqrt{\frac{१ + \text{तार}^२}{\text{ताय}^२}}$$

श्लोक वक्र दोगति वर्गाढ्य कोटिवेग कृतेः पदम्
वक्र क्षेत्रीय चापस्य गतिमानं भवेद्ध्रितत्

दोहा कोटि भुजा गति वर्ग को, जोड़ि मूल जो होय
वक्र क्षेत्र के चाप की गति जानहु तुम सोय॥

परवलय

परिधिविन्धु से लम्ब एक, अरुएक रेखा मित्र
नियत रेखिका विन्दु पर, क्रमसे करिय विचित्र
जौं समान ये हों दोऊ सकल गुणन को धाम
वक्र क्षेत्र को गणकवर धरिय परवलय नाम

चल राशि कलन इस ग्रन्थ के ७ वर्ष पीछे छपा। चलन कलनके विषय में कुछ यह भ्रम था कि टोडहँटर के ग्रन्थ का रूपान्तर है। यह भ्रम दूर करने के लिए चलराशि कलन की भूमिका में आपने साफ लिख दिया है कि यह स्वतन्त्र ग्रन्थ है। भूमिका के अन्तमें आप लिखते हैं कि आपने यह ग्रन्थ "अपने देश वासियों के हृदय में यूरोप की विद्या का विशेष उत्साह दिलाने के लिए कि आप लोग कठिन परिश्रम से तन,मन धन देकर जो यूरोपकी विद्या सीखी उससे क्यों नहीं अपनी भाषा की पुष्टि कर अपने देश भाइयों का उपकार करते।" किन्तु उनके इस उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। लगभग २० वर्ष पीछे काशी के डा० गणेशप्रसाद के मौलिक लेखों द्वारा काशीका नाम फिर उजागर हुआ, किन्तु डाक्टर साहब के सब ग्रन्थ अँग्रेजी में ही हैं। डा० गणेश-प्रशाद उत्साही सज्जन हैं और विज्ञान परिषद् के पोषकों में से एक हैं। आशा है कि आप अपनी गवेषणाओं के कुछ निबंन्ध हिन्दी में लिखकर उनका अनुवाद अँग्रेजी में छपवायेंगे जैसा कि मैंजिलेफने किया था। जब कि मैंजिलेफने अपना परमाणु भार के साथ गुणोंकी सामयिक आवृत्ति का नियम निकाला था तो अनेक विद्वानों ने रूसी भाषा इनके लेखों के पढने के लिख सीखी थी। मैंजिलेफने

भारत की देव वाणी का आदर प्रदर्शन के लिए भविष्य वाणी करते हुए भावी में आविष्कार किये जाने वाले मौलिकों के नाम सँस्कृत प्रत्यय लगाकर बनाये थे—Eka-silicon इत्यादि, भूमिका के अन्तमें आप लिखते हैं।

गणित पयोनिधि सविधि मथि काढी सुधा सुहीर
गणित सुधाकर नहीं सुधा, वसुधा मधि हे धीर
(हिसाब)
कल (विश्राम) न परत निज कलन (हाथ) सों कलन बिना जो तात।
कल न कहहु कल कलन हित, कलन देहु येहि प्रात॥

ग्रन्थ के अँत में तीन छन्द दिये हैं:—

रखि हैं कृपालु द्विवेदि सुन कृत, सुकृति जन मन लाय के
चल राशि कलन वरासि कल, नवराशि चरम मिलाय कै।
धरि शान जौं बुधिबल गरब दलि सकल खलहि हिलाय कै
धन धान मान महान लहि हैं, होयप्रिय नृपराय के
सित सावन शनि तेरस, बरस विरोधि
पूरन कियेउ सुधाकर, सब विधि शोधि॥

शोक है कि पँजीकी आशाएँ फलवती नहीं हुईं। जनता में तो आप के ग्रन्थ का प्रचार हुआ ही नहीं, सरकार भी दो ग्रँथ छपवाकर चुप होगई, उनका तीसरा ग्रन्थ तीसवर्ष तक लिखा पड़ा रहा, उसका उद्धार विज्ञान परिषद् ने किया है।

इन ग्रन्थों के निकलने के पीछे काम वड़ी मन्द गति से होता रहा। काशी नागरी प्रचारिणी सभाने बड़े मारके का काम कह किया कि वैज्ञानिक परिभाषाओं का एक कोष अच्छे अच्छे विद्वानों से बनवाकर प्रकाशित किया। दो चार पुस्तकें भी निकाली, परन्तु पुस्तकें उच्चकोटि की और परमार्जित नही थीं। इसी काल में श्रीमान् महेशचरण सिन्हा ने उद्योग करके पहली बार जनता के सन्मुख पूरी ग्रन्थावली उपस्थित की। रसायन शास्त्र, विद्युत्शास्त्र और वनस्पतिशास्त्र छपवाकर बड़ा काम किया, पर उनको कहीं से भी कुछ सहायता नहीं मिली। औद्योगिक रसायन पर काशी के लक्ष्मीचन्द्र जी ने कई पुस्तकें निकालीं परन्तु उनमें कोई अनुभूत प्रयोग अथवा नुसखे नहीं थे, तथापि उन्होंने जनता में रुचि पैदा की, जिसके लिए हिन्दी सँसार उनका आभारी रहेगा। सम्पूर्णानन्द जी ने काम शुरू किया परन्तु अधूरा छोड़ राजनैतिक काम में लग गये।

गुरुकुल कांगड़ी से "विकाशवाद" तथा "गुणात्मक विश्लेषण" बहुत अच्छे ग्रन्थ निकले। प्रो० रामसरनदास का पूर्वोक्त ग्रन्थ अभी बहुत दिन तक अच्छे ग्रन्थों में गिनाजायगा।

अब हम सं० १९१४ की ओर आते है। यह वह महत्व पूर्ण वर्ष है जब महामहोपाध्याय डा० गङ्गानाथ झा, डा० गणेशप्रशाद, प्रो० सालिग्राम भार्गव, प्रो० ब्रजराज, एम. ए., बी. एस-सी; एल एल बी, प्रिंसिपेल हीरालाल खन्ना, श्री महावीरप्रसाद श्रीवास्तव, प्रो० एस. सी. देव, एम. ए. पं० श्रीधर पाठक और लाला सीतारामने प्रो० रामदास गौड़ के प्रस्तावानुसार विज्ञान परिषद् की संस्थापना की तथा वैज्ञानिक साहित्य की रचना में दत्तचित्त होकर कार्य आरम्भ किया। पं० श्रीधर पाठक तथा लाला सीताराम ने "विज्ञान" का सम्पादन स्वीकार किया—रामदास गौड़ दिन रात एक करके पं० गङ्गाप्रसाद वाजपेयी की सहायता से "विज्ञान" का संचालन करने लगे। प्रिं० हीरालाल के उत्साह बढ़ाने से श्री के० सी० भल्ला विज्ञान का प्रकाशन करने लगे। खन्नाजी नित्य "विज्ञान" का काम करने विज्ञान परिषद् के कार्यालय में आते थे, परन्तु यह प्रबंध प्रायः दस महीने चला। गौड़जी को अधिक परिश्रम करने से चक्कर आने लगे, वह छुट्टी लेकर हरिद्वार चले गये। वाजपेयीजी ला की परीक्षा देने गये। भल्लाजी प्रयाग छोड़ कानपुर चल दिये। खन्नाजी आगरा से जौन्स कालिज के गणित अध्यापक होकर चले गये। प्रयाग के काम करने वालों में रह गये केवल तीन आदमी। प्रो० सालिग्राम भार्गव, प्रो० ब्रजराज तथा यह सेवक।

हम तीनों आदमी हिन्दी के कार्य क्षेत्र के लिये नये थे। हिन्दी जानते भी न थे, परन्तु यह दृढ़ विश्वास था कि हमारी मातृ भाषा है, उसकी सेवा करना हमारा परम धर्म है। गौड़जी के चले जाने से सम्मेलन के परीक्षा विभाग का भार भी प्रो० व्रजराज को और मुझको उठाना पड़ा। और एक साल बाद जब व्रजराजजी प्रधान मंत्री हुए तो मुझे परीक्षा मंत्री का काम करना पड़ा। इस प्रकार विज्ञान के संपादन और परीक्षा विभाग के संचालन का भार मुझे उठाना पड़ा। विज्ञान के प्रकाशन तथा विज्ञान परिषद के कार्यालय का भार प्रो० सालिग्राम जीने उठाया। प्रो० सालिग्राम जी विज्ञानपरिषद के कार्यालय का काम १९१४ से इस वर्ष तक (बीच के ४ या ५ वर्ष छोड़कर) बराबर करते आ रहे हैं। उनको जितना धन्यवाद दिया जाय थोड़ा है। विज्ञान को निकलते हुए अब लगभग १७ वर्ष हुए हैं। यदि विज्ञान के ३४ भागों को कोई आद्योपान्त पढ़ले तो प्रायः आधुनिक और प्राचीन विज्ञान का शायद ही कोई विभाग ऐसा बचे जिसका उसे थोड़ा बहुत ज्ञान न हो जाय। "विज्ञान" ने विज्ञान की सभी शाखाओं पर कुछ न कुछ प्रकाशित किया। प्रायः १२ या १४ वर्ष तक तो मनोरंजक, लोक प्रिय साहित्य आधे से अधिक पृष्ठों में रहा करता था। विज्ञान के द्वारा कई अच्छे अच्छे ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं, उनमेंसे प्रथम ग्रन्थ "पैमाइश" था। इसके रचयिता श्री० नन्दलाल तहसीलदार हैं। पीछे से ग्रन्थकार ने स्वयम् इसको दुबारा छपवाया। मनुष्य का आहार दूसरा ग्रन्थ था। वैद्य गोपीनाथ गुप्त ने यह पुस्तक बनाई थी। एक और ग्रन्थ जो विज्ञान से पुनः मुद्रित किया गया था वह है सूर्य सिद्धान्त। इसकी वैज्ञानिक टीका बा० महावीर प्रसाद ने लिखी। ऐसा परिश्रमी, योग्य, निःस्स्वार्थ साहित्य सेवी आज दूसरा हिन्दी संसार में नहीं है। इन्होंने बड़े परिश्रम से टीका लिखी और बिना किसी पारिश्रमिक के विज्ञान परिषद् को दी। जब मैं विज्ञान का सम्पादन करता था, तो मैंने उन्हें कुछ पारिश्रमिक दिया था—वह था द्विवेदी जी का "चलन कलन", चलराशिकलन, बापूदेव का बीज गणित और आप्टे का कोष। गत तीन वर्ष में डा० सत्यप्रकाश जीने भी बड़ा कठिन परिश्रम करके कई ग्रन्थ विज्ञान ग्रन्थ माला में छाप डाले हैं वह हैं:—बीज ज्यामिति, पारिभाषिक कोश, साधारण रसायन, कार्बनिक रसायन। यह पुस्तकें अत्यन्त उपयोगी हैं। प्रो० सालिग्रामजी का चुम्बक लेकर आजकल की इंटरमीजियेट परीक्षा के लिये हमारे पास पर्याप्त ग्रन्थ हैं। प्रो० सालिग्राम जी के विद्युत् शास्त्र के पूरे लेख विज्ञान में जो मौजूद हैं, पदार्थोंके गुणों पर प्रेम बल्लभजोषीका ग्रन्थ और विज्ञानके लेख पर्याप्त हैं। प्रकाश शास्त्रके भी पर्याप्त लेख विज्ञान में हैं। "ताप" छप ही चुका है। केवल शब्द शास्त्र ही रह गया है, जिस पर एक छोटा सा ग्रंथ शीघ्र छप जाना चाहिये। बायोलोजी में "वनस्पति शास्त्र" तो पहले ही छप चुका है, जन्तु शास्त्र पर एक ग्रंथ शीघ्र बन जाना चाहिए। अतएव इस समय "शब्द" और "जन्तु शास्त्र" पर ग्रंथों की बड़ी आवश्यकता है। श्री सत्यप्रकाश जी बड़े उत्साही सज्जन हैं, आशा है कि अपने विख्यात पिता जी श्री गङ्गाप्रसादजी की नाईं यह भी मातृ भाषा की निरंतर सेवा करते रहेंगे।

कृषि सम्बन्धी कई ग्रंथ परिषद ने निकाले हैं आलू, वर्षा वनस्पति, फस्लकेशत्रु, कपास तथा बहुत से लेख विज्ञान में छप चुके हैं। विज्ञान परिषद् ने जिस निस्वार्थ भाव से हिन्दी संसार की सेवा की है और हिन्दी साहित्य को सर्वाङ्ग पूर्ण करने की चेष्टा की है उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। परन्तु खेद है कि हिन्दी भाषाभाषी उसकी पर्याप्त सहायता नहीं करते। विज्ञान मृत प्राय हो रहा है। उसके गिने चुने १५० ग्राहक हैं। जिस भाषाके लगभग २० करोड़ बोलने और समझने वाले हैं, उसके एक मात्र वैज्ञानिक पत्र के १०००० भी ग्राहक न हों यह बड़े आश्चर्य का विषय है।

डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा के ग्रंथ "हमारे शरीर की रचना" की हिन्दी संसार ने बड़ी कद्र की। ग्रंथ बड़ा

उपयोगी है और उसके कई संस्करण भी निकल चुके हैं।

दो बहुत ही सुन्दर और उपयोगी ग्रंथ डा० गोरख प्रसाद ने रचे हैं। एक तो है "प्रकाश चित्रण पर" जो इण्डियन प्रेस ने छापा है। इस ग्रन्थ का बहुत कुछ अन्श पहिले विज्ञान में छप चुका था। दूसरा ग्रन्थ है 'सौरपरिवार" जो हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने छापा है।

गङ्गा पुस्तक मालाका "भूकम्प", भी उल्लेखनीय है। डा० मुकन्द स्वरूप का स्वास्थ्य विज्ञान एवं स्वास्थ्य रक्षाके और भी बहुत से ग्रन्थ हैं। तेजशंकर कोचक, शङ्करराव जोषी, दुर्गा प्रसाद आदि के कृषि विद्या के ग्रन्थ भी अच्छे हैं।

बहुत लेखक आज कल हिन्दी साहित्य के वैज्ञानिक अङ्ग को पूर्ति करने में लगे हुए हैं। विज्ञान परिषद् आदि कई संस्थाएँ इस कार्य को चला रही हैं। सामयिक पत्र, पत्रिकाएँ भी वैज्ञानिक लेख छाप रहे हैं, शिशु भी चन्दा मामा का रहस्य खोल रहा है। बालसखा भी प्रयत्न करता है परन्तु यह प्रगति सन्तोषजनक नहीं है। भाषा का आधार उसके भाषी हैं, जब तक हिन्दी भाषा भाषी, अपनी और अपने देश की उन्नति करने में पूर्णतया संलग्न न हो जायँगे, तब तक वैज्ञानिक साहित्य की उन्नति होना असम्भव है। अब तक "सप्लाई" करने का प्रयत्न हुआ है। डिमाण्ड न पर्याप्त था, न है, जब उपर्युक्त रीति से जनता का उत्साह बढ़ेगा तब डिमांड (मांग) भी बढ़ेगा और सप्लाई भी पर्याप्त होने लगेगी। विज्ञान परिषद ने तो असम्भव को सम्भव करके दिखा दिया है।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी हिन्दुस्तानी भाषा की धुन में लगी है। जनता का लाखों रुपया इस संस्था में वृथा नष्ट हो गया। उसका प्रबन्ध, उसकी नीति ऐसे ढङ्ग की है कि रुपया बहुत नष्ट हुआ और यथोचित काम न हुआ। विज्ञान परिषद ने जो काम कौड़ियों में किया है, वह एकेडेमी ने अशर्फियों में नहीं किया। गवर्नमेंट से यह अनुरोध करना चाहिये कि जो रुपया एकेडेमी को दिया जाता है, वही रुपया विज्ञान परिषद्, हि० सा० सम्मेलन तथा नागरी प्रचारिणी सभा को प्रति वर्ष दे दिया करे। इसके लिए पूरा आन्दोलन होना चाहिये। एकेडेमी में प्रायः वही पदाधिकारी चुने जाते हैं जिन्होंने हिन्दी क्षेत्र में कभी काम नहीं किया। यदि बाबू श्याम सुन्दर दास, पुरुषोत्तम दास टंडन, रामदास गौड़, प्रो० ब्रजराज या प्रो० सालिग्राम उसके मंत्री होते तो बहुत कुछ काम होता।

इस समय समस्त प्रान्तों के साहित्य परिषदों का एक संगठित अधिवेशन होकर परिभाषाओं का निश्चय हो जाना परमावश्यक है। ना० प्र० सभा, हि० सा० सम्मेलन, या विज्ञान परिषद् को यह काम शीघ्र आरम्भ कर देना चाहिये। हिन्दी में मनोरंजक, और लोक प्रिय साहित्य की बड़ी आवश्यकता है। विज्ञान की सहायता करने के अतिरिक्त, बालोपयोगी और मनोरंजक पत्र की योजना शीघ्र होनी चाहिये। बंगलामें The Book of Knowledge का अनुवाद छपना आरम्भ हो गया है। आशा है इण्डियन प्रेस उसका हिन्दी संस्करण भी शीघ्र निकालना आरम्भ कर देगा।

अन्त में पूज्य पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी का भी गुणगान करना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ। जब विज्ञान की चर्चा कहीं भी न थी, उन्होंने सरस्वती में (Folklore) आदि अनेक विषयों पर लेख प्रकाशित कर बड़ा उपकार किया था। जब बी० एस-सी० पास करने के पश्चात् मैंने पहला लेख सरस्वती में भेजा था, तो मुझे आश्चर्य होता था, कि उन्होंने मेरे लेखका संशोधन, बिना रसायन शास्त्र जाने कैसे किया। तारीफ़ की बात यह थी कि आशय अधिक स्पष्ट हो गया था और कहीं भी त्रुटि न आने पायी थी।

अन्त में परमात्मा से यही प्रार्थना है कि हिन्दी और हिन्दुस्थान का प्रेम जनता के हृदय में दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता रहे।

भारतीय रसायनज्ञों के अनुसन्धान

[ले० श्री सन्तप्रसाद टण्डन एम० एस-सी०]

एक वह भी समय था जब भारतवर्ष समस्त सँसार में विद्या का केन्द्र समझा जाता था और एक आज का समय है जब भारतवर्ष की गणना संसारके बहुत पिछड़े हुए देशों में समझी जाती है। क्या यह कभी कोई स्वप्न में भी विचार कर सकता था कि उस भारतवर्ष की जिसे एक समय समस्त संसार विद्या के क्षेत्र में अपना गुरु मानता था आज ऐसी दशा हो जायगी। इसी भारतवर्ष में पुराने समय में दूर दूर से लोग विद्याग्रहण करने आते थे। कितनी ही विद्याओं का ज्ञान संसार को इसी भारतवर्ष ने कराया था। अङ्क-गणित की उत्पत्ति इसी आर्यावर्त में हुई थी; और दर्शन के क्षेत्र में तो अबभी भारतवर्ष की जगद्गुरु की उपाधि को कोई भी देश नहीं छीन सका है। वैद्यक शास्त्र में भी हमारे पुराने ऋषि उस समय समस्त संसार से आगे बढ़े हुए थे। हमारे यहाँ की उस समय की शल्य चिकित्सा भी वर्तमान पश्चिमीय शल्य चिकित्सा की तुलना में किसी प्रकार भी हीन नहीं कही जा सकती। आज भी पाश्चात्य विद्वान हमारे पुराने वैद्यक शास्त्र और शल्य-चिकित्सा सम्बन्धी ग्रन्थों को पढ़कर आश्चर्य चकित हो जाते हैं। मेरा तो यह दृढ़ विचार है कि हमारे यहाँ का पुराना वैद्यक शास्त्र बहुत अच्छी वैज्ञानिक नीव पर ही स्थिर किया गया था। हमारे यहाँ के पुराने ऋषि भी वर्तमान आविष्कारकों की तरह वैज्ञानिक खोज किया करते थे। उनमें लगन थी और साथ ही चर सृष्टि के प्रति परोपकार का भाव था। यही दो बातें उन्हें वैज्ञानिक खोजों की ओर प्रेरित करती थीं। परमाणु सिद्धान्त का आवि-ष्कार पश्चिमी माना जाता है, किन्तु अपने यहाँ के पुराने ग्रन्थों को देखने से यह ज्ञात होता है कि हमारे यहाँ के कणाद ऋषि ने इस सिद्धान्त को बहुत पहले ही ज्ञात कर लिया था और इसी कारण उनका नाम कणाद पड़ा था। भारतवर्ष के पिछले गौरव को देखते हुए वास्तव में हम लोगों को अपनी वर्तमान दशा पर बहुत खेद होता है। मालूम होता है कि भारतवर्ष में बाद में कुछ ऐसी राजनीतिक परिस्थिति होगई जिसके कारण यहाँ के लोगों को अपनी पुरानी बातों का ज्ञान न रहा। ऋषियों की लगन के साथ खोज करने की परिपाटी को लोगों ने भुलाकर अपनेको राजकीय झंझटों में डाल दिया। इसी समय से यहाँ की अवनति होना शुरू हुई और हमारे यहाँ के वैज्ञानिक खोज सम्बन्धी कार्य बिल्कुल ही बन्द होगये। हर्ष की बात है कि अब पुनः हम लोग अपनी सुषुप्तावस्था को छोड़कर वैज्ञानिक खोजों की ओर अग्रसर हो रहे हैं। इसका सब कुछ श्रेय आचार्य प्रफुल्लचन्द्रराय को ही है। आचार्य प्रफुल्ल ने ही वास्तव में वर्तमान वैज्ञानिक खोजों का सूत्रपात यहाँ किया है। यों तो उनके पहले एक यूरो-पीय विद्वान सर अलेक्जेण्डर पेडलर ने सन् १८७८ ईसवी के लगभग यहाँ जहरीले साँपों के ज़हर के सम्बन्ध में कुछ खोजें की, किन्तु यह आचार्य प्रफुल्ल का ही काम था जिन्होंने यहाँ के लोगों को वैज्ञानिक अनुसन्धान करने के लिए प्रथमबार उत्साहित किया। आचार्य प्रफुल्ल के सतत् प्रयत्नों के फल स्वरूप ही हम आज भारत में विज्ञान की इतनी उन्नति देख रहे हैं। भारतवर्ष में इस समय तक जो कुछ भी वैज्ञानिक उन्नति हुई है वह केवल १५—२० वर्षों के प्रयत्नों का ही फल है। इतने थोड़े समय में हम लोगों ने जितनी उन्नति की है उसे देखते हुए हमें अपना भविष्य बहुत आशाजनक प्रतीत होता है। यदि हमारे कार्य की यही प्रगति रही तो थोड़े समय में भारतवर्ष भी वैज्ञानिक क्षेत्र में संसार के अग्रगण्य देशों में समझा जाने लगेगा। इस समय विज्ञान के हर एक क्षेत्र में ही भारतवर्ष में काफ़ी अनुसन्धान हो रहे हैं। हर एक विभाग के अनुसन्धानों के वर्णन के लिए यह छोटा सा निबन्ध पर्याप्त नहीं है; अतः हम यहाँ केवल अपने

यहाँ के वर्तमान रासायनिक अनुसंधानों का ही उल्लेख करेंगे ।

आचार्य्य राय

भारतवर्ष में रासायनिक अनुसंधानों के जन्मदाता वास्तव में आचार्य प्रफुल्ल चन्द्रराय ही हैं। आचार्य प्रफुल्ल भारतीय आकाश के उन थोड़े से इने गिने ज्वलन्त सितारों में से हैं जिनके बलपर इस हीनावस्था में भी भारतवर्ष अपने सिर को गौरव से ऊपर उठा सका है। आचार्य प्रफुल्ल का जन्म बंगाल के एक जमीन्दार के घर में हुआ था । यदि यह चाहते तो काफ़ी धन इकट्ठा कर एक अमीरी ठाट बाट से जीवन यापन कर सकते थे, किन्तु अमीरी उन्हें अपनी ओर न खींच सकी । आचार्य प्रफुल्ल को तो विज्ञान ने दीवाना बना दिया था; उन्हें रईसी किस प्रकार रुच सकती थी। उन्होंने अपना जीवन रसायन विज्ञान को अर्पण कर दिया और इसके लिए आजन्म त्याग और सादगी का व्रत ग्रहण किया। लगन के साथ प्रेसीडेन्सी कालेज, कलकत्ता में आप रसायनिक खोज करने में जुट गये। आपकी खोजों का प्रारम्भ कोई सन् १८९६ ईसवी से होता है। आपका सर्व प्रथम कार्य पारद के नोषित तथा उपनोषितों पर है। रसायन का हर एक विद्यार्थी यह जानता है कि पारद नोषसाम्ल के संयोग से दो प्रकार का नोषित बनाता है:—(१) पारदस नोषित [पा$_2$ (नो ओ$_2$)$_2$] जिसमें पारद एक-शक्तिक होता है और (२) पारदिक नोषित [पा (नो ओ$_2$)$_2$] जिसमें पारद द्वि-शक्तिक होता है। आचार्य राय के पहले पारदस नोषित अज्ञात था और इसके बनाने में वैज्ञानिक सदा असफल रहे थे । आचार्य राय ने अपने अन्वेषणों से पारदस नोषित बनाने की विधि रसायनिक जगत् के सामने प्रस्तुत की। उन्होंने देखा कि जब नोषिकाम्ल (घनत्व १°४१) के १ भाग में ४ भाग पानी मिला कर फिर उसमें बहुत सा स्वच्छ पारा मिला दिया जाय तो साधारण तापक्रम पर ही उन दोनों के योग से लगभग आध घंटे के उपरान्त सुई के आकार के रवे पृथक् होना शुरू हो जाते हैं और स्वच्छ पारे पर इकट्ठा होने लगते हैं । २४ घंटे में समुचित मात्रा में ये रवे एकत्रित हो जाते हैं। ये रवे पारदस नोषित के हैं।

इस समस्या को सुलझा देने के बाद इन्होंने पारदस उपनोषित और पारदिक उपनोषित बनाने की विधि निकाली। यदि किसी घोल में पारदस नोषित और पारदिक नोषितका मिश्रण हो और उसमें सैन्धक उपनोषित का हलका घोल मिलाया जाय तो पहले पीला पारदस उपनोषित अवक्षेप के रूप में अलग होता है । इसे छानकर अलग कर लेने के बाद बचे हुए द्रव में सैन्धक उपनोषित का गाढ़ा घोल देने से श्वेत पारदिक उपनोषित बनता है।

पारदिक उपनोषित बनाने की एक और भी विधि उन्होंने निकाली है । पारदिक नोषित के घोल में पांशुज श्यामिद मिला देने से धीरे धीरे घोल धुंधला पड़ने लगता है और २-३घण्टों में पारदिक उपनोषित बन जाता है । यह क्रिया निम्न लिखित समीकरण द्वारा होती है:—

पा (नो ओ$_2$)$_2$ + २ पां (क नो)

=पा[नो ओ]$_2$ + २ पां क नो ओ

इन आविष्कारों ने शीघ्र ही आचार्य प्रफुल्ल को विज्ञान जगत के सन्मुख कर दिया और आपकी गणना ऊँचे रसायनज्ञों में की जाने लगी।

इन आविष्कारों के थोड़े दिनों बाद ही आचार्य राय ने द्विपारद अमोनियम नोषित बनानेकी विधि भी निकाली। इन्होंने पार्थिवक्षारों के नोषितों पर भी अतुलचन्द्र गाँगुलि के सहयोग में थोड़ा सा काम किया । आचार्य राय ने यह भी मालूम किया कि यदि ताम्रिक नोषित के घोल को गन्धकाम्ल के ऊपर क्षीण दबावमें सुखाया जाय तो यह स्वतः ओषदीकरण द्वारा ताम्रिक नोषेत में परिणत हो जाता है ।

सन् १९०७ ईसवीमें आप नेकुछ द्विगुणनोषित भी बनाये और उनका आणविक आयतन मालूम किया।

इसके उपरान्त आचार्य राय ने अमोनियम नोषित पर कार्य किया। अमोनियम नोषित बहुत ही अस्थायी यौगिक है। आचार्य राय के पहले यह रवे के रूपमें नहीं बनाया जा सका था। आचार्य राय ने पहले अमोनियम नोषित को घोल में [१] रजत नोषित और अमोनियम हरिद के योग से तथा (२) भार नोषित और अमोनियम गन्धेतके योगसे बनाया। अमोनियम नोषितसे फिर वह किसी प्रकार उदाजीवन बनाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने अमोनियम नोषित के घोल को शून्य में ३०° से ६०° तापक्रम तक गरम करना शुरू किया। उदाजीवन तो न बन पाया, किन्तु नली के ऊपरी हिस्से में कुछ रवेदार पदार्थ जमा हो गया। परीक्षा करने पर यह अमोनियम नोषित के रवे निकले। इस प्रकार आचार्य राय के कुशल हाथों द्वारा रवेदार अमोनियम नोषित बनाने की विधि भी लोगों को मालूम हो गई। अपने योग्य शिष्य डा. नीलरत्न धर और श्री तीनकौड़ी-डे के सहयोग से आचार्य ने अमोनियम नोषित का वाष्प घनत्व निकाला।

अचार्य राय के कार्यों के साथ साथ जितेन्द्रनाथ रक्षित और रसिकलाल दत्त के कार्यों का भी उल्लेख संक्षेप में कर देना उचित जान पड़ता है। रक्षित महोदय विद्यार्थी अवस्था में बहुत ही साधारण विद्यार्थी थे, किन्तु आचार्य राय के उत्साहित करने पर आपने रासायनिक खोजों पर काम करना शुरू किया और उसमें बहुत सफलता प्राप्त की। मद्यील नोषितों पर आपने आचार्य के साथ बहुत काम किया और बाद में स्वयं ही इस कार्य पर विस्तृत रूप से खोजें कीं।

रसिकलाल दत्त भी आचार्य रायके योग्य शिष्यों में से एक हैं। इन्होंने आचार्य राय के साथ बानजावील अमोनियम श्रेणी के बहुत से नोषित बनाये (Benzyl ammonium nitrite) और इन नोषितों पर ताप के प्रभाव का अध्ययन किया।

अभी तक आचार्य राय का कार्य केवल अकार्बनिक रसायन में ही सीमित था। सन् १९१२ में आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र राय की प्रयोगशाला में उनके परम योग्य शिष्य डा० नीलरत्न धर ने कार्य आरम्भ किया! धर महोदय की प्रेरणा से आचार्य राय ने भौतिक रसायन पर भी इसी समय से कार्य करना शुरू किया। एक प्रकार से धर महोदय को हम भारतवर्ष में भौतिक रसायनका जन्मदाता कह सकते हैं। आचार्य राय की प्रयोगशालामें धर महोदय का पहला कार्य इसी प्रयोगशाला में बनाये हुये नोषितों का संगठन भौतिक प्रयोगों द्वारा निश्चित करना था। इन नोषितों की विद्युच्चालकता का अध्ययन कर धर ने इनके संगठन का ज्ञान मालूम किया।

इन कार्योंके अतिरिक्त आचार्य राय ने गन्धकीय यौगिकों और पारदवेधिदों पर भी कुछ कार्य किया है। परराैप्यम्, स्वर्णम् आदि बहुमूल्य धातुओं की विभिन्न संयोग-शक्तियों पर भी आपने कई लेख प्रकाशित करवाये हैं जिनमें वर्नरकी प्रसिद्ध संयोग-शक्ति सम्बन्धी धारणा को भ्रममूलक सिद्ध किया गया है। आचार्यराय अबभी इस ७२ वर्षकी अवस्था में उसी लगन से रासायनिक खोजोंमें संलग्न हैं जिस लग्न के साथ आरम्भ में इस कार्य को आपने उठाया था।

डा० नीलरत्न धर

आचार्य राय के बाद भारतीय रसायनज्ञोंमें उन्हीं के शिष्य डा० नीलरत्न धर का नाम आता है। भारतवर्ष में रसायन-विज्ञान का प्रचार वास्तव में आचार्य रायकी प्रयोगशालामें शिक्षा पाये हुए उनके शिष्यों द्वारा ही हुआ है। डा० धर को संयुक्त प्रान्त में रसायन विज्ञान के प्रचार करने का श्रेय प्राप्त है। प्रयाग विश्वविद्यालय के रसायन के आचार्य पद पर आरूढ़ रह कर आपने रसायन क्षेत्र के भिन्न भिन्न विभागों में बहुमूल्य आविष्कार किये हैं। आपके सब आविष्कारों के वर्णन के लिये बहुत स्थानकी जरूरत है; अतः यहां पर केवल आपकी कुछ खास खास खोजों का ही संक्षेप में वर्णन किया जायगा।

डा० धरका आवेश प्रक्रियाओं (induced reactions) और धीमे ओषदीकरण (low-oxidation) पर कार्य विशेष उल्लेखनीय है। डा० धर का इस

दिशा में कार्य्य बिल्कुल मौलिक है। धर द्वारा मालूम की हुई आवेश-प्रक्रियाओं के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:—

(१) जब पारदिकहरिद (mercuric chloride) और काष्ठिकाम्ल (oxalic acid) के घोल आपस में मिलाये जाते हैं तो दोनों में कुछ भी प्रक्रिया नहीं होती। डा० धर ने यह बात दिखलाई कि यदि एक बूँद पांशुज परमांगनेत (potassium permanganate) इस मिश्रण में डाल दिया जाय तो तुरन्त ही प्रक्रिया शुरू हो जाती है और पारदस हरिद का अवक्षेप अलग हो जाता है।

(२) इसी प्रकार धर महोदय ने यह दिखलाया कि जब सैन्धक संक्षीणित (Sodium arsenite) के घोल में ओषजन की धारा भेजी जाती है तब कुछ प्रक्रिया नहीं होती किन्तु ज़रा सा सैन्धक गन्धित (Sodium sulphite) के मिलाते ही सैन्धक संक्षीणित का ओषदीकरण हो जाता है।

धर महोदय ने इस प्रकार की बहुत सी ऐसी प्रक्रियाओं का भी अध्ययन किया है जिनमें खाद्य वस्तुओं जैसे गन्ने की शक्कर, अंगूर की शक्कर आदि का ओषदीकरण दूसरी वस्तुओं की उपस्थिति में, जैसे सृजकस (Cerous) लवण, लौह लवण आदि जिन्हें हम आवेशक (Inductors) कहते हैं होता है। डा० धर ने यह भी मालूम किया है कि ये सब प्रक्रियायें क्षारीय पदार्थों की उपस्थिति में अधिक शीघ्रता और सुगमता से होती हैं। धर साहब के इस कार्य से मनुष्य शरीर के अन्दर होने वाली क्रियाओं पर काफी प्रकाश पड़ता है। डा० धर का विश्वास है कि हमारे शरीर के अन्दर खाद्यद्रव्योंका ओषदीकरण कुछ कुछ ऐसी ही प्रक्रियायों द्वारा होना अधिक संभव जान पड़ता है, क्योंकि हमें भी अपने भोजन को अच्छी प्रकार पचाने के लिए कुछ क्षारीय पदार्थ की आवश्यकता पड़ती है और साथ ही हमारे खून में लोहा भी विद्यमान है जो ऐसी प्रक्रियाओंमें आवेशक का काम करता है।

इन आवेशक-प्रक्रियाओं को समझाने के लिए धरने अपना एक नया सिद्धान्त भी निकाला है। ऐसी सब क्रियायें बाह्यतापिक होती हैं। पहिले ओषजन आवेशक पर आक्रमण करता है और इस प्रक्रियामें काफी सामर्थ्य यवनों (ion) के रूप में बाहर निकलता है। ये यवन तब मिश्रण के दूसरे पदार्थको सामर्थ देकर उकसाते हैं जिससे वह ओषजन से योग करने में समर्थ होता है।

इस ओषदीकरण के कार्य में डा० चण्डी चरण पालित डा० धर के सहयोगी रहे हैं।

कुछ प्रक्रियाओंके लिए (जैसे सैन्धक और हरिन्) वाष्पका विद्यमान रहना बहुत आवश्यक है। धर के ऊपर वाले सिद्धान्त द्वारा यह बात भी आसानीसे समझ में आ जाती है। ऐसी प्रक्रियाओं में जो यवन बनते हैं वे अधिक गतिवान होने के कारण बिना प्रक्रिया में किसी प्रकार का भाग लिए प्रक्रियाके क्षेत्र से बाहर निकल जाते हैं। वाष्पकी उपस्थितिमें यवनों की गति धीमी रह जाती है और तब वे प्रक्रिया में भाग ले सकते हैं।

डा० धर ने कलोदों पर भी बहुत कार्य किया है। इस सम्बन्धमें लिसगङ्ग-वृत्त (Liesegang Rings) पर आपका सिद्धान्त बहुत विख्यात है। कलोदों पर काम करनेवाले यह अच्छी प्रकार जानते हैं कि जब पांशुज द्विरागेत को जिलैटीनके गाढ़े घोल में मिलाकर एक शीशे की नली में भर दिया जाता है और उसके ऊपर एक बूँद रजत नोषेत का डाला जाता है तब जैसे जैसे रजत नोषेत जिलैटीन के अन्दर घुसता जाता है वैसे वैसे थोड़ी थोड़ी दूर पर गोल सुन्दर वृत्त बनते जाते हैं, इन वृत्तोंको लिसगङ्गवृत्त कहते हैं। कुछ पदार्थोंमें दो वृत्तों के बीच की जगहमें साफ घोल बच जाता है, और कुछ में कलोद का घोल रहता है। डा० धर के सिद्धान्तानुसार पहले रजत नोषेत और पांशुज द्विरागेत के मेल से ऊपर की तहमें रजत रागेत का कलोद बनता है जो थोड़े से पांशुज नोषेत की उपस्थिति में दृढ़ रहता है। जैसे जैसे अधिक रजत नोषेत ऊपर से आता जाता है रजत रागेत का कलोद अवक्षेप का रूप धारण करता जाता

है। इस स्थान से जब रजत नोषेत और नीचे की तहों में जाता है तब वहां भी पहले की तरह प्रथम रजत रागेत का कलोद बनता है। ऊपर का अवक्षेप यहां के कलोद का अधिशोषण कर लेता है जिससे यहां का स्थान बिल्कुल साफ रह जाता है। ऊपर ऊपरका अवक्षेप जब कलोद का अधिक अधिशोषण नहीं कर सकता तो पुनः साफ स्थान के नीचे दूसरा अवक्षेप वृत्त बन जाता है। इस प्रकार से वृत्त थोड़ी थोड़ी दूर पर बनते जाते हैं।

डा० धर ने धूप और कृत्रिम रोशनी में भी बहुत सी प्रक्रियाओंका अध्ययन किया है। इस सम्बन्ध में निम्न लिखित खास बातें आपने मालूम की है:—

१ जब कोई प्रक्रिया किरणों द्वारा प्रभावित होती है तब इस प्रक्रिया का तापक्रमगुणक किरणोंमें हमेशा अंधेरे वाले तापक्रम गुणकसे कम होता हैं।

२ जो प्रक्रियायें तापक्रम द्वारा प्रभावित होती हैं वे प्रकाश द्वारा भी प्रभावित होती हैं।

३ जितनाही किसी प्रक्रिया की प्रक्रिया-श्रेणी कम होती है उतना ही उस प्रक्रिया का तापक्रम-गुणक अधिक होता है।

४ धन उत्प्रेरकों द्वारा तापक्रम-गुणक घटता है और ऋण उत्प्रेरकों द्वारा बढ़ता है। इस तापक्रम-गुणक का घटना या बढ़ना उत्प्रेरक की मिकदार के अनुसार कम या अधिक किया जा सकता है।

इस कार्य में डा० धर के सहयोगी डा० अक्षय कुमार भट्टाचार्य रहे हैं। डा० धर ने श्री गोपालराव के सहयोग में अमोनियम लवणों से भिन्न भिन्न उत्प्रेरकों की उपस्थिति में नोषित बनने की प्रक्रियाका भी अध्ययन किया है। अभी तक वैज्ञानिकों का मत था कि यह प्रक्रिया मिट्टी में बहुत अंशों में छोटे छोटे कीटाणुओं द्वारा, जिन्हें हम बैक्टीरिया कहते हैं होतो है; किन्तु डा० धरका विश्वास है कि सूर्य की किरणें इस प्रक्रिया में प्रधान भाग लेती हैं। आज कल इस निबन्ध का लेखक डा० धर के सहयोग में इस समस्या पर प्रकाश डालनेका प्रयत्न कर रहा है।

डा० धरने लगभग २०० से ऊपर अपनी भिन्न भिन्न खोजों पर निबन्ध छपवाये हैं। उन्होंने इतने अधिक अनुसन्धान किये हैं कि उन सबका यहां वर्णन करना असम्भव है। ऊपर दी हुई उनकी कुछ खोजों से ही पाठकों को उनके कार्य का मूल्य ज्ञात हो गया होगा।

ज्ञानेन्द्रचन्द्र घोष

डा० धरके बाद डा० ज्ञानेन्द्र चन्द्र घोष और ज्ञानेन्द्र नाथ मुकरजी के नाम भौतिक रसायन क्षेत्र में आते हैं। डा० घोष ने आरम्भ में अपना ध्यान विद्युत रसायन की ओर केन्द्रित किया। अरहीनियस (Arrhenius) के विद्युत्चालकता सम्बन्धी सिद्धान्त दृढ़ विद्युतविश्लेष्य (Strong electrolyte) पदार्थों में विरुद्ध सिद्ध होते हैं। विद्युतविश्लेष्य पदार्थों की इस असामान्यता को समझाने के लिए डा० घोष ने अपना एक सिद्धान्त निकाला जिसमें यवनों की गति और धन और ऋण यवनों के परस्पर आकर्षण को ध्यान में रखते हुये ऐसे पदार्थों की विद्युत्-चालकता निकालने के लिए एक नया समीकरण (Formula) रखा। यद्यपि बाद में डा० घोष का सूत्र गलत सिद्ध हो गया, किन्तु डा० घोष ने जो प्रथमबार दृढ़ विश्लेष्य लवणों का पानी के घोल में पूर्णरूप से यवनों में विश्लेषण हो जाने का सिद्धान्त प्रतिपादित किया उसने वैज्ञानिकों के इस सम्बन्ध के दृष्टिकोण को बिल्कुल ही बदल दिया। इसी नवीन दृष्टिकोण के सहारे डिवाई और हुकेल (Debye and Huckel) को सन् १९२३ ईसवी में अपना इस विषय का समीकरण गणित द्वारा निकालने में सफलता प्राप्त हुई।

डा० घोष ने बाद में प्रकाश-रसायन पर विशेष रूप से कार्य किया। आपने बहुत सी प्रकाश प्रक्रियाओं में आवेश-काल और अनु-प्रभाव (after-effect) का अध्ययन किया और बहुत सी नई प्रक्रियायें मालूम कीं जिनमें आवेशकाल या अनु-प्रभाव होता है।

आपने हाल ही में धनाणु और ऋणाणु के आपेक्षिक परिमाण निकालने के लिए एक नया समीकरण निकाला है जो प्रयोग द्वारा पाये गये इन दोनों के परिमाणों से मिलता है। आप शुरूसे अबतक बराबर ही अपनी ढाका की प्रयोगशाला में बड़े लगन से काम कर रहे है।

डा० ज्ञानेन्द्रनाथ मुकुर्जी

डा० ज्ञानेन्द्र नाथ मुकरजी को यदि हम भारतवर्ष में कलोद-रसायन का जन्मदाता कहें तो कुछ अत्युक्ति नहीं होगी। आपने सन् १९१५ में कलकत्ते में कलोदों पर कार्य आरम्भ किया और तब से अब तक आप उसी क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। इस सम्बन्धकी आपकी कुछ खोजें बहुमूल्य हैं। कलोद कणों में विद्युत का प्रादुर्भाव और उसे लवणों द्वारा शिथिलीकरण (Neutralisation) करनेके सम्बन्ध में आपके आविष्कार बहुत उत्तम हैं। आपने कलोद कणों के विद्युत संचार (charge) को मापने की एक विधि भी निकाली है जो इस क्षेत्र में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है।

रसायन के क्षेत्र में आविष्कारों के अतिरिक्त मुकरजी का सब से बड़ा काम भारतीय-रसायन-संघ की स्थापना करना है। इसका प्रधान केन्द्र कलकत्ता हैं। लाहौर और मद्रास में इसकी दो शाखायें भी हैं। इस संघ की ओर से एक मासिक पत्र भी निकलता है जिसमें रसायनज्ञों के नये नये आविष्कार सम्बन्धी लेख छपते हैं। इस संघ के मंत्री रहकर मुकरजी ने भारतमें रासायनिक खोज के कार्य को बहुत उत्साहित किया है। इस संघ द्वारा आपका नाम अमर रहेगा।

डा० भटनागर

भारतीय भौतिक रसायनज्ञों में डा० शान्तिस्वरूप भटनागर का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। आपने पायस (emulsion) के ऊपर बहुत दिनों तक कार्य किया है। इस सम्बन्ध में डा० भटनागर ने दो नियम मालूम किये हैं: —

(१) ऐसे विद्युत विश्लेष्य लवणों द्वारा जिनमें धन यवन अधिक क्रियाशील होते हैं पानी का तेल में पायस (Water-in-oil) पानी में तेल के पायस (oil-in-water) के रूप में बदल जाता है।

(२) उसी प्रकार से तेल का पानी में पायस अधिक क्रियाशील ऋण यवन रखने वाले विद्युत विश्लेष्य पदार्थों द्वारा विरुद्ध प्रकारके पायस में बदल जाता है।

भटनागर ने पायसोंका प्रकार वैद्युतिकचालकता द्वारा मालूम करने की एक विधि भी मालूम की है। ऐसे पायस जिनमें तेल का पानी में वितरण हुआ है काफी विद्युत चालकता दिखलाते हैं, किन्तु विरुद्ध प्रकार के पायसों में विद्युत चालकता नहीं के बराबर होती है। इस विधि की सहायता से डा० भटनागर को पायसों पर अपनी खोजें करने में बड़ी सुविधा मिली है।

आजकल ड० भटनागर लाहौर विश्वविद्यालय के आचार्य पद पर आरूढ़ रहकर अणुओं के चुम्बकीय गुणों का विशेषरूप से अध्ययन कर रहे हैं और इसके द्वारा अणुओं के संगठन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में डा० भटनागर ने मालूम किया है कि कोयला जो अनुचुम्बकीय पदार्थ है किसी दूसरे अनुचुम्बकीय पदार्थ के अधिशोषण करने पर विचुम्बकीय हो जाता है। डा० भटनागर के इस प्रयोग से यह सिद्ध हो जाता है कि अधिशोषण एक रासायनिक क्रिया है।

श्री प्रियदरंजन राय और डा० सरकार

ऊपर लिखे हुए रसायनज्ञों ने भौतिक रसायन पर ही विशेष रूप से कार्य किया है। अब नीचे दो ऐसे रसायनज्ञों का वर्णन किया जायगा जिन्होंने अकार्बनिक रसायन में अनुसन्धान किये हैं। इन दोनों के नाम श्री प्रियदरंजन राय और श्री पुलिन बिहारी सरकार हैं। प्रियदरंजन राय कलकत्ते के यूनीवर्सिटी कालेज आफ साइन्स में अकार्बनिक रसायन के प्रोफेसर हैं। आपका अधिकतर कार्य संकीर्ण लवणों (Complex Salts) के बनानेके

क्षेत्रमें हुआ है। उदाहरणके लिए हरिद् पंचअमीन कोबल्टिक सुनागेत बनाने की आपकी विधि नीचे दी जाती है—

१० ग्राम कोबल्ट हरिद् को पानी में घोलकर इसमें १५ ग्राम अमोनियम हरिद् डाल दिया जाता है। २० ग्राम रवेदार सैन्धक सुनागेत को पहले पानी के साथ लेई का रूप देकर इस मिश्रण में डाल दिया जाता है। इसमें फिर ७० घ.शम.तेज़ अमोनिया डाल करकुल मिश्रणको १५-२०° तापक्रममें रख दिया जाता है। इसमें तेज़ हवाकी धारा तब तक बराबर भेजी जाती है जब तक कि कुल ठोस पदार्थ घुल नहीं जाते। इसे छान लेने के बाद पुनः इसमें ५-६ घंटा तक हवा भेजी जाती है। अन्त में लाल रवे अलग हो जाते हैं। इन्हें छानकर और २० फी सदी शराब से धोकर सुखा लिया जाता है। यही हरिद् पंच अमीन कोबल्टिक सुनागेत के रवे हैं।

श्री पुलिन बिहारी सरकार भी यूनीवर्सिटी कालेज कलकत्ता में अकार्बनिक रसायन में ही कार्य कर रहे हैं। इनकी खोजें भी विशेष रूप से संकीर्ण लवणों के ऊपर ही हैं। आपने कई नये संकीर्ण लवण बनाये हैं तथा उनके संगठन पर प्रकाश डालने का प्रयत्न भी किया है।

डा० वाटसन

भौतिक और अकार्बनिक रसायन के क्षेत्र में ऊपर दिये हुये प्रधान प्रधान रसायनज्ञों की खोजों का दिग्दर्शन कराया गया है। कार्बनिक रसायन के क्षेत्र में भी भारतीय रसायनज्ञों ने कुछ अनुसन्धान किये हैं। इसक्षेत्र में खोज सम्बन्धी कार्य का भारतवर्ष में सूत्रपात करने का श्रेय वास्तव में एक अंग्रेज वैज्ञानिक एडविन राय वाटसन को है। आपने सन् १९०६ से लेकर १९२१ तक ढाका कालेज में रहकर कार्बनिक रसायन से क्षेत्र में बहुत अनुसन्धान किये हैं। आपके उत्साहित करने पर आपके विद्यार्थियों ने इस क्षेत्र में आपके साथ खोज करनी प्रारम्भ की और यही कारण है कि आज भारत में अधिकतर ऊंचे कार्बनिक रसायनज्ञ आपके विद्यार्थियों में से ही हैं। वाटसन साहब का अधिकतर कार्य रंगों के ऊपर है। बहुत तरह के नये रंग बनाने के अतिरिक्त आपने रङ्गों के सम्बन्ध में अपना एक सिद्धान्त भी निकाला है। इस सिद्धांत के अनुसार वे रङ्ग जिनमें कुनोनायड समूह होता है कुनोनायड समूह सहित रङ्गों की अपेक्षा अधिक गहरे होते हैं। यह बात आणविक सङ्गठनकी संकीर्णतासे बिल्कुल स्वतन्त्र है।

डा० दत्त

वाटसन महोदय के शिष्यों में श्री अनुकूल चन्द्र सरकार और डा० शिखिभूषण दत्त के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। डा० दत्त ने आचार्य वाटसन के सहयोग में अनेक प्रकार के रङ्गों के संश्लेषण पर ढाका कालेज में ही कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था। ढाका विश्वविद्यालय की स्थापना के पूर्व ढाका कालेज में अन्वेषण का प्रारम्भ करना बड़े ही महत्व का कार्य था। इस स्थान में काम करने के उपरांत डा० दत्त ने लन्दन की प्रयोगशाला में प्रसिद्ध रसायनज्ञ थार्प की अध्यक्षता में अन्वेषण किये और यहीं पर रङ्गों के सम्बन्ध में अपने उपयोगी सिद्धांत निकाला। इस सिद्धांत के अनुसार यह निश्चय हो जाता है कि पदार्थों के रङ्गों का मूल कारण क्या है और किस प्रकार के पदार्थ रङ्ग दे सकते हैं। इनके सिद्धांत का विस्तृत उल्लेख करना यहां स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं है। जब से डा० दत्त की नियुक्ति प्रयाग विश्वविद्यालय में हुई है तब से यहाँ भी कार्बनिक रसायन के क्षेत्र में अन्वेषण प्रारम्भ होगये हैं। यहाँ साधारण संश्लेषणात्मक कार्य के अतिरिक्त भारतीय वनस्पतिक औषधियों, मूल रसों की रासायनिक परीक्षा भी की जा रही है। अब तक कनेर, बेल, रत्ती, जावाकुसुम, नीम, रोरी आदि अनेक पेड़ों के रसों पर कार्य हुआ है। यह कार्य और भी अधिक प्रगति से अग्रसर हो रहा है। आचार्य दत्त को औद्योगिक रसायन से भी स्नेह है और चीनी, साबुन, तेल काँच आदि के

अनेक कारखाने आपके परामर्श से लाभ उठाते रहते हैं।

डा० अनुकूल चन्द्र सरकार इस समय ढाका विश्वविद्यालय में कार्य कर रहे हैं। आपने भी शुरू में वाटसन के साथ रंगों पर कार्य आरम्भ किया था। इस समय आप संश्लेषणात्मक कार्बनिक रसायन में कार्य कर रहे हैं। आप ने चाक्रिक यौगिकों (ring compounds) पर भी विशेष कार्य किया है।

डा० बाबा कर्तारसिंह

कार्बनिक रसायन के विशेषज्ञों में बाबा कर्तार सिंह और विमान बिहारी डे के स्थान बहुत ऊँचे माने जाते हैं। बाबा कर्तार सिंह ने कटक कालेज में रह कर अवकाश रसायन पर (Stereo chemishy) बहुत कार्य किया है। यह बात हर एक रसायन का विद्यार्थी जानता है कि किसी यौगिक में प्रकाश भ्रामक शक्ति का होना उसमें एक असमसङ्गतिक (asymmetric) परमाणु के विद्यमान रहने पर निर्भर करता है। ऐसे पदार्थ आणविक सङ्गठन की असामान्यता के कारण प्रकाश-भ्रामक शक्ति की दृष्टि से दो प्रकार के होते हैं:—(१) दक्षिणीय-भ्रामक जो प्रकाश को दायीं ओर मोड़ देते हैं और (२) वाम-भ्रामक जो प्रकाश को बायीं ओर मोड़ देते हैं। पास्तूर के सिद्धान्त द्वारा किसी एक पदार्थ के ऐसे दोनों प्रकारों के असामान्य अणुओं की भौतिक स्थिरता तथा उनके आणविक सामर्थ्य में कोई अन्तर न होना चाहिए और साथ ही दोनों की प्रकाश भ्रामक शक्ति भी दिशा को छोड़ कर परिमाण में बराबर होनी चाहिए। हाल के निकले हुये तरङ्ग गणित (wave mechanics) के सिद्धान्तानुसार किसी पदार्थ के दक्षिणीय और वामीय-भ्रामक प्रकारों के अणविक सामर्थ्य तथा प्रकाश-भ्रामक शक्ति में थोड़ा अन्तर होना चाहिए। इन दोनों सिद्धान्तों में कौन सा सिद्धान्त सत्य है इस बात की जाँच करने के लिए बाबा कर्तार सिंह ने बहुत से प्रकाश-भ्रामक पदार्थों के दोनों प्रकारों के रवों की प्रकाश-भ्रामक शक्ति (optical rotatry power) को ज्ञात किया। आप के प्रयोगों द्वारा पास्तूर का सिद्धान्त ही सत्य जान पड़ता है। जहाँ इन दोनों प्रकारों के रवों की प्रकाश-भ्रामक शक्ति में कुछ अन्तर मिलता है वह कदाचित् इन रवों में अन्य बाहरी चीज़ों के मिलावट के कारण होता हो।

डा० डे और सेन आदि

डा० विमान बिहारी डे मद्रास विश्वविद्यालय में रसायन के विशेष अध्यापक हैं। आप का सब से अच्छा कार्य कुमारिन(cumarin)यौगिकों पर है। इधर आपने प्रेरकाणु पर भी कार्य प्रारम्भ किया है।

प्रारम्भ में डा० विमान बिहारी डे ने अपना कुछ कार्य डा० हेमन्तकुमार सेन के सहयोग में किया था। डा० सेन ने औद्योगिक रसायन में अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली है और इस समय आप कलकत्ता विश्वविद्यालय में बड़ी संलग्नता से अन्वेषण कर रहे हैं। आपने भिन्न भिन्न चाक्रिक यौगिकों (hsetero-cyclic compound) पर भी अच्छा कार्य किया है। कलकत्ता विश्वविद्यालय के डा० प्रफुल्ल चन्द्र मित्र का नाम भी मंजिष्ठ यौगिकों (Alizarin-compoud) के संश्लेषण के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है। इस सम्बन्ध में आपके अनेक लेख प्रकाशित हुए हैं।

बङ्गलोर में कार्य्य

भारत में केवल खोज सम्बन्धी कार्य करने के लिए जमशेद जी टाटा के दान द्वारा बैंगलोर में भारतीय वैज्ञानिक अनुसन्धानक संस्था की सन् १९०६ ईसवी में स्थापना की गई। यहाँ पर अधिकतर औद्योगिक रसायन तथा कृषि रसायन सम्बन्धी खोजों पर ही विशेष कार्य किया जाता है। इस संस्था द्वारा की हुई कुछ मुख्य मुख्य खोजों का वर्णन यहाँ कर देना उचित जान पड़ता है:—

(१) मैसूर में चंदन के पेड़ों में एक खास प्रकार की बीमारी प्रायः हो जाती है जिसके कारण पेड़ की पत्तियाँ मोटी और छोटी होने लगती हैं और अन्त में पेड़ गिर जाता है। इस बीमारी को स्पाइक (spike) रोग कहते हैं। बैंगलोर में श्री श्रीनिवासया यह काम लगभग ६ वर्ष से कर रहे हैं। अभी तक इस रोग को दूर करने के उपाय निकालने में आपको पूरी सफलता नहीं मिली है, किन्तु फिर भी आपने इस रोग के कारणों का पता अच्छी तरह मालूम कर लिया है। आप का अनुमान है कि यह रोग कुछ ऐसे कीड़ों द्वारा होता है जो पेड़ के खाद्य पदार्थ पर अपना निर्वाह करते हैं। इन कीड़ों को ढूँढ़ निकालने में श्री श्रीनिवासिया अब भी लगे हुए हैं।

(२) इसी संस्था में श्री कामदहटी वेंकट गिरी ने बिजली की सहायता से जौ की उत्तम शराब बनाने की एक नवीन विधि निकाली है। जौ के बीज को एक निश्चित सैन्धक नोषेत के घोल में डाल दिया जाता है और फिर इसमें बिजली की धारा ४-५ घंटे तक भेजी जाती है। बीजों को फिर उगने के लिने एक बर्तन में छोड़ दिया जाता है। २४ घन्टों के उपरान्त इन बीजों को निकाल कर ६० तापक्रम पर सुखा कर चूर्ण कर लिया जाता है। इस चूर्ण द्वारा बनाई हुई शराब मामूली रीति से बनाई हुई जौ की शराब से अधिक अच्छी होती है।

(३) गिरी महोदय ने कुछ पौधों पर बहुत अधिक तनाव में विद्युत सञ्चार करने का प्रभाव भी अध्ययन किया है। आपने मालूम किया है कि इस प्रकार की बिजली की सहायता से ज्वार की खेती जो साधारणतः ६ महीने में तैयार होती है केवल ३ महीनों में ही पक जाती है। पैदावार भी अधिक होती है और बीज भी उत्तम होते हैं।

(४) पपीते के रस से मद्य बनाने की एक विधि भी इस संस्था में निकाली गई है जो व्यापारिक दृष्टि से लाभदायक सिद्ध हुई है। इसी पपीते के दूध से "पयेज" नामक प्रेरकाणु (enzyme) भी निकालने में यहाँ के लोगों को सफलता प्राप्त हुई है।

पूसा में भी कृषि सम्बन्धी खोजों पर गवर्नमेंट की ओर से काफी दिनों से कार्य हो रहा है। यहाँ के अनुसन्धानालय पर जितना रुपया प्रति वर्ष सरकार खर्च करती है उसकी दृष्टि से कार्य में अधिक सफलता हुई नहीं मालूम पड़ती, फिर भी यहाँ की कुछ खोजें कृषि में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई हैं।

इसी प्रकार के अनुसन्धानालय गवर्नमेंट ने मुक्तेश्वर और देहरादून में भी स्थापित किये हैं, जहाँ पर जीव-रसायन पर अन्वेषण किये जाते हैं।

अन्त में दो बातें लिख देना उचित समझता हूँ। भारतवर्ष में अभी तक औद्योगिक खोज के कार्य के लिए वैसी सुविधायें नहीं हैं जैसी होनी चाहिये। इस ओर अनुसन्धान की देशकी वर्तमान अवस्था को देखते हुए बहुत ज़रूरत है। भारतवर्ष अपनी आवश्यकताओं की छोटी सी छोटी चीजों के लिए दूसरे देशों का मुँह ताका करता है। हम लोगों का करोड़ों रुपया इन चीजों को खरीदने में दूसरे देशों को चला जाता है। उद्योग-धन्धों की कमी के कारण ही हमारे यहां पढ़े लिखे लोगोंमें इतनी अधिक बेरोज़गारी फैली हुई है। इस समस्या को हल करने की कुञ्जी हमारे यहां के धनी लोगों के तथा सरकार के हाथों में ही है। आवश्यकता इस बात की है कि सरकार और धनी लोग रुपये द्वारा बड़े बड़े कारखाने हर एक प्रकार की चीजें बनाने के लिए स्थापित करें और इन कारखानों के साथ ही साथ अनुसन्धानालय भी हो जहां खोजों द्वारा इन कारखानों में बनाई गई चीज़ों की उन्नति के उपाय भी ढूँढ़े जा सकें।

भारत में कृषि सम्बन्धी खोजों की भी बहुत आवश्यकता है। इस ओरभी अभी तक कुछ अधिक कार्य नहीं किया जा सका है। यहां के अधिकतर लोगों की जीविका कृषि द्वारा ही होती है, फिर भी बड़ा आश्चर्य है कि इस ओर सरकार तथा जनता दोनों ने ही इतनी अधिक उपेक्षा दिखलाई है। हर्ष

की बात है कि अब लोगों ने इस ओर ध्यान देना शुरू कर दिया है और आशा की जाती है कि शीघ्र ही इस विभाग में उन्नति होगी और हमारे यहां के किसानों की दशा सुधरेगी।

कोलतार रंग—रसायन का प्रारम्भ तथा हाफ़मैन और उसके शिष्यों के अनुसन्धान।

[ले० श्री आत्माराम एम० एस-सी०]

ऐसा कोई विरला ही होगा जिसने कोलतार देखा न हो या कमसे कम नाम न सुना हो। कम से कम बड़े बड़े शहरों में तो इसका कुछ भाग सड़कों के बनाने में लगाया जाताहै परन्तु क्या कोई यह भी जानता है कि हमारे रंग बिरङ्गे कपड़ों के रङ्ग का स्रोत भी यही है। वैसे तो इसमें बड़ी भयानक बू आती है जो कम से कम अच्छी तो किसी को भी न लगती होगी परन्तु यदि गूढ़ दृष्टि से देखा जाय तो हमारे केवल रंगोंका ही नहीं, और भी बहुत से पदार्थोंका यह कारण है। इन कुछ पृष्ठोंमें कोलतार विषय पर कुछ कहा जायगा तथा यह भी दिखाया जायगा कि किस प्रकार कोलतार के भिन्न भिन्न पदार्थों से रङ्ग बनाये जाने लगे।

कोलतार व्यवसाय की कहानी बड़ी अद्भुत और काफ़ी पुरानी है। इसके प्रारम्भिक इतिहास का पता लगाने के लिये हमें १८२५ ई० पर जब कि अमर फ़ैरेडे ने बानजावीन का अन्वेषण किया, दृष्टि डालनी चाहिये। जहां तक कि पता लगाया जा सकता है, बानजावीन के विषय में यह ही सर्व प्रथम अनुसन्धान प्रतीत होता है और यहीं से इस व्यवसाय की नीव पड़ती है। १८२६ ई० में उनवरडोरबेन ने नील के स्रवण से नीलिन् प्राप्त की और इस के कुछ ही दिन पश्चात् रुगें ने कोलतार में नीलिन् की उपस्थिति सिद्ध की और साथ ही साथ खटिक हरिद के प्रभाव से एक कासनी नीला रङ्ग प्राप्त करने पर इसका नाम "क्यानोल" रक्खा। फ़्रिजे ने नील से यही पदार्थ क्षार के साथ स्रवण कर के प्राप्त किया। इस विषयमें मिटशरलिक जिसका समपरिवर्त्तन सिद्धान्त जगत विख्यात है, बानजावीन बानजाविकाम्ल के स्रवण से तैय्यार की और साथ ही साथ इससे नोषो-बानजावीन बनाने की विधि भी निकाली।

इन अनुसन्धानों के वर्णन के पश्चात हाफ़मैन के कार्य्यों का समय आता है। हाफ़मैन को नीलिन् से कितना प्रेम था यह कुछ सीमातक उसके शब्दों से पता लगा सकते हैं:—"नीलिन् मेरी प्रथम प्रेमिका है" हाफ़मैन ने सबसे पहिले लेख में यह सिद्ध किया कि रुगें, उनवरडोबेन, फ़्रिजे इत्यादि का पदार्थ एक ही वस्तु है और उसमें कोई भी भेद नहीं।

१८४३ ई० तक कार्बनिक रसायन केवल प्रारम्भिक दशा ही में थी और कोलतार नफ़्था पर पूरे तौर से ज्ञान प्राप्त नहीं किया गया था। हाँ रुँगे कर्बोलिकाम्ल, प्रभोल, नीलिन् तथा कुनोलिन् को अवश्य पृथक कर चुका था परन्तु नफ़्थलिन का कोलतार में होना गारडन (१८२०) के अनुसन्धानों से भली भांति विदित हो चुका था। इसी प्रकार डूमा तथा लोरेंने पर-नफ़्थलिन, अगांरिन तथा पाइरीन इत्यादि की भी उपस्थिति पर अपने विचार प्रगट किये थे। हाफ़मैन के समय तक इस से अधिक जानने का कोई पता नहीं मिलता है। १८४५ ई० में उसने सबसे पहिले बानजावीन की नफ़्था में उपस्थिति होने की सम्भावना प्रगट की जिसका प्रयोगिक प्रमाण हाफ़मैन के शिष्य मैन्सफ़ील्ड ने इसके कुछ ही दिनों पश्चात् बानजावीन को नफ़्था से पृथक् करके दिया। जो कोई भी आंशिक स्रवण से कार्य्य कर चुका है इस बात को भली भांति जान सकता है कि मैन्सफ़ील्ड ने कितनी चतुराई और धैर्य्य के साथ इन पदार्थों को नफ़्था से पृथक किया होगा। रायल कालेज में आने के थोड़े ही

दिनों पश्चात हाफ़मैन ने कार्बनिक वाष्पीय क्षारों के नो $उ_{२}$ समूह के उद्जन परमाणुओं को मद्यील मूलों से स्थापित करके यौगिक तैयार किये और साथ ही साथ अमोनियम यौगिक भी। यद्यपि इन विधियों का कोलतार रँग व्यवसाय से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है तब भी इनसे इस व्यवसाय को अधिक लाभ पहुँचा है। इस थोड़े से वर्णन से तुरन्त ही यह पता लग जायेगा कि किस प्रकार हाफ़मैन की प्रयोग-शाला में भविष्य व्यवसाय के लिये शनैः शनैः उन्नति हो रही थी और वास्तव में कोई विशेष सन्देह नहीं कि मैन्सफ़ील्ड के कार्य्य के बिना कोलतार का एक व्यवसाय हो जाना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य ही होता।

इस समय ही विश्व विख्यात रसायनज्ञ सर विलयम हेनरी परकिन (प्रथम) जिसको कोलतार रंग व्यवसाय का जन्म दाता कहा जाता है हाफ़मैन की प्रयोग शाला में केवल १५ वर्ष की आयु पर ही भर्ती हुआ। भाग्यवश इस समय कार्बनिक वस्तुओं का प्रयोग शाला में संश्लेषण करने की प्रत्येक रसायनज्ञ को धुन सवार थी। यद्यपि उस समय की रीतियां और विधियां वर्तमान विधियों से भिन्न तथा ख़राब थीं तब भी हाफ़मैन ने इस विषय में अद्भुत कार्य्य करके जगत् को अपनी चतुराई का प्रमाण दिया। १८४९ ई० में हाफ़मैन ने नफ्थलिन को बहुत सी रसायनिक विधियों के प्रभाव के पश्चात कुनिन में परिवर्तित किया था परन्तु इस प्रक्रिया के समझाने में उसे कोई विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी। परकिन को भी इस कार्य्य को सम्भालने की लालसा हुई और इस पर सोचना आरम्भ कर दिया। इस पर सोचते सोचते परकिन को ध्यान आया कि यदि टोल्विदिन में एक उदजन परमाणु के बजाय एलील मूल स्थापित कर दिया जाय तो एलील टोल्विदिन बनेगा और इस में दो उद्जन परमाणु निकाल कर और दो ओषजन परमाणु मिला कर कुनिन प्राप्त हो सकती है।

$$२(क_{१०} उ_{१३} नो) + ३ओ = क_{२०} उ_{२४} नो_{२} ओ_{२} + उ_{२} ओ$$

परकिनने एलील टोल्विदिन बनाकर उसपर पांशुज द्विरागेत का प्रभाव देखना चाहा परन्तु कुनिन प्राप्त होनेके बजाय एक भद्दी लाल तथा भूरी सी वस्तु प्राप्त हुई। परकिन को ऐसे फल मिलने से बिल्कुल भी खेद न हुआ जैसा कि कभी कभी नवयुवकों को अधैर्य्य के कारण हो जाया करता है परन्तु इसके विरुद्ध उसने और दुगनी शीघ्रता और परिश्रम से कार्य्य आरम्भ कर दिया। दूसरी बार नीलिन जो कि पहले क्षार से कहीं साधारण है प्रयोगों के लिये चुना गया परन्तु इस बार एक काली सी वस्तु प्राप्त हुई जिसकी छान बीन करने पर विदित हुआ कि इसमें प्रसिद्ध रङ्ग मावे अर्थात् रगं नीलिन नील-लोहित भी मिला हुआ है। इस अन्वेषण के कुछ ही दिन पश्चात् परकिन ने यह भी विदित किया कि इस वस्तु में रगों की भांति कपड़े से चिपटने की शक्ति भी काफी तीक्षण है और सबसे महत्व की बात तो यह है कि सूर्य्य प्रकाश का इस पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता।

इस रंग को प्राप्त करने पर परकिन के मित्रों ने अनुमति दी कि इस रंगको व्यवसाय के लिये तैय्यार करनेकी चेष्टा की जाय। १८५६ ई० की जून में यूलर कम्पनी के कर्मचारियों ने परकिन के भेजे हुये नमूनों की बहुत कुछ प्रशंसा की तथा यह भी लिखा कि यदि आपके इस रङ्ग का व्यय अधिक न हो तो हम लोग इस को ख़रीद सकते हैं। अब यदि का उत्तर देना परकिन के लिये इतना सहल न था तब भी उसने २६ अगस्त सन् १८५६ ई० को सर्वप्रथम ऐसे रङ्ग का जो प्रयोगशाला में बनाया गया हो पेटेण्ट लिया अर्थात् इसी समय से प्रयोगशाला में और पदार्थों के अतिरिक्त रङ्ग बनाने की लालसा सब के हृदयों में स्थान पाने लगी। पाठकों को अब विदित हो गया होगा कि किस प्रकार हाफ़मैन की प्रयोगशाला में इस नये व्यवसायकी नींव उसके सुशिष्य परकिन के हाथों

से पड़ी। परकिन ने यह रीति तो अवश्य निकाल ली परन्तु नीलिन का कम मूल्य में प्राप्त होना भी एक दूसरी कठिन समस्या थी क्योंकि उस समय तक नीलिन केवल नील से ही प्राप्त हो सकती थी और नील स्वयं ही रंगकी तरह प्रयोग किया जाता था। खैर परकिन अपने इस अन्वेषण के विषय में बातचीत करनेके लिए गुरु हाफमैनके पास गया, परन्तु हाफमैन को यह सुनकर कि उसका ऐसा अच्छा शिष्य कालेज छोड़ कर व्यवसायके झगड़ों में पड़ना चाहता है कुछ दुःख हुआ और परकिन के साथ क्रुद्ध भी हुआ क्योंकि वह जानता था कि नीलिन् न मिलने से यह व्यवसाय पैरों नहीं चल सकता और मुफ्त में परकिन के भविष्य पर पानी फिर जायगा। पाठकों को याद रहे कि हाफमैन परकिन से इस कारण से क्रुद्ध नहीं हुआ था कि व्यवसाय से उसका शिष्य धनाढ्य हो जायगा; नहीं, उसको तो सर्वदा अपने शिष्यों का लाभ एक सबसे बड़ी प्रसन्नता थी, बल्कि यही कि ऐसा करनेसे न तो व्यवसाय ही चलेगा और न परकिन अपना नाम भांति भांति के अनुसन्धानही करके प्रसिद्ध कर सकेगा। खैर परकिन ने हाफमैन के कहने के विरुद्ध कालेज छोड़ही दिया और अपने व्यवसायकी उन्नति की विधियां सोचने लगा। यद्यपि यह सब का ही मत है कि गुरु की आज्ञा सर्वदा ही शिष्यों की सिरमौर रखनी चाहिये परन्तु कभी कभी इसके विरुद्ध भी देखा गया है जैसा कि परकिन के विषयमें। यदि परकिन कालेज छोड़कर न चला जाता तो शायद इतने बड़े वैज्ञानिकोंमें उसकी गिनती न होती और न प्रयोगशालामें रङ्गबनानेकाही शौक बढ़ता परन्तु जब देखा कि परकिनके बनाये हुए रंग बाजारमें खूब बिकने लगे तो इसके कुछही दिन पश्चात् सैकड़ों नये नये रङ्गों के पेटेण्ट सुरक्षित किये गये। कहनेका तात्पर्य्य यह है कि इसी १८ वर्षके बालकने जगत् एक नई ओर आकर्षित किया और यह उसीके परिश्रम और भावका फल है कि आजकल प्रत्येक रंग प्रयोगशालाओंकी सन्श्लेषित विधियोंसे बनता है और बहुत सी धरती जिसमें पदार्थ देने वाले पोधे उगाये जाते थे जैसे नील, मंजीठ अनाज उगाने के कार्य्य में लाई जाती है। यह और भी आश्चर्य्य की बात है कि उस समय परकिन की अवस्था केवल १८ ही वर्ष की थी।

इस समय तक नोषो-बानजावीनसे नीलिन् बनाने की विधि भी ज्ञात नहीं थी। बेश्म्प ने इसी समय लोहे और सिरकाम्ल से नोषोबानजावीन को नीलिन् में परिवर्तित करके इस कार्य्य को सहल कर दिया परन्तु तब भी अधिक मात्रा में नीलिन् बनानेके लिये खास यन्त्रों की आवश्यकता थी। इन सब बाधाओं पर विजय पाकर १८५७ ई० में कीथ कम्पनी के रङ्गालय में इस रंग का सबसे पहले प्रयोग किया गया। इस रंग के बनने से लोग इतने उत्साहित हुए कि तुरन्त ही फ्रांस इत्यादि देशों में भिन्न भिन्न ओषदीकारक वस्तुयें प्रयोग की जाने लगीं।

इसके तीन वर्ष पश्चात् १८५९ ई० में वरक्विनने फुक्सिन तथा हाफमैनने रोजनीलिन तैयारकीं। यद्यपि वरक्विनका रंग सूर्य्य प्रकाशके प्रभावको इतना नहीं सम्भाल सकताथा जितना कि मावे परन्तु इसके चटकीले और चमकीले स्वभावने इसके प्रयोगको औरभी बढ़ा दिया और यदि वास्तवमें देखा जाय तो कोलतार रङ्गों में सबसे अधिक सफल मजेण्टा अर्थात् फुक्सिन ही सिद्ध हुई है। मजेण्टा को वरक्विन् ने वंगचुर्तुहरिद को नीलिन् के साथ गरम करने से तैयार किया था परन्तु सबसे उत्तम विधि पारद नोषेतसे गर्म करने की प्रतीत हुई है। इस कोलतार रंग व्यवसाय रूपी महल की दूसरी ईंट एक फ्रांसीसी के हाथ से रक्खी गई।

क्योंकि मावे की मांग प्रति दिन बढ़ती जाती थी इसलिये नीलिन् को कम व्यय पर बनाने के उपाय बहुत से वैज्ञानिक सोचने लगे और वास्तव में १८५८ ई० में हाफमैन के एक दूसरे शिष्य निकोल्सन ने इस बाधा को भी दूर कर दिया और प्राइस, सिमसन इत्यादि लोगों के सहयोग से रंग बनाने का एक बड़ा भारी कारखाना खोल दिया जिसमें वह लोग फुक्सिन बनाने की चेष्टा करने लगे।

१८६० ई० में हाफ़मैन के ही शिष्य मैडलाक ने एक दूसरा पेटेएट सुरक्षित किया जिसमें मजेएटा को बनाने की विधि वंग चतुर्हरिदसे गरम करनेके बजाय संक्षीणसाम्ल के साथ गरम करनेकी थी। निकोल्सन इत्यादि के हाथों में संक्षीणसाम्ल विधि को काफ़ी सफलता प्राप्त हुई पर अन्त में यह भी नोषो-बानजावीन के प्रयोग से स्थगित कर दी गई।

इन रँगों के गठन के विषय में बहुत से विचार प्रगट किये जा चुके थे परन्तु निकोल्सन के पदार्थों पर प्रयोग करके हाफ़मैन ने यह स्पष्टतया दिखला दिया कि फुक्सिन एक त्रिअमिन क्षार है जिसका नाम रोजनीलिन् रक्खा और इस क्षार के भिन्न भिन्न लवण भी तैयार किये। हाफ़मैन ने लूकोनीलिन् पदार्थ भी प्राप्त किया जो कि लगभग सब ही त्रिदिव्यील दारेन रँगों में उपस्थित है। इस अनुसन्धान का महत्व समझना भी एक कठिन सी बात है क्योंकि आजकल तो हम इन रँगों के विषय में काफ़ी ज्ञान रखते हैं परन्तु उस समय में जब कि इस विषय का कुछ भी ज्ञान न था यह अनुसँधान अवश्य ही अति लाभदायक प्रतीत हुआ होगा।

रँगों के बनाने वालों को यह बात प्रतीत होने में अधिक देर न लगी कि ऊँचे क्वथनांक की नीलिन् से रोजनीलिन् बनाना अति सहल है और बहुत से नमूनों से कुछ थोड़ा ही सा रँग बनता है। निकोल्सन पहिले यह विदितकर चुका था कि शुद्ध नीलिन् से रोजनीलिन् बनना लगभग असम्भव है। हाफ़मैन ने नील तथा बानजावीन दोनोंसे बनी हुई नीलिन् से पृथक् पृथक् प्रयोग किये और उनको भी निकोल्सन की भाँति रोजनीलिन् बनानेमें असफलता प्राप्त हुई। इस अनुसंधान से यह प्रतीत होने लगा कि शायद यह रँग कोलतार से बनी हुई नीलिन् में टोल्विदिन जैसे अशुद्ध पदार्थो से बनता हो परन्तु टोल्विदिन से भी इस रँग को प्राप्त करने में नीलिन्से अधिक सफलता प्राप्त न हुई। अन्त में हाफ़मैन ने इन दोनों का मिश्रण लेकर प्रयोग किया और इस बार सफलता की देवी के दर्शन हुये। इस प्रकार पाठक देखेंगे कि यद्यपि हाफ़मैन ने स्वयं इस व्यवसाय में कोई विशेष भाग नहीं लिया अथवा कोई कारखाना इत्यादि न खोला परँतु उससे सब अनुसंधान इसी विषय पर होते थे और प्रत्येक रूप से इस की वृद्धि का कारण हुये।

इस समय तक इस व्यवसाय का विस्तार काफ़ी बढ़ चुका था और न केवल इँगलैंड में ही बल्कि फ्रांस तथा जर्मनी में भी नये नये क़ारखाने खोले जाने लगे थे। साथ ही साथ रँगों की संख्या भी बढ़ती जा रही थी, गिरॉड तथा डिलेयर ने "इम्पीरयल वायलेट" तथा "ब्लू डे लियों" नीलिन् को फुक्सिन के साथ गरम करके प्राप्त किये थे।

इन्हीं कार्य्यों के होने में हाफ़मैन को एक नई बातका पता लगा। १८५० में उसने नीलिन्के नो उ$_२$ समूह के उदजन परमणुओं को दिव्यील मूलसे स्थापित करने की चेष्टा नीलिन् को दिव्योल के साथ गरम करके की थी, परँतु इसमें विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी परँतु जब यह पता लग गया कि रोजनीलिन् के साथ गरम करने से रँग दिव्येत हो जाता है हाफ़मैनकी खुशीका ठिकाना न रहा और इसके पश्चात् यह जानने पर कि "ब्लू डे लियों" त्रिदिव्यील रोजनीलिन् है उसकी खुशी की सीमा न रही और तुरँत ही फ्रांसीसी अकेडेमी को १८ मई १८६३ ई० को इस विषय पर एक तार द्वारा अपने प्रयोगों का समाचार भेजा। इस पर पूरा लेख जुलाई १८६३ ई० की बैठक में पढ़ा गया जिसमें निकोल्सन की प्रशंसा निम्न लिखित शब्दों में की है:—"निकोल्सन में एक व्यवसायिक तथा वैज्ञानिक अन्वेषक की शक्तियां अद्भुत रूप में उपस्थित हैं"।

दिव्येतकरण का महत्व डिलेयर, गिरोड तथा चैपैट्यू के हाथों में इतना बढ़ गया कि नीलिन् के उदजन परमाणुओं को दिव्यील से स्थापित करने की एक नई और अद्भुत रीति ही मिल गई, वह थी केवल नीलिन् उदहरिद को गरम करने की

$$\text{क}_६\ \text{उ}_५\ \text{नो उ}_२\ \text{उ ह} + \text{ह उ. नो उ}_२\ \text{क}_६\ \text{उ}_५ =$$
$$\text{नो उ}_४\ \text{ह} + (\text{क}_६\ \text{उ}_५)_२\ \text{नो उ. उ ह}.$$

परन्तु नीलिन् ब्लू के प्रयोग करनेमें एक और सब से बड़ी बाधा खड़ी हो गई क्योंकि यह वस्तु पानी में शीघ्र घुलती न थी। इसलिये इसका प्रयोग भी कठिन होता गया परँतु निकोलसन को बिना इस के प्रयोग में लाने योग्य बनाये चैन कहाँ था। भिन्न भिन्न प्रयोग करके अन्त में उसे विधि हाथ ही लग गई और वह भी रँग को गन्धकाम्ल के साथ गरम करने की जिससे रँग के गन्धोनिकाम्ल बन जायें। इस प्रकार दो गन्धोनिकाम्ल मिले अर्थात् इक (निकोल्सनब्लू) और त्रि (साल्यूबिल ब्लू)। यह केवल इसी अनुसन्धान की महिमा है कि यह नीलिन् ब्लू अथवा त्रि-दिव्यील रोजनीलिन् उपयोगी हो सके। केवल यह ही नहीं कि इस रँग के लिये ही यह विधि उपयोगी हुई बल्कि कम घुलनशील रंगों को घुलनशील बनाने तथा नीलिन् रँगों के गन्धोनिकरण का एक नया रास्ता खुल गया।

हाफ़मैन को इन रँगों पर कार्य्य करने का इतना शौक बढ़ गया कि जहां तक भी हो सका उसने लग भग सब ही रसोंका प्रभाव इन रँगों पर अध्ययन करना आरम्भ कर दिया। सब से पहिले उसने रोजनीलिन् पर मद्यील हरिदों का प्रभाव देखना आरम्भ किया। बस अब तो नाना प्रकार के रँगों की वर्षा सी होने लगी। रोजनीलिन् के नो उ$_2$ समूह के उदजन् परमाणुओं को मद्यील मूलों से स्थापित करने से नीले रंग की विद्यमानता होने लगी अथवा गुलाबी रंग के बजाय कासनी रंग मिलने लगा।

और इस प्रकार एकके बाद और उदजन परमाणु मद्यील मूलों से स्थापित करने से अन्त में कई प्रकार के कासनी रंग मिले जो "हाफ़मैन वायलेट" के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन रंगों का पेटेण्ट २२ मई १८६३ में लिया गया।

जिस समय हाफ़मैन ने इन रंगों को तैयार किया था किसी को भी इस बात का ध्यान न था कि ऐसी वस्तुयें भी जो प्रयोगशाला में भी बनाने पर काफी महंगी पड़ती हैं व्यवसाय के योग्य हो सकेंगी। परन्तु हाफ़मैन के रंग उस समय के सब रंगों से गहरे और चमकीले थे। यद्यपि इतने स्थायी तो नहीं थे जैसे कि मावे या इम्पीरियल वायलेट, तब भी उनके लिए मांग बढ़ती ही गई। दिव्यील तथा मद्यील मूलों के स्थापन का उस समय ऐसा प्रभाव पड़ा कि लगभग सब ही मूलों के स्थापन का प्रभाव जानना एक लालसा सी हो गई। हाफ़मैन का इङ्गलैंड में सब से अन्तिम कार्य्य "चिनोलीन ब्लू" पर हुआ। इस वस्तु को ग्रीवेली विलयम पहिले ही ज्ञात कर चुका था, परन्तु भाग्यवश इस यौगिक का स्वभाव बड़ा ही चंचल था और सूर्य्य प्रकाश में रखते ही इसका रंग कम होता जाता था।

जब एक बार कोई कार्य्य आरम्भ हो जाता है तो बहुत से लोग उसमें भाग लेने लगते हैं। हाफ़मैन तथा उसके शिष्यों के कार्य्य का ऐसा गूढ़ प्रभाव पड़ा कि दस ही वर्ष के भीतर जहां तहां सब देशों में भिन्न भिन्न रंगों को बनाने के लिये नये नये कारखाने खुल गये और बहुत से रसायनज्ञ उनमें नये रंगों की खोज के लिये जुट गये। हाफ़मैन के शिष्यों को छोड़कर उसी की प्रयोगशाला में एक व्यक्ति ने ऐसी अद्भुत रसायनिक प्रक्रिया विदित की जिसके प्रयोग से आधे से अधिक संश्लेषित रंग तैय्यार किये गये हैं। इस व्यक्ति का नाम था पीटर ग्रीस जो यद्यपि हाफ़मैन का शिष्य नहीं था परन्तु उसी की अध्यक्षता में कार्य्य करता था। ग्रीस ने रायल कालेज में कार्य्य करते समय विख्यात "द्वयजीव प्रक्रिया" विदित की। उस समय तक सुरभिक अमिनों पर नोषसाम्ल के प्रभाव से मद्यों की ही उत्पत्ति विदित थी परन्तु ग्रीस ने १८६० ई० के लगभग दिखलाया कि यदि साधारण तापक्रम के बजाय बर्फ के तापक्रम पर यही प्रक्रिया की जाय तो एक नये रंग का यौगिक बनता है जिसका नाम द्वयजीव यौगिक रक्खा गया। इसके कुछ ही दिनों पश्चात् विदित हुआ कि इस प्रकार जो यौगिक बनते हैं उनके स्वभाव अमोनियम यौगिकों से बहुत मिलते जुलते हैं इस लिये इनका नाम अमोनियम

से मिलता जुलता द्वयजीवोनियम यौगिक पड़ा। परन्तु यह यौगिक स्वयं रंग की भांति प्रयोग नहीं किये जाते बल्कि इनके साथ और यौगिक मिला कर रंग बनाये जाते हैं। आजकल तो इस प्रकार बने हुये रंगों की संख्या लाखों से भी अधिक ही होगी और इन सबको "अजीव रंग" का नाम दिया गया है। इस प्रक्रिया का महत्व भले प्रकार समझने के लिये नीचे समीकरणके रूपमें इसे दिखलाया जाता है।

$$क_{६}उ_{५}नो\ उ_{२} + उ\ नो\ ओ_{२} + उ\ ह$$

नीलिन् नोषसाम्ल उदहरिकाम्ल

$$= क_{६}उ_{५}\ नो:नो\ ह + २\ उ_{२}\ ओ$$

द्वयजीवोनियम हरिद जल
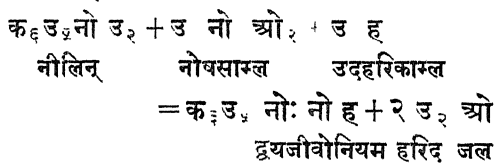
यह प्रक्रिया कार्बनिक रसायन में बिल्कुल एक साधारण प्रक्रिया हो गई है। लग भग सभी सुरभिक यौगिक जिनमें नो $उ_{२}$ समूह होता है इस प्रकार के यौगिक $क_{६}$ $उ_{५}$ देते हैं नो:नो ह। $क_{६}$ $उ_{५}$ओ उ

दिव्योल

$$= क_{६}उ_{५}नो:नो\ क_{६}\ उ_{४}\ ओ\ उ + उ\ ह$$
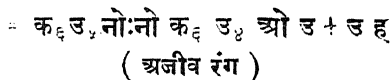
(अजीव रंग)

अजीव रंगों का मुख्य समूह = नो:नो होता है। बिना इस समूह के कोई अजीव रंग नहीं बन सकता। इसी द्वयजीवोनियम प्रक्रियाकी सहायता से इतने यौगिक बनाये गये हैं कि उनका केवल नाम ही लिखने के लिये एक पुस्तक चाहिये।

इसके पश्चात रंग रसायन में एक बिल्कुल नया अध्याय ही १८६८ ई० में ग्रैबे तथा लिबरमैन के अनुसन्धानों से खुला जिन्होंने अंगारिन से मञ्जिष्ठिन प्राप्त की। इनकी विधि या तो अंगारकुनोन को अरुणिन् के साथ बन्द नलियों में गरम करने की थी या चतुर्अरुणो अँगारिन के ओषदी करण से। इस रंग के व्यवसाय के लिये अंगारिन का काफ़ी मात्रा और कम दामों में मिलना आवश्यक था क्योंकि यह रंग पहिले ही से मंजीठ के पौधे से निकाला जाता था और इसके साथ मुक़ाबला करना कोई सहल काम न था परन्तु परिश्रमी लोग कब कार्य्यको छोड़ते हैं। अन्तको इसमें भी सफलता प्राप्त हुई।

एक बिल्कुल नया समूह नवीन रंगों का इसी समय विदित हुआ जिसमें फ़्लोरेसिन, इओसिन इत्यादि जैसे रंग हैं। यह प्रक्रिया यद्यपि पहिले पहिल थलिकाम्ल तथा रेशेनोल को गरम करने से विदित हुई थी जिसमें फ़्लोरेसीन बनती है परन्तु द्वयजीव प्रक्रिया की भांति यह भी कार्बनिक रसायन की एक साधारण प्रक्रियाओं में हो गई है और द्विक्षारिक कार्बनिक अम्लों के पहचान की मुख्य विधि है क्योंकि लगभग सभी द्विक्षारिक कार्बनिक अम्लों से रेशेनोल के साथ गरम करने से रंग बनता है। इन रंगों में एक और बात है कि यह सब चमक वाले होते हैं।

यद्यपि बायर के कार्य्य का हाफ़मैन के शिष्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है परन्तु तब भी इसका वर्णन यहां कुछ आवश्यक प्रतीत होता है। बायर ने नील का संश्लेषण किया और जो एक प्रकार के पौधे से निकाला जाता है परन्तु आजकल नक़ली नील के दाम असली नील से कई गुने कम हैं। ऊपर दिये हुये अनुसन्धान कोलतार रंग व्यवसाय का न्यूनतम भाग हैं और केवल उसके आरम्भ होने की दशा ही दिखलाते हैं। यह कह देना ही काफ़ी है कि आजकल लगभग सब रंग प्रयोगशालाओं की विधियों से ही बने हुये प्रयोग किये जाते हैं। पाठक भलीभांति जानते हैं कि कोलतार के ही स्रवण से बानजावीन, नफ़्थलिन, अंगारिन तथा दिव्योल इत्यादि पदार्थ जो इन रंगों के बनाने में प्रयोग किये जाते हैं प्राप्त किये जाते हैं। इसीलिये इन रङ्गों को कोलतार रंग कहा जाता है। इस छोटे से लेख के पढ़ने से पाठकों को कोलतार और उसके उपयोगों का महत्व प्रतीत हो जायगा। यदि वास्तव में देखा जाय तो कोलतार से कम से कम हमारे व्यवसायिक जीवन में बड़ा ही परिवर्तन हो गया है। आजकल जर्मनी वाले रंग के व्यवसाय को एक प्रकार से अपनाये ही हुये हैं। इसका कारण है कोलतार की
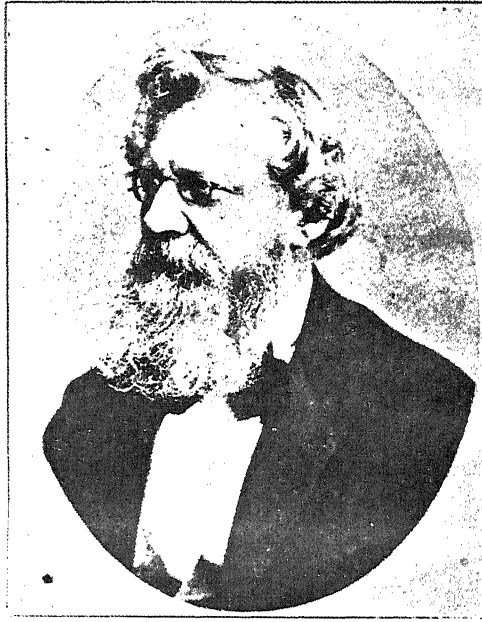
अगास्ट विलहेल्म हाफमैन
(१८१८-१८९२)

अधिकता तथा उसका प्रयोग। वास्तव में इस व्यवसाय की नींव हाफ़मैन के ही कार्य्य से पड़ी क्योंकि वह सर्वदा नीलिन् के ऊपर ही किसी न किसी विषय के सम्बन्ध में कार्य्य करता था। यह तो हाफ़मैन के कार्य्यों में से केवल एक भाग है अगले कुछ पृष्ठों में हाफ़मैन तथा उसके सुशिष्य परकिन के कुछ और अनुसन्धान दिये जायेंगे।

अगास्ट विलहेल्म हाफ़मैन

(१८१८—१८९२)

हाफ़मैन का जन्म गीसेन में १८१८ ई० में हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा पाने के पश्चात् १८३६ ई० में हाफ़मैन गीसेन विश्वविद्यालय में वकालत पढ़ने के अभिप्राय से गया परन्तु क्या जहाँ लीबिग जैसे महर्षि हों वहाँ से क्या हाफ़मैन वकील बन कर जा सकता था। यह पहिले कई बार बताया जा चुका है कि लीबिग ने बहुत से ऐसे विद्यार्थियों को जो वकालत, साहित्य इत्यादि पढ़ने के अभिप्राय से गीसेन आते थे रसायन के पुजारियों में परिवर्तन कर दिया। केवल यह ही नहीं कि यह नवयुवक रसायन सीख कर छोटे छोटे स्कूलों में पढ़ाने में जीवन बिताते रहे हों, नहीं सब के सब भावी रसायन के निर्माता हुये, उदाहरणतः हाफ़मैन, केक्यूले तथा विलयमसन इत्यादि। १८४१ ई० में डाक्टर की पदवी पाकर हाफ़मैन लीबिग के साथ कार्य करता रहा और १८४३ ई० में बोन विश्वविद्यालय में सहकारी के पद पर नियुक्त किया गया। लीबिग की जीवनी लिखते समय यह बतलाया गया था कि किस प्रकार उसके प्रभाव से महाराणी विक्टोरिया के समय में इङ्गलैंड के रायल कालेज की स्थापना हुई। राजकुमार कनसर्ट की यह इच्छा हुई कि नये कालेज का प्रधान अध्यापक कोई ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जिसका लीबिग के साथ अधिकतर सम्बन्ध रहा हो। बहुत सोच विचार के साथ लीबिग ने हाफ़मैन को जो उस समय बोन विश्वविद्यालय में था इस पद पर नियुक्त किया, और वास्तव में हाफ़मैन चाहता भी था, बस बिल्ली के भागों छींका टूट पड़ा।

हाफ़मैन का सब से प्रथम रसायनिक अनुसन्धान कोलतार के पदार्थों पर हुआ जिस पर उसको डाक्टर की उपाधि मिली। इस समय उसका विशेष कार्य्य कोलतार में बानजावीन तथा और वस्तुओं की खोज करना था तथा उसने यह भी दिखलाया कि रुगें, जिन तथा उनवरडोरवेन के पदार्थ एक ही वस्तु अथवा बानजावोन हैं। इसके पश्चात् उसने नीलिन् पर बहुत कुछ क्या सारी आयु भर ही कार्य किया।

प्रारम्भिक कार्य्य में ही हाफ़मैन ने अमिनों की ओर अधिक रुचि प्रगट की और इस के बाद ही उस का महत्व पूर्ण कार्य्य मज्जिक अमिनों पर हुआ जिससे गरहर्ड के सिद्धान्त को बहुत ही सहायता मिली। अमिनों के बनाने की दो मुख्य विधियां हाफ़मैन के नाम से प्रसिद्ध हैं। यदि मद्यील हरिदों को अमोनिया के साथ किसी बन्द नली में गरम किया जाय तो तीनों प्रकार के अमिन अथवा प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय अमिन बनते हैं। इस प्रयोग से सिद्ध हुआ कि अमोनिया का एक उदजन परमाणु क्या, तीनों एक एक के पश्चात् शनैः शनैः मद्यील मूलों से स्थापित किये जा सकते हैं और इस प्रकार अमोनिया रूप की महत्ता और भी बढ़ गई।

```
     ⎧ उ                 ⎧ कउ₃
नो ──उ ──────> नो ─उ  ->
     ⎩ उ                 ⎩ उ
                           प्रथम

     ⎧ कउ₃               ⎧ कउ₃
नो ─ कउ₃ ──>     नो ─ कउ₃ ──>
     ⎩ उ                 ⎩ कउ₃
   द्वितीय                तृतीय
```
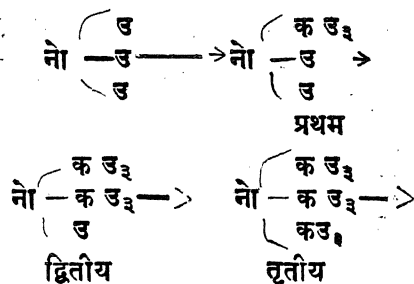
हाफ़मैन की अमिन बनाने की दूसरी विधि अमिदों को अरुणिन तथा पांशुज उदऔषिद के साथ गरम करने की थी। अब यह विधि लगभग प्रत्येक अमिन के बनाने में प्रयोग की जाती है। इस प्रकार हाफ़मैन ने रूप सिद्धान्त के विषय में भी काफ़ी

अच्छा कार्य किया। इसका पूर्ण वृत्तान्त रूप सिद्धान्तके अध्याय में दिया जा चुका है।

इङ्गलैंड के नये कालेज में जाकर हाफ़मैन को बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा क्योंकि उस समय इसकी नई स्थापना ही हुई थी और उसको प्रयोगशाला के बनाने तथा सामान इत्यादि सब की ही देख भाल करनी पड़ती थी जिसमें काफ़ी समय व्यतीत हो जाता था।

१८४५ ई० में हाफ़मैन ने नील के अन्तःपरिवर्तन (Metamorphosis) पर एक महत्व पूर्ण लेख लीबिग की पत्रिकामें छपवाया तथा इसके साथ उन कार्बनिक क्षारोंका भी जिनमें हरिन् तथा अरुणिन होती वर्णन किया। यह कार्य्य रसायनके इतिहासमें एक बड़ी ही उत्तम तथा प्रसिद्ध बातोंमें समझा जाता है और ऐसे समय यह कार्य्य हुआ जब कि बरजेल्यूस के युगल सिद्धान्त तथा स्थापन सिद्धान्त में घोर समालोचना छिड़ी हुई थी। उस समय ऐसा कोई कार्बनिक क्षार विदित न था जिसमें नोज समूह में उदजन परमाणु हरिन् अथवा अरुणिन से स्थापित किया गया हो और साथ ही साथ इस स्थापन से क्षार के स्वभावों में कोई अन्तर न उत्पन्न हुआ हो। हाफ़मैन ने बड़ी गम्भीरता के साथ कहा कि इस कार्य्य से हरिन् जैसे ऋणात्मक तत्त्व से धनात्मक वस्तुओं में स्थापित किया करने से स्वभाव में कोई अन्तर न होने का बड़ा सुन्दर प्रमाण मिलता है। उसने इस कार्य्य को यहीं नहीं छोड़ा बल्कि तुरन्त नीलिन् के हरिनीकरण पर कार्य्य आरम्भ कर दिया। यद्यपि आरम्भ में इस में कुछ कठिनाई हुई परन्तु अन्त में हाफ़मैन ने अपने परिश्रम तथा चतुराईसे इस कार्य्यको समाप्त किया और यहही नहीं बल्कि अंगारानीलिकाम्ल का भी हरिनीकरण किया। जिन जिन चतुराइयों तथा युक्तियों से हाफ़मैन ने इस कार्य्य को उस समय में जबकि कार्बनिक रसायन प्रारम्भिक दशा ही में था इस सफलता तक पहुँचाया उनका अनुमान लगाना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। साथ ही साथ उसके कथनको तो देखिये कितना सत्य और ठीक है: "इन यौगिकों की उत्पत्ति से यह पता चलता है कि कुछ कार्बनिक वस्तुओं में हरिन् तथा अरुणिन उदजन की ही भांति व्यवहार करते हैं। उसने केवल इक हरिनीलिन् ही नहीं बल्कि द्वि, त्रि तीनों तैयार कीं। हरिन् तथा अरुणिन का प्रभाव ज्ञात करके हाफ़मैन को नैलिन् का प्रभाव जानने की लालसा हुई और १८४८ ई० में उसने नैलोनीलिन केवल नैलेन के नीलिन् से मिलाने से ही तैयार कर ली। इन तीनों तत्वों के प्रभाव से इनके स्वभावों के क्रम का भी अच्छा ज्ञान हुआ अर्थात् हरिन्, अरुणिन, नैलिन् उदजन के लिये क्रम से स्नेह रखते हैं। उसने श्यामोजन के प्रभाव से श्यामोनीलिन भी प्राप्त की।

इन अनुसन्धानों के पश्चात हाफ़मैन ने वाष्पीय कार्बनिक क्षारों के आणविक गठन पर काफ़ी कार्य किया। और इन्हीं के साथ साथ क्षारोदों के गठन पर भी जो साधारण क्षारों की भांति वाष्पीय नहीं होते कई लेख प्रकाशित किये। त्रिमद्यीलअमिनों पर मद्यील हरिदों का फिर कुछ प्रभाव होता है या नहीं यह देखने के लिये उसने ज्वलील हरिद को त्रिज्वलील अमिन के साथ बन्द नली में गरम किया परन्तु इस से पहिले तो कोई सफलता प्राप्त नहीं हुई परन्तु बाद में चतुर्ज्वलील नैलिनके कुछ रवे प्राप्त हो सके। अपने लेख में हाफ़मैन ने इन नये नैलिदों को चतुर्अमोनियम का स्थापित पदार्थ ठहराया है अथवा नोषजन परमाणु का चार मूलों से मिलनेका सिद्धान्त रखने वाला पहिला व्यक्ति हाफ़मैन ही था।

इसके लगभग आठ वर्ष बाद उसने कैहर्स के साथ स्फुर क्षारों पर कई लेख प्रकाशित किये जिनमें इनके बनाने की वर्त्तमान विधि अर्थात् त्रिदारील तथा त्रिज्वलील स्फुरिन की उत्पत्ति फ्रैंकलैंड के दस्त दारील तथा ज्वलील को स्फुरत्रिहरिद के साथ गरम करने से बतलाई और बहुत से स्फुरोनियम यौगिक भी बनाये। हाफ़मैन तथा कैहर्स ने लगभग १२ लेख स्फुरिन तथा स्फुर क्षारों पर प्रकाशित किये जो कार्बनिक रसायन में बड़े उत्तम कार्यों में समझे

जाते हैं।

हाफमैन ने मद्यों पर केवल थोड़ा सा ही कार्य किया और वह एलील मद्य पर कैहर्स के ही साथ हुआ जिसमें उसने एलील गन्धक इत्यादि के बनाने की विधियां बतलाईं। वह केवल एक असम्पृक्त मद्य का प्रथम बनाने वाला ही नहीं था बल्कि उसके साथ साथ सोर्बिकाम्ल (Sorbic acid) पवर्ती रसभरियों को भाप के साथ श्रवण करने से बनाया।

अकार्बनिक रसायन क्षेत्र में उसने अधिक कार्य नहीं किया क्योंकि इस भाग में उसका केवल डूमा के साथ एक ही लेख मिलता है जिसमें टिटेन अरुणिद के बनाने की विधि दी हुई है और साथ ही साथ आंजनम् हरिद का प्रयोग हरिन् यौगिक बनाने में दिया हुआ है। हाफमैन इतना कार्य करने पर भी विश्लेषणात्मक रसायन को भी काफ़ी ध्यान में रखता था। इसके प्रमाणमें केवल इतना ही कह देना उचित है कि ताम्रम् तथा सन्दस्तम् को गन्धिद बना कर पृथक करने को विधि उसी की निकाली हुई है। उसने ग्रैहम इत्यादि के साथ जल विश्लेषण पर भी बहुत कुछ कार्य्य किया और सरकार को कई बार शहर के जल विभाग के विषय में कई लेख लिखे।

१८४९ ई० में हाफमैन ने द्विव्य ल समश्यामिद तैयार किया और साथ ही साथ गन्धकी सम श्यामिद बनानेकी रीति भी निकाली। इन्हीं यौगिकों पर कार्य करते हुये उसने श्यामूत्रिकाम्ल को अर्थात् श्यामिकाम्ल के संघट्टीकरण से बनाने की विधि ज्ञात की। अधिक शुद्ध किया हुआ दारीलगन्धकी श्यामिद का संघट्टभवन नहीं होता है, कुछ सरसों का तैल अवश्य बन जाता है।

१८७९ ई० में बर्लिन विश्वविद्यालय की प्रयोगशाला में हाफमैन ने कोनीन तथा मिर्चीदिन के गठन पर कार्य्य आरम्भ किया जिसमें उसने वह अद्भुत विधि निकाली जिसके बिना किसी क्षारोद का गठन नहीं ज्ञात किया जा सकता। इस विधिको आजकल पूर्ण दारीलकरण (Exhaustive Methylation) कहते हैं। हाफमैन ने मिर्चीदिनके विषय में केवल सैद्धान्तिक विचार ही प्रगट किये थे परन्तु कोनिग्सके कार्य्यसे उनकी सत्ता का प्रमाण भी मिल गया है।

हाफमैन ने भौतिक रसायन के क्षेत्र में कम कार्य्य नहीं किया। अपने शिष्य थार्प के साथ उसने वाष्पीय पदार्थों का वाष्प घनत्व निकालने की विधि निकाली थी। हाफमैन बोतल का नाम तो लगभग विज्ञान के सभी पाठकों को विदित है।

एक बड़ा रसायनज्ञ होने के अतिरिक्त हाफमैन में और भी बहुत से गुण थे जिनके बिना बतलाये उसकी जीवनी भले प्रकार नहीं समाप्त हो सकती। हाफमैन एक उच्च कोटि के गुरुओं में गिना जा सकता है। यहां तक कि उसकी तुलना केवल लीबिग से ही की जा सकती है जिसके वह सर्वोत्तम शिष्यों में से था। चाहे प्रयोगिक कार्य में हो चाहे व्याख्यानों में, उसके मस्तिष्क की अपूर्व झलक सब जगह चमकती थी। जिस सुविधा तथा गूढ़ता के साथ वह अपने शिष्यों को कार्य्यमें लगाता तथा उनकी उलझनोंको सुलझाता था अकथनीय है। हाफमैन ने कार्बनिक रसायन में नये नये अध्याय उत्पन्न कर डाले, नीलिन् पर तो लगभग सब उसी के हाथों की करामात है। और रसायनज्ञों की अपेक्षा हाफमैन को साहित्य से भी शौक़ अधिक था और उसमें काफ़ी चतुर और निपुण भी था। केवल जर्मन या अँगरेजी ही नहीं वह फ्रांसीसी तथा स्वेडिश इत्यादि सब ही भाषाएँ जानता था और उनमें भली भांति अपने विचार समझा सकता था। इङ्गलैंड में रसायन के प्रति शौक़ उत्पन्न करने वाला हाफमैन ही है और उसी समय से ही वहां रसायन की नींव पड़ी। उस समय के लगभग सभी बड़े अँगरेज रसायनज्ञ उसकेही शिष्य थे जैसे सर विलियम परकिन, सरऐलफ्रेड आबेल, सरविलयम क्रुक्स तथा आर्मस्ट्रांग इत्यादि। इतना होने पर भी उसमें दयालुता की तो कोई सीमा ही न थी और न उसके भीतर कोई जाति द्वेष ही था। यद्यपि जातिका जर्मन था पर उसने सबसे अधिक लाभ अँगरेजोंको ही पहुँचाया। उसके साथ कार्य्य करने वालों में कोई ही ऐसा अभागा होगा जिसको उसके प्रोत्साहनसे कार्य्य

करनेकी लालसा न उत्पन्न हुई हो और यही कारण है कि उसने अपने जीवन में इतना अधिक कार्य्य किया और दूसरों से कराया।

१८६५ ई० में हाफमैन बोन विश्वविद्यालय में मुख्य आचार्य के पद पर २० वर्ष इङ्गलैंड में रह कर अपने देश को लौटा। परन्तु इसके कुछ महीने ही पश्चात बर्लिन विश्वविद्यालय में मुख्य आचार्य नियुक्त किया गया। हाफमैन की प्रतिष्ठा के लिए इतनाही कह देना काफी है कि वह उस समय की लगभग सभी वैज्ञानिक सभाओं का सदस्य था और जर्मन कैमिकल सोसाइटी का बहुत दिनों तक सभापति रहा। १८५४ ई० में रायल सोसाइटीका रायल पदक तथा १८७५ में कापले पदक प्रदान किया गया तथा १८८२ ई० में रायल सोसाइटी आफ आर्ट्सका ऐल्बर्ट पदक। हाफमैन १८९२ ई०में ७४ वर्षकी आयु पर यकायक ही इस संसार से चल बसा।

सर विलियम हेनरी परकिन।

(१८३८——१९०७)

परकिन का जन्म १८३८ ई० की १२ मार्च को लन्दन में हुआ। उसका पिता जार्ज परकिन एक ठेकेदार था।परकिन की प्रारम्भिक शिक्षा पहले एक छोटे से स्कूल में हुई और इसके पश्चात् सिटी आफ लन्दन स्कूल में भेज दिया गया। जैसा कि बहुधा देखा गया है "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" वैसाही बहुतेरे और रसायनज्ञों की भांति परकिन के विषय में कहा जा सकता है। शुरूसे ही परकिन को प्रयोग देखने तथा करने की लालसा लगी रहती थी, परन्तु उस समय जब कि परकिन स्कूल में पढ़ रहा था विज्ञान में बहुत कम क्या बिल्कुल शिक्षा दी ही नहीं जाती थी। टामस हाल उस स्कूल में जो कि हाफमैन के शिष्यों में से था विज्ञान पर कभी कभी व्याख्यान दिया करते थे जिनको परकिन बड़े उत्साह से सुनता था और इस छोटे से बालक के उत्साह का प्रभाव टामस हाल पर ऐसा पड़ा कि तुरन्त ही उसे अपने व्याख्यानों में प्रयोग दिखलाने पर नियुक्त कर दिया। परकिन की स्कूल शिक्षा तो समाप्त हो गई परन्तु अब प्रश्न उठा कि आगे क्या करना चाहिये। छोटे बालक का पिता तो चाहता कि नवयुवक उसकी भांति ठेकेदारी का कार्य्य सम्भाले परन्तु परकिन के हृदय में तो रसायन का प्रेम हिलोरें ले रहा था। किसी न किसी तरह टामस हाल के परिश्रम से परकिन के पिता ने उसे रसायन पढ़ने की आज्ञा दे दी। अब १८५३ ई० में परकिन ने विश्वविख्यात रसायनज्ञ हाफमैन की प्रयोगशाला अर्थात् रायल कालेज आफ केमिस्ट्री में प्रवेश किया।

बस यहीं से परकिन के भविष्य की नींव पड़ी। १४ वर्ष की आयु में ही उसने भाप इंजिन बनाने की चेष्टा की थी और लगभग सफलता को भी पहुँच चुका था परन्तु समय के विवश अधिक आगे न जा सका। हाफमैनकी संरक्षकता में परकिन ने १५ वर्षको आयु में कार्य्य आरम्भ किया परन्तु इतनी बाल्यअवस्था में ही अपने गुरु पर ऐसा प्रभाव डाला कि हाफमैन ने अगले ही वर्ष उसको अपना सहायक बना लिया। यह पहले ही बता चुके हैं कि १८ वर्षकी ही अवस्था में परकिन ने मावे का अन्वेषण किया था।

परकिनको सबके पहिले हाफमैन ने अंगारिन पर कार्य्य सौंपा, क्योंकि उस समय हाफमैन की रुचि मुख्यतः उदकर्बनों से क्षार बनाने पर लगी हुई थी। अंगारिन का मिलना भी सुलभ न था क्योंकि यह कोलतार के स्रवण से ही प्राप्त की जाती थी। खैर किसी तरह परकिन ने इस अशुद्ध वस्तु से शुद्ध पदार्थ तैय्यार किया परन्तु इस शुद्ध पदार्थ का नोषीकरण करना एक प्रकार से परकिन को असम्भव सा ही प्रतीत हुआ। इतनी थोड़ी अवस्था में असफलता को प्राप्त होकर भी युवक परकिनका साहस न टूटा और यही शूर वीरों का लक्षण है। हाफमैन ने यह देखकर कि कहीं परकिन का मन चलायमान न हो जाय नफथीलामिन पर श्यामिद हरिद का प्रभाव विदित करने का कार्य्य दिया और इसमें परकिन को पूरी सफलता हुई। यह कार्य्य १८५५ ई० में केमिकल सोसा-

इटीकी पत्रिकामें प्रकाशित हुआ। इस कार्य्यसे प्रसन्न होकर हाफ़मैन ने परकिन को अनुसन्धान विभाग में नियुक्त कर दिया। उसकी लालसा तथा उत्साह का प्रमाण घर पर अपनी निजी प्रयोग शाला खोलना है क्योंकि उसे केवल हाफ़मैनकी प्रयोग शालामें ही कार्य्य करके सन्तोष न होता था, दूसरे हाफ़मैन के साथ कार्य्य करने में उसे अपने विचारों के अनुसार कार्य्य करने का समय बिलकुल न मिलता था।

परकिन के मुख्य अनुसन्धान के विषय में पहले ही कहा जा चुका है कि किस प्रकार कुनिन का संश्लेषण करने में उसने मावे रंग विदित किया। इस अनुसन्धान का जो प्रभाव संश्लेषित रसायन या रंग रसायन पर पड़ा है उसका अनुमान लगाना कुछ दुर्लभ प्रतीत होता है परन्तु इसके संबंधमें इतना ही कह देना काफ़ी है कि इस नये रंगके बनते ही बहुतसे परिश्रमी रसायनज्ञ इस नई रीति के प्रयोग में जुट गये। यद्यपि परकिन को व्यवसाय इत्यादि का किसी प्रकार का अनुभव या सुविधा न थी परन्तु तबभी अपने विचारों की पूर्ति के लिये रायल कालेज छोड़ कर इस रंग को अधिक मात्रा में बनाने के लिये उद्यत हुआ। इस नई खोज के महत्व को देख कर उसका पिता जो पहिले अपने छोटे बालक के रसायन पढ़ने से रुष्ट था उसके बिल्कुल साथ हो गया और अपनी आय का अधिक से अधिक भाग इस व्यवसाय के प्रति लगाने लगा। साथ ही साथ परकिन का ज्येष्ठ भ्राता टामस परकिन भी इसमें सम्मिलित हुआ और तीनों व्यक्तियों के उद्योग से यह नया कार्य्य आरम्भ हुआ। इसके विषय में इस लेख के आरम्भ में ही काफ़ी वर्णन किया गया है।

परन्तु यह न समझना चाहिये कि परकिन को धन का लालच था और इसी लिये वह रसायनिक कार्य्य को छोड़ कर व्यवसायी हो गया; नहीं, उसे तो रसायनिक प्रयोगों से अगाध प्रेम था और व्यवसायिक कार्य्य करते हुये भी नई नई खोजों में लगा रहा। १८५८ ई० में डूमा के साथ मधुन (अमिनो-सिरकाम्ल) को अरुणो-सिरकाम्ल पर अमोनिया के प्रभाव से बनाने की विधि निकाली। अभी तक यह पदार्थ खाद्य पदार्थों से ही प्राप्त किया सकता था। यह अमिनो अम्ल प्रत्यमिनों के मुख्य पदार्थ होते हैं और वास्तव में ऐसे पदार्थों का पहिला सन्श्लेषण इसी समय से आरम्भ होता है।

१८६० ई० में डूमा ही के साथ इमलिकाम्ल, वासिकाम्ल तथा सेबीकाम्ल (Maleic acio) का परस्पर सम्बन्ध निकाला और अम्रामिकाम्ल का सन्श्लेषण द्विअरुणोरालिकाम्ल से किया। इन सन्श्लेषणोंसे स्पष्ट विदित है कि अरुणो-स्थापित अम्लों से साधारण या स्थापित अम्ल बनाने की विधि का अधिक प्रयोग उसने ही किया था।

१८६७ ई० के लगभग परकिन ने सुरभित मद्यानार्द्रों पर सिरकिक अनार्द्रिद का प्रभाव देखना आरम्भ किया जिससे विख्यात "परकिन प्रक्रिया" विदित हुई जिससे असम्पृक्त अम्लों के बनाने की साधारण विधि का अन्वेषण हुआ और इसी प्रक्रिया के आधारपर कूमरिन का सन्श्लेषण हुआ। कूमरिन बड़ी उत्तम महक वाली वस्तु है जो टौंका छीमियोंमें पाई जाती है। अभी तक सुगन्धित पदार्थ अधिकतर फूल या पत्तों के स्रवण से ही प्राप्त किये जाते थे परन्तु परकिन ने ही सब से पहिले ऐसे पदार्थ को प्रयोग शाला में संश्लेषित किया। और इसी समय से और दूसरी ऐसी वस्तुओं का प्रयोगशाला में बनाना आरम्भ हुआ। इस प्रकार पाठक देखेंगे कि केवल रंगों के ही संश्लेषण का जन्म दाता नहीं बल्कि सुगंधित वस्तुओं को भी प्रयोग शाला में प्रथम बनाने वाला परकिन ही था। परकिन प्रक्रिया निम्न लिखित है।

$क_६उ_५क \quad उ \quad ओ + उ_{.}क \; उ \; क \; ओ \; ओ \; उ$

बानजावमद्यानार्द्र सिरकाम्ल

$= क_६उ_५क \; उ = क \; उ \; क \; ओ \; ओ \; उ + उ_२ \; ओ$

दालचीनिकाम्ल जल

दालचीनिकाम्ल की इस उत्पत्ति से ही बायर तथा हैरो नील के संश्लेषण में सफलता को प्राप्त

हुये। परकिन ने द्विअरुणो सिरकाम्ल से मधुकाष्ठि-काम्ल बनाने की विधि भी ज्ञात की जिससे वनस्पति रसायन को बहुत लाभ हुआ।

अन्तिम वर्षों में परकिन ने रसायनिक वस्तुओं के चुम्बकीय घुमाव पर बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया। यद्यपि फैरेडे इस स्वभाव को पहिले ही विदित कर चुका था परन्तु इस विषय में पूर्ण खोज करने का श्रेय उसी को है। इन अनुसन्धानों के आधार पर वस्तुओं के स्वभाव तथा गठन निकालने की एक नई ही रीति मालूम कर डाली और साथ ही एक अद्भुत यन्त्र का जो अब तक प्रयोग किया जाता है, आविष्कार किया। १८७५ ई० में परकिन ने व्यवसायिक कार्य्य से अपना सम्बन्ध छोड़ दिया और अधिकतर कार्य्य रसायनिक खोजों के सम्बन्ध में किया। मंजिष्ठिनके विषय में पहिले ही इस लेख में बताया जा चुका है।

इतना महान पुरुष होने पर भी परकिन का स्वभाव बड़ा सच्चा तथा न्यायशील था। व्यवसायोंसे संबन्ध होने पर भी उसको न्याय से ही लगन थी। साथ ही साथ जो जो उसके साथ या अध्यक्षतामें कार्य्य करते थे उनको सर्वदा अपने बच्चों के समान प्यार करना भी उसके स्वभावों का एक विशेष गुण था। उस समयकी लगभग सभी अच्छी सोसाइटियों ने उसे सदस्य चुन कर सम्मानित किया। केमिकल सोसाइटीका सभापति (१८८३—१८८५), रायल सोसाइटीकी कार्य्यकारिणी सभा का सदस्य १८७९—१८९१ तथा बहुतसे विश्वविद्यालयोंने उसे सम्मान सूचक डी० एस-सी० उपाधियां दीं। उसके अनुसन्धानोंकी प्रशंसामें रायल सोसाइटी ने रायल पदक १८७९ ई०, डेवी पदक १८८८ ई० में; सोसाइटी आफ़ आर्ट्स ने एलबर्टपदक (जो हाफ़मैन को भी मिला था) १८९८ ई० में, केमिकल सोसाइटी ने लांगस्टाफ पदक १८९० में और गैस इञ्जिनयरोंकी सभाने स्वर्ण पदक १८९२ ई० में, केमिकल इण्डस्ट्री की सभा का स्वर्ण पदक १९२८ ई० में और जर्मन केमिकल सभाने प्रो० ऐमिल फ़िशर द्वारा हाफ़मैन पदक १९०६ में और उसी वर्ष पैरिस केमिकल सोसायटीने लैवाशिये पदक प्रदान किया। सर विलयम परकिन प्रो० विलयम परकिन (द्वितीय) का पिता था जिसने त्रपिन तथा कर्पूरों पर बड़ा ही महत्व पूर्ण कार्य्य किया है। १४ जुलाई १९०७ ई० को परकिन की मृत्यु हुई।

श्री निवास रामानुजन्

श्री निवास रामानुजन्का जन्म २२ दिसम्बर सन् १८८७ को मद्रास प्रान्त के इरोद गांव में एक निर्धन कुल में हुआ था। आपकी माताको पहले यह बड़ी चिन्ता रहती थी कि उनके कोई पुत्र न था पर बाद को ईश्वर की कृपा से ऐसे पुत्र का जन्म हुआ जो भारतवर्ष का उज्ज्वल रत्न माना गया।

पाँच वर्ष की आयु में आप देहाती स्कूल में भरती कर दिये गये, और १० वर्ष की आयु में प्राइमरी परीक्षा में प्रथम आये और आगे पढ़ने के लिये आपकी फीस आधी कर दी गई। आपको आरम्भ से ही गणित से प्रेम था। जब आप तीसरे दर्जे में पढ़ते थे (हमारे यहां के छठे या सातवें के बराबर) तभी आपने गणित में वे सवाल निकाल लिये थे जो आज कल एफ० ए० में पढ़ाये जाते हैं। जब आप चौथे दरजे में पहुँचे, तो आप बी० ए० के एक लड़के के पास उसकी गणित की एक पुस्तक मांगने गये। वह लड़का यह देखकर दङ्ग रह गया कि चौथे दरजे का लड़का बी० ए० की किताब को क्या समझ पावेगा। उसको अधिक आश्चर्य तो इस बात पर हुआ कि रामानुजन् बिना किसी की सहायता के एकके बाद दूसरे सभी प्रश्न हल किये जा रहा है। और सुनिये, उस बी० ए० के विद्यार्थी से जब कोई सवाल न निकलता तो वह सीधे रामानुजन् के पास आता और अपनी कठिनाई दूर करता। सन् १९०३ ई० में आपने मैट्रिकुलेशन परीक्षा पास की, और गवर्नमेंट कालेज कुम्भकोनम् में आपने फर्स्ट-इयरमें नाम लिखाया।

आपको इस समय गणित की ही धुन थी। कालेज में चाहे कुछ पढ़ाया जाता हो, आप तो गणित में ही मग्न रहते। इसका फल यह हुआ कि आप फर्स्ट इयर में ही फेल हो गये। अब क्या करें, बड़ा शोक हुआ, भाग निकले और दूसरे कालेज में भरती हुये, वहाँ भी बीमार पड़ गये। सन् १९०६ में प्राइवेट एफ० ए० की परीक्षा में बैठे और फेल हो गये। संसार के भावी गणितज्ञ को किसी ने अब तक न पहचाना।

खैर, घर पर ही गणित में जुट गये। सन् १९०९ में विवाह भी हो गया, अब गृहस्थी का झंझट आ पड़ा। पेट की चिन्ता हुई और नौकरी की तलाश में निकले। दौड़ धूप के बाद मद्रास के अकाउण्टेण्ट जनरल के दफ़तर में थोड़े दिनों के लिये एक छोटी सी नौकरी भी मिली, पर वह भी छूट गई। ट्यूशन करके दिन बिताना चाहा पर वह भी न हुआ। अन्त में बहुतों की सिफ़ारिश के बाद मद्रास पोर्टट्रस्ट के दफ्तर में ३०) मासिक की जगह मिल गई। पेट की चिन्ता दूर हुई और फिर आप गणित की धुन में लग गये, और नई नई खोजें करने लगे। गणित की पत्रिका मद्रास से निकलती थी। उसमें आपने कुछ लेख प्रकाशित कराये, इन लेखों को देख कर लोगों में इनकी कीर्ति बढ़ने लगी।

कैम्ब्रिज में हार्डी नाम के एक बहुत बड़े गणितज्ञ हैं। इनके पास रामानुजन् ने लेख भेजे। हार्डी साहब आपकी गणित विद्वत्ता देखकर चकित हुए, और उन्होंने रामानुजन् को विलायत आने के लिये कहा, पर रामानुजन् समुद्र यात्रा के विरोधी थे। अस्तु, हार्डी ने मद्रास विश्वविद्यालय से सिफ़ारिश की और ७५) मासिक की छात्रवृत्ति दिलवा दी, इस तरह रामानुजन् क्लर्की से मुक्त हो गये। गणित का अध्ययन करना ही इनका काम रह गया।

हार्डी साहेब रामानुजन् को विलायत आने का आग्रह कर रहे थे, रामानुजन् की माता ही नहीं जाने देती थी! माता ने एक बार स्वप्न देखा कि उनका पुत्र एक बड़े मकान में बैठा हुआ है और चारों ओर से अंग्रेज उनका आदर सत्कार कर रहे हैं। स्वप्न में उन्होंने देवी को यह कहते हुए सुना कि रामानुजन् को विलायत जाने से न रोक। बस, माँ ने भी आज्ञा दे ही दी।

लिखा पढ़ी के बाद मद्रास विद्यालय ने २५० पौंड (३७५० रुपया) वार्षिक का वज़ीफ़ा देकर रामानुजन् को विलायत भेजा। १७ मार्च १९१४ को विलायतके लिये रवाना हुए और यहाँ हार्डी साहेबके निरीक्षणमें काम करने लगे। सन् १९१७ तक तो काम चलता रहा पर इसी समय आपको तपैदिक की बीमारी लग गई इसका कारण यह बताया जाताहै कि आप विलायतमें अपने हाथोंसे खाना बनाते थे, जिसके लिये कठिनतासे समय मिलता था। कच्चा, पक्का भात और साग उनका भोजन था। परिश्रमी बड़े थे पर व्यायाममें रुचि नहीं थी। विलायत में बहुधा नंगे पैरों रहते। विलायतमें इलाज कराया गया, कुछ हालत सुधर गई।

सन् १९१८ में आपको वह सम्मान मिला जो पहले किसी भारत के वैज्ञानिक को न मिला था। वह था रायल सोसायटी का फैलो बनाया जाना। आप ३० वर्ष की आयु में ही कितने प्रसिद्ध हो गये थे, यह इस बातसे जाना जा सकता है। आपके कई वर्ष बाद जगदीशचन्द्र बोसको यह सम्मान मिला।

इस सम्मान से उत्साहित होकर आपने और जोरों से काम आरम्भ कर दिया, और अपनी बीमारी का विचार न किया। ट्रिनिटी कालेज कैम्ब्रिज ने इन्हें ६ वर्ष तक २५० पौंड वार्षिक की स्कालरशिप देना निश्चित किया। मद्रास विद्यालय ने इन्हें वापस आने पर गणित का सर्वोच्च प्रोफ़ेसर नियुक्त करने का निश्चय किया।

बीमारी बढ़ती गई, २७ फर्वरी १९१९ को वे विलायत से भारत के लिये लौटे। इलाज किया गया पर कुछ न हुआ। अपने गाँव कुमकोनम् लौट आये। यहाँ भी कुछ न हुआ, फिर मद्रास पहुँचे, पर लाभ का नाम भी नहीं। यहीं चेतपुर गांव में २६ अप्रैल को उनकी जीवनलीला समाप्त हो गई। कहते हैं कि उनके माता पिता और पत्नी अभी जीवित हैं, पुत्र

नहीं है।

भारत का उज्ज्वल नक्षत्र थोड़े दिनों चमक कर अस्त हो गया।

समालोचना

गंगा—पुरातत्त्वांक—सम्पादक—श्री राहुल सांकृत्यायन, और श्री रामगोविन्द—त्रिवेदी। पृ० सं० ३३७। चित्र सं० १८१। मूल्य ३)।

पता—गंगा कार्य्यालय, कृष्णगढ़, सुलतान गंज, भागलपुर।

गत वर्ष 'गंगा' ने वेदांक नाम का एक विशेषांक निकाला था। उसी समय से पुरातत्त्वांक निकालने की सूचना भी प्रकाशित की गई थी। हिन्दी भाषी जनता में पुरातत्त्व-प्रेमियों की संख्या अति न्यून है, अतः इस दृष्टि से इस अंक का प्रकाशित करना अति साहस का ही काम है। संपादक-द्वयों को इस बृहत् आयोजना में जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा, उसका अनुभव साधारण पाठकोंको होना दुस्तर ही है। अस्तु, हम इस अंक का हृदयसे अभिवादन करते हैं। हिन्दी साहित्यके औरविशेषतः हिन्दी पत्रिकाओं के इतिहास में इस प्रकारके अंकों का प्रकाशित होना विशेष गौरव की बात है। इस अंकमें न तो चटकीले चित्र हैं, और न भड़कीले कथानक, न गल्प हैं और न अभिनेताओंके दृश्य यह तो भारतकी अतीत स्मृति है। हमारा अतीत विस्मय कारक है, अद्भुत है, इसमें पवित्रता और सरलता है। इसमें ऐहिक वैभव है और पारमार्थिक माधुर्य्य है। भारत के अतीत की कल्पनामें विचित्र रस है। इसीलिये हमें गंगा का यह पुरातत्त्वांक किसी महाकाव्य से कम रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ है।

इस पुरातत्त्वांक में ५३ लेख हैं और अन्त में सम्पादक महोदयों की टिप्पणियां। सम्पादकीय में पुरातत्त्ववेत्ताओंके पते, और पुरातत्त्व विषयक पुस्तकों, पत्रिकाओं और रिपोर्टों की सूचियाँ बड़े ही महत्व की हैं। बा० मोतीचन्द्र जीने जैसा अपने लेख में लिखा है, यह ठीक है कि भारतीय पुरातत्व की खोज का कार्य्य एशियाटिक सोसायटी की संस्थापना से अर्थात् सन् १७८४ से आरम्भ होता है। इस खोज के फलस्वरूप सब से अधिक महत्व का जो वृत्तान्त मिला है वह है मोहञ्जोदारो और हरप्पा की सभ्यता। भूगर्भवेत्ताओं के लिए गोंडवाना प्रदेश के भौगर्भिक लक्षण विशेष महत्व के थे और इसने भूगर्भ विज्ञान की उलझनों पर अच्छा प्रकाश डाला था। इसी प्रकार सिन्धु उपत्यका की खोजों ने भी संसार के पुरातत्त्व को नया रूप देना आरम्भकिया है। इस संबन्ध में डा० नरेन्द्रनाथ लाहा और डा० लक्ष्मण स्वरूप के लेख अतीव रोचक और महत्व के हैं। सर जान मार्शल ने इन स्थानों की खुदाई से जो कल्पनायें की हैं वह पूर्णतः निर्भान्त नहीं कही जा सकती हैं। कम से कम यह कल्पना कि मोहञ्जोदारों की सभ्यता वैदिक आर्य्य-सभ्यता से भी पहले की है, बिलकुल ही असंगत प्रतीत होती है।

प्राचीन भौगोलिक विवरणों के सम्बन्ध में डा० अविनाश चन्द्र दास और श्री चट्टोपाध्याय जी के लेख भी पठनीय हैं। डा० सुविमल चन्द्र सरकार का 'वैदिककालीन शिरोभूषण और पदत्राण' लेख भी उपयोगी है। और भी सभी लेख अपने अपने क्षेत्र में बराबर ही उपयोगी हैं। पुरातन लिपियों का भी सचित्र विवरण दिया गया है। श्री राहुलसांकृत्यायन के बौद्ध कालीन विवरण भी बहुत ही उपयोगी हैं। हमें यह आशा है कि सांकृत्यायन जो इसी प्रकार के लेखों से हिन्दी साहित्य की सेवा करते रहेंगे। कम से कम सांकृत्यायन जी के हिन्दी क्षेत्र में अवतरित होने का श्रेय गंगा के संचालकों को ही है। यह कम महत्व की बात नहीं है।

गंगा के इस अंक में सभी लेख बहुत ही अच्छे हैं। इसकी समस्त सामग्री अत्यन्त उपयोगी और पठनीय है। इस अंक की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही कम है। कदाचित् भारत की किसी देशी भाषा में अभी तक ऐसे अंक नहीं निकले हैं। अतः संचालकों और अध्यक्षों को बधाई।

—सत्य प्रकाश

वैज्ञानिक पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका भाग १—ले० प्रो० रामदास गौड़, एम. ए., तथा प्रो० सालिग्राम, एम.एस-सी. ।)
२—मिफताह-उल-फनून—(वि० प्र० भाग १ का उर्दू भाषान्तर) अनु० प्रो० सैयद मोहम्मद अली नामी, एम. ए. ... ... ।)
३—ताप—ले० प्रो० प्रेमवल्लभ जोषी, एम. ए. तथा श्री विश्वम्भरनाथ श्रीवास्तव ... ।॥=)
४—हरारत—(तापका उर्दू भाषान्तर) अनु० प्रो० मेहदी हुसेन नासिरी, एम. ए. ... ।)
५—विज्ञान प्रवेशिका भाग २—ले० अध्यापक महावीर प्रसाद, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद १)
६—मनोरंजक रसायन—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम. एस-सी. । १॥)
७—सूर्य सिद्धान्त विज्ञान भाष्य—ले० श्री० महावीर प्रसाद श्रीवास्तव, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद
मध्यमाधिकार ... ... ॥=)
स्पष्टाधिकार ... ... ।॥)
त्रिप्रश्नाधिकार ... ... १॥)
चन्द्रग्रहणाधिकारसे ग्रहयुत्यधिकार तक १॥)
उदयास्ताधिकारसे भूगोलाध्याय तक ॥।)
८—पशुपक्षियोंका शृङ्गार रहस्य—ले० अ० सालिग्राम वर्मा, एम.ए., बी. एस-सी. ... -)
९—ज़ीनत वहश व तयर—अनु० प्रो० मेहदी हुसैन नासिरी, एम. ए. ... ... -)
१०—केला—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली =)
११—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली ।)
१२—गुरुदेवके साथ यात्रा—ले० अध्या० महावीर प्रसाद, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद ।=)
१३—शिक्षितोंका स्वास्थ्य व्यतिक्रम—ले० स्वर्गीय पं० गोपाल नारायण सेन सिंह, बी.ए., एल.टी. ।)
१४—चुम्बक—ले० प्रो० सालिग्राम भार्गव, एम. एस-सी. ... ... ।=)
१५—क्षयरोग—ले० डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा, बी. एस. सी, एम-बी. बी. एस ... -)
१६—दियासलाई और फ़ास्फ़ोरस—ले० प्रो० रामदास गौड़, एम. ए. ... ... -)
१७—कृत्रिम काष्ठ—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली =)
१८—आलू—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली ... ।)
१९—फसल के शत्रु—ले० श्री० शङ्करराव जोषी ।=)
२०—ज्वर निदान और शुश्रूषा—ले० डा० बी० के० मित्र, एल. एम. एस. ... ।)
२१—कपास और भारतवर्ष—ले० पं० तेज शङ्कर कोचक, बी. ए., एस-सी. ... -)
२२—मनुष्यका आहार—ले० श्री० गोपीनाथ गुप्त वैद्य ... ... १)
२३—वर्षा और वनस्पति—ले० शङ्कर राव जोषी ।)
२४—सुन्दरी मनोरमाकी करुण कथा—अनु० श्री नवनिद्धिराय, एम. ए. ... ... -)॥
२५—वैज्ञानिक परिमाण—ले० डा० निहाल करण सेठी, डी. एस. सी तथा श्री सत्य-प्रकाश, एम. एस-सी० ... ... १॥)
२६—कार्बनिक रसायन—ले० श्री० सत्य-प्रकाश एम-एस-सी० ... ... २॥)
२७—साधारण रसायन—ले० श्री० सत्यप्रकाश एम० एस-सी० ... ... २॥)
२८—वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द, प्रथम भाग—ले० श्री० सत्यप्रकाश, एम० एस-सी० ... ॥)
२९—बीज ज्यामिति या भुजयुग्म रेखा गणित—ले० श्री० सत्यप्रकाश, एम० एस सी० ... १।)
३०—सर चन्द्रशेखर वेङ्कट रमन—ले० श्री० युधिष्ठिर भार्गव एम० एस-सी० ... =)
३१—समीकरण मीमांसा प्रथम भाग ... १॥)
३२—समीकरण मीमांसा दूसरा भाग—ले० स्वर्गीय श्री पं० सुधाकर द्विवेदी ... ॥=)
३३—केदार बद्रीयात्रा ... ।)

पता—मंत्री विज्ञान परिषत्, प्रयाग।

मुद्रक—शारदा प्रसाद खरे, हिन्दी-साहित्य प्रेस, प्रयाग।

पूर्ण संख्या—२०७ Approved by the Directors of Public Instruction, United Provinces and Central Provinces for use in Schools and Libraries. Reg. No. A. 708.

भाग ३५ VOL. 35. मिथुन, संवत् १९८९ जून १९३२ संख्या ३ No. 3

प्रयागकी विज्ञान परिषत्का मुखपत्र

'VIJNANA' THE HINDI ORGAN OF THE VERNACULAR SCIENTIFIC SOCIETY, ALLAHABAD.

अवैतनिक सम्पादक

ब्रजराज एम. ए., बी. एस-सी., एल-एल. बी.,

सत्यप्रकाश, एम. एस-सी., एफ. आई. सी. एस.

प्रकाशक

वार्षिक मूल्य ३) विज्ञान परिषत्, प्रयाग [१ प्रतिका मूल्य ।)

विषय-सूची

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥ तै० उ० ।३।५॥

भाग ३५ | मिथुन, संवत् १९८९ | संख्या ३

सनई* (२)

(Sunnhemp)

[लेखक—ठाकुर दूधनाथ सिंह, लेक्चरर, कृषि कालेज कानपुर]

पौदा

सनई एक फलीदार (Leguminous) मोसिमी (Annual) पौदा है जिसमें सुन्दर पीले पीले फूल लगते हैं। यद्यपि इसका पौदा इधर उधर उगा हुआ मिल जाता है तथापि यह जङ्गली पौदा है ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसके फूल में सब पंखड़ियां (Complete Flower) होती हैं। इसके पराग तथा गर्भ केशरभी साधारण फूलों की भाँति अपना काम करने के योग्य होते हैं। इतना होते हुए भी फूलोंकी बनावटमें कुछ ऐसी बात है कि एक ही फूल के पराग और गर्भ केशरके मेलसे फल नहीं बन सकता। इस पौदेमें कीड़ेकी सहायतासे परसांकरिकता (Cross Fertilization) होती है जिससे फूलसे फल उत्पन्न होता है।

उन्नति का मार्ग

इसी परसांकरिकताही के कारण वनस्पतिशास्त्रवेत्ताओं को, किसी एक सनईकी जातिकी असलियत (Purity) स्थिर रखनेमें बड़ी कठिनाई होती है। यह आवश्यक है कि ज्योंही एक सनईकी अच्छी जाति पैदा कर ली जावे उसका बीज बहुत शीघ्र अधिक मात्रामें पैदा किया जावे जिससे जितने कम समय में हो सके नई जातिकी फस्ल सब जगहोंमें फैल जाय और स्थानीय बुरी जातियोंके साथ परसांकरिकताका कम अवसर मिले। सरकारको यह काम अपने हाथमें लेकर किसानोंको यह दिखा देना चाहिए कि अच्छी जातिकी सनई उगानेसे उनकी आय में कितनी वृद्धि होगी।

* सनई (भाग १) "विज्ञान" के मई १९३२ के अङ्कमें प्रकाशित हुआ है।

इसके पहलेकि यह निश्चय रूपसे कहा जाय कि अमुक स्थानमें केवल नई जातिही की सनई बोई जाती है बड़े देख भालकी आवश्यकता होगी। इस जांच पड़तालमें यदि यह पता चले कि किसी किसान ने किसी कारणसे दूसरी जातिकी सनई बो रक्खी है तो सरकारको चाहिये कि उसकी फ़स्लको खरीद लेवे और फूल आने से पूर्वही उसको कटा डाले जिससे नई जातिके बीजके खराब होनेकी कोई सम्भावना न रहे। सरकारी कृषि विभाग, जिले तथा कोआपरेटिव विभागके अफसरोंकी सहायता से यह काम भली भांति कर सकता है।

नई जाति की सनई कानपुरी १२

लगभग ९ साल हुए कृषि कालेजके वनस्पति-शास्त्र विभागने सनईकी उन्नति करनेका कार्य्य अपने हाथमें लिया। इस प्रान्तके सनई होने वाली जगहोंसे तथा भारतवर्षके भिन्न २ प्रान्तोंसे बीज इकट्ठा किया गया। इन सब जातियोंको बोकर अच्छी तरह देखा गया और सन् १९२६ में यह भली भांति निश्चय कर लिया गया कि भारतवर्षमें १३ भिन्न २ क़िस्म की सनई बोई जाती हैं।

इन जातियोंके बाह्य रूपमें इतना थोड़ा अन्तर है कि इनका पहिचानना साधारण लोगों के लिए कठिन है। कुछ साल लगातार काम करनेके बाद यह मालूम हुआ कि इनमें एक ऐसी जातिकी सनई है जो रेशेके लिए बड़ी ही अच्छी है। इस सनईके पौदों की जड़ें बहुत गहरी जाती हैं और इनमें शाखायें भी कम फूटती हैं। पौदा १०-१२ फीट तक सीधा ऊंचा बढ़ता है और इसके अतिरिक्त इस क़िस्ममें उकठा (wilt) की बीमारी बहुत ही कम मात्रामें लगती है। इस जातिमें जिसका नाम कानपुर बारह (C I2) रक्खा गया है रेशा बढ़िया और अधिक मात्रामें निकलता है। कानपुर १२ सनईका रेशा उजला, चमकदार तथा मजबूत होता है और हरएक रेशे की लम्बाई ५–६½ फीट तक होती है। एक एकड़ फस्ल से लगभग १० मन रेशे की पैदावार मिल जाती है। इस जातिका रेशा (४ दिन सड़ाकर निकाला हुआ) इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट (Imperial Institute) लंदन को जांचनेके लिए भेजा गया। उनका कहना है कि यह रेशा उनकी अपेक्षा जो विलायतमें अब तक आता था बहुत ही अच्छा है। इस जातिके बीज की पैदावार प्रति एकड़ केवल ६ मन है। यह कदापि सम्भव नहीं कि जो जाति रेशेके लिये उत्तम हो वही बीज की भी अच्छी पैदावार दे। क्योंकि रेशेके लिये पौदे में अधिक डाल पात नहीं होनी चाहिये जो अधिक मात्रामें बीज पैदा करने लिये आवश्यक हैं। यह जाति हरी खादके लिये भी बहुत उपयोगी नहीं है क्योंकि इसके लिये भी पौदोंमें डाल पात होना ज़रूरी है।

कटाई और रेशा निकालना

इस प्रान्तमें सनईके पौदे हँसियासे काटे जाते हैं। भारतकी अन्य बहुत जगहोंमें पौदे जड़से उखाड़ लिये जाते हैं। लेखक की निजी राय है कि यदि काटने के बाद पौदे एक आधदिन सूखनेके लिए छोड़ दिये जावें और तब सड़ाये जावें तो रेशा अधिक साफ निकलता है। पत्तियोंको तो हर हालतमें झड़ जाने देना चाहिये जिससे रेशे की रंगत खराब न होने पाये। पौदोंका ऊपरी हिस्सा काट लेनेके बाद सड़ाने के वास्ते बोझ बांधना चाहिये क्योंकि पौदोंके ऊपरी हिस्सोंमें कुछ रेशा तो होता ही नहीं और साथ ही साथ ये या तो खादके काममें लाये जा सकते हैं या जानवरोंको खिला दिये जा सकते हैं। ज्वार की अपेक्षा सनईका ऊपरी हिस्सा चारेके लिए अधिक उपयोगी है। निम्नाङ्कित कोष्टक नं० १ ❀ (Table I) से दोनों की उपयोगिता का भलीभांति मिलान किया जा सकता है।

लोग साधारणतः तालाबमें गड्ढा खोदकर सनई के पौदोंको खड़ा या आड़ा गाड़ देते हैं और ऊपर से मिट्टीसे ढक देते हैं। इस तरह से गलाकर रेशा

❀ Leather, F. W. – Bull. 7. Ag. Ledger । 1903

	Moisture (जल) %	oil तैल %	Albuminoids आल्बुमिनित पदार्थ %	घुलनशील शर्करा %	काष्ठ तन्तु %	घुलनशील खनिज पदार्थ %	बालू %	सम्पूर्ण नोषजन %	आल्बुमिनित नोषजन %
सनई (चारा)	१४.३९	१.१२	११.३१	३५.८५	२७.३९	६.४३	३.५१	२.२९	१.९९
ज्वार (चारा) अक्तूबर	५६.१०	...	३.१०	२०.६५	१५.३२	२.२९	२.५४	०.५६०	०.५००

कोष्टक नं० १

निकालनेमें कई अवगुण हैं। बहुधा रेशा अधिक सड़ जानेके कारण कमज़ोर हो जाता है और साथ ही साथ पैदावारमें भी बहुत कमी हो जाती है। इसके अतिरिक्त धुलाई की सुविधा न होने के कारण रेशेमें बहुत धूल भर जाती है।

यदि ५ फीट गहरे पक्के हौज़में सनईके पौदे सड़ाये जावें तो रेशेमें उपर्युक्त बुराइयां न आयें। पौदोंको पहले केवल ६-९ इंच गहरे पानीमें खड़ा कर २४ घंटे छोड़ देना चाहिए जिससे नीचेका मोटा पुराना छिल्का और हिस्से की अपेक्षा अधिक देर तक सड़ सके। और उसके बाद सब पौदोंको ४ फीट गहरे पानीमें गाड़ कर सड़ाना चाहिये। इस प्रान्तकी बहुत सी जगहोंमें पुराने नील के हौज़ पाये जाते हैं और इनके पास ही हर एक जगह एक पक्का कुंआ भी होता है। इन हौज़ोंमें सनईके पौदे बड़ी स्वच्छताके साथ सड़ाये जा सकते हैं।

यह पता लगानेके लिये कि भिन्न भिन्न समय तक गले हुए रेशेमें क्या अन्तर होता है कानपुरमें तजरबा किया गया। सनईके पौदोंको काटनेके बाद उनके तीन बराबर २ बोझ बांधे गये और इनको कलके पानीमें (Tap waters) पक्के हौज़में सड़ाया गया। पौदोंको सड़ाते समय किसी भी रसायन (chemicals) का प्रयोग नहीं किया। पौदे ३ दिनसे पहले पूर्णरूप से नहीं सड़ सके और ५ दिनके बाद देखा गया कि पौदे आवश्यकतासे अधिक सड़ गये। तजरबा करते समय कानपुर १२ जातिके पौदोंका प्रयोग किया गया और भलीभांति निश्चय कर लिया गया कि यदि वायुमें ९८-१००° फारनहीट (F) उष्णता हो तो सनईके पौदे ४ दिनमें अच्छी तरह सड़ जाते हैं।

पौदे बीज बोनेके ११ सप्ताह बाद जब उनमें फूल आ गये थे सड़ानेके लिये काटे गये थे। निम्नाङ्कित कोष्टक नं० २ (Table II) से उपरोक्त तजरबेका पूरा २ हाल मालूम हो जायगा।

उपर्युक्त तीनों प्रकार का रेशा जांचनेके लिये इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट लन्दन को भेजा गया। उनकी जो कुछ भी राय इन रेशोंके बारेमें है वह नीचे दी जा रही है।

"रेशा साफ, चमकीला और हलके सुनहले रङ्गका है। यह भली भांति तैयार किया हुआ तथा मजबूत है। नं० १ और ३ रेशेकी लम्बाई ४-५ फीट और नं० २ की ५ फीट है। संयुक्त प्रान्तसे आये हुए तीनों प्रकारके रेशोंमें बहुत कुछ समानता है यहाँ तककि सेल्यूलोस (Cellulose) तीनोंमें एक ही मात्रामें मौजूद है। जांचसे मालूम होता है कि ४ दिनका सड़ा हुआ रेशा सर्वोत्तम है। बाह्य रुप तथा दृढ़ता में तीनों रेशे समान हैं"।

कोष्टक नं० २ (Table II)

नं०	कितने दिन पौदे सड़ायेगये	तारीख	इन तारीखों में सबसे अधिक वायु की गर्मी Max. temp.	इन तारीखों में कम से कम वायु की गर्मी Minimum temp.	हरे डंठलों का तौल (सेर में)	रेशा	हरे डंठलों और रेशे का अनुपात
						सेर–छंटाक	
१	३	२०–९–२९	९८	७५	५०	१–११	१००:३४
		२१–९–२९	९५	७४			
		२२–९–२९	९७	७५			
२	४	२०–९–२९	९८	८५	५०	२–०	१००:४
		२१–९–२९	९५	७४			
		२२–९–२९	९७	७५			
		२३–९–२९	९९	७६			
३	५	२०–९–२९	९८	७५	५०	१–११	१००: ३.४
		२१–९–२१	९५	८४			
		२२–९–२९	९७	७५			
		२३–९–२९	९९	७६			
		२४–९–२९	१००	७५			

यही तीनों रेशे विलायतके विगिलस्वर्थ कम्पनी (Messers. Wigglesworth Co. Ltd) के विगिलस्वर्थ साहबके पास भेजे गये। उनकी राय निम्न लिखित है—

"तीनों रेशोंमें कोई अधिक फर्क नहीं। परन्तु यहाँके रेशेके जानकारोंका कहना है कि ४ दिनका गला हुआ रेशा सबसे अच्छा है क्योंकि यह नरम और बुनने योग्य है। इस रेशे की तैयारी तथा रङ्ग उन रेशोंकी अपेक्षा जो विलायतमें आता है बहुत ही अच्छा है। क्या यह सम्भव नहीं कि सब भारतीय इसी प्रकार ४ दिन सड़ानेके बाद रेशा इन नमूनों की भाँति अच्छी तरह तैयार कर के यहाँ पर भेजें जिससे उनको प्रति टन कई पौंड और अधिक दाम मिल जाया करें ?"

सड़े हुए डंठल थोड़े २ से लेकर साफ पानी में पीट कर साफ कर लेने चाहिए। इसके बाद हर एक डंठल के सिरे की लकड़ी तोड़ कर रेशा एक हाथ में पकड़ लेना चाहिये और दूसरे हाथ से लकड़ी खींच

कर निकाल देनी चाहिए। इस तरह रेशा बिना उलझे हुए साफ निकल आयगा। इस प्रकार रेशा निकालने के बाद उसको साफ पानी में अच्छी तरह धोकर अलग २ करके बांस गाड़ कर सुखा लेना चाहिये।

कंघी करना तथा गांठ बाँधना

फिर ये रेशे कंघी (एक लकड़ी के ऊपर ९" की कई कीलें गड़ी होती हैं) पर फिरा कर और भी अच्छी तरह साफ किये जाते हैं। कंघी करने से रेशे में से अरझन और लकड़ी के टुकड़े निकल जाते हैं। इसके बाद बेलिंग मशीन (गांठ बांधने की मशीन) द्वारा इस रेशे की गांठ बांधी जाती है। गाँठ बांधने के लिए पटसन (Hibiscus Cannabinus) कीरस्सी काममें लाई जाती है क्योंकि यदि यह सनईकी रस्सी से बांधी जावे तो गाँठ के ढीले हो जाने का भय रहता है। बनारस के शिवपुर मुहल्ले में एक बेलिङ्ग फैक्टरी है। यहां से मालूम हुआ कि एक बेल (गाँठ) का वजन ५ मन होता है और उसकी लम्बाई, चौड़ाई और मुटाई ४८" × १८" × २०" होती है। इस प्रान्त के रेशे की गाँठे या तो शिवपुर में, या कलकत्ता और बम्बई में बनाई जाती हैं और ये गांठे विदेशों को इन्हीं दो बन्दरगाहों (कलकत्ता और बम्बई) से भेजी जाती हैं। गांठ बांधने में मै सफाई और कंघी कराई के ५ रुपया प्रति गाँठ खर्च होता है।

बीमारियां

(१) उकठा (Wilt)— इस बीमारी के कारण सनई के पौदे बिलकुल सूख जाते हैं। लेखक का ख्याल है कि सनई की यह बीमारी बिलकुल अरहर के उकठे (Wilt) की तरह है। कानपुर १२ जाति की सनई में यह बीमारी बहुत कम मात्रा में लगती है।

(२) एक कीड़ा जिसको अंग्रेजी में लेसपेरीजिया स्यूडोनेक्टिस (Laspeyresia Pseudonectis) कहते हैं सनईके पौदेकी चोटीमें गड्ढा बनाकर अंडे दे देता है। अंडे से ज्योंही कीड़े निकलते हैं नरम चोटी को खाना आरम्भ कर देते हैं जिससे पौदे का बढ़ाव रुक जाता है। और उस खाये हुए भाग के नीचे से बहुत सी शाखाएं फूट निकलती हैं इस शाखा फूटने तथा डंठल के सीधा न बढ़ पाने के कारण रेशा बहुत छोटा हो जाता है और इसकी पैदावार भी कम हो जाती है।

(३) दूसरा कीड़ा जिसको इटोयेला जिन्केनेला (Etiella zinckenella) कहते हैं सनई की पत्तियों और ढेंढ़ियों (Pods) को बहुत नुक़सान पहुँचाता है। इस कीड़े से बीज की फस्ल में अधिक हानि होती है। उस सनई की फसल को जिसको किसान रेशा के लिए बोते हैं इसकीड़े से बहुत कम हानि पहुँचती है।

उपर्युक्त दोनों कीड़े अगस्त के महीने में जब कि पौदा ४-५ फीट ऊँचा हो जाता है दृष्टिगोचर होते हैं। पूर्वा हवा व बदली में इन कीड़ों की संख्या बहुत अधिक बढ़ जाती है। उपर्युक्त उकठा और कीड़ों के नाश का केवल एक ही उपाय है कि उन पौदों को जिनमें यह बीमारियाँ दिखाई पड़ें उखाड़ कर जला दिया जावे।

उपयोगिता

सनई के रेशे से अधिक तर त्रिपाल (Canvas tarpanlins), मछली मारने वाले जाल और जहाज की रस्सियाँ बनाई जाती हैं। जो रेशा विदेश को भेजा जाता है उससे अधिकतर जहाज की रस्सियाँ ही बनाई जाती हैं। अच्छी जाति का रेशा बुनाई (Textile) के योग्य भी होता है। भारतीय किसान इसी रेशा से अपने पशुओं के बाँधने की रस्सियाँ, चारपाई बुनने की सुतली तथा चरसा खींचने की बर्त्त (रस्सा) बनाते हैं। वह लकड़ियाँ जो रेशा निकालने के बाद बच रहती हैं क़ाग़ज़ के पट्ठे बनाने के काम में भी आ सकती हैं। कुछ भारतीय पेपर मिलों ने इन लकड़ियों तथा अरझा रेशे (Tow) से अच्छे क़िस्मका लिखनेका क़ाग़ज़ बनाया है। क़ाग़ज़ के आविष्कार विभाग के अनु-

सन्धान कर्त्ताओंका कर्त्तव्य है कि वे इस ओर शीघ्र समुचित ध्यान दें जिससे यह उपयुक्त वस्तुएं जिस से किसान को कुछ भी आय नहीं होती है काग़ज़ बनाने के काम में साधारण रूप से ले आई जा सकें और किसानों को इससे कुछ प्राप्ति हो जाय।

आज कल यह लकड़ियाँ या तो गुड़ बनाते समय जलाने के काम में आती हैं या छप्पर बनाने के लिए इनका इस्तेमाल होता है। पौदे में सूखी लकड़ी तथा रेशा का अनुपात ६: १ है। इस हिसाब से प्रति एकड़ ६० मन लकड़ियाँ मिल सकती हैं जो कि या तो जलाने के काम में या अन्य व्यवसाय में प्रयोग की जा सकती हैं। मद्रास के तिनावली जिले में (Tinnevelly) यह लकड़ियाँ आठ आने बोझ बिक जाती हैं अन्यथा रेशा निकालने की मजदूरी के बदले दे दी जाती हैं❀। (Watt) वाट साहब का कहना है कि बम्बई की बुहारा जाति के लोग इन लड़कियों से दियासलाई बनाते हैं। (लेखक को ऐसी दियासलाई कभी भी देखनेको नहीं मिली है)।

सनई के पौदे का ऊपरी हिस्सा जैसा कि पहले कहा जा चुका है या तो खाद के काम आता है या जानवरों को चारा के रूप में दिया जाता है।

सरकारी रिपोर्टों में सब रेशों के सम्बन्ध की बातें एक ही जगह पाट (Hemp)के नाम लिखी मिलती हैं। देश और विदेश के व्यवसायको ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक है कि भिन्न २ रेशों की अलग अलग रिपोर्ट हो। यह सच है कि पाट (Hemp) के नाम से अधिकतर सनई के ही रेशे से मतलब है तब भी यह ठीक नहीं है कि सब रेशे पाट के नाम में ठूंस दिये जाँय क्योंकि इससे केवल सनई के क्षेत्रफल, पैदावार तथा व्यवसाय का ठीक पता नहीं चल सकता। यह पता चलाना असम्भव है कि सनई का कितना रेशा बुनने के और कितना जहाज की रस्सी बनाने के काम लाया गया।

भारत से जो कुछ सनई का रेशा बाहर जाता है उसके अच्छे दाम न मिलने का कारण यह है कि रेशा बुरी तरह सड़ा कर निकाला जाता है और साथ ही साथ यह भी बात है कि अच्छे और बुरे रेशों को एक ही साथ मिला कर गाँठ (Bales) बाँध दी जाती हैं। यह सब बुराइयाँ बड़ी सरलता के साथ दूर की जा सकती हैं। यदि कृषि और को-आपरेटिव विभाग एक साथ होकर इसकी ओर ध्यान दें। किसानों को यह बात बतलाई जानी चाहिये कि रेशा किस भाँति सड़ा कर निकालना चाहिये। इस काम में सरकार को हर प्रकार की सुविधा देनी चाहिए। रेशा छाँटने (Grading) और गाँठ बाँधने (Baling) का काम उन्हीं लोगों को देना चाहिये जिनको कि कृषि व को-आपरेटिव विभाग यह समझे कि यह सफाई के साथ इस कार्य्य को कर सकते हैं। यदि इतना हो जावे तो कोई कारण नहीं कि भारत से गये हुए सनई के रेशे की विदेश में अधिक माँग न हो। इम्पीरियल इन्स्टीटयूट की विजिटेबुल फाइबर कमेटी (Vegetable Fibres Committee of th Imperial Institute)ने रायल कमीशन (RoyalCommision) के सामने जो कि भारतीय कृषिकी जाँचके लिए बिठाया गया था बयान किया था कि उस माल पर जो विदेश को जाता है थोड़ी सी चुंगी लगा दी जावे और इससे जो आय हो उसको सनई को उन्नत करने के कार्य्य में लगाया जावे जैसा कि कपास के लिए इन्डियन सेन्ट्रल काटन कमेटी (IndianCentralCottonCommetie) द्वारा बन्ध किया गया है। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है कि यदि भारतीय रेशा उपयुक्त रीति से साफ करके बाहर भेजा जावे तो उसका बहुत अच्छा मूल्य मिलेगा क्योंकि भारतीय सनई का रेशा बहुत ही मजबूत अच्छे रंग का तथा बुनने योग्य होता है❀

Subha Rao, C. K. — Bul, 59- Ag. Dept, Madras

❀Report in the work of the Indian Trade Commissioner during 1926-27 and 1927-28

विकासवाद

[अनु० विकास प्रिय]

[२]

सन् १८५९ में० डार्विन की महत्व पूर्ण पुस्तक 'ओरिजिन आव् स्पेसीज' प्रकाशित हुई। इस ग्रन्थ की सामग्री तैयार करने में डार्विन को लगभग २० वर्ष लगे थे। उससे पूर्व जितने भी व्यक्तियों ने विकासवाद की व्याख्या की थी, वह अपूर्ण और सभ्रम थी, पर डार्विनवाद का आधार कुछ ऐसे नियमों पर स्थित है जिनकी सत्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता है। पर इतना होनेपर भी इस वादमें भी अभी और अधिक सुधार की आवश्यकता है। डार्विनवाद के कुछ सिद्धान्त जो पूर्णतः निर्भ्रम हैं, यहाँ दिये जाते हैं।

(१) सबसे पहला निर्भ्रम सिद्धान्त जिसे डार्विन-वाद की आधारशिला कहा जा सकता है परिवर्त्तन-शीलता (Variability) या भिन्नता का है। यह तो सभी के अनुभव की बात है कि एक ही जाति के कोई दो व्यक्ति भी पूर्णतः एक से नहीं होते, और जाति के विशाल समूह में किन्हीं दो व्यक्तियों में तो बहुत ही अन्तर होता है। ये भिन्नतायें कम अधिक होती रहती हैं और पीढ़ी-दर पीढ़ी बढ़ती जाती हैं।

(२) दूसरा निर्भ्रम सिद्धान्त जीवनसंघर्ष (Struggle for existence) का है। प्रकृतिमें प्रत्येक जाति इस संख्या में सन्तान उत्पन्न करती है कि उसका बहुत थोड़ा भाग ही युवावस्था तक जीवित रह पाता है, शेष प्राणी अपने शैशवमें ही कालकवलित हो जाते हैं। यदि मछली जितने अंडे देती है उनमें सभी प्रौढ़ मछली बन जावें, तो थोड़ेसे समयमें ही अटलांटिक ऐसा महासागरभी मछलियों से पट जावेगा। बहुत सी जातियों का निरीक्षण करके यह पाया गया है कि विशेष परिस्थितियों को छोड़कर बहुधा इनकी जनसंख्या लगभग एकही रहती है (भारत वासियों की संख्या समस्त इतिहास में ३३ करोड़के आसपासही हमेशा बनी रही है, पशुओंका भी यही हाल है), हाँ, थोड़ी बहुत न्यूना-धिकता अवश्य होती रहती है। अतः यह स्वभाव सिद्ध समझलेना चाहियेकि किसी शिशु (प्राणीका या वृक्षका) के प्रौढ़ावस्था तक पहुँचनेका अर्थ ही है, कि उसके लिए किसी वृद्ध ने अपने प्राण गंवाकर स्थान रिक्त किया है। एक युवाके लिये एक वृद्धको अवश्यही मरना पड़ता है। जीवन संघर्षका यह अर्थ नहीं हैकि परस्पर खूनखच्चर हो तभी स्थानमिले,वस्तुतः संघर्ष भोजन, प्रकाश, स्थान, और जीवन की अन्य आवश्यकताओंके लिये हुआ करता है, कभी कभी परोपजीवी प्रणियों, अथवा शत्रु जातिके जीवोंसे भी संघर्ष होता है। यह आवश्यक नहीं है कि एक जाति के व्यक्तियोंमें ही परस्पर जीवन को स्थिर रखनेके लिये संघर्ष हो, प्रत्युत इस जातिसे मिलती जुलती दूसरी जातियोंसे भी संघर्ष होता है।

(३) तीसरी निर्भ्रम बात स्वाभाविक निर्वाचन (natural selection) की है जिसे हर्बर्ट स्पेन्सरके शब्दोंमें योग्यतम की विजय (suruival of the fittest) कहना चाहिये। जो योग्य होगा वही रह सकेगा, निर्बल प्राणी जीवित नहीं रह सकते। वही युवावस्था तक जीवित रहने पावेंगे जिनमें सन्तानोत्पत्ति की सामर्थ्य है। यह न समझना चाहिये कि अकस्मात् ही कोई सन्तान जीवित रह जाती है और कोई सन्तान मरजाती है। जो व्यक्ति जितने ही अधिक सामर्थ्य-वान है उनके जीने की उतनी ही अधिक सम्भावना है। इस जीवन संघर्षमें जो गुण अधिक सहायक होंगे उनके अनुसार जातियोंमें भिन्नता या परिवर्तन होता रहेगा। डार्विनको यह बात आरम्भमें ही पता चलगई थी कि पालतू पशुओं की नई संकर जातियाँ पैदा करनेमें यह आवश्यक है कि ऐसे माता पिताओं का निर्वाचन किया जाय जिनमें वे गुण अधिक हों जिन्हें हम नई जातिमें लाना चाहते हैं। उसने यह परिणाम निकाला कि ऐसी भिन्नतायें जो जीवन संघर्षमें सहायक होती हैं नई जातियोंका जीवन अधिक स्थायी बना देती हैं पर इनमें ऐसी भिन्नतायें

उत्पन्न करदेनेसे जो संघर्षके लिये अनुकूल नहीं हैं, ये जातियाँ थोड़ी ही समयमें लुप्त हो जाती हैं।

(४) डार्विनवादका अन्तिम नियम सिद्धान्त पैतृकता (heredity) का है। यह तो सभी जानते हैं कि पुत्र पिता के अनकूल होता है, यदि किसी माता पितामें कुछ ऐसी विशेषतायें विद्यमान हैं जो जीवन संघर्षके लिये उपयोगी हैं, तो वे पुत्रमें भी अवश्य पैदा हो जायंगी। पीढ़ी दर पीढ़ी ये विशेषतायें और अधिक प्रबल हो जायंगी, यहाँ तक कि सम्भवतः जाति एक नया ही रूप धारण कर लेगी।

स्वाभाविक निर्वाचन को तो नवीन जाति निर्माण में डार्विन सबसे अधिक महत्व देता ही था, पर साथ साथ वह अन्य छोटे छोटे कारणों को भी आवश्यक समझता था। वह कई स्थानों पर किसी अंग विशेषके उपयोग और अनुपयोग का भी प्रभाव बताता है (अर्थात् जिस अंगका उपयोग नहीं किया जायगा उस अंगका नवीन जाति में ह्रास हो जावेगा) लैमार्क इस बातका बड़ा ही परिपोषक था। डार्विन ने लैङ्गिक निर्वाचन (Sexual Selection)कासिद्धान्त रंग विरंगी जातिके प्राणियोंके रंगदार बेलबूटोंकी व्याख्या करनेके लिये प्रस्तुत किया था। तरह तरह के रंगों की तितलियों और चिड़ियों का पैदा होना इसी नियमके अनुसार था। आज कलके डार्विनके अनुयायी विकासवादी अंगकी उपयोगिता या अनुपयोगिता, एवं लैङ्गिक निर्वाचन के सिद्धान्तको आवश्यक नहीं मानते हैं, उनका कहना है कि स्वाभाविक निर्वाचन ही विकासका एक मात्र और प्रबलतम कारण है। वाइज़मैनने इस पर बहुत बल दिया है।

डार्विन की उक्त पुस्तक और बाद वाले कार्यने वैज्ञानिक जगतमें भीषण क्रान्ति मचा दी थी, और विकासवाद का सिक्का सब जगह अति शीघ्र जम गया पर उसके स्वाभाविक निर्वाचनके नियमको प्रसिद्धि मिलनेका सौभाग्य न प्राप्त हुआ। यह ठीक है कि उस समय भी और आज कल भी अधिकांशतः इसे ठीक ही माना जाता है पर इसका विरोध करने वाले भी कुछ कम नहीं हैं। इन विरोधियों की दृष्टि में यह सिद्धान्त अस्पष्ट, अपूर्ण और असन्तोष जनक है। बहुत सों ने इसमें सुधार करनेका भी प्रयत्न किया और कुछ लोगों ने इसके स्थानापन्न अन्य सिद्धान्त भी रखे। जर्मन देशके प्रसिद्ध वनस्पति वेत्ता कार्ल वान नैगेली (१८१७-१८९१) ने विकासका विशद सिद्धान्त रखा जिसमें उसने यह दिखाने की चेष्टा की कि स्वाभाविक निर्वाचन द्वारा विकासके प्रश्नों का पूर्णतः समाधान नहीं होता है, और उसने इसके साथ साथ 'पूर्णता का सिद्धान्त' मानना भी आवश्यक समझा जिसका आशय है कि प्रकृतिकी चेष्टायें पूर्णताको प्राप्त करने की ओर होती हैं, जिसके कारण उत्तरोत्तर एकसे एक उत्कृष्ट रूप बनते जाते हैं। वह इस जीवित संसार को ऐसी झाड़ियोंसे परिपूर्ण उपवन मानता है जिनमेंसे नित नई शाखायें निकलती रहती हैं। इन शाखाओंके छोर वर्तमान कालीन पशु और पौधे हैं। वे अपनी निजी आन्तरिक प्रेरणासे उगती हैं, पर उनकी मर्यादा स्वाभाविक निर्वाचनके नियम द्वारा निर्धारित होती है। स्वाभाविक निर्वाचनके नियम को उपवन का माली समझना चाहिये, जो काटने तराशने वाली कैंचियोंसे उपवनके सौन्दर्य्यको स्थिर रखता है। अगर इसमें कांट छांट न होती तो यह उपवन जंगली झाड़-झंखाणोंसे भर जाता।

डार्विन वादके विरोधमें एक स्वभाविक प्रश्न यह उठाया गया था कि यदि कुछ व्यक्तियोंमें जीवनसंघर्ष के अनुकूल थोड़ी सी भी भिन्नता उत्पन्न होती है, तो वह ऐसे व्यक्तियोंके संकर समागमसे भी अतिविस्तृत और विकसित हो जाती है जिनमें स्वयं वह अनुकूल विशेषता बिल्कुल भी न थी। इस आक्षेपके उत्तरमें मोरिट्ज़ वैगनरने 'देश पार्थक्य द्वारा जातियों का विकास' नामक सिद्धान्त निर्धारित किया। भौगोलिक देश बन्धके कारण बहुतसे व्यक्तियोंके समूह एक दूसरेसे अलग अलग हो जाते हैं और उनके पारस्परिक समागम न हो सकने के कारण भिन्न गुणवाली नयी जातियों की उत्पत्ति हो जाती है। अस्तु, यह बात निश्चय है कि जातियों में

भिन्नता उत्पन्न करनेमें भौगोलिक पार्थक्य भी बहुत कुछ कारण होता है। भूमण्डल की समस्त प्राणि-जातियोंमें इस विचार की पुष्टि भलीप्रकार देखी जा सकती है। पर इस बात का इतना प्रधान महत्व नहीं है जितना कि वैगनर महोदय समझते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम समय में इस विषय में जो घोर वादविवाद हुआ उसमें भाग लेने वाले व्यक्तियोंमें सबसे अधिक प्रभावशाली फ्राइबुर्गके प्रोफ़ेसर आगस्ट वाइजमैन (१८३४—१९१४) थे। उन्होंने पैत्तृकता और जर्म-प्लाज्म (मूलाणु) के सम्बन्धमें विशद सिद्धान्त प्रस्तुत किये, जिनकी पुष्टि बादके निरीक्षणों और परीक्षाओं द्वारा बहुत ही अधिक हुई है, और मैण्डेलके पैत्तृकतावाद ने तो इसका बहुत ही समर्थन किया है। वाइजमैन उन लेखकोंमेंसे सर्व प्रथम था जिन्होंने इस बातका खण्डन किया है कि माता पिताके जीवनकाल में उपलब्ध विशेष पैत्तृक गुण भी सन्तानोंको दिये जासकते हैं। उसका कहना है कि वे ही विशेषतायें सन्तानको पैत्तृक रूपमें प्राप्त हो सकती हैं जो जर्मप्लाज्म (मूल वीर्य्याणु) में विद्यमान हैं, अर्थात् भिन्नतायें सर्व प्रथम जर्मप्लाज्ममें उत्पन्न होनी चाहियें। इस प्रकार उसने डार्विनके अंग विशेषके उपयोगानुपयोग नियमको बिलकुल अनावश्यक समझा। वह स्वाभाविक निर्वाचनके नियमको ही एक मात्र और सर्वोपयोगी बताता है। स्थानाभावसे वाइजमैनके सिद्धान्तों की यहां विस्तारमें व्याख्या नहीं की जासकती है। पर इतना समझ लेना चाहिये कि उसके विचार आजकल बहुत कुछ मान्य समझे जारहे हैं और वर्त्तमान "नव-डार्विन सम्प्रदाय" वाइजमैनको अपना प्रमुख आचार्य स्वीकार करता है।

भग्नावशेषवेत्ता जो प्राचीन पशुओं और वनस्पतियोंके अस्थि-पिंजरोंका अध्ययन करते हैं स्वाभाविक निर्वाचनके नियमसे पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं हैं। प्रसिद्ध भग्नावशेषवेत्ता वान वागेन (Waagen) ने सबसे पहले सन् १८६७ में एक ऐसे भेदक चिह्न की ओर संकेत किया था जो सर्वमान्य सिद्धान्त की आधार शिला हो सकता था। उसका कहना था कि भिन्नता (variation) और परिवर्तनशीलता (mutation) में भेद करना चाहिये। भिन्नतासे वागेनका तात्पर्य्य उन अस्थायी अन्तरोंसे था जो एकही जातिके समकालीन व्यक्तियोंमें पाये जाते हैं, और जो पीढ़ी दर पीढ़ी दुहराये जाते हैं और अस्थायी होते हैं। परिवर्तन-शीलतासे उन उत्तरोत्तर अन्तरोंसे तात्पर्य्य है, जो चाहे कितनेही कम क्यों न हों पर स्थायी होते हैं, और ये ही उत्तरोत्तर परिवर्तन शृङ्खला रूपमें एक विशेष दिशामें नवीन जातियाँ उत्पन्न करते हैं। प्रसिद्ध डच वनस्पतिवेत्ता, डि व्राइस (Vries) ने इस विचारको स्वीकार किया था, और इसमें थोड़ा परिवर्तन करके एक ऐसा विशद सिद्धान्त रखा जिस पर बहुत ही घोर वितण्डा आरम्भ हुआ। डि. व्राइसका कहना है कि डार्विन ने इन दो प्रकारके अन्तरों की ओर ध्यान नहीं दिया अन्यथा इससे पालतू जानवरों और कृत्रिम वनस्पतियों की उत्पत्ति की समस्या बहुत हल हो जाती। एक अन्तर तो व्यक्तियोंके साधारण अन्तरसे सम्बन्ध रखता है और दूसरा 'क्रान्ति' ("Sport") है जो आकस्मिक और गौरवपूर्ण है। यह अन्तर सन्तानोंको भी दिया जासकता है और स्थायी है। क्रान्तिकारी अन्तरका एक उदाहरण एङ्कन-भेड़ (Ancon) का है जिसकी उत्पत्ति एकपदो छोटे भेड़से हुई थी जो १७९१ में न्यूहैम्पशायर फ़ार्ममें साधारण माता पितासे उत्पन्न हुआ था। इस भेड़े ने अपनी विशेषतायें पैत्तृक रूप में अपनी सन्तानोंको दीं और शीघ्रही उनसे ऐसी भेड़ों की नई जातिकी उत्पत्ति हुई जो बाड़े की चहारदीवारीको फांदनेमें सर्वथा असमर्थ थीं। इस प्रकारके आकस्मिक और पैत्तृकदेय अन्तरको डि-व्राइस 'परिवर्तन' कहता है और उसे विश्वास है कि सामान्यतः प्रकृति में नई जातियोंका विकास इसी प्रकारके परिवर्तन द्वारा होता है, और वस्तुतः जीवन-संघर्ष इतना परस्पर व्यक्तियोंमें नहीं है जितना कि परिवर्त्तय (mutant) या प्रभावित जातियोंमें है।

यह परिवर्तनवाद यद्यपि बड़ा ही मनोरञ्जक

और उपयोगी है परवह उन कारणोंके बतानेमें सर्वथा असमर्थ है जिनके कारण इतने क्रान्तिकारी परिवर्तन होते हैं। परिवर्तनका आदि स्थान निस्सन्देह माता, या पिता या दोनोंके जर्मप्लास्म (मूल शुक्राणु) में है पर परिवर्तन वहां किस प्रकार होता है इसका हमें कुछ भी पता नहीं है।

इस सम्बन्धमें हम आष्ट्रियाके साधु जोहेन ग्रीगोर मैण्डेल (१८२२-१८८४) के कार्य्यका कुछ दिग्दर्शन कराये बिना नहीं रह सकते। इस महान् व्यक्ति ने मटरकी अनेक संकर उपजातियोंकी मीमांसा की और अपने प्रयोग फलोंको गणितबद्ध किया। उसने अपना लेख १८६६ में प्रकाशित किया था, पर अभाग्यवश किसीका ध्यान उस ओर न खिंचा। उसकी मृत्युके कई वर्ष बाद लोगों ने इस लेखको ढूँढ़ निकाला! उसे जो प्रयोग फल मिले ठीक वैसे ही स्वतंत्र रूपसे लगभग एक ही समय तीन वनस्पतिवेत्ताओंको (सन् १९०० में) मिले थे। ये व्यक्ति थे डि-व्राइस और शेरमक (Tschermak) आष्ट्रियाके, तथा जर्मनीके कारेन्स (Correns)। वस्तुतः मैण्डेलके साथ वैज्ञानिक संसारका यह करुणाजनक अन्याय ही समझना चाहिये कि उसके जीवन कालमें उसे वह सम्मान न मिलसका जो अब उसे दिया जाता है। उसके कार्य्य ने जीव विज्ञानमें प्रजननशास्त्र (genetics) की नई नींव डाली। मैण्डेलको वस्तुतः उन व्यक्तियोंमें से समझना चाहिये जिसने विकासवादके मार्गको साफ़ किया।

[३]

इस बात का उल्लेख करनेसे पूर्व कि विकासवाद की पुष्टि किन प्रमाणोंसे होती है; यह कहदेना आवश्यक है कि इसके सम्बन्धमें बिल्कुल तर्कयुक्त प्रमाणों की आशा न करनी चाहिये। वस्तुतः सृष्टिमें विकास तो उस समय से आरम्भ हुआ है जब मनुष्यका पता भी न था, अन्य प्राणी भी न थे। उन आरम्भकालीन अवस्थाओंके इतिहासका ठीक ठीक लेखा भला किस प्रकार उपलब्ध हो सकता है, साम्राज्योंके इतिहास तो अनेक साधनोंसे संकलित किये जासकते हैं, और उनके पारस्परिक युद्धोंका विवरण शिलालेखों और प्राचीन ग्रन्थोंमें मिल सकता है। पर विकासवादके इतिहासमें जिन जीवन संघर्षों की कल्पना की गई है—ऐसे संघर्ष जिनके कारण जातियों को जातियाँ इस धरातलसे सदाके लिये विलुप्त होगईं—भला इन सबके विस्तृत वर्णन की आशा करना अनधिकार ही होगा। रसायन की प्रक्रियाओं का अध्ययन प्रयोगशालाओंमें किया जा सकता है क्योंकि इन प्रक्रियाओंके होनेमें बहुत ही थोड़ा समय लगता है पर विचार कीजिये उन परिवर्तन-कारिणी प्रक्रियाओंका जो धीरे धीरे एक प्राणिजातिको दूसरी जातिमें परिणत कर देती हैं, यह प्रक्रिया तो सहस्रों और लाखों वर्षोंमें जाकर समाप्त होती हैं। जब ऐसी अवस्था है तो इनकी सत्यता जांचनेके लिये प्रयोगशालामें प्रयोग और परीक्षाएँ करना तो असम्भव ही है। ऐसी ही कठिनाई ज्योतिषके नियमों की परीक्षाओंमें उठानी पड़ती है। एक तारा या धूमकेतु जो आकाशमण्डल में आज दिखाई पड़ा, उसके दूसरी बार दर्शन करनेके लिये कभी कभी तो सैकड़ों वर्ष की प्रतीक्षा करनी पड़ती है जो कि किसी एक व्यक्तिके लिये असम्भव है। ऐसी अवस्थामें थोड़ेसे प्रत्यक्षोंके आधार पर तर्कयुक्त अनुमानोंका ही आश्रय लेना पड़ेगा। प्रत्येक ज्योतिषी इस पर विश्वास रखता है की आरम्भमें समस्त सौरमण्डल एक ही वस्तु था, मान लीजिये कि आरम्भिक अवस्थामें आकाश नीहारिकाओं (नेबुला) का समूह था। इस बात को लगभग सभी मानते हैं, पर इन नीहारिकाओंसे अन्य ग्रहोंका किस क्रमसे विकास हुआ, इसके विषयमें निस्सन्देह भिन्न भिन्न आचार्य्योंका भिन्न भिन्न मत होगा। और फिर प्रयोगशालाओंमें तो नीहारिकाओं से भिन्न भिन्न ग्रहोंका उत्पत्ति प्रत्यक्ष नहीं दिखाई जा सकती है। अतः इनके सम्बन्धमें जो भी कोई सिद्धान्त रखा जायगा उनमें कुछ न कुछ आपत्तियाँ अवश्य आ खड़ी होंगी। प्रत्येक रहस्यके अन्दर न जाने कितने अज्ञेय रहस्य भरे होते हैं, कि किसी भी सिद्धान्त की निरापद पुष्टि होना असम्भव हो जाता है। यही

अवस्था जीवविकास की है। इनके सम्बन्धमें सीधे-साधे प्रत्यक्ष प्रमाण पाना तो असम्भव है, हाँ कुछ प्रत्यक्ष चिह्नोंके आधार पर ही अदृश्य शृङ्खलाओंका अनुमान किया जासकता है। विकासके किसी भी क्रमको हम सर्वनिश्चित नहीं मान सकते हैं, हम तो केवल इतना ही कह सकते हैं कि बहुत सम्भव है, कि विकास इसी क्रमसे हुआ हो।

वनस्पतियोंके सम्बन्धमें डाक्टर डी. एच. स्काट का कहना है कि "विकास सम्बन्धी हमारे विचार तो केवल सांकेतिक हैं, वस्तुतः जिस क्रमसे युग-युगान्तरों में यह विकास होता आया है वह तो इतना संकीर्ण है, कि हमारे इस छोटेसे मस्तिष्कमें वह पूरी तरह से आही नहीं सकता, चाहे उसके सम्बन्धमें कितने ही प्रमाण हमारे सम्मुख उपस्थित क्यों न हों। जिन वनस्पतियोंको हम कृत्रिम रूपसे अपने उपवनोंमें उगाते हैं, और जो वस्तुतः मनुष्य की आयोजनाओं से बहुत कुछ प्रभावित होती हैं, वे भी तो इतनी जटिल हैं कि हमारी समझमें अच्छी तरह से नहीं आतीं। हम यह भी जानते हैं कि ये उपवन के फल फूल अभी थोड़े ही दिन हुए जंगली जातिके फल फूलोंसे विकसित हुए हैं, पर इनके विकासका भी सच्चा इतिहास ढूँढ निकालना अति कठिन है, बहुतसों के तो सम्बन्ध में यह भी नहीं कहा जासकता है कि अमुक जाति का यह पौधा किस जंगली जाति के पौधे से विकसित हुआ है! जब साधारण फल फूलोंके सम्बधमें जो अभी थोड़े ही दिनों से हमारी वाटिकाओं में उगने लगे हैं हमारे ज्ञान की यह अवस्था है तो फिर इस सृष्टिके अनेक वृक्षोंके सम्बन्धमें जिनमें लाखों बरससे विकास होता आया है, यदि हमें याथातथ्य निश्चित ज्ञान न हो तो आश्चर्य ही क्या है। विकासका क्रम ठीक निश्चित न होने पर भी हम यह तो मान ही सकते हैं, कि विकासवाद का सिद्धान्त इनके सम्बन्धमें सच है। फिर जब कई भिन्न भिन्न प्रकारके अपूर्ण एवं अनिश्चित प्रमाण एक ही वाद की ओर संकेत करें तो फिर इस वाद को सच माननेमें आपत्ति न होनी चाहिये। यह ठीक है कि अलग अलग तो सब प्रमाण अपूर्ण हैं, पर सब को मिला कर तो एक विशेष निश्चय पर पहुँचा जा सकता है। अनेक बाधायें और आपत्तियां होने पर भी हम इस प्रकार एक निश्चित सिद्धान्त पर पहुँच सकते हैं। कुछ न कुछ प्रहेलिकायें तो सदा उलझी हुई रहही जावेंगी, और सब सन्देहोंका समाधान भी होना कठिन होगा, अतः इसके सम्बन्ध में अन्य अन्वेषणों और सुधारों की आवश्यकता तो सदा बनी रहेगी। हम विकासवाद को क्यों मानते हैं? इसलिये कि प्राणियोंका वर्गीकरण, उनकी तुलनात्मक शरीर रचना, उनकी उत्पत्तिकी विधियाँ और गर्भकी अवस्था, उनके प्राचीन भग्नावशेष और संसारमें उनका भौगोलिक विस्तार सभी इस वाद की सत्यताके द्योतक हैं। जीवविज्ञान और वनस्पति शास्त्रके प्रत्येक विभाग की समस्याओंका जितना सीधा सादा समाधान इस वाद द्वारा होता है, उतना और किसीसे नहीं।

इस प्राणिजगत के विषयमें तीन प्रकारके मत प्रचलित हैं। एक मत तो यह मानता है कि प्राणियों की जातियों की पृथक् पृथक् रचना ही हुई है। यह नहीं कि एक प्राणी किसी दूसरे प्राणियोंसे विकसित हुआ हो। प्रत्येक जाति एक दूसरेसे स्वतंत्र स्थिरता वाली है। जिस रूपमें प्राणी आज मिलते हैं वे उसी रूपमें बनाये गये थे। इस सिद्धान्त का सब से पहले लिनेयसने रखा था और डार्विनके पहले तक सभी इसको मानते थे। दूसरा मत विकासवाद का है जिसे डार्विनने बहुत ही पुष्ट किया जिसका सिद्धान्त यह है कि सभी प्राणियों का आरम्भ आदि कालीन जीवाणुओं से हुआ है। स्वाभाविक निर्वाचन और जीवन संघर्षके नियमोंके अनुसार इनमें उत्तरोत्तर विकास होता गया है। यह डार्विनवाद इसका उत्तर नहीं देता है कि इस पृथ्वी पर सबसे पहले जीवन कहाँसे आया। जो व्यक्ति लिनेयस या डार्विन दोनोंके सिद्धान्तोंके माननेमें संकोच करते हैं, वे रहस्यवादके समर्थक हैं। इन प्रहेलिकाओंका उत्तर वे अगम्य समझते हैं। उनका कहना है कि इन प्रश्नों

का समाधान करना मनुष्यशक्तिके बाहर है उन्हें यह सृष्टि रहस्यमय मालूम होती है और उनका विश्वास है कि यह सदा रहस्यमय बनी रहेगी। फ्लाइशमेन महोदय इसी विचारके हैं। इन तीनों प्रकारके मतोंमें यदि कोई भी वाद युक्तिका आश्रय ले सकता है तो वह विकासवाद ही है। लिनेयसके आरम्भकवाद और फ्लाइशमेनके रहस्यवाद को तो मीमांसा और व्याख्यासे छुट्टी ही मिल गई क्योंकि एकने तो यह मान लिया कि जिस रूपमें प्राणी आज कल मिलते हैं, वे आरम्भ में भी वैसेही थे, और दूसरेने समस्त समस्याओंको एक रहस्य मान कर अपना पीछा छुड़ा लिया। पर यह बात ठीक नहीं है, आरम्भकवादमें विश्वास करना युक्ति-युक्त नहीं है क्योंकि हम संकर जाति की उत्पत्ति वनस्पति और प्राणियोंमें सदा ही देखते हैं जिनसे नई जातियाँ बनती रहती हैं। विकासवादके अतिरिक्त अन्य किसी भी वादसे इन समस्याओंका समाधान नहीं होसकता है।

बहुत से लोगों का यह आक्षेप है कि भिन्न भिन्न प्राणियोंमें उत्तरोत्तर क्रम बद्धताका पाया जाना ही इस बात का प्रमाण नहीं है कि एक प्राणी दूसरे प्राणीसे विकसित हुआ है। यदि मनुष्य जातिको ही लिया जाय तो इसके व्यक्तियोंके गुणोंमें भी उत्तरोत्तर क्रम पाया जायगा पर इसका यह अर्थ कभी नहीं हो सकता है कि ये व्यक्ति सब एक दूसरे से उत्पन्न हुए हैं। जंगली जातिकी झोपड़ियोंसे लेकर सभ्य जातिके महलों तक में उत्तरोत्तर क्रम मालूम होता है पर इसका भी यह तात्पर्य्य नहीं है कि झोंपड़े ही विकसित होकर महल होगये हैं, झोंपड़ों और महलोंका तो अलग अलग ही निर्माण हुआ है। यह तो सम्भव है कि मकान बनाने की कला धीरे धीरे विकसित हुई हो न कि मकानही विकसित हुए हों। पर विचारसे देखा जाय तो यह युक्ति तभी ठीक हो सकती थी, जब मकानोंमें भी स्वयं दूसरे मकान बनाने की उसी प्रकार शक्ति होती जिस प्रकार किसी प्राणीसे उसकी सन्तान उत्पन्न होती है, यदि मकान भी अपनी सन्तान उत्पन्न कर सकते तो उनके क्रमको देखकर हम उन्हें भी विकासवादके अनुसार ही विकसित हुआ मानते। हम यह मानते हुए भी कि सृष्टिको किसी नियामक सत्ता ने ज्ञान युक्त आयोजना द्वारा बनाया है, विकासवाद की सत्यताको स्वीकार कर सकते हैं, हम यह कह सकते हैं कि उस सत्ता ने अपनी ऐसी आयोजना बनाई कि एक बार जीवन आरम्भ होने के पश्चात् समस्त प्राणी एक दूसरे से विकसित होकर बन गये। विकासवाद तो सृष्टि रचयिताके महान् कौशलका सबसे बड़ा प्रमाण है।

कई प्रकारके प्रमाणों द्वारा विकासवाद की पुष्टि होती है। ये प्रमाण ज्ञानके भिन्न भिन्न क्षेत्रोंसे लिये गये हैं। कभी कभी एक प्रमाण दूसरे से प्रभावित भी होता है तब भी विषयको स्पष्ट करनेके लिये इनका पृथक् पृथक् उल्लेख किया जाय तो अनुचित न होगा। सब से पहली युक्ति वर्गीकरण की है। अतः इसका अब उल्लेख किया जायगा। वस्तुतः इस युक्तिका ऐतिहासिक महत्व भी है क्योंकि लैमार्क और डार्विन ने अपने विकासवादको इस युक्तिसे आरम्भ किया था। भिन्न भिन्न जातियोंके प्रश्न ने ही इन प्रकृति-निरीक्षकोंको जातियों की स्थिरता और परिवर्तन-शीलताके न मानने पर बाध्य किया था। उनको यह विश्वास होगया था कि प्राणियों की जातियाँ अलग अलग नहीं हैं, प्रत्युत एक दूसरे से आबद्ध हैं।

संसारमें असंख्य प्राणी हैं, और साधारणतः उनकी जातियाँ भी लाखों प्रतीत होती हैं। इन सब का अलग अलग अध्ययन करना तो नितान्त असम्भव होगा, अतः सुविधाके लिये यह परमावश्यक है कि इनका वर्गीकरण कर लिया जावे। प्राणियोंके विशेष गुण लक्षणोंके अनुसार यदि उत्तरोत्तर वर्ग बना लिये जावें तो बहुत ही अच्छा होगा। अठारहवीं शताब्दी के मध्यकालमें लिनेयस ने वर्गीकरण की एक आयोजना रखी थी जिसमें उसने प्राणियों की 'जातियों' को इकाई माना था। उसका विश्वास था कि प्रत्येक-जाति पृथक पृथक वास्तविक समूह है। उस समय जीववेत्ताओं और वनस्पति शास्त्रज्ञोंका यही काय्य था कि वे नई नई जातियों की खोज करें और

लक्षणों की व्याख्या करके उन्हें अलग अलग नाम देदें, इनके वे वंश (genera), कुल (family), वर्ग (order) और समूह (group) निश्चित करें। उदाहरण के लिये यूरोपीय भेड़ियेको लीजिये। यह लूपस जाति (lupus species) का कहलाता है, यह दूसरे विशेषभेड़ियोंसे मिलनेके कारण केनिस वंशका कहा जावेगा। अतः इसका नाम केनिस लूपस पड़ा है। भेड़िये, गीदड़, वुल्पेस वंश की लोमड़ी और दूसरे वंश के प्राणी जिनकी शकल कुत्तोंसे मिलती जुलती है, केनिडाइ कुलमें रखे जाते हैं। जब हम इनकी तुलना अन्य पृथ्वी के शिकारी जीवों—जैसे बिल्ली, भालू, रैकून, पीसेल, ओटर आदिसे करते हैं तो हम इन्हें फिसीपोडिया उपवर्गका कहते हैं। इन सब की तुलनामें यदि समुद्रोंके शिकारी जीवोंको भी सम्मिलित किया जाय तो इनसे कार्निवोरा नामक वर्ग बनता है। इस प्रकार, फिर इन सब प्राणियोंको दूध पिलाने वाले पशुओंके साथ एक विशदवर्गमें रखा जा सकता है। तात्पर्य्य यह है कि इनका इस प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है।

उत्तरोत्तर विकसित प्राणियों के वर्गीकरण का सीधा साधा सिद्धान्त उनकी शरीर रचना के लक्षणों के आश्रय पर है। जितने भी दूध पिलाने वाले प्राणी हैं, वे आपस में स्वभाव, कद, रूपादि में कितने ही क्यों न भिन्न हों पर कुछ विशेष बातों में वे परस्पर मिलते जुलते हैं। इस प्रकार व्हेल मछली, चमगादड़, घोड़ा और बन्दर सभी एक कक्षा में रखे जाते हैं यद्यपि स्वरूप में एक दूसरे से वे बहुत ही भिन्न हैं। लिनेयस के विचारानुसार जिसकी डार्विन के समय तक प्रधानता ही रही, एक वंशकी भिन्न भिन्न जातियों या एक कुलके भिन्न भिन्न वंशों या वर्गके भिन्न भिन्न कुल इत्यादि के सम्बन्ध बिलकुल कल्पनागत ही माने जाते थे। यदि प्रत्येक जाति की सृष्टि अलग अलग विधि से स्वतंत्र रूप ही होती और वे इतनी स्थिर होतीं कि उनमें परस्पर परिवर्तन न हो सकता तो निस्सन्देह इन सबों में उत्पत्तिया ख़ून, या सवीर्य्यता का सम्बन्ध खोज निकालना संभव न था पर विकास वाद के अनुसार भिन्न भिन्न जातियों में यह सम्बन्ध या समानता इसी लिये है कि उनकी एक दूसरे से उत्पत्ति हुई है जिनपर अनेक परिस्थितियों का प्रभाव भी पड़ा है। जो मुख्य आन्तरिक समान गुण सब में रह गये हैं, उसका कारण उनकी पैतृकता है क्योंकि वे सब एक ही की तो सन्तान हैं।

जैसा लैमार्क का कहना है, यह ठीक है कि बहुत सी जातियों में पारस्परिक इतनी भिन्नता है कि यह कहना कठिन हो जाता है कि उनको किस वर्ग में रखा जाय अतः इसके सम्बन्ध में कभी कभी तो बड़ा मतभेद हो जाता है। जातियों के लक्षणों की संख्या भी तो इतनी अधिक है कि वर्गीकरण में किस लक्षण को आधार माना जाय। किसी एक लक्षण विशेष के कारण किसी जाति को एक वर्ग में रखना पड़ता है तो किसी दूसरे लक्षण विशेष के कारण उसे दूसरे ही वर्ग में रखना चाहिये। एकही जाति के कोई दो भी व्यक्ति सर्वतः एक समान नहीं होते, जब ऐसे बहुत से व्यक्तियों की तुलना की जाती है, तो किन्ही में बहुत ही अधिक भिन्नता मिलती है। कभी कभी तो एक ही जातिके निम्नतम और उच्चतम प्राणियों में आश्चर्यप्रद अंतर हो जाता है, कभी कभी तो किसी उन्नतशील वंश की जातियाँ इतनी अस्थायी होती हैं और उनमें इतनी उपश्रेणियाँ हो जाती हैं कि यह कहना कठिन हो जाता है कि उस वंश में कुल कितनी जातियाँ हैं। न्यूज़ीलैण्ड के प्राणिवंशों में तो यह बात इतनी अधिक पायी जाती है कि वहाँ यह विश्वास करना ही पड़ता है कि ये सब जातियाँ अलग अलग नहीं हैं प्रत्युत एक जाति ही परिस्थिति से प्रभावित होकर परिवर्तित होती जा रही है।

अमरीका के सागून के वृक्षों के वर्गीकरण के सम्बन्ध में भी वनस्पतिवेत्ताओं का इसी प्रकार का मतभेद हैं, वहां समझही नहीं पड़ता है कि सागून की कितनी जातियां हैं। कहने के लिए तो उनके वर्गीकरण के समूह, उपसमूह और ग्रोप समूह बनाये गये हैं। यह हाल एक नहीं, अनेक जाति के वृक्षों का है। वस्तुतः जो भेद वहां दिखाई पड़ रहे हैं, उनमें

यह कहना कि यह अमुक नयी जाति है, भूल होगी। भेद इतने क्रमबद्ध हैं कि यह मानना पड़ता है कि जाति तो एक ही है पर परिस्थितिसे उनमें परिवर्तन उपस्थित हो गये हैं, धीरे धीरे एक ही जाति दूसरी जाति में विकसित होती जा रही है।

यदि भिन्न भिन्न भौगोलिक प्रदेशों में एक ही पक्षी जाति का निरीक्षण किया जाय तो उनमें थोड़े थोड़े क्रमबद्ध परिवर्तन पाये जायँगे। पास पासके दो देशोंके पक्षियोंमें अधिक अन्तर प्रतीत न होगा और आप उन्हें एक ही जाति का समझेंगे, पर यह थोड़ा थोड़ा परिवर्तन ही इतना अधिक हो जाता है कि यदि दो दूरस्थ प्रदेशों के उन्हीं पक्षियों की जब आप तुलना करने बैठते हैं तो आप उन्हें अधिक भिन्न समझ कर अलग अलग जाति का समझने लगते हैं। इन सब निरीक्षणों के आधार पर नयी जातियों की कल्पना में कुछ अधिक तथ्य नहीं रह जाता है। वह तो अधिकतर निरीक्षक के दृष्टि कोण पर निर्भर है। वह किसी एक खास लक्षण की वजह से किसी को एक जाति का कह दे और चाहें दूसरी जाति का। लिनेयस के आरम्भकवाद को माननेसे इन सब बातों का समाधान नहीं हो सकता है, पर विकासवाद के आधार पर तो ऐसा होना सर्वथा स्वाभाविक है।

यक्ष्मा की साधारण चिकित्सा

(ले० श्री कमला प्रसाद जी, एम.बी.)

(Common Treatment of Tuberculosis)

यक्ष्मा की चिकित्सा का प्रश्न वास्तव में रोगी के शरीर को पुष्ट करने का प्रश्न है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, शरीर एवं कीटाणु की शक्तियों में घोर युद्ध छिड़ा रहता है—इनमें जो प्रबल हुई उन्हीं की विजय होती है। अस्तु, यक्ष्मा की चिकित्सा का एक मात्र लक्ष्य यही होता है कि किसी प्रकार शरीर की शक्तियाँ बढ़ जाँय। इस ध्येय के साधन के लिए जिन उपादानों की आवश्यकता है, वे हैं स्वच्छन्द वायु, पूर्ण-विश्राम, भोजन, आवश्यक व्यायाम इत्यादि। यक्ष्मा चाहे किसी अंगमें क्यों न हुआ हो, इन उपायों का अवलम्बन प्रत्येक रोगी के लिए आवश्यक है।

स्वच्छन्द वायु

वायु प्राणीमात्र का जीवनाधार है। वस्तुतः जीवन का एक क्षण भी इसके बिना नहीं व्यतीत हो सकता। अस्तु, प्राणियों की जीवन रक्षा के लिए प्रकृतिने कुछ ऐसे नियम बना रक्खे हैं जिनसे वायुमण्डलके विषाक्त गैस इत्यादि क्षण २ इससे निकलते जाँय और यह सदैव शुद्ध होता रहे। उदाहरणार्थ हम लोगों के बहिःश्वसन् के समय जो गैस बाहर निकलता है उसमें कर्बनद्विओषिद्‌की प्रचुरता रहती है, किसी वस्तुके जलनेसे भी अधिकतर यही गैस प्रस्तुत होता है। यह गैस हमारे कामका नहीं है, वरन् यह वायुको विषाक्त कर देता है। यदि प्रकृति इसके संशोधनका उपाय न करती तो सम्भव था कि वायुमण्डलका सारा ओषजन (जो सारे वायुमण्डलका केवल पंचमांश है और जो हमारे रक्तको शुद्ध करनेका काम करता है) कबका चुक गया होता और हमारा जीवन असम्भव हो गया होता। किन्तु वनस्पतिक संसारकी सहायतासे ऐसा होने नहीं पाता। वनस्पतियाँ कर्बनद्विओषिद्‌को ग्रहण कर लेती तथा ओषजन प्रस्तुत कर देती हैं। प्रकृतिके इन नियमोंपर ही जीवधारियोंका जीवन निर्भर रहता है। दुःखकी बात यह है कि हम स्वयं कृत्रिम आचरणों द्वारा प्रकृतिको बाधा देते हैं और फलस्वरूप दुःख झेलते हैं।

यक्ष्मारोगियोंको शुद्ध वायुकी आवश्यकता और भी अधिक इस लिए होती है कि साधारण मनुष्य तो अपना निर्वाह किसी अवस्थामें कर ले सकता है किन्तु इनका रुग्न फुस्फुस विपरीत अवस्थाओंमें (शुद्ध वायु नहीं मिलने पर) अधिक-कार्य्य-भारापन्न होकर क्षत-ग्रस्त हो जाता है। स्वच्छ वायुका शरीरपर प्रभाव न केवल उसके रासायनिक

परिवर्त्तनों (जैसे ओषजनकी अधिकता, कर्बन-द्विओषिद्‌की न्यूनता, ओज़ोनकी उपस्थिति इत्यादि परही निर्भर करता है बल्कि अधिक मात्रामें उसके भौतिक कारणों (जैसे तापक्रम, उसमें वर्त्तमान जलकण इत्यादि) पर भी। एक बन्द कमरेकी जिसमें कई व्यक्ति सो रहे हों, वायुका तापक्रम तथा उसमें वर्त्तमान जलकण एवं कर्बन द्विओषिदका मात्रायें बढ़ जाती हैं। ऐसी अवस्थामें मानव शरीर का ताप-क्षय (Loss of heat from the body Surface)—जो एक बहुत आवश्यक क्रिया है—बहुत कम होता है, जिसका बुरा प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है। अस्तु, ऐसे व्यक्तियोंमें जो कई घण्टे बन्द कमरे में रहे हों शिरदर्द, आलस्य, गर्मी, थकावट, जम्हाई लेना इत्यादि लक्षण बहुधा देखे जाते हैं। इसके विपरीत खुली हवामें शरीर एक प्रकार से उत्तेजित (Stimulated) होता रहता है और इसका शांतिदायक प्रभाव पड़ता है, जिससे मस्तिष्क सदैव शांत और स्वस्थ रहता है। ओस्लर ने एक ऐसे व्यक्ति के प्रयोग के विषय में लिखा है जिसने यह सिद्ध कर दिखाया कि यक्ष्मा की चिकित्साके लिए शुद्ध वायु एक नितान्त आवश्यक वस्तु है। इन्होंने कुछ खरहों में यक्ष्माकीटाणु आरोपित किये और उनमेंसे कुछको बन्द, गंदी जगहोंमें रक्खा तथा बाकीको खुली हवामें छोड़ दिया। प्रथम प्रकारके सबके सब खरहे मर गये, किन्तु दूसरे प्रकारके अधिकांश तो रोगमुक्त हो गये और बाकी में अत्यल्प यक्ष्मा-क्षत पाये गये। यही बात मनुष्य रोगियोंके लिएभी सिद्ध है। एक रोगी जो बन्द गर्म कमरेमें अन्य मनुष्योंके साथ रहता है, प्रथम प्रकारके खरहोंकी गति प्राप्त करता हैं, किन्तु वह रोगी जो अपना सारा समय खुली हुई हवामें बिताता है, रोगमुक्त होनेकी आशा कर सकता है।

शुद्ध वायु किस प्रकार मिल सकती है?

रोगी को सदैव एक ऐसे स्थान में रहना चाहिए जहाँ शुद्ध वायुकी स्वच्छन्द गति होती रहे—वह स्थान एक कमरा, बरामदा, राज-प्रासाद वा झोंपड़ी ही क्यों न हो। शुद्ध वायुका अर्थ होगा यथा-सम्भव शुष्क दुर्गन्ध-रहित तथा धूल-विहीन वायु। दिन रात किवाड़ें और खिड़कियां खुली रहें। प्रकाश आता हो किन्तु गर्मी न आती हो। रातके समय वहां किसी प्रकारकी रोशनी न हो, तथा रोगीका मुख एक क्षणके लिए किसी पतले कपड़ेसे भी ढंका हुआ न रहे। ज्वरकी अधिकता, रातको पसीना आना, खांसी इत्यादि लक्षण खुली हवामें रहनेके विरोधी नहीं हैं, प्रत्युत इससे ये लक्षण क्रमशः घटने लगते हैं। आंधी वा वायुके झोंकोंसे बचना बहुत आवश्यक है। दिहातोंमें शुद्ध वायु प्राप्त करना बहुत सरल है। रोगी अपना सारा दिन किसी घने वृक्ष की छायामें बिता दे सकते हैं। और रातमें घरके बाहर बरामदेमें इस प्रकार सो सकते हैं जिसमें उन्हें अच्छी तरह हवा मिलती रहे। अथवा एक ऊंचे स्थान पर लकड़ीके चार खम्भों पर खर पुआलके छप्पर डाल कर चारो ओरसे खुली हुई एक छोटी कोठरी तैयार कर ली जा सकती है। यह झोपड़ी अच्छे स्वास्थ्यालयोंके निवास-स्थानोंसे भी अच्छी होगी। इस अवस्था (मुक्त वायु वाले स्थान) में बहुत दिनों तक विश्राम करने पर यह आशा की जा सकती है कि रोगी रोगमुक्त हो सकेगा।

शुद्ध जल-वायु वाले स्थान।

शहरोंके रहने वाले बहुधा धूलि-धूसरित वातावरणमें निवास करते हैं। शुद्धवायु उन्हें कठिनतासे प्राप्त हो सकती है। फल यह होता है कि वे रोगी जो दिहातोंमें साधारण उपायोंसे रोगमुक्त हो जाते हैं शहरोंमें कभी आरोग्य-लाभ नहीं करते। अस्तु, ऐसे रोगियोंके लिए स्थानपरिवर्त्तनकी आवश्यकता होती है। किन्तु इसके पूर्व कि रोगीको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें केवल जलवायुके परिवर्त्तनके लिए भेजा जाय आवश्यक प्रश्नों पर विचार कर लेना चाहिए। रोगी वास्तवमें घरसे बाहर जाने योग्य है वा नहीं? जिस रोगीके दोनों फुफ्फुसमें बड़े गर्त्त हो गये हों, जिसे निरन्तर ज्वर बना रहता हो,

रात का अधिक पसीना आता हो एवं जिसकी दुर्बलता बहुत बढ़ गई हो, उसे बाहर भेजने की अपेक्षा घर पर ही रखना अधिक लाभदायक होगा चिकित्सकको उचित है कि ऐसी अवस्थामें रोगीके इष्ट मित्रोंकी बातोंमें पड़कर उसे बाहर भेजने की सम्मति न दे दें। चिकित्सक 'लोगोंकी नजरमें' अपने उत्तरदायित्वसे बच जायँगे पर वास्तवमें रोगीकी आसन्न मृत्यु के कारण होंगे। रोगीकी आर्थिक अवस्था तथा अच्छे चिकित्सकके वर्त्तमान रहने के प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है स्थान कोई भी क्यों न हो, यदि वहाँकी वायुमें ठंढापन हो, शुष्कता × हो अथच वह धूल एवं धूयेंसे रहित हो तो वह स्थान रोगीके लिए उपयुक्त होगा।

पार्वतीय प्रदेशोंकी वायुकी और भी विशेषतायें होती हैं। वायुमण्डल कुछ क्षीण (Rarefied) रहता है, जिसका प्रभाव रक्तज अवयवों पर बहुत अच्छा पड़ता है। अस्तु, पहाड़ोंमें कुछ ही दिन रहने पर रक्त के लाल कण तथा रक्ताणु (Haemoglobin and red blood corpuscles) बढ़ जाते हैं। रक्त का यह प्रादुर्भाव यक्ष्मा रोगियों के लिए वास्तव में लाभकारी होता है। विपक्ष में ६००० फीटसे अधिककी ऊँचाई पर श्वास लेनेमें कठिनता होती है जिसका फुफ्फुस पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

इन सभी बातों पर ध्यान दे कर हमारे देशमें वही स्थान अच्छा समझा जायगा जो सागर तलसे लग भग ५००० फीट ऊंचा हो जहां मच्छर एवं मक्खियोंकी अधिकता न हो, जहां वायु शुष्क एवं स्वच्छ हो और जहां पृथ्वी तलसे जल सुगमतासे निकल जाया करे।

फुफ्फुस-यक्ष्माकी भिन्न २ अवस्थाओंके लिए भिन्न २ प्रकारके जलवायु वाले स्थान उपयोगी बताये जाते हैं, पर सच्ची बात तो यह है कि यदि रोग फुफ्फुस-शिखर तक ही परिमित हो, यदि रोगीका अपना एवं पारिवारिक इतिहास निर्दोष हो, यदि वह अपना अधिकांश समय खुली हवामें बिता सके, यदि उसके पूर्ण विश्राम एवं सुपाच्य भोजनका प्रबन्ध हो, तो वह किसी प्रकृति के जलवायु वाले स्थान में क्यों न रहे, यह आशा की जाती है कि यक्ष्माके साथ संग्राममें वह अवश्य विजयी होगा।

× यदि वायुमें जलकण अधिक हो इसका तापक्रम भी बढ़ा हुआ हो तो शरीरसे पसीना आने लगता है, और यदि इसका तापक्रम कम हुआ तो ठंढ लग जाने का डर रहता है। केवल इतना ही नहीं जलसिक्तताप (Moist heat) कीटाणु वृद्धिका सहायक होता है।

† इस प्रकार की शुद्ध वायु सूर्य की पराकासनी (Ultra Violet) किरणोंको रुकावट नहीं डालती। ये किरणें भूख बढ़ाती हैं, नींद लाती हैं, आलस्य एवं थकावट मिटाती हैं एवं फुफ्फुसेतर यक्ष्माकी चिकित्सामें बड़े महत्वकी समझी जाती हैं (देखिये सूर्य चिकित्सा)

प्रकाश लेखन

[ले० श्री वा. वी. भागवत]

गुप्त चित्र बनने में अन्य बातोंका असर :—

प्रकाश लेखनमें प्रकाशका परिमाण कितना हुआ यह अलग हुये या विश्लेषण पाये हुये रजतम्के परिमाणसे मालूम होता है। किन्तु यह परिमाण सीधी तरहसे हम नहीं निकाल सकते। इसके लिये प्रकाशशास्त्रका आश्रय लिया जाता है।

गिरनेवाले प्रकाश की तीव्रता और पटलीके पार आनेवाले प्रकाश की तीव्रताके परस्पर सम्बन्धको अपारदर्शकता कहते हैं। और इस अपारदर्शकताके लघुरिक्थफलको काला पड़नेका परिमाण कहते हैं। इस अपारदर्शकतासे या पटलीके काले पड़नेके परिमाणसे कितने रजतलवणका विश्लेषण हुआ यह जान सकते हैं। किन्तु दो पटलियोंके काले पड़नेकी तुलना करते समय दोनोंके रजतअणु की रचना तथा आकार एकही होना चाहिये। यह कालापन बहुतसी बातों पर निर्भर है। यह प्रकाशके परिणाम पर यानी तीव्रता, लहर लंबाई, प्रकाशनका वक्त, तापक्रम तथा पटलीकी उत्तेजनता पर अवलम्बित है। यह प्रकाश पटलीके उभारने पर, तथा उभारनेमें लगने वाले वक्त पर भी निर्भर है।

प्रकाशके परिमाण का परिणाम

उभारने पर पटलीका कालापन तीव्रता और प्रकाशनके वक्तके गुणनफलके समानुपाती नहीं होता। यानी यह कालापन पटली पर गिरेहुए प्रकाशके परिमाणसे समानुपाती सम्बन्ध नहीं रखता। यदि कालेपन और प्रकाशके परिमाण की सम्बन्ध-दर्शक रेखा खींची जाय तो उससे बहुत सारी बातें मालूम होती हैं। इस प्रक्रियामें रोधनकाल भी रहता है। जब तक प्रकाशका परिमाण कुछ विशिष्ट परिमाणसे अधिक नहीं होता प्रकाशका प्रकाशलेखन पटली पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। इसके बाद अल्प प्रकाशनका काल रहता है। इतने प्रकाशसे पटली काली तो पड़ती है, लेकिन गुप्त चित्र ठीक तरहसे बननेके लिये यह काफी नहीं होता। इसमें प्रकाशके परिमाणके साथ कालापन बढ़ता है। इसके बाद साधारण प्रकाशनका काल होता है। इतने प्रकाशमें गुप्तचित्र निकल सकता है और कालापन प्रकाश परिमाणके समानुपाती होता है। किन्तु प्रकाशका परिमाण इससे बढ़जाय तो 'अधिकप्रकाशन' होने से अब उलटाचित्र नहीं निकलता किन्तु सीधा निकलता है। इस अधिक प्रकाशनसे कालापन प्रकाशके साथ कुछ देर तक बढ़कर बादमें कम होने लगता है। चित्रका यह विपर्यय जब सूर्यका चित्र खींचा जाता है तब दिखाई पड़ता है। साधारण प्रकाशलेखन पटलीको यदि १००० मोमबत्तीके प्रकाशसे प्रकाशित किया जाय तो यह विपर्यय होता है किन्तु पटलीको सेंधक नोषितसे उत्तेजित करनेसे इस विपर्ययका विरोध किया जाता है। इसीलिये अब विपर्यय होनेके वास्ते अधिक प्रकाश की जरूरत है। रागिकाम्ल, अरुणिन, नोषिकाम्ल आदि ओषदकारक पदार्थोंसे भी विपर्यय रोक सकते हैं।

चित्र विपर्यय क्यों होता है यह जानने की कोशिशकी गयी है। शेफर और डी० अरेनस्के विचार से रजत केन्द्रोंका अधःक्षेपण हो जानेसे यह होता है। जब प्रकाशका परिमाण बढ़ता है तब विश्लेषित रजतका परिमाण भी बढ़ता है। इस हालतमें इनसे केन्द्रोंका कार्य होने की सम्भावना कम होती है। जब रजत अणु की संख्या बढ़ती है तब वे पास आकर मिलते हैं और अणुका आकार बढ़जानेसे उनका अधःक्षेपण होता है। इस अधःक्षेपणके कारण जहां पर चित्र उभारा जाता है वे केन्द्र ही नष्ट होते हैं और उलटा चित्र नहीं खींचा जाता। इस अधःक्षेपणके विचारसे ओषदकारक पदार्थोंसे विपर्यय क्यों रुकता है यह जान सकते हैं। क्योंकि रजत अणु उनमें घुल जाने से अणु की संख्या कम होती और वे परस्पर मिलकर बढ़ नहीं सकते या अधःक्षेपण नहीं पा सकते।

यदि प्रकाश की तीव्रता कुछ विशिष्ट परिमाण से कम हो तो प्रकाश परिणाम डागुरी पटली पर कम होता है। ऐसा फीजो और फोकल्ट ने

सन १७७४ में देखा। यही बात मायथे ने भी देखी। इस से अवनी ने यह निश्चित किया कि यदि प्रकाश का परिमाण एक ही हो तो निम्न बातें सच होती हैं। (१) कम तीव्रता के प्रकाश से ज्यादा देर प्रकाशित करने से उतना परिणाम नहीं होता जितना अधिक तीव्रता के प्रकाश से थोड़ी देर प्रकाशित करने से होता है (२) यदि तीव्रता वही हो और पटली को थोड़ी थोड़ी देर के बादसे कुछ वक्त तक प्रकाशित किया जाय तो उतनी ही तीव्रता से उतनी ही देर एक साथ प्रकाशित करने से अधिक परिणाम होता है।

वीलार्ड, क्लायडेन और हर्शेल परिणाम

रौञ्जन किरणों से जो चित्र बनता है वह अधिक देर तक प्रकाशित करने से कुछ नष्ट हो जाता है। इसी को वीलार्ड परिणाम कहते हैं। क्लायडेन परिणाम में, विद्यत तड़ित से जो गुप्त चित्र खींचा जाता है वह बाद में सफेद प्रकाश से प्रकाशित करने से बहुत कम हो जाता है। यदि प्रकाश लेखन पटली में पांशुज अरुणिद अधिक हो तो उसको पहिले सफेद प्रकाश से प्रकाशित करने के बाद लाल प्रकाश से प्रकाशित करने से बना हुआ गुप्त चित्र कम होता है। यदि यही प्रक्रियाएं उलटी तरह से की जायं, जेसे सफेद प्रकाश से गुप्त चित्र खींच कर बाद में रौञ्जन किरणों से या विद्यत तड़ित से प्रकाशित किया जाय तो चित्र पर कुछ असर नहीं होता। एरेन्स का कहना यह है कि, वीलार्ड और क्लायडेन परिणाम का कारण वही है जिस कारण से चित्र का विपर्यय होता है। रौञ्जन किरणोंसे सूक्ष्म रजताणु पाये जाते हैं और वे केंद्र का कार्य करते हैं जिसके कारण गुप्त चित्र बनता है। किन्तु बाद में अन्य प्रकाश से प्रकाशित करने से यह सूक्ष्माणु बढ़ते हैं और फिर केन्द्र का कार्य नहीं करते। इसी लिये गुप्तचित्र कुछ नष्ट होता है। हर्शेल परिणाम का कारण इससे कुछ अन्य है इसमें संदेह नहीं।

प्रकाश लेखन पर ताप का परिणामः—गुप्त चित्र बनने में ताप का बहुत कम असर होता है। डेवारने —२५२° ताप-क्रम पर फोटो खींचा और इसको उभारा। इस वक्त पटली की उत्तेजनता पहिले से $\frac{1}{13}$ रही। पैडोआ और मरवनी ने इसका ताप गुणक १.०५ पाया और उन्होंने यह देखा कि यह लहर-लंबाई पर निर्भर नहीं है। डेलेज्की और प्लेटनी-काफका भी यही अनुभव है। जब रजत नीब्रूएतकागज को प्रकाशित किया जाता है तब ताप का असर जरूर होता है और तापगुणक १.०७ पराकासनी किरणों के लिये पाया गया है। नीली किरणों के वास्ते तापगुणक १.१९ है। उभारने की गति पर भी ताप का असर होता है।

प्रकाश लेखन पटली की उत्तेजनताः—यह उत्तेजनता रजतलवण के अणुके आकार पर निर्भर है। पायस जिनमें अणुका आकार सूक्ष्म रहता है कम उत्तेजन शील रहते हैं। लिपमेन रंगीन प्रकाश लेखन में जो पटलियाँ कार्य में लायी जाती हैं उनके अणु ·०१ से ·०३ तक रहते हैं और वे ३०००० बार कम उत्तेजनशील होते हैं। साधारण प्रकाश लेखन पटली के अणु का आकार २ से ३अ तक रहता है और परिपक्वता पद्धति में उत्तेजनता तथा अणु का आकार बढ़ता है। पटली की उत्तेजनशीलता और अणु के आकार में जो यह संबंध बतलाया गया है शायद सच न हो। कोख और प्रेल तथा स्वेडबर्ग ने तो यह देखा कि उत्तेजन शीलता और अणु के आकार में कुछ संबंध नहीं। उभारने वाले केन्द्रों की संख्या अणु के पृष्ठ भाग के साथ बढ़ती है और यदि पृष्ठ भाग की इकाई की उत्तेजनशीलता बड़े या छोटे अणु के लिये एक ही है।

रासायनिक उत्तेजकः—जिलेटिन अरुणिद पटली की उत्तेजकता रजतनैलिद, रजतनोषेत, पांशुज-नोषेत, टैनिन आदि पदार्थों से बढ़ती है। यह सब पदार्थ अरुणिन का शोषण कर सकते हैं। यह उत्तेजक किस तरह से कार्य करते हैं यह पहिले ही

कहा गया है। उत्तेजक पदार्थों का परिणाम पटली के काले पड़ने से ही दिखाई देता है और गुप्त चित्र बनने में उनका कुछ संबंध नहीं होता है ऐसा लुपोक्रेमर का कहना है। काला पड़ना और गुप्त चित्र बनना इन दोनों की उत्तेजकता एक नहीं रहती। जिस पटली में सूक्ष्माणु है वह जल्द काली पड़ती है, लेकिन जिसमें जल्द गुप्त चित्र बनता है वह इतनी जल्द काली नहीं होती। फिर रजतनैलिद् कागज जल्द काला पड़ता है किन्तु गुप्त चित्र इतना जल्द नहीं खींचा जाता। जिलेटिन के अस्तित्व से उत्तेजनता पर जरूर प्रभाव पड़ता है और जिलेटिन अरुणिन् ग्राहक का कार्य करता है। रजतअरुणिद् जिलेटिन का शोषण करता है और पटली की उत्तेजकता इस शोषण के परिमाण पर निर्भर है। ऐसा कुछ शास्त्रज्ञों का विचार है।

प्रकाश उत्तेजक:—साधारण प्रकाश लेखन पटली हर एक रंग के प्रकाश से उत्तेजित नहीं होती। हरे रंग के प्रकाश से सब से अधिक उत्तेजित होती है और यह उत्तेजना परकासनी किरणोंकी तरफ भी दिखाई देती है। किन्तु हरे प्रकाश से लंबी लहरों का इन पटलियों पर कुछ असर नहीं होता। पीले, लाल आदि रंगों से गुप्त चित्र नहीं खीचे जाते। प्रकाश उत्तेजक पदार्थों की सहायता से यह भेद दूर किया जा सकता है। १८७३ में वोगलने यह बतलाया कि यदि कोलोडियन और रजतअरुणिद का पायस लिया जाय और उसमें कुछ रंग मिलाया जाय तो इस रंग से शोषण पानेवाले प्रकाशका पायसपर असर पड़ता है। इस संशोधनकी सहायतासे पैनक्रोमेटिक और आर्थोक्रोमेटिक पटलियाँ बनायी गयीं। सामान्यतः जिस प्रकाशका शोषण अधिक होता है उससे उत्तेजिता अधिक होती है। किन्तु सब रंग प्रकाशोत्तेजक नहीं रहते। रङ्गीन पदार्थ उत्तेजक होने के लिये उनका अरुणिन द्वारा शोषण होना आवश्यक है और उनको खुद प्रकाश रासायनिक होना चाहिये। कुछ प्रकाशोत्तेजक नीचे दिये हैं:—

हरे नीले रंगके वास्ते:—क्रिस्टनीलिन, चरपरिदिन पीला, यूरानिन।

पीले हरे रंगके वास्ते:—इओसिन, ऊषिन, कुनोलिन लाल।

नारङ्गी रंगकेवास्ते:—श्यामिन, दारीलकासनी।

नारंगी लाल रंगके वास्ते:—नायग्रोसिन, पिनैसायनोल।

लाल तथा परालाल किरणोंके वास्ते:—द्विश्यामिन, नवश्यामिन।

इन सब पदार्थोंकी उपयोगिता एकही नहीं है। हरे रंगका परिणाम उनकी दृश्यताके साथ होनेके लिये पटली हरे और पीले रंगके प्रकाशसे अधिक उत्तेजित होनी चाहिये, क्योंकि आँख उन्हीं रंगोंको जल्द पहचानती है। इस वास्ते इओसिन या ऊषिन जिनका अधिकतर शोषण पीले और हरे विभागमें है, बहुत उपयुक्त है।

प्रकाश-उत्तेजक पदार्थों से पटली की उत्तेजकता किस तरहसे बढ़ती है यह ठीक कहना कठिन है। प्रकाश उत्तेजक प्रकाशसे उत्तेजन पाता है और बादमें पटली परके अन्य पदार्थों के साथ रासायनिक प्रक्रिया होकर वह फिर अलग होजाता है। वायगर्टके विचारसे रंगीन पदार्थके रजत अरुणिदसे मिल जानेसे रासायनिक प्रक्रिया होती है, किन्तु रङ्गीन पदार्थ फिर अलग नहीं होता। रजत विश्लेषित होकर प्रतिमा बननेके लिये रंगीन पदार्थ इतना थोड़ा लगता है कि कुछ अंश नष्ट हो गया या नहीं, यह जानना कठिन है। शायद उत्तेजकपदार्थकी प्रक्रिय रजत अरुणिदके साथ नहीं होती। बहुत शास्त्रज्ञोंका यह विचार है कि, उत्तेजकोंसे जिलेटिनका स्वरूप बदल कर उसकी घुलनशीलता नष्ट होती है। यह बात केवल प्रकाशसे भी होती है, किन्तु उत्तेजकों के साथ यह परिवर्तन तुरन्त होकर जिलेटिनकी घुलनशीलता कम होती है।

रजतसे उत्तेजनशक्ति किस तरहसे बढ़ती है इस बारेमें वायगर्टने जो कुछ कहा वह पहिले ही कह चुके हैं। एडर के विचारसे रजत

पैनक्रोमेटिक उत्तेजक है। यदि जिलेटिन अरुणिद पटलीको पहिले सफेद प्रकाशसे प्रकाशित किया जाय तो बादमें उसपर लाल या पीले रंगकी किरणोंका असर होता है, यह बात इस विचारसे स्पष्ट है कि रजत पैनक्रोमेटिक उत्तेजक है। प्रकाश से पहिले प्रकाशित करनेसे रजत अरुणिदका विश्लेषण होकर रजत अणु अलग होते हैं और इनका शोषण होकर अब पटली पैनक्रोमेटिक बनती है। परिपक्वतासे उत्तेजनशीलता बढ़ती है इसका कारण भी रजत अरुणिदका अवकरण और रजत का शोषण ही है ऐसा ग्वेलहार्डका कहना है। यह अवकरण साधारणतापक्रमपर भी होता है ऐसा एबेगका कहना है और इसी लिये पटलीको अँधेरे में रखनेसे भी कुछ दिनोंके बाद उनकी उत्तेजिता बढ़ती है। इस उत्तेजनता को आत्मउत्तेजनता कहते हैं।

प्रकाश निरुत्तेजक :—साधारण प्रकाश-लेखन पटली ५०००से २२०० अँ तकके प्रकाशसे उत्तेजित होती है। कोडाक पराकासनी पटलीपर ११००० अँ किरणों से भी चित्र खींचा जा सकता है।

यदि पटली को ९००० अँ तकके प्रकाश से प्रकाशित करना हो तो वुलफ्राम दीप या पाइन्टोलिट दीप काफी है। १०००० अँ के ऊपर की किरणों के वास्ते अति तीव्र चाप की जरूरत है।

जब पटली की प्रकाशोत्तेजकता बढ़ती है और वह क़रीब क़रीब पॅन्क्रोमेटिक होती है तो उसको उभारनेके लिए लगने वाली अँधेरी खोली बनाने में कठिनाई प्राप्त होती है। लालप्रकाश जिससे साधारण उत्तेजिता की प्रकाशलेखन-पटली उभार सकते हैं वह आर्थोक्रोमेटिक के लिए अनुपयुक्त है तथा पैन्क्रोमेटिक के लिए बिलकुल काम का नहीं। यदि हरी या लाल रंग की तीव्रता बहुत कम की जाय तबभी उसका उन पटलियों पर परिणाम होता है। इसीलिए इनको केवल अंधेरे में ही उभारना उपयुक्त है। लुपोक्रेसर ने इन पटलियों को उभारने की अन्य तरकीब निकाली है। इस वास्ते फिनोसेफ्रेनिन रंग को कार्य में लाते हैं। यदि पटली प्रकाशित करने के बाद इस रंगमें डुबायी जाय तो गुप्त चित्र तो नष्ट नहीं होता, किन्तु पटली की उत्तेजिता बहुत कम हो जाती है, और इसीलिए उसको फिर से प्रकाश में अब उभार सकते हैं। यह निरुत्तेजक भिन्न भिन्न रजत लवणों के लिए भिन्न भिन्न हैं। ऊषिन, पिनासायनोल और पिनाक्रोम से रजत नैलिद पटली निरुत्तेजित होती है, लेकिन इन्हीं रंगों से रजत हरिद पटली उत्तेजित होती है, तथा रजत श्यामिद पायस भी होते हैं। निरुत्तेजक और इसकी रचना का विचार करके लुमिरी और सियेवेट्ज़ ने यह बतलाया कि निरुत्तेजक रजत लवण के साथ या जिलेटिन के साथ स्थिर संयोगता नहीं पाता। यदि पटली को फिनोसेफ्रेनिन घोल में डुबाया जाय तो उसकी उत्तेजति कम हो जाती है। अब पटली को पानी से अच्छी तरह से धो डालने से वह फिर उतनी ही उत्तेजित हो जाती है। अतः निरुत्तेजक के पृष्ठ भाग पर शोषण होता है यह स्पष्ट है।

पराकासनी प्रकाश लेखन

प्रकाशलेखन पटली पर २२०० अँ के नीचे की किरणों का प्रभाव नहीं पड़ता यानी इन छोटी लहरों से गुप्त चित्र नहीं खींचा जा सकता। इसका कारण यह है कि पटली पर रजत लवण के साथ जिलेटिन होने से इन छोटी किरणों का उसके द्वारा शोषण होता है। यदि जिलेटिन का प्रभाव घटा कर बहुत कम किया जाय तो पटली १२०० से २२०० अँ तक की लहरों से उत्तेजित होती है, ऐसा शुमनने बतलाया। इसी शुमन पटली की सहायता से शून्य किरण चित्र शास्त्रमें ५० से २२०० अँ तक की किरणों का चित्र खींचा जाता है। साधारण पटलियों का जिलेटिन गन्धकाम्ल की सहायता से कम कर सकते हैं और इस तरह से यह पटली पराकासनी किरणों से भी उत्तेजित हो सकती है।

पटली को छोटी पराकासनी किरणों से उत्तेजित करने की डुक्लाक्स और जीनटेट ने एक बिलकुल अजब तरकीब निकाली है। यदि पटली पर चमकदार

खनिज तेल-मोबिल तेल-फैलाया जाय तो छोटी लहरें उसपर गिरने के बाद चमक उठती हैं और अब इस चमक की किरणों की लम्बाई पहिले किरणों से अधिक होने से पटली उत्तेजित होती है और पराकासनी किरणों का चित्र पाया जाता है। मद्य या ज्वलक में चमकदार तेल का घोल बनाकर उसको पटली पर फैलाते हैं और बाद में पटली को प्रकाशित करते हैं। प्रकाशनके बाद पटलीको मद्य या ज्वलकसे धोकर सब तेल अलग करतेहैं। बादमें पटलीको उभारते हैं। खनिज तेलसे उत्तेजित करके रोजी और वरनार्डिनी ने कमगतिके ऋणाणुकाभी चित्र खींचा है। फिनोसे-फ्रैनिन तथा अन्य रंगोंकी सहायतासे लुपोक्रेमरने पटली को प्रकाशित करके बादमें उसकी उत्तेजनशीलता इतनी कमकी कि, पटलीको अब प्रकाशमेंभी उभारा जा सके। फिनोसेफ्रैनिनसे प्रकाशकी क्रिया नष्ट नहीं होती किन्तु उसकी दिशा बदलती है। निरुत्तेजकका परिणाम किस तरहसे होता है यह कहना कठिन है लेकिन वह उत्तेजकों सरीखाही होता होगा ऐसा कहना गलत नहीं होगा। उत्तेजकोंसे रजतलवणोंसे रजत पाते हैं। निरुत्तेजक से रजत अरुणिन्से मिलकर फिर रजत अरुणिद् बनता है। पांशुज अरुणिद्के अस्तित्वमें फिनोसे-फ्रैनिनसे गुप्त चित्र जल्द नष्ट होता है। लुपो-क्रेमरके विचारसे पटलीको उत्तेजकता केंद्रोंकी संख्या पर निर्भर है।

प्रकाशोत्तेजक कागज

रजतलवणोंके कागजः—यह दो प्रकार के हैं।
(१) कागज जो प्रकाशनसे एकदम काले पड़ते हैं।
(२) कागज जिनको उभारनेकी जरूरत है।

(१) चित्र अच्छा आनेके लिये रजतलवण कागज पर चिपकाया नहीं जाता किन्तु कार्बनिक पदार्थोंसे मिला करके चिपकाते हैं। पहिले अण्डसित को कार्यमें लाते थे, लेकिन बादमें कोलोडियनने उसकी जगह ली। आजकल जिलेटिन और रजत-हरिदके कागज ठीक समझे जाते हैं। ऐसे पायस बनानेके भिन्न भिन्न सूत्र हैं और उनमें रजत नोषेत या, रजत नीबूएत अधिकांशमें रखते हैं, जिससे कागज तुरन्त काला पड़ता है। कभीकभी रिसार्सीनसे कागजको उत्तेजित करते हैं। बादमें गन्धकी गन्धेत-से उसको स्थिर करके, स्वर्ण या परर्रौप्य हरिदसे उसको रंगाते हैं।

(२) इस प्रकार के कागजको प्रकाशित करने में कमवक्त काफी होता है। इसको बनानेके लिये वही पायस कागज पर फैलाया जाता है जो प्रकाश लेखन पटली बनानेके वक्त काममें लाते हैं। लेकिन यह उससे कम उत्तेजित रहता है। थोड़ी देर प्रका-शित करके इसको पटलीकी तरहही उभारते हैं। मांजूफलिकाम्लको पायसमें रख कर भी कागज बनाते हैं। लेकिन इस समय माजूफलिकाम्लकी अवकरणशक्ति गन्धकाम्लसे घटाई जाती है। ऐसे कागजको प्रकाशित करनेके बाद कोरे पानीमें रखनेसे चित्र उभारा जाता है। इस कागजका स्थिर करना तथा रंगाना पहिले कागज सरीखा ही किया जाता है।

पररौप्यलवणोंके कागज़

पररौप्यमलवण कुछ अंशोंमें प्रकाश रासाय-निक रहते हैं। यदि कार्बनिक अम्लोंके लोहिक लवण उनके साथ मिलाये जाँय तो पररौप्यलवणों का अवकरण होकर पररौप्यम् अलग होता है। यह कागज पांशुजहरपररौप्येत और लोहिक काष्ठेत को मिला कर बनाते हैं। लोहिक लवणका प्रकाशसे लोहसलवणमें अवकरण होता है और बादमें इस लोहस लवणसे पररौप्य लवण का अव-करण होता है। यह प्रक्रिया निम्न तरहसे होती है। (१) $\text{लो}_2(\text{क}_2\ \text{ओ}_4)_3 \rightarrow 2\ \text{लो}\ \text{क}_2\ \text{ओ}_4 + 2\ \text{क}\ \text{ओ}_2$।

(२) $6\ \text{लो}\ \text{क}_2\ \text{ओ}_4 + 3\ \text{पां}_2\ \text{प}\ \text{ह}_4 \rightarrow 2\ \text{लो}_2(\text{क}_2\ \text{ओ}_4)_3 + 2\ \text{लो}\ \text{ह}_3 + 6\ \text{पांह} + 3\ \text{प}$।

यदि कागज बिलकुल सूखा हो तो दूसरी प्रक्रिया बहुत कठिनाईसे होती है। कागजको पांशुजकाष्ठेत घोलमें डुबाकर चित्रको उभारते हैं। इस तरहसे पांशुजकाष्ठेत लोहस काष्ठेत के साथ सङ्कीर्ण यौगिक

बनाकर घुल जाता है। प्रकाशलेखन कागज बनाते वक्त भी पांशुज काष्ठेत उसी में मिला सकते हैं। ऐसी हालतमें कागज़ को केवल पानीमें डुबोनेसे ही चित्र उभरता है।

लोह लवणोंके कागज

यह कागज सादे प्रकाश लेखनके वास्ते कार्यमें नहीं लाते किन्तु संगमरमरकी मूर्तिओंके चित्र खींचते वक्त या औद्योगिक डिजाइन बनानेके वक्त इनका उपयोग होता है।

श्यामजनके कागज बनानेमें पांशुज लोहिक श्यामिद, लोहिक काष्ठेत और लोहिक इम्लेत आवश्यक हैं। प्रकाशनसे अवकरण होकर जो लोहस लवण बनता है वह लोहिक श्यामिदसे मिल कर टर्नबुल नीलका अवक्षेपण करता है। चित्रको पानीसे धोकर स्थिरकरते हैं। इस तरहसे लोहिक लोहों श्यामिद तथा अन्य घुलनशील लवण घुल जाते हैं।

लोहस लवणोंके साथ जिलेटिन या गोंद मिलाने से उनके पार प्रकाश कुछ जा नहीं सकता। इस बात का उपयोग सफेद कागजपर नीले चिह्न बनानेमें किया गया है। कागज पर पहिले अरबिक गोंद और लोहिक इम्लेत फैलाकर उस पर जिस आकृतिका चित्र कागज पर चाहते हैं उसको रख कर प्रकाशित करते हैं। बादमें कागजको पांशुज लोह श्यामिद घोलमें रखते हैं जिससे लोहिकलवणके साथ प्रशियन नील बनता है, प्रकाशसे कागजका जो भाग प्रकाशित हुआ वहाँका लोहिक लवण अवकरण पानेसे लोहस बनता है और यह अरेबिक गोंदसे मिल जानेसे, पांशुज लोह श्यामिदमें डुबानेसे भी कुछ नहीं होता, क्योंकि पांशुज श्यामिद लोहस लवण से अरेबिक गोंदसे मिल जानेसे नहीं मिल सकता। जिस भागका प्रकाशन नहीं हुआ वहाँ अवकरण नहीं होता और वह पांशुज श्यामिदके साथ नीला रंग पैदा करता है। बादमें कागजको गन्धकाम्लसे धोनेसे सब लवण घुलकर नीली आकृति बनती है।

दूसरे प्रकारसे कासनी रंगके चिह्न सफेद कागज पर बना सकते हैं। जब माजूफलिकाम्ल लोहिक लवणोंसे मिलता है कासनी रंग पैदा होता है। इसी संशोधन पर यह पद्धति निकाली गई है। कागज पर जिलेटिन, लोहिक नीबूएत या इम्लेत और माजूफलिकाम्ल अवक्षेपण करते हैं। बादमें कागज पर आकृति रखकर प्रकाशित किया जाता है। फिर पानीसे धोनेसे जिस भागका प्रकाश नहीं हुआ वह काला दीखने लगता है।

कर्बनके कागज़

यदि जिलेटिन और पांशुज द्विरागेतके साथ साथ प्रकाशित किया जाय तो वह गरम पानीमें नहीं घुलता। इसी अनुभवसे कर्बन कागज पहिले पायटेविनने बनाया। प्रकाशसे द्विरागेतका अवकरण होकर जो क्षार अलग होता है वह द्विरागेतसे मिल कर एक रागेत बनता है। यह कागज बनानेके लिये जिलेटिन, द्विरागेत और चायनाकी काली स्याई की जरूरत है। इनका मिश्रण बनाकर वह पारदर्शक कागज पर फैलाते हैं। प्रकाशसे एकदम दृश्याकृति नहीं बनती किन्तु गरम पानीसे धोनेसे दिखाई पड़ती है। इस पानी में अप्रकाशित जिलेटिन घुल जाता है।

रंगीन प्रकाश लेखन

प्रकाश लेखनके दिनोंसे रंगीन प्रकाश लेखनकी कोशिशकी जा रही थी। रंगीन प्रकाशलेखन फारबेनलेहरेके वक्तसे याने १८१० से शुरू हुआ। यदि त्रिपार्श्वसे किरण चित्रको पैदा किया जाय और उसको नम रजतहरिद पर गिरने दिया जाय तो १५ मिनिट प्रकाशित करनेके बाद निम्न बातें दिखाई देंगी। कासनी रंगसे रजतहरिद कभी कभी अधिक कासनी तो कभी कभी अधिक नीला दिखाई देता है और वह रंगीनता किरणचित्रके कासनी भागके नीचे यानी पराकासनी भागमें भी कुछ लम्बाई तक फैलती है। नीले रंगसे रजत हरिद नीला होता है और वह नीलापन हरे विभाग में कम होता जाता है। पीले रंगसे कुछ परिणाम नहीं दिखाई देता, किन्तु जब परिणाम होता है तब

रजतहरिद कुछ पीला हो जाता है। लाल रंगकी किरणोंसे या उसके ऊपरकी किरणोंसे रजत हरिद लाल या गुलाबके रंगकी तरह होता है। किरण-चित्रका चित्र कासनीके नीचे अर्थात् पराकासनी विभागमें भी दिखाई देता है तथा लाल रंगके ऊपर अर्थात् परालाल विभागमें भी होता है। पराकासनी विभागमेंके रजतहरिद का रंग कासनी रहता है और जैसे हम कासनी विभागसे दूर जाते हैं कम होता जाता है। वैसीही हालत परालाल विभागकी है। इन किरणोंसे प्रकाशित हुआ रजतहरिद लाल होता है और जैसे लाल विभागसे परालालमें दूर दूर जाते हैं यह लाल होना कम कम होता हुआ अन्त में नष्ट हो जाता है।

रंगीन प्रकाशलेखनका श्रेय फ्रैंच भौतिक शास्त्रज्ञ प्रोगेब्रिल लिपमेनको दिया जाता है। सन् १७९१ में उसने यह कहा कि मैंने केमेराकी सहायतासे सूर्य के किरणचित्रका रंगीन चित्र खींचा है और उसको दुबारा खींच सकता हूँ किन्तु इसी क्षेत्र में कार्य करने वालेअन्य भी शास्त्रज्ञ थे और आजकी रंगीन प्रकाश-लेखनकी पद्धति लिपमेनकी रंगीन प्रकाशलेखन पद्धति की सहायतासे बनायी हुई नहीं है, यह बात ध्यानमें रखना अत्यावश्यक है।

सीबीकने रजतहरिदको पहिले प्रकाशित करके, बादमें उसको सूर्य किरण चित्रसे प्रकाशित करके सूर्य किरण चित्रकी रंगीन प्रतिमा खींचनेकी कोशिशकी थी यह हम पहिलेही कह चुके हैं। रंगीन प्रकाश लेखनके लिये नीप्से, डो सेंट विक्टर, बेक्वे-रल, पाइटीवेन, जन्कर, क्रोन आदिने इसी विचारकी सहायतासे कार्य किया, किन्तु यद्यपि रंगीन प्रतिमा खींच सके तो भी उसको दुबारा खींचना बहुत ही कठिन या असम्भव मालूम हुआ। यदि सेल्युलाइड कागज पर किरण चित्र खींचा जाय तो नीला और लाल रंग तो ठीक तरह से आता है किन्तु अन्य रंगोंका यानी नारंगी, हरा, कासनी आदि रंगोंका आना ठीक तरह से नहीं होता और सफेद काला पड़ता है और काला सफेद दिखाई देता है और स्थिर करने के लिये (Fixing) कोई भी ठीक द्रव्य उपलब्ध नहीं है।

ऊपर दिये हुये रंगीन प्रकाश लेखनका स्पष्टीकरण वायनर ने किया है। यह स्पष्टीकरण, शोषित किरणों से रासायनिक प्रक्रिया होती है इन विचारों पर निर्भर है। रजत हरिदको पहिले प्रकाशित करनेसे उपलवण तैयार होते हैं और हर एक उपलवणका रंग भिन्न भिन्न रहता है। यदि अब इन उपलवणों पर एक रंगीन प्रकाश जैसा लाल प्रकाश गिरने दिया जाय तो जिन लवणोंका रंग यही होगा उनसे इसका परिवर्तन होगा तथा अन्य लवण द्वारा इसका शोषण होगा। इस तरहसे जिन अणुओंका रंग लाल था वे अकेले रह जायेंगे और अन्य अणु पर रासायनिक प्रक्रिया होनेसे उनका रंग नष्ट होजायगा। इस स्पष्टी किरण में कुछ थोड़ी सत्यता है इसमें सन्देह नहीं किन्तु यह बिल्कुल सत्यही नहीं है। एक रंगीन प्रकाशका कार्य केवल नष्टात्मकही नहीं हो सकता और रंगोंकी अदल बदल एक संकीर्ण प्रक्रिया है। रंगोंका रहना या नष्ट होना यह बात परावर्तन पायी हुई किरणोंसे ही नहीं होती किन्तु पारदर्शक प्रकाशसे भी होती है यह वायगर्टने देखा है। इसलिये सीबीकनें रंगों मेंजो कुछ अदल बदल होते हुये देखा उनको रंगीन प्रकाश लेखनके लिये कार्यमें नहीं ला सकते, क्योंकि वह बात अन्य जातिकी प्रक्रिया पर निर्भर है।

लिपमेनकी पद्धति

यदि एक रंगीन प्रकाश चमकदार (Polished) पृष्ठ पर सीधा गिरे, तो गिरा हुआ प्रकाश और परावर्तित प्रकाश विरुद्ध दिशाओंसे आनेसे स्थिर लहरें निर्मित होती हैं। याने अब प्रकाश लहरें आगे नहीं बढ़तीं किन्तु वहीं ऊपर नीचे होती हैं। यदि परावर्तनीय पृष्ठ पर प्रकाश रासा-यनिक पदार्थको फैलाया जाय तो इन लहरोंसे काले और सफेद वलय तैयार होते हैं। रजत शीशेको कोलोडियनके पायससे आच्छादित किया जाय, जिसमें रजतअरुणिदके सूक्ष्माणु है, तो प्रकाशोच्च (Maxi-

ma) का उसपर परिणाम होता है यह वायनरने १८९० में देखा। लहरोंके शीर्षकी जगह प्रकाशका सबसे अधिक परिणाम होता है। और प्रकाशनसे अलग हुये रजदको उभारनेके बाद बहुत सारे वलयदिखाई देते हैं, जिनमेंका अन्तर प्रकाश लहरका आधा होता है। लिपमेनका रंगीन-प्रकाशलेखन इन रजत वलयोंके बनने परही निर्भर है। यदि पार आने वाले प्रकाशसे पटलीकी तरफ देखा जाय तो केवल उलटी प्रतिमा मालूम होती है, किन्तु यदि उसकी तरफ ठीक दृष्टिकोणसे देखा जाय तो जिन रंगोंसे वह प्रकाशित हुयी थी वही दिखाई देते हैं। यह पद्धति बहुत क्लिष्ट है किन्तु कुछ प्रकाश सिद्धान्तोंकी सत्यता इन प्रयोगोंसे स्थापित होनेके कारण इनका महत्व है। इस पद्धतिकी कठिनाईके कारण इसे कार्यमें नहीं लाते।

दृश्य रंगका आभास होनेके लिये नीचेके तीन रंगोंका होना जरूरी है यह बात ठीक मालूम है। नीलाकासनी ४०५० से ५००० अँ तक। हरा, ५००० से ६८०० अँ तक और नारंगी लाल ६००० से ८००० अँ तक।

यदि वर्णचित्र या किरणचित्र की तरफ देखा जाय तो आखोंको भिन्न भिन्न रंगकी किरणोंकी तीव्रता भिन्न भिन्न मालूम होती है। नीचे हर एक रंगकी किरणोंकी परस्पर तीव्रता दी है तथा हर एकमें कुल प्रकाशका कितना अंश है यह भी दिया है।

	परस्पर तीव्रता	कुल प्रकाशका अंश
लाल	८	९.१
नारंगी	७६	१४.७
पीला और पीला-हरा	१००	३९.६
हरा-नीला-हरा	६४	३०.३
नीला	१२	३.७
नीला-कासनी	७	१.३
कासनी	४	१.२

और इन प्रकाश रासायनिक किरणों की रासायनिक शक्ति भी भिन्न रहती है। यदि प्रकाशोत्तेजक पायस को इन किरणों से प्रकाशित किया जाय तो हरएक किरणों का परिणाम अलग दिखाई देता है। यदि एक सीधी प्रकाश लेखन पटली ली जाय और उस पर सफेद प्रकाश से कुछ देर में जितना परिणाम होता है उतना अन्य प्रकाशों से होने के लिये कितने देर तक प्रकाशित करना होगा तो हरे को ४ गुना पीले को ३६ गुना, नारंगी को १२० गुना और लाल को १६०० गुना वक्त लगता है।

रंगीन किरणों का आंखों पर तथा प्रकाश लेखन पटली पर भिन्न परिणाम होने से, रंगीन प्रकाश लेखन असंभव मालूम होने लगा, किन्तु बाद में इस कठिनाई को दूर किया गया। यह देखा गया कि, यदि पटली को कुछ रंगीन पदार्थों से उत्तेजित किया जाय तो उस पर हरे और पीले रंग का परिणाम तुरन्त होता है। इस तरह की पटलियों को आयसो क्रोमेटिक कहते हैं। किन्तु रंगीन प्रकाश लेखन के वास्ते लाल रंग से भी पटली पर असर होना चाहिये। इसीलिये पैनक्रोमेटिक प्रकाश लेखन पटलियां बनाने में आयीं। लेकिन इस पैनक्रोमेटिक पटली पर सब किरणों का भाव एक ही परिमाण में नहीं होता यह अफसोस की बात है। नीला, कासनी, और पराकासनी का परिणाम बढ़ता जाता है। पराकासनी का तो अदृश्य होते हुए भी परिणाम सब से अधिक है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये प्रकाश छन्ने कार्यमें लाये जाते हैं। इनकी सहायतासे चाहे जिस रंग की प्रकाश के अंश कम कर सकते हैं जिससे सब रंग की किरणों का परिणाम एक ही परिमाणमें हो। पीले रंगका छन्ना इसके लिये उपयुक्त है। इससे नीला, कासनी आदि रंग कम होता है किन्तु हरा, नारंगी, लाल की तीव्रता छन्नेके पार आने पर भी वही रहती है। रंगीन प्रकाश लेखन के लिये पहिले प्रकाश को प्रकाश छन्ने के पार जाने देते हैं। बाद में यह पार आया हुआ प्रकाश पटली पर गिरता है। इसके लिये हम चाहें जो छन्ना और

चाहे जो प्रकाशोत्पादक नहीं ले सकते, किन्तु विशिष्ट प्रकाश के लिये विशिष्ट छन्नाही होना चाहिये। विद्युत दीप, फिलेमेंट दीप, वायु दीप इन सब के लिये एक ही रंग का प्रकाश छन्ना काम नहीं देगा यह बात ध्यान में रखनी चाहिये।

यंग और हेल्मोल्ज के दृश्य रंग के सिद्धान्त के अनुसार दृश्य रंग लाल, हरे और नीले इन तीन प्रमुख रंगों को भिन्न भिन्न परिमाण में मिलाने से बनते हैं। रंगीन प्रकाश लेखन इसी बात पर निर्भर है। हरएक पद्धतिमें जिसमें पटली और छन्ने कार्य में लाते हैं, इन्हीं तीन रंगों की जरूरत है। छन्ने में यह तीन रंग ही केवल होते हैं। और जो कुछ भी रंग अन्त में दिखाई देते हैं वे इन्हीं तीनों को भिन्न भिन्न परिमाण में मिलानेसे पैदा होते हैं। जो रंग हम देखते हैं और जो रंग हम इस तरह से पाते हैं केवल एक ही होता है। दिन के प्रकाश में हम जो नारंगी रंग देखते हैं वह क्या है? वह एक ही रंग नहीं रहता, किन्तु यह तीन रंग ऐसे परिमाण में मिले रहते हैं कि, आंख को नारंगी रंग की भावना होती है। रंगीन प्रकाश लेखन में भी हम नारंगी रंग इसी प्रकार से पैदा करने को चेष्टा करते हैं। यानी यही तीनों रंग इसी परिमाणमें आंखपर गिरें और नारंगी रंग की भावना पैदा करें ऐसी व्यवस्था की जाती है। लाल कांच प्रकाश में लाल दिखलाई देता है, क्योंकि उसमेंसे भिन्न २ रंगकिरण इस मात्रा में आते हैं कि लाल रंग की ही भावना होती है। प्रकाश लेखन में भी यह रंग इसी तरहसे—यानी यही किरण इतने ही परिमाणमें पार आने देकर और बाकी को रोक कर—पैदा करते हैं।

वैज्ञानिकीय

रंगे हुए वृक्ष

जर्मनी के कुछ वैज्ञानिकों ने ऐसे प्रयोग किये हैं जिनसे आशा होती है कि जल्दी ही हमें प्रकृतिके रङ्गों में रंगी हुई लकड़ी मिल जाया करेगी। ऊपर से वार्निश से रङ्गवाने का या सफेदे से पोतने का झमेला न करना पड़ेगा। पेड़ के तने में छेद करके उसमें कुछ रंग छोड़े गये। पेड़ के रस में रङ्ग मिल जाने से पेड़ के अन्दरके सब भाग रङ्ग गये। अंदर का रङ्ग इतना सुन्दर हुआ कि वैसा रङ्ग कृत्रिम साधनों द्वारा लकड़ी कटजाने के बाद होना असंभव ही था। यही नहीं रंग के प्रभाव से लकड़ी जल्दी सड़ेंगी भी नहीं और उनमें घुन या दीमक भी नहीं लगेगी।

क्या पौदे विचार कर सकते हैं?

सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र बोस ने यह सिद्ध कर दिया है कि वृक्षों में जीवन होता है तथा उनको पीड़ाका उतना ही अनुभव होता है जितना मनुष्य को।

पहले तो अमेरिकन वैज्ञानिक इन पर विश्वास कम करते थे पर अब वह भी इस प्रकार के प्रयोग कर सिद्धान्त को सत्य पा रहे हैं। पौदे अपनी टहनियाँ तथा पत्ते प्रकाश की ओर मोड़ लेते हैं; यह बड़ी रहस्यमय बात है। यह पाया गया कि गेहूँ के बिरवों में प्रकाश के अनुभव करने की शक्ति ऊपर के जरासे हिस्से में रहती है। यही एक प्रकार से पौदे का मस्तिष्क है। अमेरिका के डा. जॉनसन पत्तों तथा पेड़ों को भिन्न भिन्न प्रकार की रोशनी में रखते हैं तथा उसका प्रभाव देखते हैं। पाया यह गया कि छोटे पौदों पर नीले प्रकाश का अधिक प्रभाव पड़ता है।

जापान और गोलियाँ

ज्यों ज्यों विज्ञान की कृपा से युद्ध में विनाश के साधन बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों उनसे बचाव करना भी

आवश्यक होता जाता है। जब तलवार का वार होता था तो ढाल से बचाव होता था, पर अब गोलियाँ चलती हैं, उन्हें कौन रोके ?

एक जापानी वैज्ञानिक ने एक ऐसी मशीन बनाई है, जिसका मुँह दुश्मनों की तरफ करदेने से सारी गोलियाँ उसी मशीन में आकर ठण्डी हो जाती हैं। इस प्रकार सेना बचजाती है।

खून की तेजी।

हमारी नसों में खून हमेशा बहता रहता है। एक तरफ दिल साफ ताजा खून भेजता है तो दूसरी तरफ फेफड़ों में खराब खून साफ होने जाता है और वापिस आता है। मामूली हालत में तन्दुरुस्त आदमी की रगों में खून एक मिनिट में ६२१ फीट तक जाता है। इस हिसाब से एक घन्टे में ७ मील खून जाता है और एक दिन में १६८ मील की मंजिल तय करता है। मान लीजिये एक मनुष्य ८४ वर्ष की उम्रतक जिन्दा रहा तो खून लगभग ५१ लाख ५१ हजार मील चला!

क्या बजा है ?

यह प्रश्न बहुत पूछा जाता है—क्या बजा है? साधारणतः किसी विश्वसनीय घड़ी को देखकर समय क्या है यह बता दिया जाता है। पर सुनकर पाठकों को आश्चर्य होगा कि संसार का समय उन घड़ियों से गिनाया जाता है जो खुद ठीक नहीं चलतीं। अमेरिका में जमीन के नीचे एक बड़ा विचित्र घर बना है। उसकी थर्मोस बोतल की भाँति दीवारें हैं। उस कमरे में सर्दी गर्मी हमेशा एकसी रखी जाती है। ज्योतिषी बाहर दुर्बीन द्वारा तारों का वेध कर समय मिलाते हैं। यदि इन घड़ियों में कुछ गलती हुई तो उन्हें ठीक नहीं किया जाता केवल जमाखर्च कर ठीक समय का हिसाब लगा लिया जाता है। घड़ियाँ बिजली से चलती हैं। समय देखने के लिए या घड़ियों को ठीक करने के लिये कोई कमरे में नहीं घुसता, क्योंकि आदमी के घुसने से जो गर्मी अधिक हो जाती है उससे घड़ी की चाल में फर्क पड़ सकता है। समय बाहर दुर्बीन से देखा जाता है।

('जयाजी प्रतापसे')

द्विवेदी-अभिनन्दन ग्रन्थ

(श्रीमानों तथा साहित्यिकों से प्रार्थना)

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने आधुनिक हिन्दी साहित्य के लिये जो कुछ किया है, वह लोक-विश्रुत है। वे व्यक्ति नहीं, एक संस्था हैं। उनके द्वारा आधुनिक हिन्दी की गद्य-पद्य शैली का यथोचित निर्माण एवं निर्धारण हुआ है। हिन्दी के इस शैली निर्माण पर द्विवेदीजी महाराज की अमिट छाप है।

आगामी वैशाख शुक्ल ४ को वे सत्तरवें वर्ष में पदार्पण करेंगे। हिन्दी-संसार का यह कर्त्तव्य है कि उस अवसर पर ऐसे संमाननीय आचार्य का समुचित समादर करे। अतएव काशी नागरी प्रचारणी सभा ने निश्चय किया है कि उस समय एक विराट उत्सव एवं समारोह करके उन्हें एक अभिनन्दन-ग्रन्थ अर्पित किया जाय। यह ग्रन्थ कला एवं साहित्य का अद्वितीय निदर्शन होगा। इसमें भारत के श्रेष्ठ चित्रकारों के उत्तमोत्तम चित्र रहेंगे, एवं इसके साहित्यिक अंशमें हिन्दीके सभी प्रमुख तथा यशस्वी साहित्यिकों की रचनाएँ तो रहेंगी ही—देश तथा विदेश की अन्यान्य भाषाओं के प्रमुख विद्वानों के लेखादि प्राप्त करने का प्रबन्ध भी किया जा रहा है कि यह सुयोग भारत तथा संसारकी उन्नत भाषाओंका हिन्दीके साथ साहित्यिक सम्बन्ध-स्थापना का निमित्त बनजाय। यह सर्वाङ्ग सुन्दर ग्रन्थ लगभग ६०० पृष्ठ का होगा। इसके चित्रों की संख्या पचास से ऊपर होगी, जिनमें अधिकांश रङ्गीन होंगे।

सभा की हार्दिक कामना है कि उसकी इस योजना में अभूत-पूर्व सफलता हो; किन्तु यह

सफलता देश के श्रीमानों की कृपा-दृष्टि पर ही अवलम्बित है; क्योंकि इसके लिए ५०००) के व्यय का अनुमान किया गया है, पर सभा में यह व्यय-भार उठाने का सामर्थ्य नहीं है, अतः गुणज्ञ तथा विद्या-प्रेमी श्रीमानों से प्रार्थना है कि इस कार्य के लिए यथोचित सहायता प्रदान करके इस योजना को सु-सम्पन्न कराने के यशोभागी हों। सभा आशा करती है कि देश के उदार दाता इस आयोजन की सिद्धि में अग्रसर होकर सभा को चिर आभारी करेंगे।

अभिनन्दन ग्रन्थ को सर्वाङ्ग पूर्ण बनाने के लिए साहित्यिकों का पूर्ण सहयोग वांछित है। हम उनसे साग्रह अनुरोध करते हैं कि वे यह सहयोग प्रदान करके सभा को कृतज्ञ करें। हमें पूर्ण आशा है कि आचार्य के प्रति श्रद्धा-भक्ति-भावना से प्रेरित होकर हिन्दी के सभी कोविद तथा साहित्यिक अपनी उत्कृष्ट रचना हमारे पास भेजने की कृपा करेंगे। इस सम्बन्ध में उनसे निवेदन है कि—

१—उनकी रचना उनके इच्छानुसार गद्य वा पद्य के किसी भी अङ्ग में हो।

२—वह उनकी रुचि के अनुकूल किसी भी विषय की हो। सभा चाहती है कि ग्रन्थ विभिन्न विषयों से पूर्ण करके आचार्य द्विवेदीजी को समर्पित किया जाय। हाँ, इन विषयों का सम्बन्ध वर्तमान धार्मिक, सामाजिक अथवा राजनीतिक प्रश्न से न हो।

३—रचना यथासम्भव बड़ी न हो।

अभिनन्दन ग्रन्थ को सभा जिस रंग-ढँग से निकालना चाहती है, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह अविलम्ब प्रेस में दे दिया जाय। इस बात पर ध्यान देते हुए लेखक समुदाय शीघ्र ही अपनी कृति हमारे पास भेजने का अनुग्रह करें।

—कृष्ण दास

प्रधान मन्त्री,
नागरी-प्रचारणी सभा, काशी।

खाद

[ले० श्री नन्दकिशोर शर्मा]

हर एक किसान इस बात को अच्छी तरह से जानता है कि खेतीके लिए जमीन, बैल, खाद की खास जरूरत है बिला इन तीन चीजों के खेती का काम नहीं चल सकता। खाद का सवाल इस समय एक जटिल रूप धारण किये हुए है। खाद सदहा क़िस्मकी हैं और इनकी कमी भी नहीं है लेकिन सवाल यह है कि खाद ऐसी होनी चाहिए जो सबको नसीब हो सके। हमारे देश के किसानों की ग़रीबी खास तौर से मशहूर है, पस ऐसा कोई खाद होना चाहिये जो ग़रीब से ग़रीब किसान को भी मिल सके और साथ के साथ वह खाद ऐसी हो जो कि सब फ़सलों पर पूरा पूरा फ़ायदा दे सके। बुन्देलखण्ड प्रान्त के लिए यह विषय महत्व का है—कारण यहाँ की जनता खास तौरसे ग़रीब, अनपढ़ व पुराने ढर्रे की है—दूसरे यहाँ की रहन-सहन ऐसी है कि जिसके लिए खास तौर से ध्यान की जरूरत है। नहरों के आने से पहिले व मँहगी का जमाना शुरू होने से पहिले बुन्देलखण्ड में खाद की जरूरत नहीं पड़ती थी और जहाँ जिस चीज की जरूरत नहीं होती वहाँ लोग अनभिज्ञ रहते हैं कारण यह है कि बुन्देलखण्ड में जमीन की कोई कमी नहीं और आबादी मुक़ाबलन् और जगहों से बहुत कम। स्वाभाविक तौर से पशुओं का पालन पोषण बहुत होता था। ऐसी हालत में लोगों में जमीनकी माँग बहुत न थी, जिस खेत में एक दफे फ़सल ली, बाद को उसे परती छोड़ देते थे। जानवर इधर उधर चरते फिरते थे—जमीन को परती पड़े रहने से आराम मिलता था, जानवरों के चरने फिरने से उनका मलमूत्र वहीं गिरता था बल्कि मरने पर उनकी हड्डियाँ भी वहीं रहती थीं, पस यह सब साधन ऐसे होते थे कि जमीन की उपाजू शक्ति कम नहीं होने पाती थी। लेकिन यह समय अब स्वप्नवत हो गया। नहरों

व मँहगी के कारण अधिकांश ज़मीन काश्त में आ गई और आ रही है। अकालों के कारण जानवरों में बहुत कमी हो गई, हड्डी के रोज़गार के कारण दूर दूर से हड्डी बिन कर रेल में भर कर कहीं की कहीं चली जा रही हैं। ऐसी हालत में खाद की क्या शकल हो सकती है किसी से छिपी नहीं है। कुछ भी शकल हो बिला खाद के काम नहीं चलता, अगर ज़मीन से अच्छी पैदावार हासिल होना ज़रूरी है तो खाद का भी पूरी तौर से प्रबन्ध करना भी अति आवश्यक है—वह तो सब कोई अच्छी तरह से जानते हैं कि गोबर सबसे उत्तम खाद है। इस में खाद की सब चीजें पूरी तौर से मौजूद हैं। लेकिन गोबर सब खाद के काम में नहीं आ सकता। बिला ईधन के मनुष्य मात्र का काम नहीं चल सकता। जलाने की लकड़ी वग़ैरः की कमी ऐसी है कि लोगों को लकड़ी मिल ही नहीं सकती—पस सिर्फ गोबर बचता है जिससे कि वह लोग ईधनका काम ले सकते हैं—पस सारा गोबर कण्डों के काम में आता है। लोग उपदेश चाहे जैसा देते फिरें कि गोबर के कंडे न बनाओ बल्कि खाद के काम में लाओ लेकिन यह मौजूदा अवस्था में असम्भव है कि लोग ऐसा करें—सवाल अब यह है कि इस कमी को किस तरह से पूरा किया जा सकता है। इसके दूर करने के निम्न लिखित उपाय हैं:—

(१) हरी खाद
(२) कम्पोस्ट खाद
(३) वैज्ञानिक खाद

माली हालात का ध्यान रखते हुए अभी बहुत दिनों तक वैज्ञानिक खादका व्यवहार भारत वासियोंके लिए बहुत दूर है। पस सबसे सस्ता नुस्खा हरी खाद और कम्पोस्ट खाद ही इस ज़रूरत को दूर कर सकती है। अब हम दोनों खादोंका थोड़े से शब्दों में ध्यान करते हैं ताकि सबकी समझमें आ जावे।

हरी खाद—इस खाद से यह मतलब है कि ज़मीन पर ऐसी फ़सल बोवें जो कि बहुत जल्दी उग आती है। उसमें पत्ते अधिक होते हों और छीमीदार हो और जो जल्द सड़ गल जाती हो। खेती के पण्डितों ने यह सिद्ध कर दिया है कि छीमीदार पौधों में ईश्वर ने ऐसी शक्ति प्रदानकी है कि वह अपने पत्तों द्वारा हवामें से नोषजन लेकर अपनी जड़ों से ज़मीन में जमा कर दे। पौधों की खास .ख़ूराक नोषजन है और खेतोंमें खाद देने से यही मतलब होता है कि नोषजन पौधों को ज़मीन से अपनी जड़ों द्वारा मिल सके। हवा में नोषजन का हिस्सा बहुत है—पस एसे छीमीदार पौधे बोने से ज़मीन की पैदावार की शक्ति कम नहीं होती बल्कि बढ़ती है और अगर ऐसे पौधे इस मतलब से बोये जाँय कि वह ज्यों के त्यों ज़मीन में जोत डाले जाँय तो फिर क्या कहना है सोने को सुहागा मिलना है। नोषजन तो उन पौधोंने अपनी जड़ में जमा कर रक्खा है ही और अन्य आवश्यक खाद के अंश उन पौधों के जुत जाने से ज़मीन में पहुँच जायँगे। इस में सब से अधिक ह्यूमस की बढ़ती हो जायगी। ह्यूमस एक ऐसी चीज़ है कि जिससे ज़मीन की ताक़त बहुत बढ़ती है और नमी क़ायम रखने की खास कुव्वत आजाती है। इस किस्म के पौदे तो बहुत हैं जो इस काम में लाये जा सकते हैं—सरकारी फ़ार्मों पर जो तजरबे हुए हैं उन से साबित हुआ है कि सनई इस काम के लिए सब से उत्तम है—यानी यह सब से जल्दी तो जमती और पनपती है और फिर जुत जाने पर सबसे जल्दी सड़कर जमीन में मिल जाती है। जोतने के मतलब से बोये जाने के लिए खूब घनी तौर से बोनी चाहिये—इसके बोने का सहल तरीका यह है कि जिस दिन पहिला पानी बरसे उसी दिन खूब घनी तौर से इसका बीज खेत में छिड़क देना चाहिये और फिर देशी हल से हलकी जुताई कर देनी चाहिये, और अगर जमीन ख़ालिस पडवा हो तो ऊपरसे हलका पटेला दे देना चाहिये। ध्यान इस बात का

रहे कि न तो बीज ही गहरा जाय और न पटेलासे भरपूर ज़ोर से दब जाय। बस इतना अमल काफ़ी है बाद में बीज अपने आप जमेगा और चूंकि यह बारिश के दिन होते हैं आगे पीछे पानी बरसता ही है पस पौधे अपने आप सर सब्ज़ होंगे। बीज की मिक़दार एक एकड़ के लिये सवा मन से डेढ़ मन होनी चाहिये। बीज बोने के बाद ४५ दिन से लेकर ५५ दिन के अन्दर तक इस फ़सल को खेत में जोत डालना चाहिये। जोतने से पहिले फ़सल पर पाटा या हैंगा लगा देना जरूरी होगा ताकि फ़सल लेट जाय और बाद में अंगरेज़ी हल यानी मिट्टी उलटने वाले हल से खेत जोत डालना चाहिये। मिट्टी उलटने वाले हल वह होते हैं जिसमें एक तरहका पंखा सा लगा होता है जिससे जो कूँड़ में से मिट्टी आती है वही वहां की वहीं पलट जाती है याने ऊपर की मिट्टी नीचे, नीचे की मिट्टी ऊपर आ जाती है। इस क़िस्मके हल सब सरकारी फ़ार्मों पर मौजूद हैं जहां पर जा कर हर कोई इसको देख सकता है वह इसका काम सीख सकता है। जोतने में इसका ध्यान रखना चाहिये कि खेत के बीचो बीच में पहिली कूँड़ बनानी चाहिये और फिर इसी कूँड़ पर दायें बायें कूंड़ बनाते चला जाना चाहिये और अगर इत्तफ़ाक़ से कहीं सन के पौधे हल से जमीन में चले जाने से रह जांय तो फड़वों द्वारा इनको जमीन में अच्छी तरह से दफ़न कर देना चाहिये। मतलब यह है कि ख़ूबी व पूरा फ़ायदा इसी में है कि सब पौधे पूरी तौर से जमीन में दब जांय। यह अमल हो जाने के बाद खेत को यों ही १ या १½ माह के लिये छोड़ देना चाहिये। बाद में फिर अपनी मामूली जुताई करते रहना चाहिये और खेत को रबी बोने के लिये तय्यार कर लेना चाहिये। ऐसे तय्यार किये हुए खेत में जो गेहूँ बोया जाता है उसमें कम से कम पांच मन फ़ी एकड़ गेहूँ और आठ मन फ़ी एकड़ भूसा मुक़ाबिलन दूसरे खेतों के जिन में यह अमल नहीं किया जाता है अधिक पैदा होता है और अगर पूसा गेहूँ नम्बर ४ या पूसा गेहूँ नम्बर १२ बोया जाता है तो उस से आठ मन फ़ी एकड़ गेहूँ और १२ मन फ़ी एकड़ भूसा अधिक पैदा होता है—पस अब इस को पढ़ने वाले अपने आप सोच लें कि किस में उनको अधिक लाभ है।

दूसरा सहल तरीक़ा खाद की कमी पूरी करने का कम्पोस्ट खाद है। इसका ब्योरा भी ध्यान से सुनिये।

कम्पोस्ट खाद वह है जो कि सब घास कूड़ा करकट खर राख व वह सब चीजें जो मनुष्य के काम की नहीं हैं किसी एक गढ्ढे में जमा कर के सड़ा ली जांय। यह खाद भी एक आला दर्जे की चीज़ है और बिला किसी कौड़ी पैसे के सिर्फ़ थोड़ी सी मेहनत से हासिल हो जाती है और जमीन की पैदावार में बढ़ती करने में ख़ास मदद देती है। ऐसा कौन सा किसान है जिसके यहां कूड़ा करकट खर पतवार वग़ैरः न होता हो जिनको कि वह एक फ़जूल नाकारआमद चीज़ समझ कर इधर उधर न फेंक देता हो। असलियत यह है कि अगर लोगों को यह मालूम हो जाय कि इन चीजों से भी एक आला दर्जे की खाद तय्यार हो जाती है तो शायद वह ऐसा न करें। बरसात के दिनों में बहुत सी घास वगैरः चारों तरफ़ उगती है और लोग इस घास वगैरः को जहां पर इसकी जरूरत महसूस नहीं होती है वहां से उखाड़ कर किसी कोने कोने पर जमा कर दिया करते हैं तो जो कुछ घास पतवार वगैरः खेत से निकलता है उसको खेतों के मेंड पर डाल देते हैं। यह सब घास फूस वगैरः बहुत अच्छा खाद बन सकता है अगर लोग तनिक सी तकलीफ़ उठा लें। मौसम पतझड़ में इफ़रात से पत्ते चारों तरफ़ फैले रहते हैं यह भी काम में आ सकते हैं। बरसात के दिनों में गोबर कंडे बनाने के काम में बहुत कम आता है। लोग अकसर गोबर को इन दिनों कहीं अलग जगह पर फेंकते रहतेहैं। जो कि बाद में खाद के काम में लाया जाता है ऐसे गोबर की खाद की हैसियत मुशकिल से दसवां हिस्सा रहती है—पस इन सब बातों को सोच कर एक सहल उपाय कम्पोस्ट खाद तय्यार करनेका यह है कि किसी

अलग जगह पर एक गड्ढा चार या पांच गज़ लम्बा और ढाई या तीन गज़ चौड़ा और तीन या चार गज़ गहरा खोदो—खुदाई ऐसी हो कि नीचे की तरफ़ ढाल हो यानी गड्ढे का ऊपरी खुलाव अगर पाँच गज़ लम्बा और तीन गज चौड़ा होवे तो नीचे की सतह क़रीब साढ़े तीन गज लम्बी और दो गज चौड़ी रहे और अगर हो सके तो इसके ऊपर बहुत मामूली छप्पर डाल दो और फिर जो कुछ घास पत्ती कूड़ा करकट राख वग़ैरः वग़ैरः फ़िज़ूल चीज कहीं भी मिले उसे इस गड्ढे में डालते रहो ध्यान सिर्फ इस बात का रहे कि जो कुछ डाला जाय वह उस गड्ढे में फैला दिया जाया करे। आहिस्ता अहिस्ता यह गड्ढा भर जायगा। भर जाने पर इसके ऊपर क़रीब एक फुट मिट्टी से दाब दो। क़रीब चार महीने में यह सब सड़ गल कर एक आला दर्जे की खाद बन जायगी। पांच गज लम्बे और तीन गज चौड़े गड्ढे में चार माह में क़रीब छै सौ मन बढ़िया खाद तय्यार हो जायगी। पचीस बीघा के किसान को ऐसे दो गड्ढे रखने चाहिये ताकि जब एक गड्ढा ढका रहे तो दूसरे में घास फूस खर पतावार गोबर वग़ैरः जमा होता रहे। पस अब आप साहब खुद सोच लें कि इस से भी सहल और कम क़ीमत नुसखा खाद की कमी दूर करने के लिये क्या हो सकता है। दूसरी तरकीब और है लेकिन वह इस से कठिन है मगर इससे कई गुनी अच्छी खाद तय्यार होती है। उसे भी जारा ग़ौर से सोच लें। गो हड्डी के रोजगार खुल जाने से चारों तरफ़ की हड्डी बिन बिना कर रेलों में लद कर तिजारती जगहों पर चली जाती है फिर भी ऐसे जमींदार व किसान जो कि इसके फ़ायदोंसे जानकार हो जांयगे शायद आगेके लिये अपने अपने खेतों व जमींदारियोंसे हड्डियों का बाहर जाना रोक दें। हड्डी एक बेश क़ीमत खाद है और उन देशों में जहां कि कृषि विद्या काफ़ी उन्नति कर रही है वहां हड्डी की खाद का काफ़ी व्यवहार होता है, और बढ़ता ही चला जा रहा है और जो लोग इसके फ़ायदे को नहीं जानते वे थोड़े से पैसों के लालच में अपने अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मार रहे हैं। हड्डी एक ऐसी चीज है कि बहुत देर में गलती सड़ती है और इसी लिये तुरतफुरत खादके काममें नहीं लाई जा सकती हैं। अन्य देशोंमें खादके काममें लानेसे पहिले इस पर कई अमल होते हैं और फिर यह खादके लायक़ तय्यार हो जाती हैं। उन अमलों का करना अपने यहां मौजूदा हालतमें महा कठिन बल्कि असम्भव सा है। इसका सब से सहल उपाय कि हड्डी खादके लायक़ हो जाय हम बयान करते हैं। जो लोग इस साधन काममें ला सकते हैं उनको चाहिये कि इसे व्यवहार में लावें।

एक गड्ढेमें जितनी हड्डी मिल सकें उसके नापके लायक़ खोदना चाहिये। शुरू में दो गज लम्बा दो गज़ चौड़ा दो गज गहरा काफी होगा। साथ ही साथ तीन खूंटे बबूल या और किसी मज़बूत लकड़ीके नुकीले तय्यार करना चाहिये। यह खूंटे क़रीब ढाई गज़ लम्बे हों। इस गड्ढे को भीतर से अच्छी तरह से लीप देना चाहिये। फिर इसमें पहिले क़रीब आठ अंगुल की तरह अरहर की पत्ती व उसकी लकड़ी की राख की देनी चाहिये और उस पर हड्डीके टुकड़ों की तरक़ीब आठ दस अंगुल की। बादमें फिर वही राख और फिर हड्डी। इसी तरह से राख व हड्डी की तहसे इस गड्ढे को भर देना चाहिये। जब यह गड्ढा भर जाय तो उसमें यह तीन खूंटे ठोंक देने चाहिये रोज़ाना गाय बैल भैंस बकरी वग़ैरः जानवरों का मूत्र एक खूंटे को उखाड़ कर जो गोल छेद है उसमें डालते रहना चाहिये इसी तरह से रोजना जो कुछ मूत्र मिल सका करे उसे खूंटे निकाले और डाल दिया। यह अमल तीन चार माह तक करते रहना चाहिके। बाद में गड्ढेके ऊपर मिट्टी डाल कर मुंह बन्द कर देना चाहिये और चार पांच माह इसी तरह से छोड़ देना चाहिये। यह हड्डियां गल कर सब रख हो जांयगी और फिर वहएक आला दर्जे की खाद तय्यार हो जायगी—यानी ऐसा होगा कि किसी हालत में १०) या ११) मन से कम इसकी क़ीमत न होगी। और ऐसी खाद गेहूँ के

लिये एक एकड़ भूमिके लिये दो मन काफी है। और अगर खेत की अच्छी तरहसे काश्त हुई है, बीज अच्छा है, सिंचाई का भी प्रबन्ध ठीक है तो फिर ऐसे खेत की पैदावार क़रीब क़रीब बिला खादके खेतके दुचन्द होती है। पस समझदार लोग इस की तरफ़ ध्यान दे कर लाभ उठावें।

तीसरा तरीक़ा खाद की कमी दूर करने का वैज्ञानिक खादोंके द्वारा है। मौजूदा हालत में हमारे किसानों की हालत ऐसी नहीं है कि यह लोग आम तौरसे इन खादों को काममें ला सकें।

न्यूटन और आकर्षण

सन् १६४२ ई० में जब गैलिलियो की दृष्टि-शक्ति विलुप्त हो जाने पर उसका परलोक वास हुआ, उसी वर्ष दिसम्बर मास में इंग्लैंड के ऊल्सथर्प नामक ग्राम में आइज़क न्टयूनका जन्म हुआ। बाल्यावस्था में न्यूटन बड़ा दुर्बल और रोगी था। और पढ़ने लिखने में भी चित्त नहीं लगाता था। कहा जाता है कि एक बार एक लड़के ने इसे ठोकर मारा परन्तु उसका ठोकर से बदला न चुकने के कारण न्यूटन ने कक्षामें सबसे आगे बढ़ कर उसे नीचा दिखानेका विचार किया।

न्यूटन ने पढ़ते समय ही एक खिलौने की भांति चक्की बनाई जो एक चूहे द्वारा चलती थी। इसी तरह के दूसरे खिलौने भी उसने बनाए। वह रात को पतंग में काग़ज़ का दीपक लटका कर उड़ाता जिसे देखकर निकटके लोग भयभीत हो जाते। इस तरह लड़कपन खेलमें व्यतीत कर उसने पढ़नेमें चित्त लगाया और पाठशालाके पश्चात् कैम्ब्रिज विश्व-विद्यालयमें अध्ययन करने लगा।

न्यूटन का नाम गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्तके साथ सदा अमर रहेगा। गुरुत्वाकर्षण ही वह शक्ति है जिसके कारण पृथ्वी के तल परसे ऊपर फेंकी समस्त वस्तुएं फिर भूतल पर ही आ जाती हैं। लोग कहते हैं कि पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण की बात न्यूटनको पेड़से एक सेब गिरते देख सूझी थी। न्यूटन के पहले अनन्त कालसे लोग फल वा दूसरी वस्तुओंको पृथ्वीके तल पर गिरते आते देखते थे और न्यूटन ने भी सहस्रों बार ऐसा होते देखा होगा परन्तु यह सिद्धान्त पहले न ज्ञात हो सका। जब न्यूटन ने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय की पढ़ाई समाप्त कर ली और यंत्र विज्ञान के सम्बन्ध में उन दिनों जो कुछ भी लोगों को ज्ञात था उसे सीख लिया तो उसके पश्चात् उस ने गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त निकाला।

गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त इस प्रकार है:—

संसार भरमें सब पदार्थों के कण प्रत्येक दूसरे कण को दोनों कणों की मात्राओं के अनुपात की शक्ति से और उनके मध्य की दूरीके वर्ग के प्रतिलोम अनुपात से आकर्षित करते हैं।

इस प्रकार का सिद्धान्त केवल एक सेब के गिरने का निरीक्षण करने से नहीं निकल सकता। न्यूटन जिस समय इस सिद्धात को प्रतिपादित करने में समर्थ हो सका उसके पूर्व उसने पृथ्वी, समस्त सौर-मंडल के ग्रह और अन्य गतिशील और गिरने वाली वस्तुओं की प्रत्येक अवस्था पर विचार किया होगा। यह एक ऐसी बात थी जिसका सम्बन्ध समस्त ब्रह्मांड से था और इसकी सत्यता देखने के लिए ब्रह्मांड की समस्त वस्तुओं पर दृष्टिपात करने की आवश्यकता हो सकती थी।

जब हम इस पर विचार करते हैं कि इस गवेषणा में न्यूटन ने कौन सी वस्तु खोज की तो हम देखते हैं कि उसने आकर्षण की खोज नहीं की क्योंकि वह शक्ति पहले से ही उस समयसे विद्यमान थी जब संसार बना। हम ऐसी कोई चीज नहीं देखते जिसमें भार न हो और जो ऊपर से छोड़ देने पर जमीन पर न गिर पड़े। इस तरह यह कहना कि सभी पदार्थों में भार होता है वही अर्थ रखता है जो यह कहना कि सभी पदार्थों में आकर्षण की शक्ति होती है।

फिर न्यूटन ने यह भी नहीं बतलाया कि यह आकर्षण क्यों होता है। इस बात को आज तक कोई नहीं जान सकता है। न्यूटन ने जो कुछ किया वह यह दिखलाना था कि वह शक्ति जो कणों को एक स्थान पर आकर्षित करती है किस प्रकार कणों के द्रव्य की मात्रा और उनकी दूरी के साथ परिवर्तित होती है। दूसरे शब्दों में उसने हमें यह बतलाया कि हम आकर्षण की शक्ति किस प्रकार नाप सकते हैं। पृथ्वी के धरातल के निकट यह शक्ति केवल वस्तुओं का भार ही है।

आकर्षण के अतिरिक्त पदार्थों में दो प्रकार की और शक्तियाँ पाई जाती हैं जो इससे भिन्न हैं। इन दो शक्तियों में एक संसक्ति और दूसरी आसक्ति कहलाती है। संसक्ति उस शक्ति को कहते हैं जिससे किसी ठोस पदार्थ के कण एक दूसरे से चिपके रहते है। आसक्ति वह शक्ति है जिससे दो पदार्थ एक दूसरे से चिपक जाते हैं जैसे गोंद से दो वस्तुएं चिपक कर एक हो जाती हैं। यह दोनों शक्तियाँ गुरुत्वाकर्षण से इस कारण भिन्न हैं कि इनके लिए निकटतम संसर्ग आवश्यक है और ये दो दूर की वस्तुओं पर अर्थात् किसी अंतर के आरपार अपना प्रभाव नहीं डाल सकतीं। वे कणों को इस प्रकार जुटा हुआ रखती हैं। कि प्रत्येक कण पर गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव होने से समस्त वस्तु पर एक साथ आकर्षण होता है।

गुरुत्वाकर्षण का मुख्य प्रमाण ग्रहों की गति का अध्ययन करने से मिल सकता है, ये सूर्य के चारों ओर उसी प्रकार घूमते हैं जिस प्रकार उनकी मात्रा के परिणाम और उनके अंतर के प्रतिलोम अनुपात की शक्ति से वे प्रभावित होकर घूमते। प्रत्येक ग्रह की कक्षा केवल सूर्य का प्रभाव पड़ने से एक दीर्घ वृत्त वा अंडाकार मार्ग होगा। इसे समझनेके लिये अ और ब दो पिनोंको कागज पर एक दूसरेसे निकट ही गाड़ दीजिये। और तागे का एक फन्दा स स स उन पिनों के चारों ओर लगा दीजिए। फिर फन्दे में एक पेंसिल डालकर फन्दे के तागे को तना हुआ रखते हुए ही पेंसिल को चारों ओर घुमाइये। इस प्रकार पेंसिल घुमाने से जो वक्र घेरा बनेगा वही दीर्घ वृत्त होगा। बीच के दोनों बिन्दु इस दीर्घवृत्तकी नाभि कहे जायेंगे।

ग्रहों की अवस्था में सूर्य एक नाभि पर है और यद्यपि प्रत्येक ग्रह बिलकुल ठीक दीर्घवृत्त में नहीं घूमता है तथापि यह गणना द्वारा ज्ञात हुआ है कि उस दीर्घवृत्त में जो अन्तर पड़ता है वह ठीक वही है जो उस दशा में होता जब कि प्रत्येक ग्रह गुरुत्वाकर्षणके सिद्धान्तके अनुसार एक दूसरे को आकर्षित करते। इस प्रकार प्रोफेसर जोन-काउच एडमने कुछ वर्षों पूर्व यह दिखा सकनेमें सफलता प्राप्त की थी कि सूर्यमंडलमे कोई ऐसा अज्ञात ग्रह है जिसका ग्रहों की कक्षा पर प्रभाव पड़ रहा है। इसके पश्चात् सावधानीसे निरीक्षण करनेके पश्चात् नेपच्यून ग्रह का पता लग सका।

यहाँ पर हम पृथ्वीके संबंधमें एक बात बता देना चाहते हैं। किन्ही दो वस्तुओंकी आकर्षण शक्ति जाननेके लिए उन वस्तुओंके मध्य की दूरी उनके केन्द्रोंसे नापी जाती है और प्रत्येक वस्तु इस प्रकार प्रभावित होती है मानो उसकी सब मात्रा केन्द्र पर संचित हो। यदि पृथ्वी पूर्ण रूपसे गोल होती तो इसके धरातल का प्रत्येक भाग केन्द्रसे बराबर दूरी पर होता, इस कारण धरातलके किसी भी स्थान पर एक वस्तु पर बराबर ही गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव पड़ता किन्तु यदि कोई भाग कुछ चपटा हो तो उस भाग पर अन्य भागों की अपेक्षा गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव अधिक होगा और उस वस्तु का भार बढ़ जायगा। हम यह जानते हैं की पृथ्वी दोनों ध्रुवोंके समीप कुछ चपटी है इस कारण ध्रुवोंके समीप तौली जाने वाली पर कोई वस्तु अन्य भागों की अपेक्षा अधिक भारी होगी।

—जगपति चतुर्वेदी

मुद्रक—शारदा प्रसाद खरे, हिन्दी-साहित्य प्रेस, प्रयाग।

पूर्ण संख्या—
२०८

आचार्य्य प्रफुल्लचन्द्र राय—अंक

Reg. No. A. 708.

भाग ३५
VOL. 35.

कर्क संवत् १९८९
जौलाई १९३२

संख्या ४
No. 4

विज्ञान

प्रयागकी विज्ञान परिषत्‌का मुखपत्र

'VIJNANA' THE HINDI ORGAN OF THE VERNACULAR SCIENTIFIC SOCIETY, ALLAHABAD

अवैतनिक सम्पादक

ब्रजराज एम. ए., बी. एस-सी., एल-एल. बी.,

सत्यप्रकाश, एम. एस-सी., एफ. आई. सी. एस.

प्रकाशक

वार्षिक मूल्य ३)] विज्ञान परिषत्, प्रयाग [१ प्रतिका मूल्य ।)

विषय-सूची

१—वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द

[Hindi Seientific Terminology]

प्रथम भाग

इसमें शरीर विज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, भौतिक विज्ञान, और रसायन शास्त्र (भौतिक, कार्बनिक और अकार्बनिक) के पारिभाषिक शब्दों का संग्रह है।

—सम्पादक–सत्यप्रकाश, एम० एस-सी० मूल्य ॥)

२—बीज ज्यामिति

[Conic Section]

ले० सत्यप्रकाश, एम० एस-सी०

सरलरेखा, वृत्त, परवलय, दीर्घवृत्त और अतिपरवलय का विवरण। मूल्य १॥)

विज्ञान परिषद् प्रयाग

अपने

मान्नीय आजीवन सदस्य

आचार्य्य सर प्रफुल्ल चन्द्र राय, के-टी०, सी० आई० ई०, डी० एस-सी०, पी-एच० डी०,

को

उनकी सप्तति वर्षीय जयन्तीके

उपलक्षमें

हार्दिक बधाई देता है। आचार्य्य प्रफुल्ल चन्द्र जी ने विज्ञान और विशेषतः रसायन शास्त्रकी अपूर्व सेवा की है। आपके रसायन सम्बन्धी अन्वेषणों ने भारतकी कीर्ति उज्ज्वल की है। हिन्दू कैमिस्ट्री द्वारा आपने भारतके प्राचीन गौरवका पुनरुद्धार किया है। बंगालकेमिकल्स आपकी स्वदेश-भक्तिका ज्वलन्त उदाहरण है। आपकी कर्त्तव्य निष्ठा, तपस्या, त्याग, एवं सौहार्द वृत्ति प्रत्येक भारतीय के लिये आदर्श है।

COLLEGE OF SCIENCE,

CALCUTTA.

27-6-32.

DEAR SIR,

Yours of the 25th inst.

Barring the Madras Presidency, Hindi is understood throughout India and I have always regarded it as the "**Lingua Franca**" of our vast continent. The "**Vijnana**" is doing a great service by rendering into Hindi different branches of modern science for the Hindi-speaking people.

The scientific technical terms based upon Sanskrit which have to be coined for the purpose are also enriching the vernacular literature. Not only Hindi, but Bengali, Gujarati and Maharathi are derived from the parent language Sanskrit. Hence these terms are the common property of the people speaking these dialects. The "**Vijnana**" is doing signal national service and I wish it long life and prosperity.

Yours Sincerely,

P. C. RAY.

सर पी. सी. राय की जीवनी और उनका कार्य

[लेखक—श्री डा० नीलरत्नधर, डी. एस. सी., एफ़. आई. सी., आई. ई. एस., सभापति विज्ञान परिषद् प्रयाग.]

आचार्य्य सर प्रफुल्लचन्द्र रायकी सत्तरहवें वर्ष की समाप्ति पर जो जयन्ती मनायी जा रही है, उसका विशेष महत्व है, हम इस अवसर पर विज्ञान परिषद् की ओरसे उन्हें शतशः बधाई देते हैं। ईश्वर से हमारी यह प्रार्थना है कि आप चिरायु हों जिससे बहुत दिनों तक भारत की सेवा कर सकें।

आप उन व्यक्तियोंमें से हैं, जिनके प्रौढ़ मस्तिष्क ने केवल रसायन शास्त्रके विकास पर ही प्रभाव नहीं डाला है, किन्तु जिसके परिश्रम के फल-स्वरूप भारतीय शिक्षा और उद्योगके क्षेत्रमें भी सन्तोष-जनक उन्नति हुई है। यद्यपि सर पी. सी. राय का सम्बन्ध राष्ट्रीय क्रिया-शीलताके अनेक विभागों से है तथापि वह प्रधान रूप से रसायन वेत्ता हैं और इसीलिए उनकी कीर्त्तिको अपनी ही कहने का हमें अधिकार है। उनकी जीवनी के सम्बन्ध में कुछ कहनेके पहिले यह उल्लेख कर देना उचित समझता हूँ कि मैं आठ वर्ष तक उनका शिष्य रहा। यद्यपि उनका कार्य्य-क्षेत्र बहुत कुछ कलकत्ता और बङ्गालके बाहर भी है, तथापि मुख्यतः वह कलकत्ता और बंगाल तक ही है, अतएव कभी कभी बंगाल और विशेषकर कलकत्ते की चर्चा करनेके लिए पाठक मुझे क्षमा करेंगे। व्यक्तिगत रूपसे मैं अपने गुरुदेव से जिस प्रकार परिचित हूँ वैसा ही चित्रित करने का मेरा प्रयत्न भी होगा। सम्भव है, लोग मुझमें पक्षपात पावें, परन्तु गुरुके प्रति शिष्य का पक्षपात क्षमाकी दृष्टिसे देखा जाना चाहिये, आशा है ऐसा ही होगा भी।

बंगाल में एक छोटे किन्तु सुन्दर गाँव में सन् १८६१ में सर पी. सी. रायका जन्म हुआ। ग्राम-का प्राकृतिक दृश्य बड़ा सुन्दर है, एक नदी ने उसे तीन ओर से घेर रक्खा है। उनको आरम्भिक शिक्षा पुस्तकोंसे नहीं, किन्तु प्रकृतिके सौन्दर्यसे प्राप्त हुई। जब दस वर्षके हुए तब उन्होंने गम्भीरता-पूर्वक पुस्तकोंका पढ़ना आरम्भ किया। उनके पिता हरिश्चन्द्र थे तो छोटी स्थितिके ज़मीदार, किन्तु अच्छे और उन्नत विचारोंके आदमी थे। उनके पास अच्छा पुस्तकालय था और बालक प्रफुल्ल बड़े चावसे उसमें रखी हुई पुस्तकें पढ़ने लगा। उनके पिता ने स्त्री शिक्षा तथा अन्य परोपकारके कार्यों में बहुत सा धन खर्च किया था, इस कारण प्रफुल्लचन्द्रके जन्मके समय उनकी आर्थिक अवस्था सन्तोष-जनक न थी। प्रफुल्लचन्द्रके तीन भाई और तीन बहिनें हैं। उनके पिता ने यह समझ लिया कि गाँवमें लड़कोंकी पढ़ाई ठीक न हो सकेगी, इसलिए आर्थिक दृष्टिसे बहुत बड़ा त्याग करके वह कलकत्ता आकर रहने लगे।

कलकत्तेके हेयर स्कूलमें प्रफुल्लचन्द्रका नाम लिखाया गया। वहाँसे इन्ट्रेन्स पास होने पर स्व० पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा संस्थापित मेट्रोपोलिटन कालेजमें साहित्य के विषयों का तथा प्रेसीडेन्सी कालेजमें सायन्सका अध्ययन करने लगे। राजनीति तथा भारतवर्षकी उन्नतिके प्रयत्नों में, विशेष करके उनमें जो निर्माणात्मक होते थे, वह आरम्भ से ही दिलचस्पी लेते थे। जब वह कालेज में पढ़ते थे तब कई पत्र उत्साह और प्रेम के साथ पढ़ा करते थे। जब वह फ़ोर्थईयर क्लास में थे तब उन्होंने एक प्रतिद्वन्द्वतापूर्ण परीक्षा पास करके बाहर पढ़ने जानेके लिए गिलक्रैस्ट स्कालर-शिप प्राप्त किया। इसी घटनाको उनके जीवन में परिवर्तन कर देने वाली समझना चाहिये। उसके अल्प काल बाद ही वह यूरोप गये और विज्ञान पढ़नेके निमित्त एडिनबरा विश्वविद्यालयमें भरती हो गये। सरस्वतीके इस मन्दिरमें प्रवेश पाने पर गत कई

वर्षों से परिपक्क होने वाले रसायनके शौकको पूरा करनेका पूरा क्षेत्र प्रफुल्लचन्द्रको मिला। एडिनबरा विश्व-विद्यालय में उन्होंने टेट (Tait) और क्रमब्रौन (Crum Brown) से शिक्षा ग्रहण की। इन महान् आचार्य्योंने अपने प्रशंसनीय गुणों द्वारा प्रफुल्लचन्द्रको खूब प्रभावित किया। क्रमब्रौनमें विषय पर पूर्ण मनन तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक बात की जानकारी पायीजाती थी, और 'प्राकृतिक दर्शन' के लेखक अर्थात् टेट महाशय में सूत्रीकरण का हद दर्जेका कमाल था। उन्होंने वहाँ छः वर्ष पढ़ा और डाक्टरेट पदवीके रूपमें वहांकी सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त की। जैसा कि उनका स्वभाव था, रसायन शास्त्र तथा अन्य प्राकृतिक शास्त्रोंके अध्ययन में व्यस्त रहने पर भी वह अपने देशको नहीं भूले। जब वह एडिनबराकी बी. एस-सी. डिग्रीके लिए तय्यारी कर रहे थे उन्होंने सम्पूर्ण उपलभ्य ऐतिहासिक साहित्य का अध्ययन करके भारतवर्ष में सर्वोत्तम शासन पद्धति पर एक ग्रन्थ लिख डाला। यह ग्रन्थ पढ़कर अब भी लाभ उठाया जा सकता है। इससे भारतवर्ष की अवस्थासे उनके घनिष्ट परिचय तथा उसके प्रति उनके अगाध प्रेम का पता चलता है।

सन् १८८७ में वह भारत लौट आये और प्रेसीडेन्सी-कालेज-कलकत्ता में रसायन शास्त्र के प्रोफेसर हो गये। वहाँ वह नवयुवकों में उत्साह भरते और पचीस वर्ष से ऊपर तक मौलिक कार्य्य करते रहे। वहीं उन्होंने अनेक भारतीय रसायन वेत्ता तय्यार किये और प्रेसीडेन्सी कालेज और कलकत्ता विश्वविद्यालयकी प्रतिष्ठा बढ़ायी।

प्रेसीडेन्सी कालेजसे अवकाश ग्रहण करने पर कलकत्ता के यूनिवर्सिटी कालेज आव सायन्स में आपको प्रोफेसर का स्थान मिला, और इस समय भी पालित प्रोफेसर पद पर रह कर आप बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्तकर रहे हैं। यही उनकी संक्षिप्त जीवनी है।

अब यह प्रश्न उठता है कि इस महान् पुरुषके महत्वपूर्ण कार्य क्या हैं? सबसे पहिले मैं यह बतलाने की चेष्टा करूँगा कि महत्ता कहते किसे हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अल्पाधिक परिमाणमें कार्य्यकारिणी शक्ति प्राप्त रहती है और बहुधा वह शक्ति भोजन के प्रश्न अथवा अन्य आवश्यकताओं के कारण उठने वाली समस्यायोंके हल करने में खर्च हो जाती है। वह मनुष्य जिसमें इतनी शक्ति है कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने पर भी कुछ शक्ति बचा रखता है महान् कहलाता है। जितनी ही अधिक शक्ति बच रहे उतनी ही अधिक शक्ति कला, साहित्य, विज्ञान, धर्म, देश और मनुष्यताके कल्याण-साधनमें व्यय की जा सकती है, परन्तु सच्चे महान् पुरुषको किसी आदर्शसे प्रेम होना चाहिये और स्वार्थ-त्याग करना चाहिये।

इस दृष्टिकोणसे देखने पर पी. सी. रायको महान् पुरुष मानना ही पड़ता है; क्योंकि उनमें असाधारण परिमाणमें शक्ति है। और उसके साथ साथ आदर्श प्रेम और स्वार्थ त्याग है। यद्यपि देखनेमें आजीवन रोगी ही जान पड़ेंगे, अध्यापन-कार्य्य में उन्होंने सफलता प्राप्त की है और अपने विषय के प्रति सरलतासे ही वह सबमें प्रेम उत्पन्न कर देते हैं। प्रेसीडेन्सी कालेजमें आते ही उन्होंने अनुभव किया कि यूनिवर्सिटी कालेजोंमें खोजके कामके प्रति अधिक ध्यान देना चाहिये। मई महीने को छोड़ कर, जब वह अपने ग्राम को चले जाते थे, वह बराबर सालभर काम करते रहते थे। साधारण तातीलोंमें भी वह अपनी प्रयोगशालामें विद्यमान् रहते थे। उन्होंने अनेक पदार्थों का अनुसन्धान किया है और यूरोपके प्रसिद्ध वैज्ञानिक पत्रोंमें सैकड़ों लेख लिखे हैं। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि उन्होंने यूनिवर्सिटी कार्यका आदर्श ऊंचा कर दिया और अन्य जनों के लिए पथ प्रदर्शकका काम किया। अनेक भारतीय विश्वविद्यालयों में अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि खोजके कामको यूनिवर्सिटी-अध्यापन का अङ्ग कर देना चाहिये और यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं है कि इस विचारको उत्तेजना देनेवाले सर जगदीश चन्द्र बोस तथा सर प्रफुल्ल चन्द्रराय ही हैं। यह प्रसिद्ध बात है कि जब तक मनु-

ध्यमें वास्तविक महत्ता न हो वह अपने ही विद्यार्थी नहीं उत्पन्न कर सकता। सर पी. सी. राय अपने विद्यार्थियोंके भविष्य कल्याण और उन्नति साधनकी बहुत चिन्ता करते हैं। यही कारण है कि विद्यार्थी-समुदाय उनकी ओर आकर्षित होता है और उनके साथ पढ़ कर रसायन-शास्त्रका वैसा ही प्रेमी हो जाता है जैसे कि वह स्वयम् हैं। भारतवर्ष में रसायन-शास्त्रियोंके मण्डल का उन्हें संस्थापक समझना चाहिये। उनके विद्यार्थी देशके प्रत्येक भागमें रसायन शास्त्रके अध्यापक हो रहे हैं, और यदि उन्हें भारतीय रसायन शास्त्रियों का बौद्धिक पिता कहा जाय तो अनुचित न होगा। सच पूछिये तो तीस वर्ष से ऊपर तक शिक्षा और विज्ञान के क्षेत्रमें सर पी. सी. राय ने जो परिश्रम-पूर्ण कार्य किया है, उसी के कारण बङ्गाल के दो वकीलों ने विज्ञानका कालेज खोलने के लिए ३० लाख का दान दिया। प्रसिद्ध फ्रान्सीसी विद्वान् सिल्वेन लेवी का कहना ठीक ही है कि सर पी. सी. रायकी प्रयोगशाला भारतीय रसायन शास्त्रियों की जननी है। विज्ञानके अन्य भागोंमें काम करने वालों ने भी सर पी. सी. रायके विज्ञान-प्रेमसे प्रोत्साहन पाया है, उदाहरण के लिए डाक्टर मेघनाद साह हैं।

पन्द्रह वर्ष तक अपने अवकाश कालको लेखन-कार्य में लगाकर उन्होंने मौलिक संस्कृत आधारों पर दो भागोंमें हिन्दू रसायन शास्त्र तैयार किया; इस कार्यके लिए उन्होंने सैकड़ों संस्कृत भाषा में लिखित आत्म जीवनियों तथा हस्तलिखित और मुद्रित ग्रन्थों को देखा। यही नहीं, हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज में वह इंग्लैण्ड तक गये, जहां ब्रिटिश म्यूज़ियम लाइब्रेरी, इंडिया आफिस लाइब्रेरी और इंग्लिश लाइब्रेरी में उनके कामकी अनेक पुस्तकें उपलब्ध हो सकती थीं। उनका रसायन शास्त्र का इतिहास प्रकाण्ड ग्रन्थ है और अपने ढंगका यह पहला कार्य न केवल उनके प्रेम-पूर्ण परिश्रम का द्योतक है बल्कि इससे उनकी अपार विद्वत्ता और खोजका पता चलता है। हमारे पूर्वजोंने विज्ञान और औषधिके क्षेत्रमें कितना काम किया है, इसका पता इस ग्रन्थ से लगता है। चरक, सुश्रुत, तथा अन्य मौलिक आधारों से उन्होंने प्रमाणित किया है कि इस कार्य क्षेत्र में अरब निवासियोंने भारतवर्षसे बहुत कुछ सीखा और अब यह प्रकट है कि ग्रीक रसायन शास्त्र को अरब निवासियोंसे, जिन्होंने भारतवर्ष से शिक्षा ग्रहण की, बहुत कुछ सहायता मिली। सर पी. सी. राय की इस खोजसे यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि यूनानियोंका भारतवर्षके प्रति कितना ऋण है। प्रोफेसर मैकडानेलने निम्निलिखित शब्दों में अपने संस्कृत साहित्यके इतिहासमें भारतवर्षके प्रति यूरोपीय देशोंके ऋणी होनेका बात यों प्रकट की है—"विज्ञान में भी यूरोप भारतवर्ष का बहुत ऋणी है। पहली यात तो यह है कि संसार भरमें प्रयुक्त किये जानेवाले अङ्कोंका आविष्कार हिन्दूओं ने किया। उन अङ्कोंपर आश्रित दशमलव पद्धति ने जो प्रभाव न केवल गणित के ऊपर किन्तु संसार की उन्नति के ऊपर डाला है, उसका पूरा पूरा अनुमान लगाना कठिन है। आठवीं और नवीं शताब्दीमें भारतीयोंने अरब निवासियों को अङ्कगणित और बीज गणित सिखलाया और अरब निवसियों से पश्चिम के राष्ट्रोंने सीखा। इस प्रकार यद्यपि बीज गणित को हम अंग्रेज़ी या अरबी नामसे पुकारते हैं, इस ज्ञानका देनेवाला असलियत में भारतवर्ष ही है। इसके अतिरिक्त अरब-निवासी हिन्दू विद्वानों को बग़दाद ले गये और वहां उन्हें अपने अस्पतालों के प्रधान बनाकर उनसे वैद्यक, ओषधि निर्माण-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र आदि विषयों पर प्रस्तुत संस्कृत ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद कराया।" अपने इतिहास में पी० सी० रायने दिखलाया है कि विज्ञान, हिन्दू रसायन शास्त्र और ओषधि शास्त्र बौद्ध काल में बड़ी उन्नति कर चुके थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने नागार्जुन नामक एक उत्कृष्ट वैज्ञानिक विद्वान् के 'रस रत्नाकर' नामक ग्रन्थपर बड़ा ज़ोर दिया है। इस पुस्तक से मैं कुछ उद्धारण देना उचित समझता हूँ।

"जो जीवन मुक्त थे, समस्त प्राणियों के प्रति जिनके हृदयमें दया थी, जो सब को आशीर्वाद से सुखी करते थे ऐसे नागार्जुन के सामने रत्नघोष हाथ जोड़कर खड़ा हुआ और बोला "कृपा करके मुझे रासायनिक क्रियाके सम्बन्ध में ज्ञान दीजिये।" नागार्जुन ने कहा "शाबाश, शाबाश। मैं तुम्हारी भक्तिसे प्रसन्न हूँ, और जिस ज्ञानकी तुम्हें कामना है, उसे मैं तुम्हें दूंगा, मैं तुम्हें चर्म संकोच, केशोंकी श्वेतता तथा वृद्धावस्था के अन्य लक्षणों के नाशकी ओषधि बतलाऊँगा। खनिज पदार्थों से तैयार होने-वाली दवाइयों का प्रभाव धातुओं पर इतना ही अधिक होता है जितना कि शरीर पर। प्राणियों के हितार्थ बारह वर्ष तक मैंने अनेक प्रकार की तपस्या की और यक्षिनी देवीकी आराधना की, तब मैंने दिव्य वाणी सुनी।" नागार्जुन ने कहा "यदि तुम मुझपर प्रसन्न हो, तो मुझे पारेके स्थिर करनेकी हिकमत बतलाओ।" रसायन शास्त्र की एक दूसरी महत्व पूर्ण पुस्तकका कहना है "जैसा कि पारा पद्धतिमें वर्णित किया गया है जीवनकालमें ही मनुष्यकी मुक्ति अन्य शास्त्रों में भी बतलायी गयी है, यद्यपि उनकी दलीलों में अन्तर है; फिर भी इसमें तो सभी एक मत हैं कि ज्ञानी होता ही मुक्त है। अजीवित अवस्था में कोई ज्ञातव्यको नहीं जान सकता अर्थात् ज्ञातव्य को जानने के लिए जीवन का होना आवश्यक है। पारे में ही यह विशेषता है कि वह शरीरको अजर अमर कर सकता है; क्योंकि उसे मृत्युसे परे करने की यही महौषधि है। इस धातु का गुण वर्णन करने की क्या आवश्यकता है? इसके तो देखने और छूनेसे ही इसके महत्व का पता लग जाता है, जैसा कि रसार्णवमें कहा गया है "इसको देखने, छूने, खाने, रखने, इसकी आराधना करने तथा इसे औरों को देने के छहों उत्तम फलोंकी प्राप्ति होती है। पवित्र पारे की पूजा काशी तथा अन्य स्थानों की मूर्तियों की पूजा से कहीं बढ़ कर है"।

विद्या पाठके समारम्भ, प्रयोग शाला के निर्माण आदि के सम्बन्ध में भी उद्धरण दिये जा सकते हैं। रसार्णवके अनुसार शिक्षकको रासायनिक क्रिया-ओंमें बुद्धिमान अनुभवी और अभ्यस्त होना चाहिये, उसे शङ्कर पार्वती का भक्त होना चाहिये और शान्ति तथा धैर्य रखना चाहिये। विद्यार्थी को शिक्षकके प्रति श्रद्धा रखनी चाहिये, सदाचारी, सच्चा, परिश्रमी, आज्ञाकारी, गर्व शून्य और पक्के विश्वास वाला होना चाहिये। रासायनिक क्रियायें ईश्वर-भक्त शङ्कर-पार्वतीके उपासक राजाके, अराजकता-शून्य, राज्यमें की जानी चाहिएँ और प्रयोग-शाला ऐसे स्थानमें बनायी जानी चाहिये जो आयुर्वेदीय वनस्पतियों और कुओंसे पूर्ण जंगलके बीचमें हो। इसमें विविध प्रकारके औज़ार होने चाहियें, चार दरवाजे हों और देवताओंके चित्र भी रहें। पूर्वमें पारा, दक्षिण-पूर्वमें अंगीठी, दक्षिण पश्चिममें औज़ार और उत्तर-पश्चिम में सुखानेका प्रबन्ध रखना चाहिये। जो सच्चे हैं, प्रलोभनके वशमें नहीं हैं, देवताओं और सात्विकी भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंके भक्त हैं, उन्हींको रासायनिक क्रियायें करनेमें नियुक्त करना चाहिये। ऐसे वनस्पति-शास्त्रका ज्ञान रखनेवाले धोखा नहीं देते, ओषधियों और पौधोंकी पूरी पूरी जानकारी रखते हैं और कार्यमें नियुक्त करनेके योग्य होते हैं।" सच्चे हिन्दू रसायन शास्त्र-वेत्ताकी तरह सर पी. सी. राय ने पारेके अनेक यौगिकोंका आविष्कार किया है और बीस वर्ष तक इसीके सम्बन्धमें कार्य किया है। अंग्रेजी शब्द कैमिस्ट्री (Chemistry) को संस्कृतमें 'रसायनम्' कहते हैं। इस विषयके समस्त संस्कृत ग्रन्थ रस शब्दसे, जिसका अर्थ पारा है, शुरू होते हैं। इस प्रकार रासायनिक आविष्कारके क्षेत्रमें भी सर पी. सी. राय हमारे पूर्वजोंके सच्चे सपूत कहे जा सकते हैं।

धातु-विज्ञानमें प्राचीन हिन्दुओं की क्षमता

कुतुब मीनारके विषयमें प्रसिद्ध लेखक डाक्टर फर्गुसनका कहना है—"ईसाके बाद ४०० वर्षको औसत निर्माणकाल मानते हुए भी उसकालमें

हिन्दुओंकी ऐसे ऐसे लोह-स्तम्भ बनानेकी योग्यता देख कर आश्चर्य होता है जैसे कि यूरोपमें उसके बहुत समय बाद तक, और यही क्यों अब भी नहीं बन पाते हैं। इतना ही आश्चर्य्य-जनक यह भी है कि पन्द्रह शताब्दियों तक हवा और पानीकी बौछारें खाते रहने पर भी, इस पर जंग नहीं लग सका है और उसपरका लेख अब भी उतना ही स्पष्ट है जितना कि वह १५०० वर्ष पहले था।" पैरिसके प्रोफेसर प्रसिद्ध रसायन-शास्त्रज्ञ कैटैलियाका कहना है कि कुतुब मीनारके लोहस्तम्भ-में जिस प्रकारके फ़ौलादका प्रयोग हुआ है वह यूरोपमें नहीं बन सकता। इस कालके बाद भी हम तो फ़ौलादको काम लायक बनानेकी योग्यतामें भारत वासियोंको निपुण पाते हैं। दमश्क की तलवार आदिकी धारका बड़ा आदर था, परन्तु सच पूछिये तो फ़ारस-निवासियोंने भारत वासियों-से ही उनका बनाना सीखा और उनसे अरब-निवासियोंने यह रहस्य पाया। यह बात प्रसिद्ध रसायन शास्त्री बर्थेलोने भी स्वीकार की है।

प्राचीन भारत कला और विज्ञानको उच्च जातिके लोगोंने ही अपना रखा था। दुर्भाग्यसे वर्णाश्रम व्यवस्थाके अत्यंत कड़े रूपमें प्रचलित होने पर इन बातोंका ज्ञान लुप्त हो गया। वैदिक कालमें ऋषियों अथवा पुरोहितों ने अपनी कोई अलग जाति नहीं बनाई थी, बल्कि अपने सुभीते अथवा स्वाभाविक रुचिके अनुसार भिन्न भिन्न कार्य करते थे। उस समय इमर्सन (Emerson) के इस सिद्धान्तसे दूर नहीं थे कि "मनुष्यके चरित्र में ही उसका पेशा निर्दिष्ट है। प्रत्येक मनुष्य एक खाश पेशेके लिए बनाया गया है जिसे उसकी प्राकृतिक क्षमता निश्चित करती है।" परन्तु जब ब्राह्मणों ने बौद्ध धर्मकी अवनति होने पर अपना सिक्का जमाया तब यह सब परिवर्तित हो गया। वर्णाश्रम-व्यवस्था फिर कड़ाई के साथ जमाई गई। मनु और अन्य अर्वाचीन पुराणोंकी प्रवृत्ति ब्राह्मण-वर्गकी मान-वृद्धिकी ओर ही दीख पड़ती है। ब्राह्मणों ने भी मनमाने महत्त्व वाले ढोंग बढ़ा लिए। सुश्रुतके अनुसार चीरफाड़का काम सीखने वाले प्रत्येक विद्यार्थीके लिए मृतक शरीरकी परीक्षा अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु मनु इसके विरुद्ध हैं। मनु के अनुसार ब्राह्मणोंसे शरीरको अपवित्र करने-के लिए मृतक शरीर का स्पर्श ही पर्याप्त है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भागवतके थोड़े समय बाद ही चीर-फाड़के औज़ारोंका प्रयोग बन्द किया जाने लगा, जिसका फल यह हुआ कि शरीर-शास्त्र का ज्ञान और चीर फाड़की क्रिया में हिन्दुओंकी कुशलता नष्ट हो गई।

हथोड़े और भठ्ठीका काम करना भी शान के खिलाफ़ समझा जाने लगा। इसीलिये समाजके उच्च मनुष्योंको हम कलाओंका प्रेमी केवल पार-स्परिक कथनोंमें देखते हैं, और प्राचीन संस्कृत-साहित्यमें चित्रित स्वरूप हमें फिर कहीं नहीं दिखाई पड़ता। इसमें सन्देह नहीं कि वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी सख्तीके कारण कलाओं और विज्ञानोंके इस प्रकार छोटी जातियोंमें परमित कर देनेसे कुछ सफ़ाई, अच्छाई और होशियारी पैदा हुई, परन्तु बड़ी भारी हानि भी उठानी पड़ी। जातिके ज्ञानवान मनुष्योंके कलाओंमें भाग लेनेसे इस प्रकार विरत हो जानेके कारण, क्यों और कैसेको विवे-चना, कारण और फलको समझनेकी प्रवृत्ति, बन्द हो गई। दर्शन शास्त्र और आत्मा-परमात्माके झगड़ों में पड़ी रहनेवाली जातिमें फिर उक्त प्रकार के प्रश्नोंका उत्तर ढूंढ़नेकी इच्छा न रही और धीरे धीरे भारतवर्ष से वह कलायें विदा हो गईं। फिर भारत-भूमिमें बायल, डेकारटे, या न्यूटनके उत्पन्न होनेकी सम्भावना न रहगई, और उसका नाम ही वैज्ञानिक संसारके नकशेसे प्रायः मिट गया। बौद्धिक अप्रगतिशीलता की इस भूमिमें अपने मां-बाप से पाई हुई अपनी पुरानी बातों को साधारण समझवाले कारीगरोंने बहुत कुछ बचाये रक्खा। धातुओं पर सुन्दर डिज़ाइन बनाने, हाथी दांत पर नक़्क़ाशी करने, बुनने, रङ्गने और

लेस बनानेके काममें अब भी वह अपने ढङ्गकी आश्चर्य-जनक होशियारी दिखलाते हैं।

ऊपर की पङ्क्तियोंको पढ़कर पाठक सर पी. सी. रायके समाज सुधारक और इतिहास-वेत्ताके स्वरूपको पहिचान सकते हैं। कट्टर सनातन धर्मी परिवारमें जन्म लेकर भी सर पी. सी. राय हिन्दू समाज की अनुचित बातोंको नहीं मानते। विशेष करके वर्णाश्रमकी सख्ती और बाल विधवाओंकी दशासे तो इन्हें बहुत दुख होता है। अपने विद्यार्थियों से वह क्लासमें कहा करते थे कि चमारके हाथ का बना चावल वैसा ही अच्छा है जैसा कि ब्राह्मणके हाथका। अछूत प्रथाके विरुद्ध तो वह अपने विचार बड़े जोरदार शब्दोंमें व्यक्त किया करते थे। इङ्गलैण्ड जानेके बहुत पहले वह ब्राह्मो समाज के सदस्य हो गये थे, परन्तु सर पी. सी. राय जैसे पुरुषकी प्रत्येक वस्तुको समालोचककी दृष्टि से स्पष्ट देखनेवाली चञ्चल कार्य-कारिणी-शक्ति और तेज प्रतिभा किसी समाज-विशेषके नियमों द्वारा नहीं बांधी जा सकती, उनका सा उच्च कक्षा का सुधारक किसी सम्प्रदाय-विशेषका होकर नहीं रह सकता, वह तो राष्ट्रके विस्तृत समाजका, नहीं समस्त संसारका है।

गत बीस वर्षसे वह निरन्तर कर्मका उपदेश दे रहे हैं, इस देशकी सामाजिक असमानताओंके सम्बन्धमें तीखी बातें कहते, और राष्ट्रकी दुर्बलताओं और वर्णाश्रमकी सख्तियोंकी आलोचना करते हैं। जब कभी वह व्याख्यान देते हैं, अधिक संख्यामें लोग सुनने आते हैं, क्योंकि लोग जानते हैं कि वह जो कुछ कहते हैं उस पर विश्वास रखते हैं, उसके अनुसार स्वयं करते हैं, और इन्हीं के लाभके लिए हृदयसे अनुभव करके कहते हैं। कुछ ही समय हुआ उन्होंने मुझसे कहा कि फ्रांसीसी विद्वान सिल्वन लेवीने उनसे पूछा कि पहिले तो भारतवासी बहुत उन्नत थे, फिर वह इतने नीचे क्यों गिर गये हैं। राय महोदय बड़े उदार हृदयके पुरुष हैं और जब वह स्वदेश की दुर्दशा देखते हैं तब उन्हें अत्यन्त क्लेश होता है।

सर पी. सी. राय निर्माणात्मक कार्य और भारतीय औद्योगिक पुनर्जीवनके प्रति प्रयत्नके बड़े समर्थक हैं। ३० वर्षकी अवस्थामें जब वह प्रेसिडेन्सी कालेजमें प्रोफेसर होकर आये तब उन्होंने अपने घर ९१, अपर सर्क्यूलर रोड पर ही एक औषधालय खोल दिया। उन्होंने कुछ मित्रों की सहायतासे दवाइयां बनाना और कुछ पौधोंका सत्त निकालना शुरू कर दिया। यह कार्य्य कुल ५००) की पूँजीसे शुरू किया गया था, किन्तु इतनेसे ही उन्नति करके आज यह संस्था Bengal Chemical & Pharmaceutical Works के नामसे प्रसिद्ध हो रही है, जहां कई तरहके रसायन, दवाइयां तथा अन्य उपयोगी वस्तुएं बनती हैं। इस संस्था की पूंजी आज कल कई लाख है और इसके जोड़की दूसरी कोई संस्था आज भारतवर्ष में नहीं है। इस कारखाने के प्रारम्भ कालमें एक शोक-जनक घटना हो गई थी। प्रधान कार्य कर्त्ताओंमेंसे एक हाइड्रोसियनिक एसिड गैसके विषसे परलोकवासी हो गया। सर पी. सी रायने इस संस्थाको विशाल ही नहीं बनाया, जो अब लिमिटेड कम्पनी है, उन्होंने साबुन और चमड़ेके अनेक पुतली घरोंके निर्माणमें भी प्रधान भाग लिया है और इस समय वह बङ्गालकी बारह लिमिटेड कम्पनियोंके डाइरेक्टर हैं।

प्रेसीडेन्सी कालेजके भूतपूर्व प्रिंसिपल मि० एच. आर. जेम्स सर पी. सी. रायके बड़े मित्र और प्रेमी थे और उनसे कहा करते थे "जहां व्यवसायी पुरुषोंको सफलता नहीं मिली वहां शिक्षक हो कर भी आपने सफलता प्राप्त की"। इस सम्बन्धमें यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि जिसका चारों ओर प्रभाव पड़ता है वह चरित्र है और राय महोदयका चरित्र अत्यन्त उच्च है। मैं कह चुका हूँ कि वह निर्माणात्मक कार्यकर्त्ता हैं और छोटे छोटे उद्योग धन्धोंके समर्थक हैं। पाश्चात्य देशों और अमेरिकाके विशाल औद्योगिक कारखानों के पक्ष में वह नहीं हैं। वह घरेलू उद्योग-

धन्धोंके प्रति विशेष उत्साह प्रदर्शित करते हैं, इस उद्देश्य से तथा अपने देश-वासियों के पारस्परिक आलस्य को मिटानेके लिए वह हाथसे बने कपड़े के प्रयोग और बनानेके प्रचार निमित्त चारों ओर लोगों में चक्कर लगा रहे हैं। बङ्गाल के एक कोनेसे लेकर दूसरे कोने तक वह इसी उपदेशका प्रचारकर रहे हैं। अपनी क्रिया-शीलता के केन्द्र कलकत्तासे वह बङ्गाल के दूरस्थसे दूरस्थ प्रान्तोंमें घूम रहे हैं। इन हाथ के कपड़ोंकी बुनाई में वह अपने पाकेटसे ३०००० रुपयों के क़रीब ख़र्च कर चुके हैं। वह कलकत्तेमें इन हाथ के बने कपड़ोंकी प्रदर्शिनी बहुधा किया करते हैं, और स्त्रियों और पुरुषों दोनोंको हाथका बना कपड़ा बनानेके लिए प्रोत्साहित करते रहते हैं।

सर पी. सी. राय आरम्भसे ही स्वदेशी के भक्त रहे हैं। सन् १८९२ में उन्होंने बंगाल केमिकल्स की स्थापना इसी उद्देश्यसे की थी, कि भारत को जो सम्पत्ति रसायन पदार्थों और ओषधियोंके रूप में विदेश चली जा रही है, वह रुक जाय। इधर राष्ट्रीय प्रगति के साथ साथ महात्मा गन्धी ने जबसे खद्दर का प्रचार किया है तबसे सर पी. सी. राय भी खद्दर के भक्त बन गये हैं। वे खद्दर का प्रचार करते हैं और स्वयं भी चरखा चलाते हैं। आपका यह विश्वास है कि भारतवासी अपना बहुतसा समय आलस्य में वृथा गंवा देते हैं, और यदि वे इस समय को थोड़ासा भी खद्दर कातने में व्यतीत करदें तो उनकी दरिद्रता बहुत कुछ दूर हो सकती है।

बंगाल में जब जब दुर्भिक्ष पड़े हैं या बाढ़ आई हैं, तब तब सर पी. सी. राय ने पीड़ितों को यथाशक्ति सहायता की है। उनके लिये धन एकत्रित किया है, और युवकों की टोलियां उनकी सहायता के लिये स्थापित की हैं।

जिस प्रकार संयुक्त प्रान्त में मालवीयजी और गुजरात में महात्मा गान्धी धन एकत्रित करने में बड़े ही सिद्धहस्त हैं उसी प्रकार बंगाल में सर पी. सी. राय हैं। इसका कारण यह है कि जनता पर उनका बड़ा प्रभाव है, और जनता भी उनपर पूरा विश्वास रखती है, जनता समझती है कि जो धन सर पी. सी. एकत्रित करेंगे उसका अपव्यय न होगा। यही कारण कि जब जब इन्होंने धनके लिये अपील की, तब तब रुपयों की वर्षा सी होने लगी।

अब मैं सर पी. सी. राय की प्रकृति और शरीर आदि के विषय में कुछ बातें बतलाऊंगा। वह भाव-पूर्ण नेत्रोंवाले एक दुबले पतले आदमी हैं। वह बहुत थोड़ा खाते हैं, परन्तु भोजन की मात्रा देखते हुए उनमें असाधारण कार्य शक्ति है। अत्यन्त दयालु हैं, सच्चे हैं, और सभी तरहके लोगों से मित्रता स्थापित कर सकते हैं। यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि उनमें पूर्व और पश्चिमकी सर्वोत्तम बातें विद्यमान हैं।

पोशाकके मामलेमें इनकी पूर्वीय रङ्गकी प्रधानता है। स्वार्थ त्याग, सरल रहन-सहन और उच्च विचार-परायणताके सिद्धान्तके वह परम भक्त हैं। बटन-बन्द कोट और हिन्दुस्तानी टोपी लगा कर वह चार बार यूरोप हो आये हैं। उनकी रुचि बहुत साधारण है, अपने व्यक्तिगत व्ययमें १००) मासिकसे अधिक ख़र्च नहीं करते, और चूंकि वह सपत्नीक नहीं हैं, उनकी शेष आय जो १२००-१५०० रुपये होती है, कहीं बालकों और बालिकाओंकी शिक्षामें, कहीं दाई घरोंके लिए दान करनेमें, कहीं विधवा-गृहों और अनाथालयोंकी सहायतामें ख़र्च होती है। उनके कारण ही बङ्गाल के कुछ जिलोंमें उच्च शिक्षाके निमित्त कालेज, और धार्मिक शिक्षाके निमित्त प्राइमरी स्कूल, खुल गये। इन्हीं संस्थाओंको सहायतामें इन्होंने अपनी आमदनीका बहुत बड़ा हिस्सा ख़र्च किया है और अपनी छुट्टियां वह स्थानीय कार्य-कर्त्ताओंसे मिलने और प्रोत्साहित करनेमें बिताया करते हैं। वह अत्यन्त स्वार्थ त्यागी पुरुष हैं, उसीसे उनकी इच्छाएं भी थोड़ी हैं।

एक बार उनके पास कुछ आम लाये गये और उन्होंने हर एकका दाम पूछा। उत्तरमें दो आना कहा गया, उन्होंने तुरन्त कहा कि मैं नहीं लूँगा, क्योंकि मेरे लिए यह बड़े महंगे हैं। वह बोले कि

यदि एक आमका दाम एक आना होता तो मैं अवश्य ले लेता। कभी कभी मक्खन बिना ही वह रोटी खा लेते हैं। आप कहेंगे कि उनका पहनावा अच्छा नहीं होता, आजकल तो वह कलकत्ता विश्वविद्यालयके सेनेट के अधिवेशनों तथा अन्य कई महत्वपूर्ण सभाओंमें एक कमीज और एक खद्दरकी धोती पहिन कर जाते हैं। उन्होंने मुझसे कई बार कहा है कि पूर्व और पश्चिमके धनाढ्य लोग जैसी पोशाक पहिननेके शौक़ीन हैं, उससे मुझे बड़ी घृणा है। अपने पहिनावेके कारण उन्हें अनेक बाधाएँ सहनी पड़ती हैं, क्योंकि कोई जल्दी विश्वास नहीं करता कि सर पी. सी. राय जैसा बड़ा आदमी इस प्रकारके अपर्याप्त और अरुचिकर पोशाकमें रहेगा। मुझे एक घटना याद है जब कि वह एक सेकंड क्लास रेलवे स्टेशनके वेटिंग रूममें प्रवेश करनेसे रोक दिये गये, क्योंकि जो मनुष्य उसके चार्जमें था उसे यह विश्वास नहीं हुआ कि ऐसी बेढङ्गी पोशाक का आदमी सेकंड क्लासका यात्री होगा। अपने अस्वास्थ्यके कारण ही वह सेकंड क्लासमें चलते हैं, नहीं तो थर्ड क्लास में ही चलते। वह चार बार यूरोप हो आये हैं और विचार तथा प्रणालीमें पूरे पाश्चात्य ढङ्गके हैं। वह सदैव समयके पाबन्द रहते हैं और अपने कार्यको नियमित रूपसे करते हैं। वह अनेक सरकारी कमेटियों में काम कर चुके हैं और सदैव स्वार्थ-त्यागपूर्वक उस दृष्टि-कोणके समर्थक रहे हैं जो भारतवर्षके अनुकूल होता है। उनका स्वभाव बच्चेके ऐसा सरल है। यद्यपि अब वह सत्तर वर्षकी आयुके हैं तथापि वह बच्चोंकी ही तरह हँसते और मुसकराते हैं और कूद सकते हैं। यदि आप उनसे मिलने जायँ तो तुरन्त ही उनका व्यवहार आपके साथ मित्रका सा हो जायगा और वह आपका हाथ पकड़ कर आपकी छाती पर कुछ घूँसे भी लगावेंगे, और यदि आप काफ़ी मजबूत हैं तो वह आपके कंधों पर भी चढ़ जायँगे। एकत्वकी घनिष्ठता दूसरेके साथ दिखलानेके लिए वह प्रयोगशालाके नौकरको दौड़कर गले लगा लेंगे। उनकेसे महान् पुरुषके लिए छोटे बड़ेमें कोई भिन्नता नहीं है। उनका उदार हृदय सभीसे प्रेम करनेको तैयार होता है। सर पी. सी. रायका यह चित्र मैंने उनके उसी स्वरूपका खींचा है, जिस स्वरूपमें मैंने उन्हें पहिचाना है। मेरा तो विचार है कि उनसे प्रेम न करना उनका आदर न करना, और उनकी भक्ति न करना, असम्भव ही है। ऐसे अद्भुत और प्रेम-पूर्ण व्यक्तित्वके सामने हमारे हृदय और शरीर दोनों नम्र हो जाते हैं।

यदि हम इस महान् पुरुषके स्वभावकी प्रधान बातोंकी मीमांसा करें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि उनमें मनुष्य जातिके प्रति अपार प्रेम है, स्वार्थ त्यागका भाव है और आदर्शके लिए अनुराग है, परन्तु चूंकि वह मानते हैं कि उदारता घरसे ही शुरू होनी चाहिये, वह सब दोषोंके रहते हुए भी भारतवर्ष और इसके निवासियोंके पुनर्जीवनमें सहायता देते हैं और उन्हें अत्यंत प्यार करते हैं। उनकी सम्पूर्ण सहानुभूति दुखी मनुष्य जातिके प्रति सहायता के लिए तैयार होती है, और हमें अच्छी तरह मालूम है कि उन्होंने बङ्गालके अकाल ग्रस्त जिलोंके दुख-निवारणके लिए कैसा उद्योग किया। इन दिनों वह भारतवर्षके आर्थिक प्रश्नों और रोटीकी समस्या पर व्याख्यान दे रहे हैं। यद्यपि उनका विशेष प्रेम विज्ञानसे है तथापि वह दुखी मनुष्य-जातिसे सहानुभूति किये बिना रह नहीं सकते। कलकत्ताके निर्धन विद्यार्थी आपको पिता-तुल्य मानते हैं।

कोई बीस वर्ष हुए जब वह भारतवर्षके भविष्यके सम्बंधमें अत्यंत निराश हो गये थे परंतु अब उनका विचार फिर परिवर्तित हो गया है। उन्हीं दिनों वह ब्रह्मो समाजके प्रसिद्ध उपदेशक और धार्मिक पुरुष पं० शिवनाथ शास्त्री से पूछा करते थे कि भारत वर्ष में कुछ ऐसे रसायन शास्त्री क्यों न उत्पन्न हों जो निस्स्वार्थ भाव से रसायन शास्त्र की सेवा करें। उनकी सदैव यह इच्छा रही है कि वह कुछ रसायन शास्त्रके विद्यार्थी

भारतवर्ष में उत्पन्न करें। इस उद्देश्यकी सिद्धि के लिए उन्होंने दृढ़ताके साथ ४० वर्ष तक कार्य किया है। इसे हमें अपने देशका सौभाग्य कहना चाहिये कि उनके क्रियाशील जीवन के गत पचीस वर्ष में उन्हें सफलता भी अच्छी मिली है और अब वह स्वदेश की ओर से पूर्ण आशावादी और सन्तुष्ट हैं, जैसा कि उनके निम्नलिखित वाक्यों से ज्ञात होगा। "भारतीय राष्ट्र का भूतकाल ज्वलन्त रहा है, उसमें अपार कार्य शक्ति है, मुझे पूर्ण आशा होती है कि उसका भविष्य भी उज्ज्वल होगा।"

उनके जीवन से हमें निम्नलिखित उपयोगी बातें मालूम होती हैं:—अटूट अध्यवसाय; किसी महान् कार्य को करने के लिए निरन्तर उद्योग तथा प्रयत्न-शीलता, अपूर्व आत्म-त्याग, मानव जातिके प्रति अपार प्रेम, दुखियोंके लिए सहानुभूति और यहकि साधारण रहन-सहन और उच्च विचारसे ही मनुष्यका जीवन सुखमय तथा उपयोगी हो सकता है।

जीवन पञ्जिका

[ले० श्री नृपेन्द्रनाथ विश्वास एम० एस-सी०]

१८६१—(७ अगस्त)	—आचार्य्य प्रफुल्लचन्द्र राय का जन्म।
१८७०—	—हेयरस्कूल, कलकत्ता में प्रवेश।
१८७४—	—एलबर्ट स्कूल में अध्ययन।
१८७९—८२	—मेट्रपालिटन और प्रेसीडेन्सी कालेज में अध्ययन।
१८८२	—उच्चशिक्षा की प्राप्ति के लिये प्रथम बार विलायत यात्रा।
१८८७	—एडिनबरा विश्वविद्यालय से डी० एस-सी० की उपाधि-प्राप्तकी।
१८८९	—भारत में लौट आये और प्रेसीडेन्सी कालेज कलकत्ता में। प्रोफेसर नियुक्त हुए।
१८९२	—बंगाल केमिकल्स की संस्थापना।
१८९५—९६	—पारद नोषित की खोज।
१९०४	—द्वितीय बार विलायत यात्रा। गवर्नमेंट ने यूरोपीय प्रयोगशालाओं को देखने के लिये भेजा था।
१९१०	—बंगीय साहित्य सम्मेलन के सभापति हुए।
	—सी० आई० ई० की उपाधि प्राप्त हुई।
	—कलकत्ता विश्वविद्यालय की कीर्ति विस्तार के लिये तृतीय वार विलायत यात्रा।
	—डरहम विश्वविद्यालय ने 'हिन्दू केमिस्टी' ग्रन्थ के उपलक्ष में आनरेरी डी० एस-सी० की उपाधि दी।
१९१४	—पंजाब विश्वविद्यालय में सम्भाषण।
१९१४	—प्रेसीडेन्सी कालेज से त्यागपत्र और कलकत्ता विश्वविद्यालय में नियुक्ति।
१९१६	—कलकत्ता विश्वविद्यालय में एक्सटेनशन लेक्चर।
	—भारतीय जातीय समाज संस्था समिति के सभापति हुए।
१९१८	—मद्रास विश्वविद्यालय में सम्भाषण व वेडरबर्न-पुरस्कार की स्थापना।
१९१९	—नाइट (सर) की उपाधि प्राप्त हुई।
१९२०	—भारतवर्षीय सायंस कांग्रेस के सभापति।
१९२१	—चौथी बार विलायत यात्रा।
१९२२	—खुलना दुर्भिक्ष में सहायता।
	—कलकत्ता विश्वविद्यालय को नागार्जुन पुरस्कार की संस्थापना के निमित्त १० सहस्र रुपये का दान।
	—उत्तरी बंगाल की बाढ़ में सहायता।
१९२३	—अलीगढ़ विश्वविद्यालय में उपाधि-उत्सव पर वक्तृता।
	—अहमदाबाद के राष्ट्रीय विश्वविद्यालय में वक्तृता।
१९२४	—उत्कल प्रादेशिक सम्मेलन के सभापति हुए।
	—इण्डियन केमिकल सोसायटी की स्थापना।
१९५२	—शान्तिनिकेतन परिदर्शन।
	—नागपुर विश्वविद्यालय के उपाधि-उत्सव पर वक्तृता।
	—कलकत्ता विश्वविद्यालय में 'अधरचन्द्र मुखोपाध्याय' प्रोफेसरशिप के रूप में वक्तृता।
१९२६	—विलायत यात्रा।
१९३०—३१	—पूर्वीय बंगाल में बाढ़ से पीड़ितों की सहायता।
१९३२	—सत्तरहवें वर्षकी समाप्ति पर जयन्ती।

बङ्गाल केमिकल वर्क्स।

[ले० सत्य प्रकाश].

आचार्य सर प्रफुल्ल चन्द्र रायके जीवनका वृत्तान्त बङ्गाल केमिकल वर्क्सका उल्लेख किये बिना बिल्कुल अधूरा ही रह जाता है। आचार्य राय रसायनज्ञ हैं, और उनके सामने जर्मन देशके रसायनज्ञ आदर्श रूप रहे हैं। रसायनके दो भागहैं, एक तो दार्शनिक रसायन और एक व्यावहारिक अथवा औद्योगिक। सर रायने जहाँ दार्शनिक रसायनमें बड़े ही महत्त्वपूर्ण अन्वेषण किये, वहाँ उनका ध्यान औद्योगिक रसायन की ओर भी गया। आपका यह सदा विश्वास रहा है, कि भारतवर्ष की उन्नति एवं स्वतन्त्रताके लिए यह परमावश्यक है कि इस देशमें आवश्यकीय पदार्थों के बनानेके कारखाने खोले जायँ। जब तक यह देश अपनी छोटीसे छोटी आवश्कयताके लिए भी विदेशोंका मुहताज रहेगा तब तक इसकी उन्नति होना कठिन है। उनकी इस विचार-भावनाका फल ही बङ्गाल केमिकल वर्क्स है। भारतवर्ष ही नहीं, प्रत्युत संसारके इतिहास में यह उल्लेखनीय उदाहरण है कि विश्वविद्यालयके एक अध्यापक ने ऐसे कारखाने की नीव डाली, यही नहीं, प्रत्युत अपने हाथों से ही उसे परिपल्लवित भी किया—जो कि एक व्यापार कुशल लक्ष्मी सम्पन्न व्यक्ति का ही काम था।

सन् १८९२ ई० में सर पी. सी. रायने औषधियों और रसायन-पदार्थों को व्यापारिक मात्रामें बनाने का विचार किया। इस उद्देश्यसे उन्होंने बङ्गाल केमिकल एण्ड फार्मेक्यूटिकल वर्क्स के नाम से ९१, अपर सर्कुलर रोड, कलकत्ता के भवन में एक छोटा सा साधारण कारखाना ५०० रुपये से आरम्भ किया। बाद को उनके दो मित्र, डा० अमूल्य चरण बोस, एम. बी., और श्रीसतीशचन्द्र सिंह, एम. ए. भी इस कार्यमें सहयोग देने लगे। जिस समय यह कार्य आरम्भ किया गया था उस समय यह तीनों व्यक्ति बिल्कुल नवयुवक ही थे। इनके पास पूंजी बहुत थोड़ी सी ही थी, और व्यापारिक अनुभव तो बिल्कुल भी न था। इनके पास केवल एक चीज़ थी, वह यह कि काम करने की सच्ची लगन। इनमें अपार उत्साह के साथ साथ आत्मविश्वास था। यह अपने उज्ज्वल भविष्य का मधुर स्वप्न देख रहे थे। ये कल्पनाओं की ऊँची से ऊँची उड़ान ले रहे थे। प्रफुल्ल चन्द्र राय ने औषधियों और रसायनिक पदार्थों को बनाने की विधियों के सोचने का काम अपने ऊपर लिया क्योंकि आप रसायन शास्त्र के विशेषज्ञ और अध्यापक थे। डा० अमूल्यचन्द्र बोस का कार्य्य यह था कि वे औषधियों को रोगविज्ञान की दृष्टि से परीक्षा करते थे, और उनको परमोपयोगी बनाने का प्रयत्न करते थे। वे यह निश्चित करते कि अमुक औषधि कितनी मात्रामें किस रोगमें देनी चाहिये। अब रह गया प्रबन्ध का कार्य्य, औषधियाँ बनाने वाले कर्मचारियोंका निरीक्षण और बने हुए पदार्थों को बेचने का प्रबन्ध—यह सब कार्य्य श्री सतीशचन्द्र सिंह ने अपने आधीन रखा। इस समय कुछ देशी दवाइयाँ और कुछ अंग्रेज़ी दवाइयां बनाई जाने लगीं। साथ ही साथ कुछ रासायनिकपदार्थ भी तैयार किये जाने लगे।

भारतवर्ष का आयुर्वेदिक विधान अपना निराला ही है। इस विधानमें अनेक प्रकार की भस्मों, रसों, और जड़ी बूटियों का व्यवहार होता है। इन औषधियों के तैयार करने की विधियाँ भी हमारे यहाँ विचित्र हैं। अंग्रेज़ी दवाइयों का आज कल प्रचार बढ़ता जा रहा है, और ये दवाएँ उस समय बराबर विदेश से ही आती थीं। देशी और अंग्रेज़ी दवाइयों में आकाश पाताल का अन्तर हो जाता है। दोनोंके प्रभाव अलग अलग और दोनों के बनाने की विधियाँ अलग अलग। जिस समय

बङ्गाल केमिकल्स ने औषधियां तैयार करना आरम्भ किया, तो उन्होंने देशी दवाइयों को ही भिन्न विधियों से बनाना चाहा। इसमें उन्हें एक बड़ी कठिनाई उठानी पड़ी। प्रश्न यह उपस्थित हो गया कि इनकी दवाओं का उपयोग कौन करे? देशी वैद्य तो अपनी पुरानी प्रथासे तैयारकी हुई औषधियों में विश्वास रखते थे, उन्हें बङ्गाल केमिकल्स की औषधियों के व्यवहार करनेमें बड़ा सङ्कोच होता था। अंग्रेज़ी डाक्टर तो हिन्दुस्तानी दवायों के व्यवहार से बहुत दूर भागते थे। यही नहीं, जो अंग्रेज़ी दवाएँ भी इस कारखाने में तैयार की जाती थीं, उनको भी वे सन्देह की दृष्टि से देखते थे। इस प्रकार बङ्गाल केमिकल्स के जन्मदाताओं के सामने वैद्यों और डाक्टरों दोनों की ओर से ये असुविधाएँ होने लगीं। पर ये युवक व्यक्ति अपनी धुन के पक्के थे। उन्हें विश्वास था कि यदि पश्चिम और पूर्व दोनों के विधानों के गुणों को अपनाया जाय तो बहुत ही लाभ हो सकता है। भारतवर्ष की औषधियां सहस्रों वर्ष की अनुभव सिद्ध थीं। पश्चिमी विज्ञान ने औषधियों के तैयार करने के अति सुविधा-जनक-साधन उपस्थित किये थे। अतः पूर्व और पश्चिम दोनोंके सहयोग से अतीत लाभ प्राप्त होने की आशा की जा सकती थी।

ऐसा नहीं था कि उस समयके डाक्टरों और चिकित्सकों को भारतीय औषधियोंकी उपयोगिता का पताही न हो। एन्सली, वारिङ्ग, वाईज़, उदयचन्द्र दत्त, कन्हैयालाल दे, डाइमाक, वाडेन और हूपर प्रभृत प्रख्यात चिकित्सिकों ने अनेक भारतीय औषधियों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की थी, और इनके सम्बन्ध में अत्योपयोगी प्रयोग भी किये थे। पर इन व्यक्तियों के अन्वेषण सम्बन्धी प्रयोगों का पता कदाचित् ही किसी डाक्टर को था। पर तब भी इतिहास इसका साक्षी है। सरकारने इतना अवश्य किया था कि उसने सरकारी फ़ारमाकोपिया में भारतीय औषधियों के सम्बन्ध में भी एक परिशिष्ट (Indian and colonial Addendum) प्रकाशित कर दिया था, इसमें बहुत सी लाभकर देशी दवाओं के बनाने की विधियां दे दी गई थीं। इन सब बातों से बङ्गाल केमिकल्स के युवक संचालकोंने यथोचित लाभ उठाया और उन्हें अपनी तैयार की हुई औषधियों के प्रचार में अधिक कठिनता न हुई।

यह कहा जा चुका है कि बङ्गाल केमिकल्स का कार्य्य तीन युवकों ने आरम्भ किया था, पर यह कहते हुए हमें अत्यन्त खेद एवं शोक होता है कि इनमें से दो व्यक्ति बङ्गाल केमिकल्स के फलने फूलने से पहिले ही इस संसार से विदा हो गये। श्रीयुत् सतीशचन्द्र सिंह किसी आकस्मिक दुर्घटना द्वारा काल कवलित हो गये और डा० अमूल्यचरण बोस भी रोगग्रसित होकर इस संसार से विदा हो गये। एक रोगीकी चिकित्सा करते समय उन्हें भी वही रोग हो गया था। बस उन तीन व्यक्तियोंमेंसे आचार्य्य सर प्रफुल्लचन्द्र ही अकेले रह गये। उन्हें अपने साथियोंके छूट जाने पर बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ पर उन्होंने किसी भी प्रकार आशा न छोड़ी। उन्होंने कुछ मित्रों एवं शिष्योंके सहयोगसे इस संस्था को पुनः सञ्जीवित करना आरम्भ किया।

बङ्गाल कैमिकल एण्ड फारमेक्यूटिकल वर्क्स सन् १९०१ में पब्लिक लिमिटेड कंपनीके रूपमें रजिस्ट्री कराया गया। इस समय इसका मूलधन ५०००० रुपया था। इस कंपनी को संगठित करनेमें जिन व्यक्तियोंने विशेष सहायता दी उनमेंसे मुख्य नाम ये हैं— प्रेसिडेन्सी कालेजके स्व० प्रो० चन्द्रभूषण भादुरी, बी० के० पाल कंपनीके स्व० श्रीभूतनाथ पाल, और डा० कार्तिकचन्द्र बोस। अपर सरकुलर रोडपर जो कारखाना था उसमें बहुत कुछ विस्तार किया गया और बहुत सी नई मशीनें लगाई गईं। उन दिनों इस कार्य्यके लिये धन मिलना कठिन समस्या थी और इस संस्थाके संचालकोंको न जाने कितनी बार आर्थिक संकट उठाने पड़े। इस उन्नति शील संस्थाके लिये दिन प्रति दिन द्रव्य की आवश्यकता बढ़ती ही जाती थी। पर यह सौभाग्य

की बात थी कि कम्पनी को सदा लाभ ही होता रहा जिससे इस धनके प्राप्त करनेमें बहुत कठिनाई न पड़ी, और धीरे धीरे इसकी सम्पत्ति बढ़ती ही चली।

दिन ब दिन बिक्री बढ़ने लगी, और कारखानेमें उत्तरोत्तर विस्तार होता चला। पचास हज़ार रुपयेसे आरम्भ किया गया था और यह धीरे धीरे १ लाख हो गया, फिर १ लाखसे ३ लाख, ३ लाखसे ५ लाख, ५ लाखसे के १० लाख और अब १० लाख से १९ लाख होगया है। पहले वर्ष २५ हज़ार की बिक्री हुई थी और २६वें वर्ष यह बिक्री २९००००० रुपये हो गयी।

इस समय इस कम्पनी के हिस्सेदारों की संख्या ७०० से के लगभग है। इन हिस्सेदारों में भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक, उच्च सरकारी पदाधिकारी, प्रसिद्ध चिकित्सक, विख्यात वकील, शिक्षक, व्यापारी और ज़मींदार सभी हैं। कम्पनी का वस्तुतः यह सौभाग्य है कि आरंभ में जो हिस्सेदार बने थे उनमें से लगभग सभी इस समय भी हिस्सेदार हैं, उन्होंने कंपनी में रुचि लेना छोड़ा नहीं है। २५—२५ वर्ष पुराने इसमें हिस्सेदार हैं।

जिस स्थान पर यह कारखाना पहले था, वह बहुत ही संकुचित था। अतः सन् १९०५ में मानिकताल स्थान में यह कारख़ाना हटाया गया। आरम्भमें १० बीघे ज़मीन ली गई थी। बाद को यह ४० बीघा कर दी गई पर इतनी बड़ी ज़मीन भी खचाखच भर गई, और दूसरी जगह एक बड़ी सी ज़मीन में इसकी एक शाखा स्थापित करनेकी आयोजना होने लगी। बङ्गाल कैमिकल्स आजकल मानिक ताल रोड के एक सिरे पर मनोरम स्थान में बनाया गया है जहां से लवण-झीलों का सुन्दर दृश्य दिखाई पड़ता है। सन् १९१४ में बङ्गाल की सरकार एक बड़ी नहर की स्कीम बना रही थी जिसके लिये वह कारख़ाने की ज़मीन पर अधिकार जमाना चाहती थी पर उस समय के गवर्नर लार्ड कार्मिकल की कृपा से ऐसा न होने पाया, नहीं तो कारखाने को भूमि के लिये बड़ी कठिनता उठानी पड़ती और बना बनाया काम बिगड़ जाता।

मानिकताल में यह संभव न था कि कारखाने का अधिक विस्तार हो सकता अतः कम्पनी ने १९१९ और १९२१ के बीच में बैरकपुर ट्रङ्क रोड पर पानीहाटी में १३५ बीघा (४५ एकड़) के लगभग एक बड़ी ज़मीन ली। इस ज़मीन में से ८५ बीघा तो कम्पनी के नाम पर गवर्नमेंएट ने ज़मीन दिला दी जैसा कि लैण्ड एक्विज़िशन एक्ट के अनुसार सामान्य जनता की उपयोगिता के लिये संभव है।

मानिकताल के कारख़ाने की भूमि का क्षेत्रफल १५०००० वर्ग फ़ुट है। इसमें भिन्न भिन्न कार्य्यों के लिए ५३ इमारतें हैं। इसमें दो मील लम्बी तो धातु की पटरी की सड़कें हैं और १½ मील लम्बी ट्रौली पटरी हैं। कारख़ाने में अपने काम के लिये बिजली स्वयं तैयार होती है। प्रतिदिन १५०० इकाई बिजली का ख़र्चा है। इसके अतिरिक्त बहुत से वाष्प इञ्जिन और तैल इञ्जिन काम करते हैं। बहुत से कार्य्यों के लिये भाप की आवश्यकता होती है। इसके लिये कारख़ाने में अनेक बड़े बड़े भभके हैं। कारखाने में २०० अश्वबल शक्ति उत्पन्न की जाती है।

कम्पनी में प्रतिदिन ८० हज़ार गैलन पानी का ख़र्चा है। इस काम के निमित्त सन् १९१९ में कम्पनी ने २½ इञ्च का ट्यूब-वेल (नल-कूप) खोदा था।

कम्पनी में निजी एक प्रेस है जिसमें छपाई का कार्य्य होता है। इसमें विज्ञापनों के अतिरिक्त दवाइयों के लेबिल आदि सभी छपते हैं। लकड़ी चीरने का कारखाना भी इनके यहां है जिससे ये अपने लिये पैक करने के लिये बक्स तैयार करते हैं। और भी कारखाने ऐसे हैं जहाँ ये अपनी आवश्यकताओं को स्वयं पूरा कर लेते हैं।

साधारणतया तो बङ्गाल कैमिकल्स में रासायनिक पदार्थ, ओषधियाँ और वैज्ञानिक यंत्र बनते हैं। इनके अतिरिक्त कंपनी रोगाणु नाशक पदार्थ, शल्यचिकित्सा के योग्य पट्टियाँ, और रुई, प्रयोगशालाओं

के लिये फर्निचर, गैस पैदा करने की मशीनें, आग बुझाने के यन्त्र, और ऐसी ही अन्य अनेक वस्तुयें बनाती है।

मानिक ताल कारखाने में गन्धकाम्ल (Sulphuric acid) बनाने के ६ चैम्बर हैं जिनमें प्रतिदिन १० टन अम्ल तैयार होता है। पानीहाटी के कारखाने में गन्धकाम्ल तैयार करने की एक पूर्ण और आधुनिक बड़ी आयोजना तय्यारकी जा रही है। कम्पनी ने उदहरिकाम्ल (Hydrochloric acid) और नोषिकाम्ल (Nitric acid) बनाने का भी अच्छा प्रबन्ध किया है।

कारखाने में रासायनिक पदार्थ जो तैयार होते हैं उनमेंसे मुख्य ये हैं—अमोनिया, स्फटगन्धेत (aluminium Sulphate) फिटकरी, पांशुज नोषेत (पोटाश नाईटेट्), मगनीस गन्धेत, लोह गन्धेत, रजतनोषेत, सैन्धक गन्धित, डेक्सट्रीन, कैफीन। कम्पनी द्वारा बनाये गये स्फट गन्धेत की मांग बहुत बढ़ती जा रही है क्योंकि इसका उपयोग पानी के साफ करने में होता है, और बहुत सी म्यूनिस्पैल्टियाँ उसका व्यवहार करती हैं।

बङ्गाल केमिकल्सके फर्माक्यूटिकल विभाग में कूटने कचरने की मशीनें, वनस्पतिक पदार्थों से रस निकालनेके यन्त्र, उनको औटाने और शून्य में उबालनेके विधान आदि सभी देखने योग्य हैं। आधुनिक नवीन पद्धतियों की सारांशतः सभी सामग्रियाँ यहाँ संचित कर लीगई हैं। गवर्मेन्ट के एक्साईज विभाग के निरीक्षण में यहाँ एक विशेष प्रयोगशाला है जिसमें उन औषधियों को तैयार किया जाता है जिनके बनाने में मद्यसार का प्रयोग होता है। इन वस्तुओं के अतिरिक्त दांत के मञ्जन,इत्र और अन्य सुगन्धित पदार्थ भी तैयार करने के पृथक् पृथक् विभाग हैं।

विदेशी औषधियां तो तैयार की ही जाती हैं, पर साथ साथ भारतीय वनस्पतिक औषधियों के भी रस निकाले जाते हैं। इनकी मांग उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। यह अति सन्तोष की बात है कि पुरानी परिपाटी के वैद्य भी अब इन औषधियों के व्यवहार करने में संकोच नहीं करते हैं, प्रत्युत इनका उपयोग करना उन्हें अति सुलभ और लाभकर प्रतीत हो रहा है।

कारखाने में अपनी मशीनों को दुरुस्त कर लेने का अच्छा प्रबन्ध है। यहां मशीनों के अच्छे जानकार रखे गये हैं और मशीनों की मरम्मत करनेके लिये भी अच्छे यन्त्र हैं। छोटी मोटी मशीनें तो कारखाने में ही तैयार कर ली जाती हैं। लुहारी विभाग, ढालने का विभाग, भाप से काम करने वाले हथौड़े, तरह तरह के लेद खरादादि के काम ये सब ऐसे हैं कि देखते ही बनता है।

यहाँ गैस काक, जल काक, गैस बर्नर, धौंकनी, फुकनी, तरह तरह के डट्टे, रसायन तुराजुयें आदि विश्वसनीय बनायी जाती हैं। गैस बनाने के यंत्र, आग बुझाने की मशीनें, ओषजन तैयार करने के यन्त्र, भभके, और चिकित्सकोंके यंत्र तैयार किये जाते हैं। गत महायुद्धके समय इस कंपनीने मेसोपोटामिया आदि स्थानों को हजारों आग बुझाने वाले यंत्र भेजे थे।

जिस किसी को अपने यहाँ नलकूप (ट्यूब वेल) लगवाने हों, वह कम्पनी को लिख दे और कम्पनी अपने यहाँके योग्य व्यक्तियों को भेजदेगी और यह कार्य्य बड़ी ही दक्षतासे सम्पन्न हो जायगा। यह नलकूप इस विधिसे खोदा जाता है कि अधिकसे अधिक पानी आवे और नल भी बहुत दिनों तक चल सके। डिस्ट्रिक्टबोर्ड, म्यूनिस्पैलटी, और जनता ने इस कम्पनीसे अनेक नलकूप लगवाये हैं और उन्हें इस कामसे पूरा संतोष हुआ है।

मामूली रुईसे वैद्यकके काम की रुई तैयार करने का अत्यन्त आधुनिक विधान पानीहाटी में है। यहाँ अनेक ऐसे यन्त्र हैं जिनके द्वारा मामूली कच्ची रुई स्वयं धुन जाती है, फिर साफ हो जाती है, फिर रङ्ग रहित करदी जाती है, फिर ओषधियोंसे इसे दूषित कीटाणुओंसे सुरक्षित की जाती है, और अन्तमें स्वयं यह लपेट जाती है और बंडल तैयार

हो जाते हैं। इसी प्रकार शल्यचिकित्साके योग्य पट्टियाँ, जालियाँ, और अन्य वस्तुयें तैयार करली जाती हैं। अत्यन्त दवाव पर लिपटी हुई पट्टियाँ यहाँ विशेषरूपसे बनायी जाती हैं। ये इस प्रकार कस कर लपेटी होती हैं कि बहुत ही थोड़े स्थानमें अधिकसे अधिक लम्बाई की पट्टी आ जाती हैं, इस प्रकार जगह कम घिरती है। उनका उपयोग सेना-विभागमें विशेष होता है क्योंकि वहां इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है कि जगह कम घिरे। युद्धके दिनोंमें इस प्रकार की पट्टियाँ गवर्नमेंट ने बहुत मांगीं थीं।

पानीहाटी शाखामें तारकोलका स्रवण भी किया जाता है जिससे क्रूओसोट, एन्थ्रासीनतैल और पिच तैयारकी जाती है। क्रूओसोट और एन्थ्रासीनतैलका प्रयोग कृमि-विनाशक द्रव्यों और लकड़ीके पदार्थों को सुरक्षित रखनेके लिये किया जाता है। पिचका उपयोग सड़कोंको बनाने और वाटर प्रूफ बनानेमें किया जाता है।

कारखानेंमें अच्छे अच्छे रसायनज्ञों की एक प्रयोगशाला है जिसके निरीक्षणमें रासायनिक पदार्थ तैयार किये जाते हैं। यह प्रयोगशाला इन पदार्थों की शुद्धता पर विशेष ध्यान देती है। यही नहीं, यह चीजों को नई अच्छी विधियोंसे तैयार करनेके उपाय भी सोचा करती है।

कंपनीमें इस समय १४०० के लगभग मनुष्य काम करते हैं, जिनमेंसे ४०० तो कारखानेमें ही रहते हैं। बड़े कर्मचारियोंके रहनेके लिये अच्छे अच्छे घर भी हैं। यहाँ एक औषधालय भी है जिसमें कर्मचारियों को अस्वस्थ होने पर मुफ़ दवा दी जाती है। १५ रुपयेसे अधिक वेतन वाले कर्मचारी को प्रोविडंट फंड भी मिलता है। आग बुझानेके लिये कारखानेमें विशेष मंडली (फायर ब्रिगेड) है जिसे समय समय पर ख़ास क़वायद करायी जाती है। यहाँके अफसरों का एक क्लब भी है और घूमता-पुस्तकालय भी है। खेलनेका भी अच्छा प्रबन्ध है।

यह बंगालकेमिकल्स सर प्रफुल्लचन्द्र राय की कीर्ति का एक स्थायी और ज्वलन्त उदहरण है। कौन आशा कर सकता था कि विश्वविद्यालयका एक अध्यापक इतने बड़े कारखानेके सञ्चालनमें सफलीभूत हो सकेगा। ऐसी क्षमता तो सर पी. सी. में ही देखी गई है।

आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र राय

[ले० श्री हीरालाल दुबे एम० एस-सी.]

फुल्ल चन्द्ररायका जन्म १८६१ में रारूली-कातीपारा (Karuli-Katipara) नामक ग्राम में हुआ था । यह ग्राम बंगालके खुलना जिलेमें हैं। राय महाशयके पिताका नाम हराश चन्द्र राय था। उनकी मृत्यु १८९४ में ६८ वर्ष की अवस्था में हुई थी। वे परशियन भाषाके विद्वान थे और उनको सादी और हाफिजके लेखोंसे बड़ी उत्तेजना मिली। वे ऊंचे और स्वतंत्र विचारोंके मनुष्य थे और अपने जिलेमें सर्व प्रथम उन्होंने ही अंग्रेजी पढ़ाई का आरम्भ किया था। वे बृटिश इण्डियन एसोसियेशनके सदस्य थे और उस समयके विद्वानों तथा प्रसिद्ध पुरुषों में जैसे पंडित ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, क्रिस्टो दास पाल, शिशिर कुमार घोष आदिसे गाढ़ मित्रता थी। हरीश चन्द्र राय ने अपने ग्राममें माडल वर्नाकुलर स्कूल खोला जिसका करीब २ सब खर्चा वे ही करते थे। आज कल वह स्कूल 'माडल इंगलिश हाई स्कूल' हो गया है और उसके लिए सर प्रफुल्ल चन्द्र राय हर वर्ष काफ़ी रुपया प्रदान करते हैं। यह स्कूल सर-प्रफुल्ल के पुरखों होके घरमें है जो कि ज़िले भरमें बड़ी ही अच्छी इमारत समझी जाती है यद्यपि वह सौ वर्षों से अधिककी है।

राय महाशयके बचपनका विद्याध्ययन उनके पिताकी ही शालामें हुआ परन्तु उनके पिता अपने पुत्रोंको जितनी अच्छी शिक्षा हो सकती थी देना चाहते थे इस कारण वे १८७० के अन्तमें कलकत्ते में आबसे। प्रफुल्ल चन्द्र हेयर स्कूल (Hare school) में भरती हो गए और वहाँ पर चार वर्ष तक रहे। १८७४ में उनके पेटमें आंव पड़ गई इस कारण उन्हें स्कूल छोड़ना पड़ा। वे करीब दो साल तक इस रोग से पीड़ित रहे परन्तु उन्होंने अपना समय नष्ट न होने दिया। उनके पिता तथा उनके बड़े भाई का एक उत्तम पुस्तकालय था जिसकी कि उन्होंने सहायता ली। यद्यपि वे पीड़ित थे तिस पर भी वे गोल्डस्मिथ, एडीसन और दूसरे अंग्रेजी लेखकों की पुस्तकों पर पिलपड़े। बीमारी के पश्चात् उन्होंने कलकत्ता के एलबर्ट स्कूलमें प्रवेश किया जो कि उन दिनों बहुत ही विख्यात था। यहाँ पर आकर प्रफुल्ल चन्द्र चमके। इसी समय उन्होंने आनंद मोहन बोस और सुरेन्द्र-नाथ बेनरजी के उत्तेजित व्याख्यानभी सुने जिससे उनके हृदयमें स्फूर्ति पैदा हुई और अपनी जीवनी को उच्च बनाने तथा देशमें लगानेका अङ्कुर पैदा हुआ। इसी समय वह केशवचन्द्र सेनके व्याख्यानों को बड़े चावसे सुना करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि वे धीरे २ ब्राह्मो समाज की ओर झुके जिसके कि वे १८८२ से मेम्बर हैं।

१८७९ से १८८२ तक प्रफुल्लचन्द्र राय विद्यासागर कालेजमें विद्यार्थी रहे। उन्हाने बहुधा कहा है कि इस कालेजमें सबसे उत्तम बात जो थी वह यह कि वे बाबू सुरेन्द्र नाथ बेनर्जी के चरणों की सेवा कर सकेंगे। इसी समयमें राय महाशय प्रेसीडेन्सी कालेजके विज्ञान विभागमें भी विद्यार्थी थे। यहां पर वे सर जान ईलिअट (Sir John Elliot) से पदार्थ विज्ञानकी शिक्षा पाते और सर एलेक्जेण्डर पेडलर (Sir Alexander Pedler) से रसायन शास्त्र की। इसी बीचमें प्रफुल्ल चन्द्र के पिता को अपने पुरखों की काफ़ी संपत्तिसे हांथ धोना पड़ा और इस कारण वे अपने बुद्धिमान पुत्र को विलायत की शिक्षा देनेके लिए न भेज सके। इस बातसे प्रफुल्ल चन्द्र तनिक भी निराश न हुए और वे गुप-चुप गिलक्राइस्ट स्कालरशिप (Gilchrist Scholarship) की परीक्षाकी तैयारी करने लगे। इस सम्बन्धमें इनके बड़े भाई को छोड़कर और किसीको कुछभी न मालूम था, यहां तक कि उनके पिता भी अपने होनहार पुत्रके विचारोंसे अनिभिज्ञ थे। १८८२ में वे विलायतको रवाना हो गए और उन्हें गिलक्रा-

ईस्ट स्कालरशिप मिल गई और वहां एडिनबरामें छः वर्ष तक विद्याध्ययन करते रहे। यद्यपि आदि ही से उनका अधिक झुकाव अंग्रेजी तथा इतिहास की ओर था परन्तु तिस पर भी उन्हें पूर्ण रूपसे ज्ञात हो गया कि यदि भारत वर्त्तमान समयमें कुछ भी उन्नति कर सकता है तो विज्ञान ही द्वारा और इस कारण वे उन विषयों को छोड़ विज्ञान की ओर झुक पड़े। एडिनबरामें प्रफुल्ल चन्द्रने टेट (Peter Guthrie Tait) और क्रम ब्राउन (Alexander Crum Brown) जो कि भौतिक विज्ञान और रसायन शास्त्र में महारथी थे उनसे शिक्षा पाई। इसका फल यह हुआ कि उन्हें थोड़े ही दिनों में रसायन शास्त्रसे गाढ़ प्रेम हो गया। इस समय उनके सहपाठियों में से प्रोफेसर जेम्स वाकर एफ. आर. एस. और स्वर्गीय प्रोफेसर ह्यू ग मारशेल एफ. आर. एस. भी थे। १८८८ की ५ वीं अप्रेल को प्रोफेसर क्रम ब्राऊन (Crum Brown) एडिनबरा विश्वविद्यालयसे लिखते हैं:—"मैं डाक्टर पी. सी. को १८८२ से जानता हूँ जब कि वे इस विश्वविद्यालयमें आए थे और मैं बड़ी चावसे उनकी जीवनी को ताकता रहा। उन्होंने पहले साधारण वैज्ञानिक शिक्षा की पक्की नीव डाल कर अपने आपको केवल रसायन शास्त्र की ओर लगा दिया। उन्होंने बी. एस्-सी. की उपाधि १८८५ में ली और डी. एस-सी. की १८८७ में। उन्हें १८८७-८८ में रसायन शास्त्र का होप प्राइज़ स्कालरशिप (Hope prize scholarship) मिलती रही। वे १८८३ मई से लेकर १८८८ मार्च तक ग्रीष्म तथा शिशिरमें रसायन प्रयोगशालाओंमें काम करते रहे और डाक्टर गिबसन और मुझे प्रयोगशालाके कार्यमें सहायता दिया करते थे। मैं विश्वासके साथ उनकी विद्वत्ता और ज्ञानके विषयमें कह सकता हूँ क्योंकि उनका अधिक कार्य मेरे ही निरीक्षणमें हुआ है। सैद्धान्तिक रसायन शास्त्रके सब भागोंसे अच्छी प्रकार से परिचित हैं और सावधान तथा निर्भ्रम विश्लेषक हैं। उन्होंने यह दिखला दिया है कि वे मौलिक आविष्कार कर सकते हैं। डी. एस-सी. की उपाधिके लिये उन्होंने जो लेख प्रस्तुत किया है वह उच्च कोटिका विश्लेषणात्मक कार्य है जिसके सम्पादनमें उन्होंने बड़ी योग्यता और चतुरता दिखाई है।"

विलायतसे लौटकर डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय कलकत्ताके प्रेसीडेन्सी कालेजमें (१८८९) में प्रोफेसरके पद पर नियुक्त हो गए। उस समयसे वे तन मनसे रसायनिक अन्वेषणों की ओर लगे हुए हैं। १९०४ में वे बंगाल सरकार की ओर से यूरोप को मुख्य २ रसायनिक प्रयोगशालाओंके निरीक्षणके लिए नियुक्त किए गए और वहांके बड़े २ रसायनज्ञोंने बड़े ही मानके साथ उनका स्वागत किया।

दिसम्बर १८९५ में डाक्टर राय ने पारदस नोषित (Mercurous nitrite) का महत्वपूर्ण अन्वेषण किया और इस अन्वेषण से वे वैज्ञानिक संसारमें विख्यात हो गए। सर अलेकज़ेन्डर पेडलर ने १८९६ में एशियाटिक सोसाईटीके सभापतिके भाषणमें कहा था—"डाक्टर पी. सी. राय ने इस यौगिक के अन्वेषण से पारद-श्रणी (Mercury series) की कमी को पूरा कर दिया। यह आविष्कार अब केवल एतिहासिक महत्वका रह गया है परन्तु उस समय यह एक बड़े मार्केका अन्वेषण था और यूरोपके वैज्ञानिकों तथा पत्रों ने इसकी बड़ी प्रशंसा की थी। २५ वीं जुलाई १८९६ में लण्डनके 'दीकेमिस्ट एण्ड ड्रगिस्ट" नामक पत्र ने लिखा था:—जो कि पीला सा रवेदार पदार्थ विना गरम किए हुए ही हलके नोषिकाम्ल और पारेके साथ बन जाता है वह पारदस नोषित है इसका अन्वेषण एक बंगाली रासायनज्ञ डाक्टर पी. सी. रायके लिए छोड़ दिया गया था। ……………डाक्टर राय के आविष्कार का रासायनिक संसार में बहुत ही मान हुआ है।

यूरोपके कई प्रसिद्ध रसायनिकों में से सर हेनरी रासको और एम० बरथेलो (M. Berthelot) ने सर्व प्रथम डाक्टर रायको इस कार्य्य पर बधाई दी और उनके अन्वेषण का स्वागत किया।

पारद्स नोषित के द्वारा कई प्रकारके यौगिक बनाए जा सकते हैं और लगभग पच्चीस वर्ष तक डाक्टर राय स्वतः या अपने शिष्यों के साथ उनको बनानेमें लगातार परिश्रम करते रहे। इस क्षेत्रमें आदिके अन्वेषणोंसे एक और मार्केकी बात पाई जाती है कि पारे और चांदी के गुणोंमें भेद नहीं है क्योंकि इस आविष्कार से स्पष्ट हो गया कि पारा भी एक-शक्तिक (Monovalent) है। इस छोटेसे लेखमें नोषित और उपनोषित पर करीब ८० लेखोंका पूरा विवरण देना असम्भव है।

अमोनियम्नोषित का बनाना और वाष्पीकरण दूसरा बड़े मार्के का आविष्कार था। १५ अगस्त १९१२ का 'नेचर' (Nature) नामक पत्र लिखता है—प्रोफेसर पी. सी. राय ने अमोनियम नोषित को स्थायी रूपमें बनाकर अपनी सफलताओंकी संख्या को बढ़ाया और दूसरे ऐसे अस्थिर यौगिक का वाष्पघनत्व निकालनेमें भी विजय पाई।

६ जून १९१२ के 'दि केमिस्ट एन्ड ड्रगिस्ट' ने लिखा था:—

डाक्टर वी. एच. वेली (V.H.Veley) ने प्रोफेसर राय का स्वागत करते हुए कहा कि वे एक बड़ी आर्य जातिके एक योग्यतम प्रतिनिधि हैं जो उस समय सभ्यता की शिखर पर पहुंची हुई थी और कई रसायनिक विधियों का अन्वेषण कर चुकी थी जब कि यह देश केवल उजाड़ झंखाड़ ही था। प्रोफेसर राय ने पुस्तकों के विरुद्ध यह सिद्ध कर दिया कि अमोनियम नोषित स्थायी रवेदार रूप में पाया जा सकता है और वाष्पभूत भी हो सकता है। डा० वेली ने डाक्टर राय और उनके विद्यार्थियों की प्रशंसा उनके अमोनियम और अमिन नोषितों (Amine nitrte) के अविष्कारोंके लिए करते हुए अपना भाषण समाप्त किया। सभापति महोदयने भी सोसाईटीकी ओर से डाक्टर वेली का समर्थन करते हुए प्रोफेसर राय का हार्दिक स्वागत किया।

सर प्रफुल्ल चन्द्र रायको जीवनी उनके एक स्मरणीय कार्यके उल्लेख किए बिना पूर्ण नहीं हो सकती। मेरा मतलब उनकी पुस्तक 'हिन्दू रसायन शास्त्र का इतिहास' से है, जिसमें उन्होंने इस देशमें रसायन शास्त्र के ज्ञान को प्राचीनताको पुरानी संस्कृत पुस्तकों द्वारा सारे संसार को सिद्ध कर दिया है। इस पुस्तक का प्रथम भाग १९०२ में प्रकाशित हुआ जिसके लिए लगातार १५ वर्षों तक अध्ययन तथा परिश्रम किया गया था। इस पुस्तक का बड़ा ही मान हुआ और १९०५ ही में फिर से इसका दूसरा संस्करण निकालना पड़ा। इसका दूसरा भाग पहले भागसे करीब ५ वर्ष बाद निकला। प्रसिद्ध फ्रेंच रसायनिक एम्० बरथेलो ने प्रथम भागकी बड़ी भारी समालोचना 'Journal des savants' में की थी। उन्होंने अन्त में लिखा था:—वैज्ञानिक इतिहास और मनुष्य विचारमें एक नवीन तथा मनोरंजक अध्याय जोड़ा गया है। डरहेम (Durham) विश्वविद्यालय के वाईस-चेन्सलर ने १९१२ में डाक्टर राय को डी. एस-सी. की आनरेरी उपाधि देते हुए कहा था—ये तेज और सफल आविष्कारक हैं और अंग्रेजी तथा जर्मन वैज्ञानिक पत्रों में अपने लेखों द्वारा बहुत पहले विख्याति पा चुके हैं परन्तु उनकी ख्याति खास कर प्रमाणिक हिन्दू रसायन शास्त्र का इतिहास के ही कारण है जिसका वैज्ञानिक और साहित्यिक दोनोंही महत्व है। सर पी. सी. राय अपनी पुस्तकके अन्त में लिखते हैं:—अपने पिछले गौरवोंको लिए हुए और अपनी दीर्घ निहित शक्तियों द्वारा हिन्दू जाति अपने सामने इससे भी अधिक उज्ज्वल भविष्य को देख सकती है। यदि इन पंक्तियोंके पढ़नेसे मेरे देशवासियोंमें राष्ट्रों के बौद्धिक साम्राज्य में अपने पिछले पद को फिर से पाने की उत्तेजना पैदा हो जावे तो मैं अपने परिश्रम को व्यर्थन समझूंगा।

डाक्टर पी. सी. रायका दूसरे बड़े महत्वका कार्य व्यवसाय की ओर है। बंगाल केमिकल और फ़ारमेक्यूटीकल वर्क्स को खोल कर और उसे सफली भूत कर सारे संसार को दिखला दिया कि भारतवासी भी अपनी बुद्धि तथा शक्ति से कुछ काम कर सकते हैं यद्यपि उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इस

बड़े भारी कारखाने का आरम्भ कलकत्ते में अपर-सरक्यूलर रोड पर एक मकान के अंधेरे तथा कुंद कमरों में हुआ और इसकी पूंजी केवल ५००) रुपए थी। उस समय यद्यपि राय महाशय प्रोफेसर थे परन्तु उनकी मासिक आय केवल २५०) रुपए थी। इस पर भी उन्हें कुछ अपने पुरखों का कर्ज चुकाना था और सदैव वे एक या दो विद्यार्थियों की सहायता किया करते थे। फिर भी वे निराश न हुए क्योंकि उन्हें अपनी बुद्धि, परिश्रम तथा पुरुषार्थ का भरोसा था।

इन्हीं अंधेरे तथा कुंद कमरों में इस नए कारखाने की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार यह कंपनी आदि में केवल एक ही पुरुष की संपत्ति थी और केवल कुछ दवाईयां तथा रसायनिक वस्तुऐं बनाने के लिए आरम्भ की गई थी। परन्तु हर वर्ष इस में बहुत लाभ होता गया और आज भारत में अपने ढंग की निराली ही है। जब कि डाक्टर राय ने अपने उद्योग की सफलता देखी तो उन्होंने उसका पूरा लाभ अपने ही पास रखना ठीक न समझा और उसे लिमिटेड कम्पनी बना दिया।

डाक्टर राय को कुछ ऐसे महापुरुष भी मिल गए थे जिनकी हार्दिक इच्छा थी कि वे भारत में रसायनिक व्यवसाय का प्रचार करें। उनमें से सर्वप्रथम उनके पुराने मित्र डाक्टर अमूल्य चरन बोस थे। वे इस क्षेत्र में दिल से काम करना चाहते थे और उन्होंने अपने लाभ की तो कभी परवाह ही नहीं की। दूसरे महाशय सतीशचन्द्र सिंह थे। वे एम. ए. परीक्षा पास करते ही इस ओर पिल पड़े परन्तु उन्होंने विज्ञान पर अपने प्राण नौछावर कर दिए क्योंकि कुछ ही दिनों में उनकी मृत्यु प्रूशिकाम्ल के विष से हो गई। प्रोफेसर चन्द्र भूषण भादुरी के नाम के बिना बंगाल केमिकल और फार्मैक्यूटीकल वर्क्स का वर्णन अधूरा रहेगा। वे बहुत ही गुप चुप काम करने वाले आदमियों में से थे। उन्हें अपनी प्रसंशा अच्छी न लगती थी।

यह एक बड़े ही आनन्द की बात है कि जिस महापुरुष ने इस कंपनी का विचार किया, इसका आरम्भ किया, इसका छुटपन में पालन पोषण किया उसी को आज वह अपने जीते जी खूब हरा भरा देख रहा है।

आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र राय ने अपनी विद्या अपने ही पास नहीं रक्खी उन्होंने रसायनिक विद्या का प्रचार किया और दिल खोल कर प्रचार किया क्योंकि उन्हें पूर्ण रूप से ज्ञात हो गया था कि यदि भारत संसार में रहना चाहता है और अपना सिर ऊँचा उठाए रखना चाहता है तो उसके पुत्रों को रसायनिक शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। यही विचार कर उन्होंने अपने शिष्यों को जितनी अच्छी शिक्षा हो सकी दी। यही नहीं कि पुस्तकों की विद्या पढ़ा दी परन्तु उनके विचारों को ऊँचा उठाया, नए विचारों की उत्पत्तिकी और आविष्कार करनेकी शिक्षा दी। इस कार्य में भी उन्हें पूरी सफलता मिली। उनके सीधे साधे रहन सहन तथा अपने शिष्यों पर पुत्रवत प्रेम और उनकी दिल खोल कर सहायता तथा सहानुभूति ने विद्यार्थियों को अपनी ओर खींच लिया। उनके कई विद्यार्थी आज ऊंचे २ स्थानों पर हैं। यतीन्द्र नाथ सेन जो पूसामें प्रोफेसर हैं; प्रोफेसर अतुल चन्द्र गंगोली, डाक्टर पंचानन नियोगी, डाक्टर हेमेन्द्र कुमार सेन, जितेन्द्रनाथ रक्षित, डाक्टर रसिकलाल दत्त, डाक्टर नलीरतनधर, डाक्टर जे. सी. घोष और डाक्टर बी. बी. डे आज आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र राय के विद्यार्थी सारे भारत में फैले हुए हैं, और वे भी अपने गुरू के ही काम में लगे हुए हैं। रसायन शास्त्र का प्रचार भारत में होना चाहिए। हर एक भारतवासी को थोड़ी न थोड़ी रसायन शिक्षा देनी चाहिए और तभी भारत का कल्याण है। प्रोफेसर राय अपने शिष्यों के आविष्कारों को देख कर मग्न हो जाते हैं। एक समय उन्होंने कहा था:-दत्तने तांबा, चांदी, पारा, सन्दस्तम्, आदिके द्विगुणलवणों के जो आविष्कार किए हैं, यदि मैं ही उनका आविष्कारक होता तो मुझे इस पर अभिमान

होता परन्तु अब मुझे इससेभी अधिक अभिमान है क्योंकि ये आविष्कार मेरे शिष्य ने किए हैं। मैं इस बातको ईश्वरीय कृपा समझता हूं कि एक रसिकलाल दत्त या एक नीलरतन धर आखिर को बंगाल की भूमि में पैदा हुए हैं। प्रोफेसर राय ने अपने जीवन के कार्यको सिद्ध कर दिया। उन्होंने एक स्कूल खोल दिया। उन्होंने कई रसायनज्ञ तैयार कर दिए। और अब वे इस बातमें पूर्ण विश्वास रक्खें कि जो कार्य उन्होंने आरम्भ किया है वह अब अच्छी तरहसे आगे बढ़ाया जावेगा।

सर प्रफुल्ल चन्द्र राय यद्यपि अपने समयके बड़े बड़े वैज्ञानिकोंमें से हैं परन्तु उनका सारा समय प्रयोग शाला ही में व्यतीत नहीं होता। उन्होंने आविष्कारों द्वारा ज्ञान वृद्धिको अपना कर्तव्य समझ संसारकी दृष्टिमें भारतको ऊँचा उठाया। परन्तु साथ ही साथ उनके हृदयमें स्वतन्त्रताकी चिंगारियांभी सुलग रही थीं। वे बड़े ही देशभक्त हैं। देशकी दशा को देखकर उनका हृदय द्रवित हो जाता है। वे चाहते हैं कि भारत कला, कौशल्य, राष्ट्रीयता, राजनीति (Politics), जातीय सुधार आदि उन्नति करे। छुआ-छूत तथा जाति भेदको तो वे महा पाप समझते हैं। एक समय उन्होंने बड़े जोरदार शब्दोंमें कहा था— यदि एक परियाकी छांहभी आप पर पड़ जावे तो आप अपना पीने का पानी फेंक देते हैं और स्नानसे पवित्र होते हैं और बरफ तथा लेमनेड आदि जो अछूतों द्वारा बनाऐ जाते हैं वे बिना किसी रोक टोक के काम में लाये जाते हैं। जब कोई मनुष्य मान व पदवी से सम्मानित किया जाता है तब टाऊन हालमें दावत होती हैं जो कि अंग्रेजी होटल वाले ठीक करते हैं और वहां पर हमारे हिन्दू संस्थाके नेतागण जाकर भाग लेते हैं और उनके नाम दूसरे दिन प्रातः काल ही अखबारोंमें छपते हैं परन्तु किसी शादी या श्राद्धमें यदि आप किसी ईसाई या मुसलमान या नीच जातिके हिन्दूके साथ भी बैठ गए तो आपको जातिसे बाहर निकाल देने की धमकी दी जातीहै। इस समय हमारी बुद्धि आदि का ठिकाना नहीं रहता।

डाक्टर राय देशमें बहुत कार्य करना चाहते थे परन्तु उनके पास समय न था। उन्हें विज्ञानसे इतना प्रेम था कि वे रसायन शास्त्रको छोड़कर राजनीति में न जाना चाहते थे। जब कि उनसे १९२० में काउन्सिल की उम्मेदवारी के लिए प्रार्थनाकी गई तो उन्होंने कहा थाः—जब कि भारतमें तीस रसायनज्ञ हो जावेंगे उस समयमें अपने कार्य को छोड़ने के लिए तैयार हो जाऊंगा और राजनीति में भाग लूंगा........हिन्दुस्तानमें कई राजनीतिज्ञ हैं और इतने हैं कि हमारी समझमें नहीं आता कि उनसे क्या काम लिया जावे—परन्तु इस देशमें रसायनिकों की अधिक आवश्यकता है। राजनीतिज्ञोंसे भी अधिक रसायनिकों की आवश्यकता है। हमारे देशमें अभी रसायनिक नहीं है। मैं हिन्दू विधवाओंकी शादी के लिए कानून बना देना चाहता हूं। मैं और कई बातें करना चाहता हूं। मुझे कई ओर रुचि है परन्तु एक एक घड़ी जोकि मैं दूसरी ओर लगाता हूं वह रसायन शास्त्र से चोरी की जाती है—और मेरे कर्त्तव्य में कमी होती है।

सर पी. सी. राय की जन्म भूमि खुलनामें जबकि बड़े जोरोंसे काल पड़ा था उस समय वे खुद वहां गए और इस बूढ़े रसायनिकने कठिन परिश्रम किया था। एक युवकके समान कालकी जगहोंमें घूम २ कर और मनुष्यों के साथ काममें जुट पड़े थे! प्रत्येक दिन वे कालसे पीड़ित मनुष्योंकी जितनी सेवा होसकती थी करते थे और उनकी स्थिति ठीक करनेमें उन्होंने कुछ न उठा रक्खा। यहीं पर उन्हें खादी तथा चर्खाका महत्व प्रतीत हुआ! उस दिनसे वे चर्खाके भक्त हो गए और तबसे उन्होंने स्वदेशी तथा खादी प्रचारमें बहुत काम किया। वास्तव में महात्मा गांधीको छोड़ कर आज आचार्य पी. सी. राय खादीके प्रेम तथा प्रचार में अद्वितीय हैं।

आचार्य राय बहुतही सीधे सादे तथा साधु वृत्ति के मनुष्य हैं परन्तु उनके विचार बहुतही ऊंचे हैं। उनकी संपत्ति केवल कुछ पुस्तकों की अलमारियां, एक पुराना और बहुत ही बुरा पलंग, एक पुराने समयकी

मेज़ और कुछ पुराने ढंगकी बनी हुई कुर्सियां हैं। यद्यपि राय महाशय चार बार विलायत हो आए हैं तिसपर भी उनके रहन सहन तथा पहनावे में कोई अन्तर नहीं हुआ। उनकी पोशाक बहुत ही सादा है। बहुधा वे खादी का एक कुरता और धोती पहने रहते हैं। वे अपने चेहरे की कभी परवाह भी नहीं करते। यदि बाल बढ़े हुए हैं तो बढ़े हैं, उनका विचार पाश्चात्य चिकनाई चुपड़ाईमें जाता ही नहीं और शायद यही कारण हो कि रोज़ रोज़ के डाढ़ी मूंडने की बचत के कारण उन्होंने डाढ़ी रखवाली है। कभी कभी तो उनके मिलने वालों को बड़ी झेंप उठानी पड़ती है क्योंकि वे आचार्य जी को पहचान नहीं सकते और उन्हीं से पूछते हैं कि सर पी. सी. राय कहां मिलेंगे!

डाक्टर राय अविवाहित हैं और इस कारण उनका खर्च सदैव बहुत कम रहा है। परन्तु फिर भी वे लखपती नहीं हैं क्योंकि वे अपना रुपया जो कि कालेज से व बंगाल केमिकल वर्क्ससे पाते हैं वह सब गरीब विद्यार्थियों, पाठशालाओं और धर्मार्थ में खर्च कर देते हैं। कालेज में शायद ही ऐसा कोई गरीब लड़का हो जिसने इस दयालु प्रोफेसर से सहायता न पाई हो।

प्रोफेसर राय विद्यार्थियों के लिए पिता तुल्य हैं। वे अपने कई विद्यार्थियों को अपने ही घर में रखते हैं। उनको खूब खिलाते पिलाते हैं और चरित्रगठन पर उपदेश दिया करते हैं। वे लड़कों को चिपटा लेते है और घूंसे मार मार कर उनकी ताक़त का अंदाज़ा करते हैं। उनकी आधुनिक गुरुओं से तुलना नहीं की जा सकती। वे हमारे पुराने ऋषियों के समान हैं जो कि सैकड़ों विद्यार्थियों को शिक्षा दिया करते थे और फिर वे सारे भारत में जा करके विद्या प्रचार किया करते थे।

आचार्य राय का आज तक कोई शत्रु नहीं हुआ है। वे प्रेम में विश्वास करते हैं। उनके कई मित्र हैं जिनसे वे घंटों वार्त्तालाप किया करते हैं। वे उनके घरों पर जाते हैं और किसी से केक का आधा टुकड़ा, किसी से घर की बनी मिठाई या और कोई स्वादिष्ट पदार्थ माँगते हैं और स्त्रियां भी इस में बड़ा आनन्द लेती हैं।

आज आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र राय के जीवन के ७० वर्ष व्यतीत हो गए। इस थोड़े से समय में आपने कई क्षेत्रों में बहुत बढ़िया कार्य किया। मैं केवल ईश्वर से प्रार्थना कर सकता हूँ कि वह इस महापुरुष को दीर्घायु दे जिससे भारत की कीर्ति और उज्ज्वल हो।

आचार्य्य सर प्रफुल्लरायके रासायनिक अन्वेषण

[ले० श्री सत्यप्रकाश एम० एस-सी०]

मान्य जनता आचार्य्य सर प्रफुल्ल-चन्द्र राय के राष्ट्रीय, जातीय और औद्योगिक कार्य्य से तो परिचित है ही, पर आचार्य्य राय को सबसे अधिक श्रेय उनके रासायनिक अन्वेषणों के लिये देना चाहिये। वस्तुतः भारतीय विद्यार्थियों में रसायन सम्बन्धी मौलिक खोजोंकी प्रेरणा करने वाले सर्व-प्रथम व्यक्ति सर प्रफुल्ल ही हैं। उन्होंने स्वयं ही खोजें नहीं कीं, प्रत्युत अपने विद्यार्थियों में भी खोज सम्बन्धी कार्य्य के प्रति नवीन स्फूर्ति उत्पन्न करदी है। इसका प्रभाव यह हुआ है कि आपके अनेक शिष्यों ने रासायनिक जगत् में अच्छी ख्याति प्राप्त की है। इसमें सन्देह ही क्या है कि आचार्य्य राय अपने शिष्यों की सफलता पर बहुत ही गर्व करते हैं।

सन् १८९६ ई० से जब सर प्रफुल्ल कलकत्ता के प्रेसीडेन्सी कालिज में रसायनाध्यापक थे आपकी खोजों का आरम्भ होता है। इस समय तक आपके ६० के लगभग स्वतन्त्र लेख और ७५ के लगभग विद्यार्थियों के सहयोग में मौलिक लेख

रसायन की प्रमुख पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। लीपज़िग (जर्मनी) से निकलने वाली रासायनिक पत्रिका 'ज़ाइट अनार्ग शेमी' (Zeit. Anorg. Chem.) तथा लंडन के 'जर्नल आव् केमिकल सोसायटी' में सन् १८९६-९७—में आपके सर्व प्रथम पर अत्यन्त महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए। इन लेखों का विषय पारद के नोषितों और उपनोषितों से था।

पारद नोषित और उपनोषितों की खोज

(Mercurous nitrite and hyponitrites)

रसायन के विद्यार्थी जानते हैं कि पारद के यौगिक दो श्रेणियों के होते हैं:—(१) पारदस श्रेणी जिसमें पारद एक-शक्तिक होता है और (२) पारदिक श्रेणी जिसमें पारद द्विशक्तिक होता है। धातुओं के नोषसाम्ल सम्बन्धी लवण नोषित कहलाते हैं। सैन्धकम् आदि अनेक धातुओं के नोषित तो बहुत प्रसिद्ध हैं। आचार्य्य राय के कार्य्य करने के पूर्व तक पारदस श्रेणी का नोषित पा₂ (नोओ₂)₂ बिलकुल अज्ञात था और लोगों ने इसके बनाने की चेष्टा भी की पर वे असफल रहे।

आचार्य्य राय ने अपने अन्वेषणों से दिखाया कि यदि साधारण तापक्रम (३०° श) पर ही १.४१ घनत्व के पीले नोषिकाम्ल के १ भाग में ४ भाग पानी मिलाया जाय और फिर बहुत सा स्वच्छ पारा इसमें शीघ्र मिला कर रख छोड़ा जाय, तो धीरे धीरे पारे पर नोषिकाम्ल का प्रभाव होने लगता है और लगभग आधे घंटे के उपरान्त कुछ सूच्याकार से पृथक् होने लगते हैं। २४ घंटे में समुचित मात्रा में ये रवे एकत्रित हो जाते हैं। ये रवे शुद्ध पारे पर संचित हो जाते हैं। यदि उन्हें अलग कर लिया जाय और शेष पारे को उसी प्रकार के नोषिकाम्ल में फिर छोड़ा जाय तो और अधिक रवे मिलेंगे। ये सब रवे पारदस नोषित के हैं।

रसायनज्ञों के समक्ष जिसका बनाना एक बड़ी भारी समस्या थी उसको आचार्य राय ने इतनी सीधी तरह से हल कर दिया। इस खोज ने रासायनिक जगत् में आपकी धाक जमा दी।

सन् १८९७ में ही आचार्य्य राय ने पारदस उपनोषित और पारदिक उपनोषित

पा (नोओ) $_2$ और पा$_2$(नोओ)$_2$

के बनाने की विधि निकाली, यदि किसी घोल में पारदस नोषित और पारदिक नोषित का मिश्रण हो और उसमें सैन्धक उपनोषित का बहुत ही हलका घोल मिलाया जाय तो पहले पीला गुत्थेदार अवक्षेप आता है जो पारदस उपनोषित का है। इसे छानकर पृथक् कर लेने के बाद छने हुए द्रव में सैन्धक उपनोषितका गाढा घोल छोड़ने से श्वेत लच्छेदार स्फट उदौषिद के समान पारदिक उपनोषित का अवक्षेप प्राप्त होता है।

पारदिक उपनोषित के बनाने की एक और नई विधि आचार्य राय ने निकाली। यदि पारदिक नोषित के घोल में पांशुज श्यामिद मिलाया जाय तो घोल धुन्धला पड़ जाता है और दो तीन घन्टेमें पारदिक उपनोषितका श्वेत दही के अनुरूप अवक्षेप आ जाता है। प्रक्रिया इस प्रकार है—

पा (नोओ$_2$)$_2$ + २ पांकनो

= पा (नोओ)$_2$ + २ पांक नोओ

इस प्रक्रिया में पांशुज श्यामिद पारदिक नोषित का अवकरण कर देता है, आचार्य्य राय की यह प्रक्रिया बहुत ही महत्वपूर्ण है।

इन उपनोषितों के सम्बन्ध में एडवर्ड डाइवर्स (जर्नल० केमि० सोसा० १८९९) का कार्य्य विशेष उल्लेखनीय है।

द्विपारदामोनियम नोषित

Dimercurammonium Nitrite

आचार्य्य राय ने पारदसनोषित की खोजोंका विस्तृत उपयोग किया। यदि पारदस नोषित और पारदिक नोषित के मिश्रण-घोलमें नमक (सैन्धक हरिद) की समुचित मात्रा छोड़ी जाय तो पारदिक-सैन्धक नोषित यौगिक प्राप्त होता है। इसके घोल को अलग छान लिया जाता है। अब यदि इसमें अमोनिया का हलका घोल धीरे धीरे मिलाया जाय तो मलाई ऐसा गाढ़ा श्वेत अवक्षेप प्राप्त होता है।

इसे डेसीकेटर में गन्धकाम्ल के ऊपर सुखाने से पीला पदार्थ मिलता है। वह पदार्थ द्विपारद अमोनियम नोषित, नोपा$_{२}$ नोओ$_{३}$ है। यह पदार्थ उदहरिकाम्ल या उदअरुणिकाम्ल में घुलकर नये पारदिक अमोनियम हरिद और अरुणिद देता है।

द्विपारदामोनियम नोषित को तीव्र नोषिकाम्ल के साथ हिलाने से द्विपारदामोनियम नोषित, २ नोपा$_{२}$ नोओ$_{३}$, उ$_{२}$ ओ, प्राप्त होता है।

आचार्य्य राय ने अपने एक लेख (१९०५ ज० के मि० सो०, पृ० १७१) में इस बात को दर्शाने के चेष्टा की है कि पारे पर नोषिकाम्ल के प्रभाव से पारदस नोषित किस प्रकार बनता है। उनका कहना है कि पहले पारा नोषिकाम्ल को थोड़ा सा नोषसाम्लमें अवकृत करता है। फिर पारे पर नोषिकाम्ल और नोषसाम्ल दोनों का प्रभाव इस प्रकार पड़ता है:—

२ पा + नोओ$_{२}$ उ + ओउ नोओ$_{२}$
= पा$_{२}$ (नोओ$_{२}$)$_{२}$ + उ$_{२}$ ओ
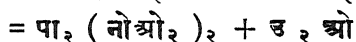
यह नोषित नोषिकाम्ल का फिर अवकरण करता है और प्रक्रियाक्षेत्रमें थोड़ी देर में नोषसाम्ल की मात्रा स्थायी हो जाती है और नोषसाम्ल उत्प्रेरक का काम करने लगता है। पारा और नोषिकाम्ल में इस प्रकार प्रक्रिया चलने लगती हैं:—

४ पा + ४ उनोओ$_{३}$
=पा$_{२}$ (नोओ$_{२}$)$_{२}$ + पा$_{२}$ (नो ओ$_{३}$)$_{२}$ + २ उ$_{२}$ओ
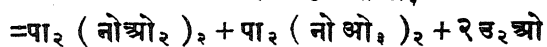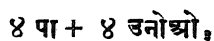
और प्रक्रिया में पारदस नोषित और- पारदस नोषेत दोनों साथ साथ बनते जाते हैं।

आचार्य राय ने पार्थिव क्षारों के नोषितों पर भी थोड़ा सा काम किया है। आपने अतुलचन्द्र गांगुलि के सहयोग में इन नोषितों पर ताप के प्रभाव का अध्ययन किया। कदाचित् गांगुलि महोदय (१९०५) सब से पहले छात्र हैं जिनका नाम आचार्य राय के साथ सर्व प्रथम रासायनिक साहित्य में आया।

अन्य विविध नोषित

सन् १९०७ के सूक्ष्म लेख (ज० के० सो० १९०७, पृ० १४०४) में आचार्य्य राय ने पारदस उपनोषित के बनाने की तीन विधियाँ इस प्रकार लिखी हैं—(१) पारदस नोषित को शिथिल सैन्धक उपनोषित द्वारा अवक्षेपित करने से, (२) पारदस पारदिक नोषित को सैन्धक उपनोषित से अवक्षेपित करने से तथा (३) पारदस नोषित को अम्लीय पांशुज उपनोषित द्वारा अवक्षेपित करने से।

राय ने ताम्रिक नोषित पर भी कार्य्य किया (१९०७) जो ताम्रिक गन्धेत और भार नोषित या ताम्रिक हरिद और रजत नोषितकी प्रक्रियासे बनाया जाता है। यह पदार्थ घोलावस्थामें ही स्थायी रहता है। इसके घोल को गन्धकाम्ल के ऊपर क्षीण दबाव में भी यदि सुखाया जाय तो इसका स्वतः ओषदीकरण (auto-oxidation) हो जाता है और नोषिकोषिद की वाष्पें निकलने लगती हैं, और यह ताम्रिक नोषेत में परिणत हो जाता है।

आचार्य्य राय ने सन् १९०७ में ही कुछ द्विगुण नोषितों के बनाने की विधि प्रकाशित की थी। यदि पारदस नोषित और पांशुज या शोण नोषित के मिश्रण को थोड़े से पानी के साथ मलहम बनाकर बहुत से पानी में छोड़कर छाना जाय और छने हुए द्रवको क्षीणदबाव में गन्धकाम्ल पर सुखाया जाय तो पीले रवे प्राप्त होते हैं जोकि द्विगुण लवण हैं। इस प्रकार निम्न लवण बने।

(१) पा (नो ओ$_{२}$)$_{२}$ + २पां नो ओ$_{२}$
(२) पा (नो ओ$_{२}$)$_{२}$ + १½ सै नो ओ$_{२}$
(३) पा (नो ओ$_{२}$)$_{२}$ + ४ शो नो ओ$_{२}$ + ४ उ$_{२}$ओ
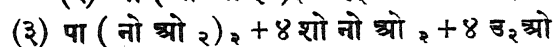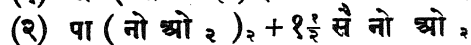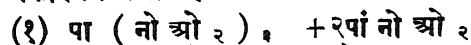
आचार्य्य राय ने यह भी दिखाया कि यदि पारदस-पारदिक नोषित के घोलपर रजत नोषित की प्रक्रिया की जाय तो न केवल थोड़ासा पारा ही पृथक् होता है प्रत्युत थोड़ा सा रजत भी मुक्त होता है। पर नोषजन नहीं निकलता और नोषित मूल नो ओ$_{२}$ पूर्ववत् बना रहता है। राय महोदय का विचार है कि प्रक्रिया में रजत-पारदस पारदिक ओष नोषेत बनता है।

आचार्य्य जी ने १९०८ में इन नोषितों का आणविक आयतन भी (molecular volume)

निकाला। उन्होंने शोण नोषित, सैन्धक नोषित, यांशुज नोषित, रजत नोषित और पारदस नोषित का आपेक्षिक घनत्व निकाला और इस घनत्व से अणु-भार को विभाजित कर आणविक आयतन मालूम किया।

अमोनियम नोषित पर कार्य्य

(Ammonium nitrite)

रसायन का सामान्य विद्यार्थी इस बात से परिचित है कि अमोनियम नोषित बहुत ही अस्थायी यौगिक है, और गरम करने से यह नोषजन देने लगता है। आचार्य्य राय ने घोल में अमोनियम नोषित इस प्रकार बनाया (१) रजत नोषित को अमोनियम हरिद् द्वारा और (२) भार नोषितको अमोनियम गन्धेत द्वारा प्रभावित करके।

आचार्य्य राय की इच्छा तो यह थी कि अमोनियम नोषित से किसी प्रकार उदाजीविन (hydrazine) नोउ₂ नोउ₂ बनाया जाय। इस कार्य्य के लिये उन्होंने अमोनियम नोषित के घोल को शून्य में ३०° से ७०° तापक्रम तक गरम करना आरम्भ किया। उन्हें उदाजीविन तो न मिला पर यह बात दिखाई पड़ी कि नली के ऊपरी सिरे पर कुछ रवेदार पदार्थ जमा हो गया है। बार बार प्रयोग किये गये और यह पदार्थ हमेशा मिला! इस पदार्थ की परीक्षा की गई और सौभाग्यवश यह पदार्थ शुद्ध रवेदार अमोनियम नोषित निकला।

अमोनियम नोषित रवेदार पदार्थ के रूप में मिल सकेगा, इसकी किसीको भी आशा न थी पर आचार्य्य राय के कुशल प्रयोगों ने इसे सम्भवित सिद्ध कर दिया। यह खोज सन् १९०९ में की गई थी और इसने आचार्य की कीर्ति को परिविस्तृत किया। (ज०के०से० १९०९, पृष्ठ ३४५)

बाद को आचार्य्य राय ने अपने योग्य शिष्य नीलरत्न धर और तीनकौड़ी दे के सहयोग में (१९१२) इस अमोनियम नोषित का वाष्प घनत्व निकाला। अमोनियम हरिद् और रजतनोषित के संसर्ग से प्राप्त अमोनियम नोषित का घोल शून्य में डेसीकेटर में रखने से पीत-हरित रवेदार पदार्थ देता है। हाफमन-नली में प्रयोग बड़ी सफलता और सावधानता से किये गये और वाष्पघनत्व ३३ के लगभग निकला (शुद्ध ३२)। इस प्रकार अमोनियम नोषित का कार्य्य दृढ़ निश्चित होगया।

रक्षित और दत्त के सहयोग में

यह कहा जा चुका है कि राय ने अतुलचंन्द्र गांगुलि के सहयोग में १९०५-०७ तक धातुओं के नोषित और उपनोषितों के सम्बन्ध में कार्य्य किया था। सन् १९०६ में पंचानन नियोगी के सहयोग में सैन्धक नोषित और मद्यील गन्धेतों के संसर्ग से मद्यील नोषित (alkyl nitrites) पर कार्य्य आरम्भ हुआ।

इस कार्य्य का विस्तार देने में जितेन्द्रनाथ रक्षित का विशेष हाथ था। रक्षित महोदय विद्यार्थी अवस्थामें अति साधारण विद्यार्थी थे और परीक्षाओं के उत्तीर्ण करने में उन्हें विशेष कठिनता होती थी। पर आचार्य्य रायने आपके अन्दर विशेष प्रतिभाका परिचय पाया और उन्हें अन्वेषण का काम सौंपा। इस क्षेत्र में रक्षित महोदय बहुत ही सफल हुए। आचार्य्य राय को आपके कार्य्य पर गर्व है।

द्विपारदामोनियम नोषित की खोज का वृत्तान्त पहले लिखा जा चुका है। यदि दारीलामिन द्वारा पारदिक नोषित को प्रभावित किया जाय तो उसी प्रकार का दारील यौगिक बनता है जो अवक्षेपित हो जाता है। दारीलामिन उदहरिद् और रजत नोषित की प्रक्रिया से भी यही दारीलामोनियम नोषित बनाया गया। दारीलामिन उदहरिद्के स्थान में अन्य अमिन जैसे ज्वलीलामिन, द्विदारीलामिन, आदि के उदहरिद् लेने से रजत नोषित की प्रक्रिया करके इन अमिनों के नोषित बनायेगये जैसे ज्वलील अमोनियम नोषित, द्विदारील अमोनियम नोषित आदि (१९११)। साथ ही साथ त्रि पारदिक द्विज्वलील अमोनियम नोषित और नोषोसो पिपेरेज़ीनियम नोषित भी बने (१९१२)।

इसी समय रसिक लाल दत्त महोदय के

सहयोग से बानजावील अमोनियम श्रेणी के (Benzyl ammonium series) के नोषित भी बनाये और इसपर तापके प्रभाव का भी अध्ययन किया (१९११—१२)।

इसी समय हेमेन्द्रकुमार सेन महोदय ने चतुर् बारीलामोनियम उपनोषित पर तापका प्रभाव निरीक्षित किया।

धर महोदय के साथ कार्य्य और भौतिक रसायन का आरम्भ

सन् १९१२ में आचार्य्य सर प्रफुल्ल की प्रयोग-शाला में एक ऐसे व्यक्ति ने काम आरम्भ किया जिसे हम एक प्रकारसे भारतवर्षमें भौतिक रसायन का जन्म दाता कह सकते हैं। यह व्यक्ति नीलरत्न धर थे। अब तक आचार्य्य राय ने नोषितों पर जो कार्य किया था वह संश्लेषणात्मक ही विशेष था। इन नोषितों का संगठन भौतिक प्रयोगों से निश्चित करने का कार्य्य धर महोदय ने लिया। भारत के रासायनिक इतिहास में यह घटना बड़ी ही उल्लेख-नीय है।

धर ने पहला कार्य्य पांशुज पारदिक नोषितकी विद्युच्चालकता पर किया। यदि यह संकीर्णयौगिक है तो इस यौगिक में पारद धन यवन नहीं है प्रत्युत ऋणयवन का एक अंग है—पां$_2$ पा (नोओ$_2$)$_4$

$$= २ \overset{+}{\text{पां}} + \text{पा} (\text{नोओ}_2)_4^{--}$$
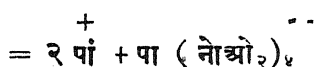
यदि यह संकीर्ण यौगिक नहीं है तो पारद धन यवन में होगा। इसी बातके निश्चित करनेके लिये पांशुजनोषित, पारदिक नोषित और पांशुज पारदिक नोषित की चालकतायें निकाली गईं और धर ने यह स्पष्ट किया कि घोल में पारद-नोषित यवन, पा (नोओ$_2$) $_4$" नहीं है, पारद की यवनें अलग अलग हैं।

[सन् १९१० में आचार्य्य राय ने शतीशचन्द्र मुकुर्जी के सहयोग में नोषितों के यापन के सम्बन्ध में हिमांकअवकर्ष के कुछ प्रयोगफल टिप्पणीके रूप में दिये थे।]

सन् १९१३ में धर महोदयके सहयोगमें सैन्धक उपनोषित, खटिक उपनोषित, और उपनोषसाम्लकी विद्युत् चालकताओं पर भी काम किया गया। यही नहीं, पारद मद्यील और पारद बानजावील-मद्यील अमोनियम श्रेणियोंके हरिदोंकी विद्युच्चालकताओंके आधार पर भी इन यौगिकों के संगठन निश्चित करनेका प्रयत्न किया गया।

धर महोदय के अतिरिक्त आचार्यके सहयोगमें ज्ञानेन्द्रचन्द्र घोष ने १९१७ में नोषसाम्लका विश्लेषण गुणक और विभाजित होने की गतिका अध्ययन किया। शरच्चन्द्रजानाने अमोनियम नोषित, बानजावेत और सिल्केतका वाष्पघनत्व (१९१३) निकाला। तात्पर्य्य है कि भौतिक रसायन का कार्य्य भी प्रारम्भ हो गया।

गन्धकीय और पारदवेधिदों पर कार्य

[Thio compounds and mercaptans]

सन् १९१४ में आचार्य्य रायने कार्बनिक गन्ध-कीय यौगिकों और पारदिक नोषित की प्रक्रियासे कुछ कार्य्य किया था। सन् १९१६-१७ में आपने पारदवेधनों और पारदिक नोषितमें निम्न प्रकार प्रक्रिया करके अनेक यौगिक बनाये —

$$—\text{गउ} + \text{पा} (\text{नो ओ}_3)_2$$
$$\text{पारद वेधन}$$
$$= — \text{ग-पानोओ}_2 + \text{उनोओ}_3$$
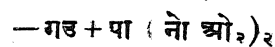
अर्थात् ज्वलील पारद वेधन, क$_2$ उ$_5$.ग उ से ज्वलीलनोषो पारद वेधिद, क$_2$ उ$_5$ ग—पा नोओ$_2$ बना। इसी प्रकार बहुतसे अन्य भी। इन यौगिकोंको मद्यील नैलिदों से फिर संयुक्त कर दिया गया और इस प्रकार के यौगिक बने—जैसे अग्रील नैलिद से—

$$\text{ज्व}_2 \text{ ग}_2, \text{ पा नै}_2, \text{ क}_2 \text{ उ}_9 \text{ नै}$$
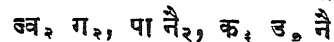
इस प्रकार नोषित मूल नैलिद मूल से स्थापित हो गया।

फिर आचार्य्य राय ने पारद-पारद वेधिद नोषित बनाये और उन्हें मद्यील नैलिदों से संयुक्त करके

और भी संकीर्ण यौगिक बनाये। इन यौगिकोंमें गन्धक अन्य परमाणुओं में किस प्रकार संयुक्त हुआ है इसकी मीमांसा करने का यत्न किया गया।

सन् १९१९ में प्रफुल्लचन्द्र गुह के सहयोगमें कुछ गन्धको द्वि-अजीवोल (Thiodiazole) यौगिकों पर लवणजन युक्त कार्बनिक यौगिकों का प्रभाव देखा।

कई प्रकार के अन्य गन्धकीय यौगिक जैसे त्रिब्वलीलिन त्रि-और चतुर् गन्धिदों की मीमांसाकी गई। पारद वेधिदों और गन्धकीय यौगिकों पर का कार्य्य आपकी प्रयोगशाला की विशेषता हो गई है। आज तक भी प्रयोगशाला में गन्धककी दुर्गन्धके बीच में आपका जीवन व्यतीत हो रहा है।

इस विषयमें अधिक जानने के लिये जर्नल आव् केमिकल सोसायटीमें प्रकाशित आपके लेखों का निरीक्षण करना चाहिये।

पररौप्यम्, स्वर्णम् आदि बहु मूल्य धातुओं की विभिन्न संयोगशक्तियों पर कार्य

[Varying Valancies]

सन् १९१९, १९२२, और १९२३ में आचार्य राय ने जर्नलआव केमिकल सोसायटी में पररौप्यम् की विभिन्नसंयोग शक्तियों पर कई लेख प्रकाशित किये। उस समय से इस वर्ष तक आपने जर्नल आव इंडियन केमिकल सोसायटी और जाइट एनार्ग शेमी में इसी प्रकार के अन्य बहुमूल्य धातुओं से सम्बन्ध रखने वाले लेख प्रकाशित किये। यह कार्य्य एक प्रकार से उनके पारदवेधिदों और गन्धकीय यौगिकों का ही विस्तार है। रसायनके विद्यार्थी इस बातसे परिचित हैं कि वर्नर महोदयने तत्वों की संयोगशक्तिके सम्बन्धमें और विशेषतः संकीर्ण यौगिक बनाने वाली धातुओं की संयोगशक्तिओंके विषयमें एक प्रसिद्ध धारणा प्रस्तुतकी है। आचार्य्य राय भी अपने यौगिकों द्वारा इसी बात की परीक्षा करना चाहते हैं कि वर्नर का सिद्धांत इस सम्बन्धमें कहाँ तक मान्य है।

इस सम्बन्धमें आचार्य्य रायने जो महत्वपूर्ण कार्य किया है, उसका केवल निर्देश ही यहाँ किया जा सकता है। यह कार्य धातुओंके कार्बनिक यौगिकोंके क्षेत्रमें बहुत ही महत्व पूर्ण है। आचार्यराय ने पररौप्यम्के ऐसे यौगिक बनाये हैं जिनमें यह त्रिशक्तिक, चतुर्, पंच, षष्ठ और अष्ट शक्तिक है। इन पर अमोनिया, अमिन और पिरीदिन का प्रभाव भी देखा गया है (१९२६)।

स्वर्ण (ज० इ० के० सो० १९२४, ६३) के यौगिकों में स्वर्ण द्वि,त्रि, चतुर, और पंच शक्तिक है। इन यौगिकों पर भी पिरीदिन, बानजावीलामिन, अमोनिया आदि का प्रभाव देखा गया।

इसी प्रकारके यौगिक आपने इन्द्रम् आदिधातुओं से बनाये हैं। इनमें यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि वर्नरका सिद्धान्त भ्रममूलक है।

इनके अतिरिक्त आचार्य राय और उनके सहयोगियोंका कार्य ताम्र-मगनीस समूहके द्विगुण गन्धेतों और गन्धोनियम तथा स्फुरोनियम आधारों पर भी है।

आचार्य्य रायके रासायनिक अन्वेषणों का यहाँ दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। आपके शिष्य रसायनक्षेत्रमें बड़ी ही संलग्नतासे कार्य कर रहे हैं। आपके विद्यार्थियोंमें से प्रो० नीलरत्नधर, प्रो० ज्ञानेन्द्रचन्द्र घोष, डा० पुलिनबिहारी सरकार, डा० ज्ञानेन्द्रनाथ मुकर्जी, श्री रसिकलाल दत्त, श्री हेमन्तकुमार सेन, डा० प्रफुल्लचन्द्रगुह, डा० पंचानन नियोगी आदि भारतवर्षके भिन्न भिन्न केन्द्रस्थलोंमें रसायन सम्बन्धी बड़ा ही उल्लेखनीय कार्य्य कर रहे हैं। विज्ञानके अन्य अंगोंके विद्यार्थियों को भी आचार्य्य राय से बड़ा ही प्रोत्साहन मिला है। इस सम्बन्ध में भौतिक विज्ञान के अग्रगण्य अध्यापक डा० मेघनादसाहा का नाम उल्लेखनीय है।

———

आचार्य्य प्रफुल्लचन्द्र राय और हिन्दू रसायनका इतिहास।

[ले० श्री आत्माराम एम. एस-सी.]

आचार्य्य राय भारतवर्षके उन कर्मवीरोंमें से हैं जिन्होंने अपने बल और पराक्रमसे भारत जैसे पिछड़े हुये देशको वैज्ञानिक संसारमें एक अच्छा स्थान प्राप्त कराया है। यों तो आचार्य्यजी ने अपनी और अपने प्रतिष्ठित शिष्योंकी खोजोंसे रसायनमें महत्ता पाई ही है परन्तु हिन्दू रसायनका इतिहास लिखकर भारतवर्ष की आर्य्य जातिका गौरव पश्चिमी जातियों की दृष्टिमें कहीं बढ़ा चढ़ा दिया है। उनका यह कार्य्य जब तक कि यह सृष्टि रहेगी उनका नाम अमर बनाये रक्खेगा जैसा कि उन्होंने स्वयं इस पुस्तक की भूमिकामें कहा है। इसी कारण आचार्य्य राय अङ्कके लिये लेखक ने उनके "हिन्दू रसायनका इतिहास" पर कुछ लिखने की चेष्टा की है।

जब राय महोदय ऐडिनबरा विश्वविद्यालयमें पढ़ते थे तभीसे उनको इतिहास पढ़ने की रुचि थी और भिन्न भिन्न प्रकार की पुस्तकें पढ़कर पश्चिमी रसायनके इतिहाससे पूरा पूरा परिचय प्राप्त कर लिया था। उनको यह भी ख्याल हुआ करता था कि अपने देशमें जो आर्य्यसभ्यताके समय रसायन पर कार्य्य हुआ है उसका भी इतिहास लिखना चाहिये परन्तु यह मनोकामना उनकी १८९८ तक हृदयमें ही रही। इसी समय फ्रांसके जगत्विख्यात रसायनज्ञ मारसेलां बरथेलो ने जिसको रसायन इतिहासका सबसे बड़ा विज्ञाता कहना चाहिये, आचार्य्य राय को एक पत्र हिन्दू रसायनके इतिहासके विषयमें लिखा और अनुरोध किया कि वह इस कार्य्यमें उनकी सहायता करें क्योंकि बरथेलो महाशय उस समय रसायन इतिहास पर एक बड़ी महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिख रहे थे। बस अब आचार्य्य को अवसर मिल गया उन्होंने बड़े प्रेम और परिश्रमके साथ बरथेलो की सेवामें हिन्दू रसायन पर एक लेख भेज दिया जो कि विशेषतः "रसेन्द्रसार संग्रह" के आधार पर ही था परन्तु यह पुस्तक इतनी उपयोगी नहीं है जैसा कि उस समय समझा जाता था, इससे हिन्दू रसायनका कुछ विशेष पता नहीं चलता।

हिन्दू रसायनका इतिहास

प्राचीन सभ्य जातियोंमें रसायनविद्या विशेष रूपमें आयुर्वेदिक क्रियाओं धातु क्रियाओं, और भिन्न प्रकारके यन्त्रों के ही अभिप्रायसे पढ़ी जाती थी या इन लोगोंकी यह भी चेष्टा रहती थी कि एक धातु रसायनिक क्रिया द्वारा किस प्रकार दूसरी धातुमें परिवर्तित की जा सकती है। इसी कारण प्राचीन समयमें बहुत सी औषधियोंको देवता मानकर ऋषियोंने वेदोंमें उनका वर्णन पूर्णरूपमें किया है। ऋगवेदमें सूर्य्य, वायु, अग्नि इत्यादि मुख्य देवता माने गये हैं परन्तु यही नहीं बहुत से वृक्षोंको भी उनके किसी न किसी स्वभावके आधार पर देवता माना गया है। उदाहरणतः सोमवृक्ष क्योंकि इसके रसको पीनेसे मनुष्यमें एक प्रकारका ईश्वरीय प्रेम उत्पन्न हो जाता था, इसी कारण इस रसको अमृत कहा जाता था। और इसके पीनेसे देवता अमर हो जाते थे। पाठकोंको जानना चाहिये कि हिन्दू रसायनका आरम्भ सोमरससे ही प्रारम्भ हो जाता है।

इसी प्रकार और बहुतसे वृक्षोंको भी देवता की पदवी दी गई थी जैसे "औषधी" अथर्ववेदमें विशेष रूपसे जड़ी बूटियोंको औषधीके रूपमें बतलाया गया है। कोढ़को अच्छा करनेका भी वृतान्त वेदोंमें आया है इसका आशय विशेष कर एक काले रंगके पौधेका है जो कि रातमें उगता है।

अभी तक औषधियाँ भिन्न भिन्न रूपोंमें ही उपयोग की जाती थीं, न कोई नाम न कोई स्वभाव विशेष रूपसे ही जाना गया था, परन्तु इसके कुछ दिनों पश्चात् एक दूसरा समय आया जिसको आचार्य्य राय ने आयुर्वेदिक समय माना है। इस समयमें दो बड़ी पुस्तकें अर्थात् चरक और सुश्रुत लिखी गईं। कुछ लोगोंका ऐसा कथन है कि चरक और अथर्ववेदमें लगभग एक हज़ार वर्षका अन्तर है इन पुस्तकोंमें शरीर की रचना और भिन्न भिन्न

रोगोंका अच्छा वर्णन है। सुश्रुत चरकसे कहीं उपयोगी और लाभदायक पुस्तक है।

इन दोनोंके पश्चात् वागभट्टका समय आता है। उसने एक पुस्तक अष्टांग हृदय नामक लिखी जो विशेषतः चरक और सुश्रुतके ही आधार पर है और कुछ भेला और हरीताके भी कार्य्य दिये हुये हैं। पारद्मके उपयोग पर भी इसमें कुछ वर्णन है। इससे पाठकोंको विदित होगा कि आर्य्य सभ्यताके समय भारतवर्षमें रसायनका कितना गूढ़ ज्ञान था।

आयुर्वेदिक समयमें प्रकृतिकी बनावट पर विशेष ध्यान दिया गया था। वैशेषिक दर्शनका रचयिता कणाद वर्त्तमान परमाणु सिद्धान्तका सबसे पहिला खोज करनेवाला था। उसकी मुख्य बातें डेमोक्रीटस सिद्धान्तसे मिलती जुलती हैं। कणादका नाद सिद्धान्त तो आजतक लोगों को चकित करता चला आ रहा है। और वास्तव में यह बात भी ऐसी ही है कि इतने प्राचीन समयमें भी भारतवर्षके ऋषियों ने जिन्होंने कभी कोई प्रयोग न किया हो इस गवेषणापूर्ण विषयों के ठीक ठीक सिद्धान्त दिये हों। और सबसे विस्मय की बात तो यह है कि कणाद ने इतने समय पहिले ही ताप और प्रकाशका स्वभाव ज्ञात किया था। वह अपने वैशेषिक दर्शनमें कहते हैं, "ताप और प्रकाश एक ही वस्तु के भिन्न भिन्न रूप हैं"।

कपिल मुनि ने अपने सांख्य दर्शनमें पांच तत्वों की आवश्यकता बतलाई है। अग्नि, वायु, जल, मिट्टी, आकाश और इनके भिन्न भिन्न स्वभाव भी बतलाये हैं। कणादने जो परमाणुकी परिभाषा दी है उससे यह विदित होता है कि परमाणुको प्रकृति का सबसेछोटा भाग जो उससे छोटे भागोंमें नहीं बांटा जा सकता, माना गया है।

कणाद के परमाणु सिद्धान्त का मैक्समूलर ने इस प्रकार वर्णन किया है।

कणाद का सबसे उच्च कोटि का कार्य्य परमाणु-सिद्धान्त है, यद्यपि न्याय दर्शन में परमाणु के विषय में कुछ वर्णन आया है परन्तु वैशेषिक में इस को भली भांति समझाया गया है। कणाद का कथन है कि प्रकृति में सब से छोटी वस्तु अवश्य होनी चाहिये जो कि दो भागोंमें न बांटी जा सकें। बहुतसे लेखकों का कथन है कि कणाद ने परमाणु सिद्धान्त यूनानियों से सीखा या अपनाया परन्तु मैक्समूलर ने स्पष्ट दिखा दिया है कि कणाद ने बिना किसी की सहायता के यह सिद्धान्त निकाला।

दर्शनों की व्याख्या को छोड़ कर अब यह दिखाया जायगा कि चरक और सुश्रुत में स्वाद, धातु, भस्म इत्यादि का कितना अच्छा वर्णन दिया हुआ है जिससे यह विदित होता है कि चरक के काल में ही आर्य्य जातिने कितना गौरव प्राप्त कर लिया था। चरक में विशेष रूप से छः प्रकार के स्वाद बतलाये गये हैं, मीठा, खट्टा, नमकीन, कड़वा, आम्ली, तीक्ष्ण और तीन प्रकार की वस्तुयें बताई हैं—वनस्पतियां, जीवित पदार्थ, पार्थिव पदार्थ। मधु, मांस, मूत्र, वीर्य्य, हाड़, बाल इत्यादि जीवित पदार्थ हैं, और स्वर्ण, तांबा, लोहा, रजतम् इत्यादि पार्थिव पदार्थ हैं।

स्वाद के दो भाग बताये गये हैं, अच्छा और बुरा जो कि मनुष्य के ऊपर निर्भर है। लाभदायक और निर्लोभ। मूत्र आठ प्रकार का बतलाया गया है, भेड़ का, बकरी का, घोड़े का, गाय का, भैंस का, हाथी का, ऊंट का, गधे का। लोहे, स्वर्ण और रजतकी पौष्टिक औषधियाँ बताई गई हैं, लोहे की पुष्टिक इस प्रकार बनती हैं:—

एक लोहे की पतली चादर लाल गरम कर ली जाती है, इसको गऊ मूत्र और कई क्षारों और लवणोंमें बुझाया जाता है, जब लोहा काला हो जाय तो उसे पीस लिया जाय इस प्रकार लोहे का पुष्टिक बन जाता है। चरक में रसायन की परिभाषा इस प्रकार दी गई है:—

रसायन वह विद्या है जिसकी सहायता से शारीरिक रोग दूर हों और मस्तिष्क स्वास्थ्य इत्यादि की वृद्धि हो।

सुश्रुत में मुख्य रूप में क्षारों की व्याख्या दी गई है कि किस प्रकार क्षार के प्रयोग से रोग दूर हो

सकते हैं। अम्ल और क्षार के मिलनेसे लवण बन जाता है वह भी विधि वर्णन की गई है। इस पुस्तक में तीक्ष्ण और मन्द क्षार का भी वर्णन है। साथ ही साथ खून पर एक अति उत्तम लेख इस पुस्तक में आया है। इस लेख को पढ़ने से यह विदित होता है कि उस समय में भी खून के चलने और इसकी उत्पत्ति का पूरा ज्ञान था क्योंकि एक जगह खून को शरीर का वाहक रस बताया गया है।

पांशुज और सैन्धक कर्बनेत बनाने की विधि और उनका उपयोग विशेष कर पथरी इत्यादि रोगों में बतलाया गया है। सीसम् वंगम् इत्यादि के बनाने और उनकी औषधियें खाने की विधि दी हुई है। पारदम् के प्रयोग का भी कुछ थोड़ा सा वर्णन है। सुश्रुत में केवल छः धातुयें मानी गई हैं,—लोहा, ताबां, रजतम्, स्वर्ण, वंगम्, और सीसम्।

इसके पश्चात् दो और पुस्तकें वर्णन करने योग्य हैं। चरकपाणि, वृन्दा। चरकपाणि में पारद गन्धिद अर्थात् कज्जली का वर्णन किया गया है और साथ साथ निम्न लिखित विधियां भी दी हुई है :—

पारदम् १ भाग, गन्धक १ भाग, दोनों को मिलाकर पीसो, कुछ देर पीसने से पारद गन्धिद बन जायगा। इस पुस्तक में नागार्जुन की निकाली हुई कई विधियां दी हैं जो वह लोहे को फूंकने में प्रयोग करता था।

तांत्रिक समय में बत्तियों के रङ्गों पर अधिक कार्य्य हुआ, और साथ साथ धातुओंके भस्मभी कई प्रकार से बनाये गये। इस समय की विधि का वर्णन नीचे दिया जाता है। लोहेकी दो कटोरियाँ बनाओ जिसमें एकका मुंह कुछ छोटा हो। इनमें गन्धक भर दिया जाय औरदूसरीमें पारद भरकर गन्धक वालीको इनमें धंसा दिया जाये। गन्धक और पारेको लहसुन के रससे भिगो लेना चाहिये। इसको मिट्टीके बर्तन में रखकर उसमें बन्द कर दिया जाये और बर्तनके मुंह को कपड़ेसे मिट्टी लगाकर बन्द कर दिया जाय। इन सबको ३ रोज तक आगमें तपाया जाय, तत्पश्चात् ठंडा करके पीस लिया जाये तो पारा मर जायेगा।

इसी प्रकारकी और कई एक विधियां इस पुस्तक में दी गई हैं। इस समयमें शुद्ध धातु की जो परिभाषा दी गई है उसको देखकर लेखकों की दृष्टि चकित हो जायगी। शुद्ध धातु वह है जो कि कटोरी में गलाने से कोई रंग न पैदा करे, इससे जो लपट निकले उसमें कोई रंग न हो, न कोई बुलबुला हो, न कोई ध्वनि हो और न उसके पृष्ठतल पर कोई रेखा हो।

१६०० ई०के पश्चात् भारतमें वैज्ञानिक विधियों का लोप होने लगा और लोग कलाओं में लग गये। इसका यह अर्थ नहीं कि विज्ञानको बिल्कुल ही भूल गये परन्तु उन लोगों ने नई नई बातें विदित करना छोड़ दिया।

भारतवर्ष में धातुओं को बनाने और ढालनेकी निपुणता के प्रमाण अब भी स्पष्ट हैं यद्यपि वर्त्तमान वैज्ञानिक संसार में धातुओं के बनाने, और उनके यौगिक बनानेके लिये सबसे अधिक निपुणता प्राप्त की गई है परन्तु लेखक के विचारमें तो अभी प्राचीन निपुणता तक पहुँचनेमें कई वर्ष लगेंगे। सोमनाथ मन्दिरके जेवर, पुरीके शहतीर, और क़ुतुबमीनारके पास लोहे का स्तंभ इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यहबड़े आश्चर्य्यकी बात है कि इस स्तंभ को इतने वर्ष बीत गये परन्तु किसी जगह भी इस पर जंग नहीं लगा। वर्तमान कालमें ऐसा लोहा बनानेके लिये अतिसे अति परिश्रम किया जा रहा है परन्तु अभी तक कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। बहुतसे महापुरुषों का कथन है कि यह लाट ४०० ई० के लगभग बनी होगी अर्थात् इसको बने कमसे कम १६ शताब्दी बीत गई और अभी यह उसी भोले भाले रूपमें खड़ी हुई है। इतनी बड़ी लाट न तो आज तक कहीं बनी ही है और न अभी बनने की आशा है। इसको देखकर बड़े बड़े पश्चिमी वैज्ञानिकों की आंखें खुल जाती हैं परन्तु शोक आज वही भारत सन्तान जिसके पूर्वजों

का एक एक कार्य्य समस्त योरोपके वैज्ञानिकों को चकित कर सकता है एक एक कीलके लिये पश्चिमी देशों की दया पर आंखें लगाये रहती है।

प्राचीन समय की हिन्दू जातियां बारूद इत्यादि बनाना भी जानती थीं, जैसा कि बहुतसे लेखोंसे विदित होता है। इन सब बातों का वर्णन शुक्रनीतिमें आया है और बारूद बनाने की कई विधियां भी दी हुई हैं, जैसे शोरा ५ पल, गन्धक १ पल, कोयला १ पल इनको खूब पीसो और लहसुनके अर्क में घोलके सूर्य्य की रोशनीमें सुखाओ। इस प्रकार बारूद बन जायगी। संस्कृत साहित्यमें कई स्थानों पर अग्निशस्त्रों का भी वर्णन आया है।

नोषिकाम्ल का आविष्कारक अधिकतर गेबर (यूनाना) को ही बाताया जाता है परन्तु आचार्य्य राय ने यह भली भांति दिखा दिया है कि प्राचीन हिन्दू जातियां शोरे और नोषिकाम्ल का प्रयोग करती थीं। यहां पर यह बता देना आवश्यक है कि मारसेलां बरथेलोने भी अपनी पुस्तकमें इस बात को सिद्ध किया है कि नोषिकाम्ल केवल गेबर ही नहीं बल्कि अरब वालों को भी विदित था।

हिन्दू रसायन का इतिहास लिखकर आचार्य्य रायने हिन्दू जातिके गौरव को बढ़ा दिया है और उसके सोते हुये कुमारों की आंखोंके खोलने की चेष्टा की है। इस छोटे से लेखके पढ़नेसे विदित होगा कि आचार्य्य राय को कितनी कठिनाइयां इस पुस्तकके लिखनेमें पड़ी होंगी। बहुत सी बातें तो भारतवर्षके ग्रन्थोंमें मिलती भी नहीं थीं। उसके लिये उन्हें तिब्बत, चीन इत्यादिसे इन सब की खोज करनी पड़ी। यदि इस पुस्तकके पढ़नेसे हम लोग अपनी निद्रासे न जागें तो हम लोग केवल अपनी मातृभूमि ही नहीं अपने पूर्वजोंके साथ भी बड़ा भारी पाप करेंगे। आचार्य्य राय ने इस पापसे बचनेके लिये द्वार खोल दिया है और बता दिया है कि हमारे पूर्वज वर्तमान विज्ञान और उसकी कलाओंमें आजकलके वैज्ञानिकोंसे कहीं बढ़े चढ़े थे। यदि हम इसी प्रकार और सोते रहे तो बूढ़े ऋषिका परिश्रम व्यर्थ ही जायगा और इस कृतघ्नता का पश्चात्ताप न जाने हमारी कितनी पीढ़ियां करती रहेंगी। इससे यही अच्छा है कि हम सब मिलकर फिरसे एक बार भारतवर्षके वैज्ञानिक गौरव की झलक दूसरे देशों को दिखादें। पश्चात्ताप करने की अभी कोई बात नहीं, समय काफ़ी है, यदि काम किया जाये। आचार्य्य प्रफुल्लके परिश्रम का सबसे अच्छा पारितोषिक यही तो हो सकता है कि अविचल हृदय होकर भारतवर्षके युवक विज्ञान की सेवा करें।

वैज्ञानिक पुस्तकें

मुद्रक—शारदा प्रसाद खरे, हिन्दी-साहित्य प्रेस, प्रयाग ।

पूर्ण संख्या— २०९

Approved by the Directors of Public Instruction, United Provinces and Central Provinces for use in Schools and Libraries. Reg. No. A. 708.

भाग ३५ VOL. 35. | सिंह, संवत् १९८९ | संख्या ५ No. 5

अगस्त १९३२

प्रयागकी विज्ञान परिषत्‌का मुखपत्र

'VIJNANA' THE HINDI ORGAN OF THE VERNACULAR SCIENTIFIC SOCIETY, ALLAHABAD

अवैतनिक सम्पादक

ब्रजराज एम. ए., बी. एस-सी., एल-एल. बी.,

सत्यप्रकाश, एम. एस-सी., एफ. आई. सी. एस.

प्रकाशक

वार्षिक मूल्य ३)] विज्ञान परिषत्, प्रयाग [१ प्रतिका मूल्य ।)

विषय-सूची

१—वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द

[Hindi Scientific Terminology]

प्रथम भाग

इसमें शरीर विज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, भौतिक विज्ञान, और रसायन शास्त्र (भौतिक, कार्बनिक और अकार्बनिक) के पारिभाषिक शब्दों का संग्रह है।

—सम्पादक—सत्यप्रकाश, एम० एस-सी० मूल्य ॥)

२—बीज ज्यामिति

[Conic Section]

ले० सत्यप्रकाश, एम० एस-सी०

सरलरेखा, वृत्त, परवलय, दीर्घवृत्त और अतिपरवलय का विवरण। मूल्य १॥)

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥ तै० उ० ।३।५॥

भाग ३५ | कर्क, संवत् १९८९ | संख्या ५

यक्ष्मा

[ले० श्री कमला प्रसाद जी एम० बी०]

यक्ष्मा रोगियों का आहार।

यक्ष्माक्रान्त रोगियों का भविष्य बहुत अंशों में उनकी पाचन-शक्ति पर निर्भर रहता है। जिनकी यह शक्ति नष्ट हो जाती है उनका भविष्य प्राय: अन्धकारमय हो जाता है। अस्तु, चिकित्सक का ध्यान सदैव इस ओर बना रहना चाहिए। रोग के आरम्भ में मितली आना अथवा भूख नहीं लगना आदि लक्षण बहुत उत्पात मचाते हैं। ऐसी अवस्था में स्थान-परिवर्त्तन (विशेष कर सागर-तीर पर निवास करना) बहुत लाभ-दायक होता है। जब ऐसा करना सम्भव न हो, और ज्वर सदैव बना रहता हो तो उचित है कि रोगी के पूर्ण विश्राम का प्रबन्ध कर दिया जाय, सारा दिन खुली हवा में रहने दिया जाय और निर्धारित समयों पर दूध, मांस-रस, अंडे का श्वेतांश इत्यादि पुष्टिकर पदार्थ खाने को दिये जायँ। रोगी की रुचि की ओर विशेष ध्यान देना उचित है। अरुचिकर पदार्थ कभी लाभदायक नहीं होगा। कभी २ रोगी को बलपूर्वक खिलाया जाता है किन्तु यह क्रिया भय से खाली नहीं है।

कभी २ तो रोगी की भोजन-रुचि कुछ भी नष्ट नहीं होती। वे जिस प्रकार साधारण अवस्था में भोजन करते हैं, उसी प्रकार रुग्नावस्था में भी खा सकते हैं। इन रोगियों में भी यह देखा गया है कि खुली हवा में रहने के कारण भोजन की ओर इनकी अत्यधिक रुचि हो जाती है।

भोजन की सामग्रियां पौष्टिक एवं रुचिकर होनी चाहिए। पाश्चात्य देशों में रोगियों को अंडे का श्वेतांश, मांस का रस और दूध इत्यादि पदार्थ दिये जाते हैं। किन्तु हमारे देश में निरामिष-भोजियों की संख्या कम नहीं है। अस्तु, मांस-रस और अंडे के बदले छेना का प्रयोग करना उचित जान पड़ता है। आलू, फल और शाक सब्जियां यथेष्ट मिलनी

चाहिए। सर्वोपरि चिकित्सक को यह विचार कर लेना उचित है कि किसी विशेष खाद्य पदार्थसे किसी प्रकार का उपद्रव—कोष्ठबद्धता, अतिसार इत्यादि—हो सकता है वा नहीं। उदाहरण-स्वरूप दूध बहुत आवश्यक वस्तु है किन्तु कभी २ इस से अतिसार हो जाता है।

मदिरा प्रत्येक रूप में अनुचित है।

भोजन के आध घंटे पूर्व तथा इसके उपरान्त पूर्ण विश्राम आवश्यक है। यक्ष्मा-रोगियोंके आहार की एक तालिका यह हो सकती है

नाश्ता (भोर ६ से ८ के बीच)—मिठाई, कचौरियां, निमकी वा अन्य नमकीन चीजें (परिमाण में रोगी की रुचि तथा पाचन शक्तिके अनुकूल) एक वा दो सिझाये हुए अंडे।

१० से १२ के बीच—भात वा रोटियां, दाल बहुत कम, थोड़ा सा घी वा मक्खन साक—सब्जियां—आलू, बैगन, परवल, गांठ गोभी, कोवी, कद्दू, करैले, रामतरोई, सहजना, विलायती बैगन (टोमैटो) साक*कागजी नीबू इत्यादि। मांस वा मछली (अधिक न हो)

३ से ४ के बीच—कुछ फल—केला, संतरा, अनार, आम, पपीता, अमरूद, इत्यादि।

६ से ८ के बीच—रोटियां, तथा दूध, मलाई, वा दही। इनमें अंडे, मक्खन, विलायती बैंगन, नीबू और संतरा विशेष कर लाभदायक हैं। तरकारियों या मांस इत्यादि में मसाले का अंश बहुत कम हो। लाल मिर्च एक दम न हो, काली मिर्चके दो चार दाने, प्याज के एक दो टुकड़े, यथेष्ट हल्दी, धनियां अदरक, डालचीनी इत्यादि भी बहुत कम हों।

नीबू के अतिरिक्त अन्य खट्टी चीज नुकसान पहुँचाती हैं।

इस बात का ध्यान रखना होगा कि कोष्ठबद्धता की चिकित्सा बहुत आसानी से हो सकती है, किन्तु अतिसार की चिकित्सा एक कठिन कार्य्य है। अस्तु, भोजन में ऐसे पदार्थ बहुत कम हों जिनसे अतिसार की सम्भावना रहती है।

* ये कुछ रोचक होते हैं, अस्तु अधिक परिमाण में नहीं दिये जा सकते।

पूर्ण विश्राम तथा व्यायाम।

व्यायाम के सम्बन्धमें अधिकांश चिकित्सकों की यह धारणा है कि यह सभी यक्ष्मा-रोगियोंके लिए नितान्त आवश्यक है। यद्यपि यह धारणा एक भयङ्कर भूल है, इससे बहुधा रोगियों की स्थिति और भी खराब हो जाती है।*

यह साधारण अनुभव की बात है कि यदि कोई जोरसे दौड़ जाय तो वह कुछ क्षण तक हांफता रहेगा, अर्थात उसके प्रत्येक अवयव को और विशेष कर हृदय तथा, फुफ्फुस को कुछ समय तक अत्यधिक काम करना पड़ेगा। इसी प्रकार बैठे हुए मनुष्यके फुफ्फुस एवं हृदय उतना काम नही करते जितना कि चलते हुए के, तथा शय्या पर पूर्ण विश्राम करते हुए व्यक्तिके फुफ्फुस एवं हृदय को सर्वापेक्षा कम काम करना पड़ता है। यह सिद्धान्त यक्ष्मा-रोगियों के लिए और भी लागू है। इसके अतिरिक्त यक्ष्माक्रान्त व्यक्ति को यदि सदैव चलना फिरना पड़े, तो उसके फुफ्फुस को अपेक्षाकृत अधिक काम करना पड़ेगा, उनमें अधिक रक्त संचार होगा तथा यक्ष्मा केन्द्रों से अधिक कीटाणुविष (Toxin) रक्त-धारा द्वारा शरीर में फैलेंगे और अधिक ज्वर एवं अन्य लक्षणों को उभाड़ेंगे। इसका परिणाम कभी अच्छा नहीं हो सकता। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अनुचित व्यायाम रक्तक्षरण का एक प्रधान कारण होता है।

* मैने एक ऐसे रोगी को देखा था जिसका तापक्रम कभी १०२° से कम नहीं रहता था, उसके दोनों पाँवोंमे सूजन थी—जो निस्सदेह हृदय-दौर्बल्य का प्रधान चिह्न है—तथो दोनों फुफ्फुसोंमें बड़े २ यक्ष्मा गर्त्त थे। इसे भी आध मील टहलने की अनुमति दी गई थी—तथा चिकित्सा का भार था दो अनुभवी डाक्टरो (रिटायर्ड सिविल सर्जन) पर! किमाश्चर्यमतः परम्?

यह भी एक साधारण अनुभव की बात है कि यदि किसीके पाँवमें एक छोटा घाव हो गया हो, और वह व्यक्ति सदैव चलता फिरता हो तो वह घाव कदापि अच्छा नहीं होता, यदि अच्छा होता भी है तो आवश्यकता से कई गुना अधिक समय ले कर। यही दशा यक्ष्मा-जनित व्रणों की भी है। जिस अंगमें ये वर्त्तमान रहते हैं, उसे कार्य-भार-ग्रस्त कर देने पर वह अंग कदापि रोग मुक्त नहीं हो सकता। वास्तवमें विश्राम द्वारा शरीरके तंतुओं को रोगों से युद्ध करनेमें अच्छी सहायता मिलती है।

अस्तु, यक्ष्मा-रोगियोंके लिए पूर्ण विश्राम बहुत ही आवश्यक है। यह कब तक? इसका उत्तर प्रत्येक रोगीके लिए भिन्न है। जिन नियमोंके आधार पर यह चिकित्सा निर्भर करती है, निम्नलिखित पंक्तियोंमें उनका दिग्दर्शन-मात्र कराया जाता है।

जिस रोगी की चिकित्सा की जाती है, उसे सर्वप्रथम कुछ समयके लिए शय्या पर निश्चेष्ट विश्राम करने दिया जाता है, तथा अङ्ग-संचालन सम्बन्धी छोटी २ बातों का—जैसे उठ बैठना, अधिक बोलना इत्यादि—भी ध्यान रक्खा जाता है। यह समय एक सप्ताह, दो सप्ताह, चार सप्ताह, वा इससे भी अधिक का हो सकता है। इस बीचमें रोगी की वास्तविक स्थिति का पता चल जाता है, तथा कुछ २ शांत होने लगता है।

जब रोगी की गुदा का तापक्रम* भोर के समय ९८° वा कम, तथा संध्या समय १००° से अधिक न हो तब उसे व्यायाम की अनुमति मिल सकती है।

प्रथम व्यायाम शय्या पर कुछ काल तक उठ कर बैठना होगा। आरम्भ में ५ मिनट की अनुमति दी जाती है, किन्तु क्रमशः इस समय को बढ़ाया जाता है। व्यायाम की दूसरी सीढ़ी पर पहुँचने पर रोगी को आवश्यक कार्यों के लिये शय्या छोड़ने की अनुमति दी जाती है। तदुपरान्त एक फर्लांग, दो फर्लांग तथा क्रमशः मील दो मील टहलने (धीरे२) की आज्ञा मिलती है।

*मुख तथा कक्ष का तापक्रम और भी कम होना चाहिए।

व्यायाम की अनुमति देते समय रोगी के तापक्रम (साथ साथ उसकी अन्य अवस्थाओं पर भी) पर पूरा ध्यान रक्खा जाता है। तापक्रम इस प्रकार लिये जाते हैं। भोर के समय (नींद से जगने पर), व्यायाम के पूर्व, व्यायाम के उपरान्त तथा व्यायाम के आधे घंटे बाद, और संध्या समय। व्यायाम के आधे घंटे पूर्व तथा इसके आधे घंटे उपरान्त तक रोगी निश्चेष्ट भाव से शय्या पर पड़ा रहेगा। भोर के समय का तापक्रम ९८° से अधिक न हो, संध्या समय १००° से अधिक न हो, तथा व्यायाम के पूर्व जो तापक्रम था वही माप व्यायाम के उपरान्त आधे घण्टे तक विश्राम करने पर आजाय, तभी व्यायाम की अनुमति मिल सकती है, अन्यथा नहीं। आवश्यकतानुसार यह कम भी कर दिया जा सकता है साधारणतः स्वस्थ व्यक्तियों के भी चलने फिरने से शरीर में कुछ अधिक ताप की उत्पत्ति हो जाती है तथा तापक्रम बढ़ जाता है। किन्तु यह बढ़ा हुआ तापक्रम आधे घंटे तक विश्राम करने पर घट कर अपनी साधारण अवस्था में आ जाता है। यक्ष्मारोगियों में इस वृद्धि का एक और भी कारण है कीटाणु-विष जनित उत्तेजना। इस से बढ़ा हुआ तापक्रम कई दिनों तक बढ़ा ही रह सकता है। अतएव यक्ष्मा रोगियों को जब व्यायाम की अनुमति दी जाती है, तब इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि इस दूसरे कारण द्वारा उनका तापक्रम बढ़ने न पावे। वास्तविक हानि इसी वृद्धि से होती है।

रोगी को व्यायाम की अनुमति क्यों दी जाती है?

इस चिकित्सा का आधार है "विषस्य विषमौषधम्"। व्यायाम से सभी अवयवको कुछ न कुछ काम करना पड़ता है जिससे यक्ष्मा-क्षत (चाहे वह किसी अंग में क्यों न हो) कुछ उत्तेजित हो जाता है। इस उत्तेजना से अधिक कीटाणु विष (वा ट्यूबर्कुलिन) रक्त धारा में प्रवेश करते हैं। तथा शरीर

के प्रत्येक तंतुओं को युद्ध के लिए अधिकाधिक उत्तेजित करते हैं। यदि ये कीटाणु विष आवश्यकता से अधिक हानि ही पहुंचेगीं।

व्यायाम-चिकित्सा का यह ढांचा मात्र है। विज्ञ चिकित्सक प्रायः इन ही मार्गों का अनुसरण करते हैं, किन्तु प्रत्येक रोगी की अवस्था में वे कुछ अलग नियम निर्धारित करते हैं जो (नियम) उनके अनुभव इत्यादि पर निर्भर करते हैं

जब तक रोगी की चिकित्सा होती रहे, टहलने के अतिरिक्त और किसी प्रकार का व्यायाम कराना अनुचित है, ऐसे तो डाक्टर मुथू ने अपने स्वास्थालय में रोगियों द्वारा लकड़ी चिरवाने इत्यादि का उल्लेख किया है, किन्तु इस प्रकार के व्यायाम कहां तक अनौचित्य की सीमा का उलंघन नही करते, इसके उत्तरदायित्व का भार उक्त महाशय पर ही है।

यक्ष्मा की व्यायाम-विश्राम चिकित्सा में बहुत कुछ हेर फेर समय २ पर होता आया है। आरम्भ में चिकित्सकों की धारणा थी कि रोगी के लिये टहलना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु यह सिद्धान्त बदला। देखा गया कि व्यायाम की अपेक्षा विश्राम से अधिक लाभ पहुंचता है। फिर क्या था सभी रोगी सुला दिये गये और रोग मुक्त होने पर भी उनमें आलस्य और अकर्मण्यता रह गयी। वास्तव में ये किसी काम के न रहे। अस्तु, वर्त्तमान समय में विश्राम उतनी ही दूर तक आवश्यक समझा जाता है जिससे ज्वर इत्यादि लक्षणों मे कमी हो सके तथा रोगी को धीरे२ अपने भावी कार्य क्रम के लिए उपयुक्त बनाने की चेष्टा भी की जाती है। यह काम निश्चित व्यायाम द्वारा होता है।

ओषधियां

"जब चिकित्साका प्रश्न आता है तो भारतीय चकित्सक एक विचित्र स्थिति में पड़ जाते हैं। वे अभी तक ओषधियों तथा सुई द्वारा दी जानेवाली दवायों (Injections) के भण्डागारों पर विश्वास करते हैं, तथा रोगी को तब तक घसीटते जाते हैं, जब तक उसकी अन्तिम अवस्था नहीं आ जाती, और तब उसे जल-वायु-परिवर्तनकी सम्मति दे देते हैं कहना व्यर्थ होगा कि रोगके बहुत बढ़ जानेके कारण यह परिवर्तन बहुधा मृत्यु-जनक सिद्ध होता हैं।"❀

वास्तव में आधुनिक चिकित्सामें ओषधियोंका स्थान नगण्य है। काल्मेट्टी ने तो यह सिद्ध कर दिया है कि ऐसी कीटाणुनाशक दवायें जिनका कांचमें रक्खे हुए कीटाणुओं पर बहुत तीव्र प्रभाव पड़ता है, फुफ्फुसस्थ यक्ष्मा कीटाणुओं को नष्ट करनेमें एकदम असमर्थ हैं। थोड़ी देरके लिए यह भी मान लिया जाय कि हमें कोई ऐसी दवा हाथ लग गई जिससे शरीर में वर्त्तमान सारे यक्ष्माकीटाणु नष्ट कर दिये जा सकें, तो इससे कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ, क्योंकि यक्ष्माकीटाणुओं के नष्ट होने पर यक्ष्मा-विष (Toxin)की उत्पत्ति होती है और अधिक मात्रा में यही विष सांघातिक भी होता है, अस्तु ऐसी अचूक दवा भी हमारे लिए व्यर्थ होगी। इसमें संदेह नहीं कि ओषधियां यक्ष्मा-जनित बहुत से लक्षणों को दूर करने—कमसे कम कुछ शांत करने—में समर्थ होती हैं। वर्त्तमान युगमें केवल ओषधियों पर भरोसा रख कर यक्ष्माकी चिकित्सा करना अपनी मूर्खता का परिचय देना होगा।

"स्वर्ण-प्रस्तुत अनेकों ओषधियां केवल कुछ ही रोगियोंके लिए उपयुक्त होती हैं, टुवर्कुलिनका समय आया और चला गया अथच इसका व्यवहार इसके जन्मस्थान जर्मनी में ही त्यागा जा चुका है। इस समय खटिकके भिन्न २ लवणों को मुख द्वारा अथवा सुई द्वारा देने की धुन सवार है। अत्यन्त अप-टू-डेट चिकित्सकों का मस्तिष्काकांश खटिक और विटामिन (Vitamine) से आछन्न है। किन्तु यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि

❀Panchanan Bose M. B.(Cal) M. D. (Berlin)

अभी तक यक्ष्मा को दूर करने की कोई दवा नहीं आविष्कृत हुई है।"※

तथापि प्रत्येक यक्ष्मा रोगी को कुछ दवायें दी जाती हैं अवश्य। इनमें कुछ ऐसी हैं जो सभी प्रकार के यक्ष्मा-रोगियों को दी जाती हैं और कुछ केवल फुफ्फुस-यक्ष्मा-रोगियों के काम की होती हैं। उदाहरणार्थ खटिक तथा कौडलिवर आयल (Cod Liver oil) सभी प्रकार के रोगियों को दिये जा सकते हैं, किन्तु सैनोक्राइसिन फुफ्फुस-यक्ष्मा में ही काम करता है। खटिक अन्त्र-यक्ष्मामें विशेष लाभप्रद होता है।

कौड मछली का तैल

प्रायः एक शताब्दि के चतुर्थांश पूर्व इस तैल का यक्ष्मा की चिकित्सा में एक प्रधान स्थान था। इसके पुजारी इसके संबन्ध के भिन्न २ प्रयोगों द्वारा इसकी उपयोगिता सिद्ध करने में व्यस्त रहते थे। किन्तु इस समय इसका वह महत्व नहीं रह गया है। तथापि यह दवा बहुत से यक्ष्मा रोगियों को दी जाती है। इसकी विशेषता यह है कि पाचक संस्थान द्वारा सरलतापूर्वक ग्रहण कर लिया जाता है। तथा वसामय होने के कारण शरीर को पुष्ट करता है। इसके कुछ दुर्गुण भी हैं। अधिक मात्रा में व्यवहार करने पर यह अग्निमोध्य तथा अतिसार उत्पन्न कर देता है। शुद्ध तैल इतना दुर्गन्ध-युक्त रहता है कि यह खाया नहीं जा सकता है। अस्तु, इस में मधु इत्यादि मिला कर सुस्वादु बनाने की चेष्टा की जाती है। साथ २ अन्य पुष्टिकारक दवाइयें (जैसे हाइपो फौस्फाइट इत्यादि) भी मिला दी जाती है। यह अस्थि एवं ग्रन्थियों के यक्ष्मा में विशेष कर लाभदायक तथा अन्त्र-यक्ष्मा में विशेष कर हानि कारक होता है। इसकी मात्रा है एकड्राम (६० बूंद) वा चाय पीने के चम्मच से एक चम्मच, दिन में दो या तीन बार (यह मात्रा रोगी की अवस्था के अनुसार घटायी बढ़ायी जा सकती है। त्वचा द्वारा भी यह ग्रहण कर लिया जाता है। अस्तु, कुछ रोगियों को (जिन्हें मुख द्वारा सह्य नहीं होता) त्वचा पर मालिश कर दिया जाता है। बच्चों की घ्राण-शक्ति बहुत क्षीण होती है। अस्तु, वे सहज ही इसे खा लेते हैं। इसे भोजन के उपरान्त खाना चाहिए अन्यथा अग्निमांद्य की सम्भावना रहती है। अतिसार तथा यकृत-सम्बन्धी उपद्रव इस के सेवन के विरोधी हैं।

सोडियम मौरुएट्। यह लवण सैंधकम् तथा उपर्युक्त तैल के वसाम्ल के मिश्रण से तैयार होता है। इसके भी प्रायः वही गुण हैं जो कौड लिवर आयल के, इसमें विशेषता यह है कि यह सुई द्वारा दी जाती है। जिससे पाचक संस्थान सम्बन्धी उपद्रव नहीं होने पाते। साथ २ इसका बड़ा दोष यह है कि कभी २ यह भीषण प्रतिक्रिया (अधिक ज्वर इत्यादि) उपस्थित कर देता है। इसकी आरम्भिक मात्रा है ३ °।० घोल का $\frac{1}{2}$ शतांश मीटर। सप्ताह में दो बार यह दवा दी जा सकती है। (सुई त्वचा के नीचे बल्कि शिरा में प्रवेश करायी जाती है)। मात्रा धीरे २ बढ़ायी जाती है, किन्तु प्रतिक्रियायों का पूरा ख्याल रक्खा जाता है। फुफ्फुस-यक्ष्मा में इसका प्रयोग कदापि उचित नहीं है, सम्भवतः यह यक्ष्मा गाठों को भग्न करने की चेष्टा करता है।

क्रियोज़ोट

(Creosote)

यह कीटाणु-नाशक है, किन्तु यक्ष्मा क्रान्त फुफ्फुस में इसकी क्रिया कहां तक सफल होती है, यह कहना कठिन है। तथापि इसी आशासे यह दवा दी जाती है। पहलेतो इसकी मात्रा बहुत कम रहती है—१ बूंद दिन में ३ बार—किन्तु सह्य होने पर इसकी मात्रा और बढ़ा दी जाती है। यह अन्य औषधियोंके मिश्रण के साथ दिया जाता है। इसके सेवनसे भी वमन, मितली इत्यादि की सम्भावना रहती है। कभी २ सूंघनेके लिए भी दिया जाता है, किन्तु इसकी बुरी गंध बहुधा असह्य होती है।

※ श्री पञ्चानन बोस द्वारा खटिक के सम्बन्धमें किये गये इतने उग्रआक्षेपों से मैं सहमत नहीं हूँ। कारण आगे के अध्यायों में देखिये।

खटिक

(Calcium)

यह चिकित्सा निम्नलिखित प्रमाणों पर आधार-भूत है:—

(१) जब कोई यक्ष्मा-केन्द्र रोग मुक्त होने लगता है तब उसमें यौगिक तंतुओं (connective tissues) के साथ २ प्रचुर परिमाण में खटिक जम जाता है। यदि खटिक न जमने पावे तो वास्तव में केन्द्र रोग मुक्त नहीं होता।

(२) ज्यों २ रक्त में खटिक का अभाव होता जाता है त्यों २ रोग बढ़ता जाता है, दूसरे पक्षमें यदि रक्तमें यथेष्ट खटिक घुला रहे तो रोग केवल अवरुद्ध ही नहीं होता बल्कि छूट भी जाता है।

(३) ऐसे स्थानों के रहनेवाले जहां की भूमिमें अधिक खटिक पाया जाता है अन्य स्थानोंके व्यक्तियों की अपेक्षा बहुत कम यक्ष्मा क्रान्त होते हैं।

(४) जो लोग चूनेके भट्टोंमें काम करते हैं—यद्यपि उनके फुफ्फुस सदैव धूलि धूसरित होते रहते हैं—बहुत कम यक्ष्माग्रस्त होते हैं। इसके विपरीत वे लोग जो अन्य धूलिमय स्थानोंमें काम करते हैं बहुत शीघ्र इस रोग द्वारा ग्रस्त होते हैं क्योंकि उनके फुफ्फुस पर धूलि-कण और रोगाणु बैठते जाते हैं।

दूसरा प्रश्न यह है कि खटिक यक्ष्माग्रस्त रोगियों की किस रीति से सहायता करता है। इसका उत्तर नीचे दिया जाता है।

यह पहले कहा जा चुका है कि यक्ष्मा केन्द्रों में रक्त वाहिनी नलिकाओं का नितान्त अभाव रहता है। अन्य कीटाणु-जनित प्रदाह-स्थलोंमें रक्त संचार बहुत बढ़ जाता है किन्तु यक्ष्मा-जनित क्षत-स्थानों में ठीक इसका उल्टा देखा जाता है। इसका कारण यह है। यक्ष्मा कीटाणु और इनसे उत्पन्न विष रक्त नलिकाओं के अन्तरावरण (internal) पर आक्रमण करते हैं और उसे छिन्न भिन्न कर डालते हैं। इसका फल यह होता है कि इन क्षतों में रक्त नलिकाओं का प्रदुर्भाव नहीं होने पाता। खटिक इन्हीं रक्त-नलिकाओं की रक्षा करता है। यह देखा गया है कि वृद्धावस्था में जब रक्त में खटिक की प्रचुरता हो जाती है तो धीरे २ यह धमनियोंके तल में बैठता जाता है जिससे वृद्धों की धमनिया प्राय: कठोर हो जाती हैं। ठीक यही क्रिया यक्ष्मा-क्षतोंमें भी होती है। इन स्थानों में भी रक्त-नलिकाओं के तल—विशेष कर अंतरावरणमें खटिक जम जाता है। यह खटिक उक्त स्थानोंमें सिमेंट का काम करता है जिसे भेद कर यक्ष्माकीटाणु वा इनके विष रक्त नलिकाओं को नष्ट भ्रष्ट नहीं कर सकते, अस्तु, यक्ष्मा केन्द्रोंमें अधिक रक्त-संचार होने लगता है। इसके अतिरिक्त रक्त में खटिक की अधिक प्रचुरता के कारण घोल-सम्बन्धी साधारण* नियम के अनुसार वह स्थान २ में बैठ जायगा। इसकी आवश्यकता यक्ष्मा केन्द्रों में अधिक होती है। अस्तु शारीरिक तंतु यक्ष्माकेन्द्रों में इसे अधिक परिमाण में जमाने की चेष्टा करते हैं। इसके अतिरिक्त खटिक और यक्ष्मा कीटाणु एवं तज्जनित विष में प्रकृत विरोध हैं किन्तु द्वन्द युद्ध में खटिक की ही विजय होती है। अतएव जब यह किसी यक्ष्मा केन्द्रकी चारों ओर जम जाता है तो कीटाणु शक्तिहीन हो कर उसमें बन्द हो जाते हैं और सदैव के लिए मर मिटते हैं।

खटिक किस रूप में विशेष लाभ प्रद होता है?

खटिक उसी रूपमें अधिक लाभकारी होता है जिस रूप में यह रक्त-धारा में स्थायी हो सके। इस काम के लिए खटिक हरिद बहुत उपयुक्त है किन्तु इससे भी अधिक लाभकारी है खटिक लैक्टेट (दुग्धेत) इन दोनों को मिला कर एक साथ ही इस प्रकार दिया जा सकता है—

* वह नियम यह है। यदि किसी घुलनशील वस्तु को किसी द्रव में घोला जाय तो वह उसमें एक निर्धारित अंश तक घुलता जायगा; यदि घुलनशील वस्तु की मात्रा इस परिमाण से अधिक हुई तो वह कुछ और घुल तो जायगी किन्तु अवकाश पाते ही घोलक के निम्न भाग में जम जायगी। खटिक अन्य लवणों (धातुओं) की अपेक्षा बहुत कम घुलनशील हैं।

खटिक हरिद्——१५ ग्रेन
,, दुग्धेत——३० ग्रेन
जल ———१ औंस तक
एक खुराक के लिए।

यह दिन में तीन बार दिया जा सकता है।

खटिक के प्रयोग की एक दूसरी रीति है। यह दवा सुई द्वारा भी दी जा सकती है। इसे जल में घोल कर (५°/₀) कीटाणु विहीन कर लेते हैं*और इस घोलका ½ वा १ घन शतांश मीटर अन्त शिरा मार्गसे सुई द्वारा शरीरमें प्रवेश कराते हैं। मात्रा धीरे २ बढ़ाई जाती है। प्रतिक्रियायोंका भी भय रहता है परन्तु ये बहुत उग्र रूप नहीं धारण करतीं। इनसे बचने के लिए मात्राओं का पूरा ध्यान रखना आवश्यक है।

खांसी और ज्वर पर इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। मुक्त वायु, पूर्ण-विश्राम इत्यादि के साथ २ खटिक सेवन कराने पर प्रायः एक सप्ताह के भीतर ही खांसी कम होने लगती है और ज्वर भी कम होता जाता है। मेरा अपना अनुभव है कि फुफ्फुस यक्ष्मा की अन्तिम अवस्थाओं में भी यह कुछ जोर लगा देता है। कम से कम इतना उपकार होता है अवश्य कि रोगी कुछ स्थिर हो जाते हैं, उनके कष्टों की सीमा कम हो जाती है। ऐसी अवस्थामें खांसीके कारण उन्हें रात २ भर जागना पड़ता है, खटिक इस विपत्ति को बहुत अंशों में दूर कर देता है। इसके अतिरिक्त रक्तक्षरण में इसकी उपयोगिता का तो कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता†।

अन्त्र-यक्ष्मा में खटिक का सीमेंट का सा काम प्रत्यक्ष देखा जाता है। पाचन शक्ति बढ़ने लगती है जिससे साधारण स्वास्थ्य भी सुधरने लगता है। वमन, मितली इत्यादि लक्षण भी लुप्त होने लगते हैं यदि रोग का निदान इसकी आरम्भिक अवस्था में ही हो गया हो तो रोगी रोग मुक्त भी हो जाते हैं। इस सम्बन्ध में अपनी एक स्त्री रोगिणी की बात कहना अप्रासंगिक नहीं जान पड़ता। आप संयुक्त प्रांत*से यहां आयी थीं। आप के रोग के सम्बन्ध में कई विज्ञ चिकित्सकों की सम्मति ली जा चुकी थी और सभी ने इसे अन्त्र-यक्ष्मा निर्धारित किया था। यहां इन्हें स्वच्छन्द वायु, विश्राम इत्यादि के साथ २ खटिक सेवन कराया गया। इनकी दशा सुधरने लगी। प्रायः ६ महीनों में ये पूरी चंगी हो गयी। इस अवसर पर दुर्भाग्य-वश इन्हें गर्भाधान हो गया। मैंने समझा था कि बना बनाया सारा खेल बिगड़ जायगा किन्तु इस अवस्था में भी इनकी चिकित्सा का प्रबन्ध पूर्ववत् बना रहा। प्रसव के उपरान्त भी खटिक सेवन कराया गया। यह संतोष के साथ कहा जा सकता है कि इस प्रतिकूल परस्थिति में इनका स्वास्थ्य बिगड़ने नहीं पाया और ये अभी तक चंगी हैं। अनुमानतः खटिक ने ही इनकी पूरी सहायता की।

सूंघने की दवायें।

फुफ्फुस-यक्ष्मा में कीटाणु-नाशक औषधियों का प्रयोग बहुधा निरर्थक सा है, तथापि प्रथा के अनुसार ये ओषधियां सूंघने के लिए दी जाती हैं इनसे एक बड़ा लाभ यह होता है कि रोगी बहुत संतुष्ट हो जाते हैं। क्योंकि भीतर से आती हुई दुर्गन्धियां—विशेष कर जब फुफ्फुस सड़ने लगता है—कम हो जाती हैं। यह भी कम नहीं है।

निम्न लिखित घोल के दो चार बूंद कपड़े पर रख कर सूंघने के लिए दिये जा सकते हैं।

नैलोपिपील—२० ग्रेन, हरीद्रिन—१० बूंद, मद्यसार—२ ड्राम, क्रियोज़ोट—२० बूंद, लवेण्डर का कम्पाउंड टिंक्चर—२ ड्राम, पिपरमिंट—१० ग्रेन

*कांच में बन्द इस प्रकार के घोल बाज़ार में बहुत मिलते हैं।

†कुछ लेखकों की सम्मति इसके विपरीत है। वे समझते हैं कि खटिक कुछ भी सहायता नहीं करता रक्तक्षरण समय पा कर स्वयं ही बन्द हो जाता है। मैं इनसे सहमत हूं।

*अन्य प्रान्तों की अपेक्षा युक्त-प्रान्त में उदर-यक्ष्मा अधिक होता है।

कपूर—१५ ग्रेन युकेलिप्टस का तैल २ ड्राम, इत्यादि। आज कल विज्ञापन-वाजी के दिन हैं। एक "विशेषज्ञ" ने केवल दवायें सुंघा कर ही यक्ष्मा रोगियों को रोग से छुटकारा दिलाने का ठेका लिया है। मजा यह है कि आप कई प्रकार की सूंघने को दवायें इजाद कर चुके हैं और एक ही रोगी को इन सभी दवायों का सुंघाया जाना परमावश्यक है। ऊपर दी हुई तालिका (घोल) में कुछ उलट फेर कर ये दवायें बनायी गई हैं अथच इनका मूल्य अत्यधिक रक्खा गया है। निस्सन्देह आविष्कर्त्ता का उद्देश्य सफल होता है। पर रोगी सम्भवतः निम्न मार्ग का ही अनुसरण करते हैं।

(अन्य औषधियों का वर्णन यथास्थान कर दिया गया है।)

वनस्पति शास्त्रके कुछ वैज्ञानिक शब्दोंके हिन्दी नाम

[ले० श्री बलदेव सहाय निगम, बी० एस-सी०, एल० एजी०]

A

Algae	पानी की काई
Allium cepa	प्याज, काँदा
Allium sativum	लहसुन
Andropogon sorghum	ज्वार
Andropogon nardus	चट्टा घास
Artocarpus integrifolia	कटहल
Argemone mexicana	कटेरी, भटकटईया
Ageratum	घमरा
Achyranthus asper	लठजीरा
Agave	हाथी चिंघाड़
Azardirachta indica	नीम
Avena sativa	जौ
Amaranthus	मरसा
Amaranthus viridis	हरामरसा
Amaranthus paniculatus	रामदाना
Artabitris odoritisimus	हराचम्पा
Ailanthus	महारुख
Aegle marmels	बेल
Anacardium occidentale	काजू
Annoa squamosa	शरीफा
Annoa reticulata	रामाफल
Althea rosea	गुरखैरा
Acoacia catechu	कत्था
Albizzia lebbek	सिरसा
Alstonia scholaris	छतावर

B

Brassica compestris	लाही
Brassica juncea	सरसों
Brassica caulorapa	गांठ गोभी
Brassica olracea	करमकल्ला
Brassica botrytis	गोभी
Bambusa	बांस
Boerhavia diflusa	बिश खपरा
Blumea	कुकरौंधा
Bombax malabarica	सेमल
Barberis vulgaris	बरबरी
Beta vulgaris	चुकंदर
Bouginvillea	बगमवेलिया
Bauhinia	कचनार
Benincasa	पेठा

C

Cicer arietinum	चना
Cuscuta	अमरबेल
Caesalpinia bonducella	करंजवा
Cynodon dactylon	दूब
Crotolaria juncea	सनई
Carissa carandus	करौंदा
Cajanus indica	अरहर
Convolvulus arvensis	हिरन खुरी
Convolvulus microphyllus	शंखावली

Curcuma longa हल्दी
Colocasia antiguorum घुईयां
Canna indica बैजयंती
Cactus नागफनी
Calotropis मदार
Citrus medica कागजी नीबू
Citrus acida खट्टा नीबू
Citrus aurentium नारंगी
Citrus decumana चकोतरा
Corchorus olitorius जूट
Cannabis indica भांग
Cassia fistula अमलतास
Coriandrum sativum धनिया
Carum copticum अजवाइन
Capsicum मिर्चा
Chenopodium album बथुआ
Cedrela तुन
Cucumis खीरा
Cordia लसोढ़ा
Cocos नरयल
Cyperus rotundus मोथा
Citrullus vulgaris तरबूज
Cephalandra कुंदरु
Cucumis melon खरबूजा
Cucumis cyminum जीरा

D

Dolichos iahlab सेम
Daucus carota गाजर
Dodonaea सन्नाटा
Datura stramonium धतूरा

E

Eugenia jambolana जामुन
Eucalyptus यूकलिपटस
Euphorbia दूर्धा
Eriobotrya लुकाट

F

Fern फर्न
Fungus फफूंदी
Ficus glomerata गूलर
Ficus religiosa पीपल
Ficus bengalensis बरगद
Ficus carica अंजीर
Frageria स्ट्राबरी
Feronia elephanta कैथा
Fagopyrum कूटू
Foeniculum vulgare सौंफ

G

Gynandropsis pentaphylla हुलहुल, हुरहुरा
Gossypium herbaceaum कपास
Gomphrena globossa गुलटोप
Guizotia रमतिली

H

Hydrocotyle asiastica ब्रह्मी
Hibiscus गुड़हल
Helianthus सूर्यमुखी
Hiptage मधुमालती
Hordeum vulgare जौ

I

Ipomoea batatus शकरकंदी, गंजी

J

Justicia adhotoda रूसा

L

Loranthus बांदा
Launea asplenifolia बनगोभी
Lathyrus sativa चटरी मटरी
Linum usitatissimum अलसी
Luffa acutangula लौकी
Luffa egyptiaca तुरई
Lepidium चिनसुर
Lagenaria vulgaris कद्दू

M

Moss	काई
Mucor	रोटी की फफूंदी, बुकड़ी
Morus indica	शहतूत
Mangifera indica	आम
Musa sapientum	केला
Mirabilis jalapa	गुलाबांस
Moringa	सैजन
Michelia champaca	पीला चंपा
Martynie	बिच्छू
Mimosa pudica	छुईमुई
Mimordica	करेला

N

Nastartium	नकेश्वर
Nerium oleander	कनेर
Nictanthus arbotristis	हरसिंगार
Nilumbium	कमल
Nicotiana	तम्बाकू
Nephalium lichi	लीची

O

Oxalis corniculata	तिपतिया
Osymum sonetures	तुलसी
Ocimum sanctum	तुलसी
Oryza sativa	धान

P

Poinsettia	पनसेटिया
Panicum frumentaceaum	सांवां
Pongamia glabra	कंजी
Phoenix	खजूर
Portulaca obracea	कुलफा
Pinus	चीड़
Polyalthia longifolia	अशोक
Pluchea lanceolata	बाय सुरई
Psidium guava	अमरूद, बिही
Poiciana pulcherima	गुल तुर्रा
Pisum sativum	मटर
Pyrus communis	नाशपाती
Pancratium longiflorum	सुदर्शन
Papaver somniferum	अफीम
Polyanthus tuberosa	गुलचब्बो
Pennisetum typhoideaum	बाजरा
Pistecia vera	पिस्ता
Poinciana regia	गुलमुहर
Pyrus malus	सेव
Persica vulgaris	आड़ू
Prunus amypdales	बादाम
Prunus armeniaca	जर्दालू
Peucidanum graveolens	सोया
Plumeria acutifolia	गुलचीन

R

Ricinus communis	अंडी, रेंड़
Raphanus sativus	मूली
Rosa	गुलाब
Rhamnus persica	चिरला

S

Saccharum officinarum	गन्ना
Sacchatum spontaneum	कांस
Solanum melongna	बैंगन
Solanum tuberosum	आलू
Solanum lycopersicum	टमाटर
Snlanum nigrum	मकोय
Sida	बरपारी
Smilax	सर्सा पिरेला
Spondia mangifera	अमरा
Semicarpu anacardium	भिलावा
Sesamum indicum	तिल

T

Triticum vulgara	गेहूँ
Trianthema monogyna	पथरचटा
Thevetia nerifolia	पीला कनेर
Tagetis erecta	गेंदा
Tribulus	गुखरू

Trapa सिंघाड़ा
Tamarandus indica इमली
Trichosanthus चचेड़ा
Tabernaemontana dichototoma चांदनी

U

Urena lobata बरयारा
Ulmus चिलबिल, पपाड़ी

V

Vicoa हरदीला
Vernonia सहदेई

Z

Zea mays मकई, मक्का
Zingiber officinale अदरक़
Zizyphus jujuba प्यूंदी बेर
Zizyphus rotundifolia झरबेरी

हव्य पदार्थ

[ले० श्री प्रेमबहादुर वर्मा, एम० एस-सी]

१—चन्दन सफेद Sandal wood (santalum Albun)
२—अगर Eagle Wood (Aguilaria Agallocha)
३—तगर Asharun (Gardenia Florilbunda)
४—गूगल Indian Dellium (Balsamodendren Roxburghio)
५—जायफल Nut Meg (Myristica officinalis)
६—जावित्री Mace (Myristica Fragrans)
७—दालचीनी Cinnamon Bark (Cinnamomum Zeylanicum)
८—तालीसपत्र Talis Phar (Taxus-baccata)
९—पानडी
१०—लौंग Claves (Caryophytlus-aromaticus)
११—बड़ी इलायची Large Cardamom (Amomum Suvulatum)
१२—गोला Coco nut Palm (Cocas Nusifera)
१३—छुहारा Date Palm (Phoenix Montana)
१४—नागर मोथा Shad Cophi (Pyperus Pertimritis)
१५—गुलसुर्ख़ (Pentapeter phoenicea) गुलदुपहरिया
१६—इन्द्रजौ Lesanut Asakir (Seed of Hobarrhena Antidysenterica)
१७—कपूर कचरी Jarm Vad (Carcuma Aromatica)
१८—आँवला Emblic Myro balan (Phylanthus Amblica)
१९—किशमिश Grape roisins (Vitis Venifera)
२०—बालछड़ Spihenard (Nardostachys)
२१—नागकेसर Nar musk (Mesvaferia)
२२—तुम्बुर (L. Xanthoxylon Alata)
२३—सुपारी Betelnut Palm, (Areca catechu)
२४—नीमके पत्ते Nimb etree (Exadirecta Indiea)
२५—राल Yellow Resin (Resina-fleva)
२६—बूरा Sugar (Saccharum)
२७—घृत Clarified Butlter Ghee (Butyrum de pnuratum)

विकासवाद

[अनु० विकास प्रिय]

[४]

पशुओंका वर्गीकरण तो विकासवाद की पुष्टि करता ही है, पर उसके साथ साथ पालतू पशुओंकी जातियों का अध्ययन करनेसे भी इस विषय पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। डार्विनने इन पालतू पशुओंका भली भांति निरीक्षण किया था। जब किसी वन्य पशु को पालतू किया जाता है तो उनमें धीरे धीरे बड़ा अन्तर हो जाता है और उनकी सन्तानों को देख कर बहुधा यह कहना कठिन हो जाता है कि वे उन्हीं वन्य पशुओंकी सन्तान हैं या नहीं। घोड़े, भेड़, गाय, कबूतर, बाज़ आदि की अनेक संकर पालतू जातियाँ ऐसी हो गई हैं जो परस्परमें इतनी भिन्न हैं कि जितनी जङ्गली जानवरोंमें भी भिन्नता नहीं है। यही हाल बगीचोंमें उगाये जाने वाले पौधों का है। एक ही जातिके अनेक संकर पौधे परस्परमें बहुत ही भिन्न हैं, और इतनी भिन्नता जङ्गलके पौधोंमें नहीं पायी जाती है। यदि इन पालतू पशुओं को कोई जीववेत्ता प्राकृतिक स्थानोंमें पाता तो इन्हें वह अलग अलग जातियोंमें अवश्य विभाजित करता, पर पशुओं को पालतू बनाने वाले व्यक्ति इस बात को जानते हैं कि ये सब तरह तरहके कुत्ते या कबूतर एक ही जातिके जङ्गली कुत्ते या कबूतर की सन्तान हैं। कुत्ते तो पालतू भेड़िये ही हैं, पर वस्तुतः उस विस्तृत इतिहास का हमें पता नहीं है जिसके आधार पर निश्चय पूर्वक कह दिया जाय कि अमुक पालतू पशुके पूर्वज अमुक वन्य पशु थे। संभव है कि वे किसी एक पशु की ही सन्तान हों, अथवा अनेक जातियोंके संकरसे उनकी उत्पत्ति हुई हो। पशुओं को पाल कर मनुष्यने ही इतने अन्तर उत्पन्न कर दिये हैं, कभी तो जानबूझ कर उनमें ये परिवर्तन किये गये हैं, और कभी अनजान परिस्थिति आदि से प्रभावित होकर उनमें ये भेद हो गये हैं। यदि थोड़ेसे समयमें ही मनुष्य इतनी भिन्नतायें उत्पन्न कर सकता है, तो क्या यह सम्भव नहीं है कि अनेक युगान्तरोंमें प्रकृतिने भी स्वयं ही जातियोंमें इतने भयङ्कर परिवर्तन कर दिये, कि आज यह पहचानना कठिन हो जाता है कि किस जाति की पूर्वजा जाति कौन सी थी। पालतू पशुओंके उदाहरण इस बातके स्पष्ट प्रमाण हैं कि स्थिर-जाति-वाद जो यह मानता है कि जातियाँ पृथक् पैदा हुई हैं, भ्रमोत्पादक और असत्य है। पालतू पशुओं का विषय बहुत ही विस्तृत है, और डार्विनने इसका उल्लेख अपनी दो बड़ी पुस्तकोंमें किया है। स्थाना भावसे यहाँ इसका थोड़ा ही विवरण दिया जाता है। जिन पाठकों को इस विषयमें रुचि हो वे इन मौलिक मनोरञ्जक पुस्तकों को अवश्य देखें।

कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें स्पष्टतः पालतू नहीं कहा जा सकता है, पर वे परस्पर-परिवर्तन को भलीभांति प्रदर्शित करते हैं। पोटासैण्टो रैबिट (ख़रगोश) का उदाहरण ऐसा ही है जिसका उल्लेख डार्विनने किया है। १४१८—२० के लगभग एक पुर्तगाल निवासी जहाज़ीने मेडिराके निकट पोर्टोसैण्टोमें एक हरिणी (boe) और कुछ छोटे नवजात खरगोश छोड़ दिये थे। हरिणी तो जहाज़ पर ही पाली गई थी अतः उसे तो पालतू समझना चाहिये। इस द्वीपमें मांसाहारी प्राणी नहीं थे जिनसे ख़रगोशों को भय रहता, और न वहाँ अन्य दूध वाले ही पशु थे जिनसे भोजनके लिये संघर्ष करना पड़ता। इसका प्रभाव यह हुआ कि खरगोशोंमें बहुत ही शीघ्र वृद्धि आरम्भ हो गई और ४० वर्षमें ही वे अनगिनती हो गये। साढ़े चार शताब्दियों तक इन्हें संसारसे पृथक् रहना पड़ा, इसका प्रभाव यह हुआ कि पोर्टोसैण्टोके ख़रगोश पालतू और जंगली दोनों प्रकारके खरगोशोंसे बहुत ही भिन्न हो गये और उनकी अलग पृथक् जाति हो गई जिसे हैकलने 'लेपस हक्सलेइ' कहा है। इस नयी जाति का खरगोश यूरोपके जंगली खरगोशोंसे बहुत ही छोटा है, और बोझमें आधा ही है, और इसके रंगमें भी भेद है। इसके बाल अधिक लाल हैं। गला और पेट

कुछ खाकी या स्लेटिया रंग का है, नकि बिल्कुल श्वेत। यूरोपी जङ्गली खरगोशोंके कानोंके सिरे ऊपरी पूंछमें जो खाकी रङ्ग होता है, वह इसमें नहीं पाया जाता।

"दो छोटे पोटो सैण्टो खरगोश, यद्यपि जूलोजिकल-उपवनोंमें जीवित अवश्य रहे, पर वे सामान्य जातिसे विशेषतः भिन्न थे। वे बहुत ही चुस्त और जङ्गली स्वभावके थे। बहुधा देखने पर वे खरगोश तो नहीं, प्रत्युत बड़े चूहे लगते थे। वे बहुत ही शरारती थे और उनकी जङ्गली आदतें बिल्कुल भी कम न हुईं।...।यह बड़ी ही उल्लेखनीय बात है कि इन दोनों नर-खरगोशोंने कभी किसी दूसरी जाति की मादाओंसे समागम नहीं किया यद्यपि बटलेट महोदयने इसका बार बार प्रयत्न किया।

"यदि पोर्टो सैण्टो खरगोशों का इतिहास ज्ञात न होता तो इनके आकार की भिन्नता, उनका रंग ऊपर लाल, नीचे भूरा, उनके बाल और कान श्यामता रहित, देख कर, उन्हें अलग जाति का माना जाता, जूलोजिकल उपवन में उन्हें जीवित देखा जाना और फिर किसी अन्य जाति के खरगोशों से इसका समागम न होना इनकी पृथकत्व की और भी पुष्टि कर देता है लेकिन इन भिन्नताओंके होते हुए भी इसमें कोई सन्देह नहीं हैं कि सन् १४२० के बाद से इनमें यह परिवर्तन हुए हैं। पोर्टो सैण्टो, जमायका और फाकलेण्ड द्वीपों में जो खरगोश जंगली बन गये हैं, वे फिर पालतू नहीं बनाये जा सके, उन्होंने अपना स्वभाव नहीं छोड़ा।"

शीघ्र परिवर्तन का एक दूसरा उदाहरण चन्द्र-मौथ (लूनर मौथ-सैटर्निया लूना) का है जब कि यह टेक्सस से स्विट्ज़रलैण्ड को भेजी गई। सन् १८७० में बौल (Boll) प्राणिवेत्ता स्विट्ज़रलैण्ड में बड़ी और सुन्दर मौथ की कुछ पेंदियां (कैकून) लाया था, और दूसरे वर्ष के मई मास में इन पेंदियों से जो मौथ उत्पन्न हुए वे टेक्सस के मौथों के बिलकुल समान थे। इन मौथों से कई सौ उर्वर अंडे प्राप्त हुए, जिनमें से कुछ सप्ताहों में मौथ के कीड़े निकल आये। टेक्सस में इन कीड़ों को हिकरी और करले वालनट के पत्तों का भोजन मिलता था पर ये पत्ते स्विटज़रलैण्ड में नहीं उपलब्ध होते थे। अतः इन्हें योरोपीय वालनट के पत्तों पर निर्भर रहना पड़ा। इन पत्तों को भी कीड़ोंने बड़े चाव और रुचिसे खाया। जून मासके अन्तमें इन्होंने भी पेंदियां बनायीं और अगस्त के आरम्भ में इनसे मौथ निकल आयी। यह देख कर सब को आश्चर्य हुआ कि ये कीड़े जिन्हें दूसरे प्रकार के पत्ते खाने को मिले थे टेक्सस के कीड़ों से रूप रङ्ग में बहुत ही भिन्न थे। इतने भिन्न कि प्रत्येक कीटाणुवेत्ता, यदि उसे इनका इतिहास न मालूम होता तो इन्हें एक नये वर्ग में रखता। यही नहीं, डाक्टर गैमिञ्जर (Gemminger) ने तो इन्हें सचमुच ही नया नाम दे डाला—'सैटर्नियाबौली'।

मोरिट्ज़ वैगनर ने इस नये मौथ का वृत्तान्त इस प्रकार दिया है!—"इस का रूप बहुतही परिवर्तित हो गया। इस नयी जातिमें पर और शरीर कुछ भारी और पूर्वापेक्षतः बड़े हैं। केश युक्त अंग कुछ कम सिकुड़े और कम सुन्दर हैं। शरीर के पिछले भाग में लाल धारियाँ बिलकुल ही लुप्त हो गई हैं। आगे के पर अधिक चौड़े हैं। रङ्गमें भी बड़ा अन्तर हो गया है। मूल मौथों का रङ्ग पीत-हरा था पर नये मौथों का रंग नीबू की तरह चमकीला पीला है। कुछ परों पर नई धारियाँ भी निकल आयी हैं जोकि पहले के मौथों में नहीं थीं"।

इस प्रकार के परिवर्तन के और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, पर स्थानाभाव के कारण यहाँ ऐसा नहीं किया गया है। इन सब उदाहरणों का तात्पर्य यह है कि प्राणियों की जातियाँ स्थिर नहीं रहती हैं। परिस्थिति के अनुसार इनमें बहुत से परिवर्तन होते रहते हैं। पालतू पशुओं के उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि थोड़ा बहुत परिवर्तन तो इनमें शीघ्र दृष्टिगत हो सक्ता है। यह सृष्टि लाखों वर्षों में बनी। इतने समय में तो थोड़े थोड़े शनैः

शनैः परिवर्तन ही इतने हो गये कि आज हमें बहुत सी जातियाँ जो किसी समय में एक थीं, परस्पर भिन्न मालूम होती हैं। यह भिन्नता कैसे उत्पन्न हुई इसका सबसे सीधा समाधान विकासवाद द्वारा ही हो सकता है।

(५)

विकासवाद-की पुष्टि शरीर-रचना की तुलनात्मक विवेचना से भी होती है। इसके अतिरिक्त गर्भ-विज्ञान द्वारा किसी प्राणी के विकास की उत्तरोत्तर श्रेणियों का अध्ययन करके भी की जा सकती है। पुरातत्व सम्बन्धी खोजें भी जिनसे लुप्त प्राय पशुओं और वनस्पतियों का पता चलता है, इस विषय पर बहुत कुछ प्रकाश डालती हैं। पशुओं और अन्य प्राणियों का भौगोलिक विस्तार भी इस समस्या के सुलझाने में सहायता देता है। इन सब प्रमाणों की अलग अलग उपयोगिता है और सब में थोड़े बहुत दोष भी हैं पर सब मिलकर विकासवाद की बहुत ही सुन्दर पुष्टि करते हैं।

तुलनात्मक शरीररचनासे तात्पर्य समस्त प्राणियोंके देह-गठन और अंग-निर्माण से है। इस प्रकार की तुलना करने से पता चलता है कि पशु जगत् में कई प्रकार के स्पष्ट देह गठन हैं, जिनके अनुसार प्राणियों का वर्गीकरण किया जा सकता है। एक एक वर्ग में भी बहुत से उपवर्ग बनाये जा सकते हैं, और इन सब का निरीक्षण करने से यह पता चलता है कि ये सब वर्ग किसी निश्चित आयोजना के रूपान्तर ही हैं। एक दूसरे में चाहें भिन्नतायें कितनी भी अधिक क्यों न हों पर इस निश्चित आयोजना की झलक उनमें मिल ही जाती है। यह इसी प्रकार से है जैसे किसी संगीत में गाने की भिन्नभिन्न पंक्तिया होने पर भी उनकी लय या टेक कभी छिपी नहीं रहती है। कुछ उदाहरण इस बात को स्पष्ट कर देंगे। बाह्यदृष्टि से देखने पर निम्न गठनों में कुछ भी समानता नहीं प्रतीत होती है और ऐसा ज्ञात होता है कि भिन्न २ उद्देश्यों की पूर्ति के लिये विभिन्न आयोजनाओं के आधार पर इनकी रचना हुई है:—

लिज़र्ड का आगे का पैर, पक्षी और चमगादड़ के पंख, दीमक के खोदने वाले अङ्ग, व्हेल मछली के फटफटाने वाले पंख, घोड़े के आगे के पैर, और मनुष्य की भुजा और हाथ। पर यदि इन सब की रचनाओं पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय और उनकी हड्डियां, पेशियों, और स्नायुओं की तुलना की जाय तो पता चलेगा कि इन सब भिन्न अंगों के आधार में भी एक ही विशेष आयोजना है। इनमें भिन्न भिन्न कार्य्यों के सम्पादन के लिये कुछ भेद हो गये हैं जैसे दौड़ना, उड़ना, धरती खोदना, तैरना, और पकड़ना। इन सब में ऊपरी भुजा में एक ही हड्डी है जिसे ह्यूमेरस या प्रगडास्थि कहते हैं, और निचली भुजा में दो हैं जिन्हें अन्तः प्रकोष्ठास्थि (उलना) और बहिः-प्रकोष्ठास्थि (रेडियस) कहते हैं। सब में एक कलाई है जो कई बहुभुजाकारी अस्थियों के संघट्ट से बनी हुई है। इनके बाद हाथ की लम्बी हड्डियां हैं, और अन्त में अँगुलियां हैं। भिन्न भिन्न प्राणियों के इन अङ्गों में परिवर्तन केवल इतना ही हुआ है कि किसी में तो ये अवयव कुछ दब गये हैं और किसी में कुछ अधिक विकसित हो गये हैं। बहुत ही कम ऐसे उदाहरण मिलेंगे कि किसी में कुछ नये अवयव मिलें। उदाहरणतः, मनुष्य की भुजाओं और हाथों की घोड़े के आगे के दो पैरों से तुलना कीजिये। मनुष्य का हाथ पकड़ने के उद्देश्य से बनाया गया है और यह भुजा के आधार पर चारो ओर घुमाया जा सकता है; हाथ में पाँच अंगुलियाँ हैं, पर इन पांचों में जो अंगूठा है वह अन्य अंगुलियों से विशेष भिन्न है; हर एक अंगुली के सिरे पर चपटे नाखून हैं। मनुष्य की कलाई में आठ हड्डियां हैं। जो दो तिर्यक् पंक्तिओं में क्रमित हैं, आगे की भुजा (प्रकोष्ठ) में की दोनों हड्डियाँ अलग अलग पूर्ण, और स्वतन्त्र हैं, और एक दूसरे पर घुमायी जा सकती हैं इनका यह घुमाना कुहनी की सन्धि (कफोसि सन्धि) के स्वभाव पर निर्भर है। भुजाकी ऊपरी हड्डी में एक गेंदाकार सन्धि और एक उलखजाकार सन्धि है जिसका सम्बन्ध अंसफलक से है और

यह प्रत्येक दिशा में घुमायी जा सकती है। इसके विपरीत घोड़े में आगे के अङ्ग अर्थात् प्रकोष्ठ से केवल चलने का काम लिया जाता है, न कि पकड़ने का अतः आगे के दो पैर भी आगे पीछे ही रीढ़ की हड्डी के पृष्ठतल के समानान्तर तल में ही घूम सकते हैं, और यही अवस्था उनकी सन्धियों की भी है जो आगे पीछे घूमने में ही सहायता देती हैं। उनमें भुजा के चारो ओर हाथ को घुमाने की शक्ति नहीं है। इनमें केवल एक ही क्रियाशील अंगुली होती है, पांचों उङ्गलियों में से बीच की। इसकी हड्डियाँ इस प्रकार बढ़ीं हुई होती हैं कि इनके आश्रित समस्त शरीर का बोझ सँभाला जा सकता है। इसका नाखून भी बहुत चौड़ा होता है, इतना चौड़ा कि यह खुरका रूप धारण कर लेता है,—और ऐसा मालूम होता है कि मानों यह नाखून एक छोटी सी सन्दूकची है जिसमें अंगुलीका आगे का समस्त भाग बन्द हो गया है। इस एक क्रियाशील अंगुली के अतिरिक्त घोड़े के पैर में दो अंगुलियों के और अवशिष्ट चिह्न भी पाये जाते हैं। ये चिह्न दूसरी और चौथी अंगुलियों के हैं। बाहर से तो ये नहीं दिखाई पड़ते हैं और इनमें हाथ की केवल लम्बी हड्डियाँ (करभास्थि-Metacarpels) सन्धि रहित अवस्था में होती हैं। कलाई में ७ हड्डियाँ होती हैं। नीचे की पंक्ति की एक हड्डी गुप्त भी रहती है क्योंकि इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती है,—और अगुलियों की संख्या कम हो जाती है। अन्तः प्रकोष्ठास्थि भी बहुत छोटी हो जाती है, अतः दो सिरे ही शेष रह जाते हैं और ये बहिः प्रकोष्ठास्थि से संयुक्त हो जाते हैं। यह प्रकोष्ठास्थि बहुत बड़ी होती है क्योंकि यह समस्त शरीर के बोझ को संभालती है।

बैल के आगे के दो पैर भी केवल चलने के ही काम में आते हैं, ये आगे पीछे ही बढ़ सकते हैं और हाथ के समान कुहनी या कन्धे के चारों ओर ये घुमाये नहीं जा सकते। इसमें भी बहिः प्रकोष्ठास्थि को ही बोझ संभालना पड़ता है और सङ्कुचित अन्तः प्रकोष्ठास्थि के दोनों सिरे इसीसे संयुक्त रहते हैं। घोड़े और बैलके इन पैरोंमें भेद इस बातमें है कि बैलके पैरमें दो सचेष्ट
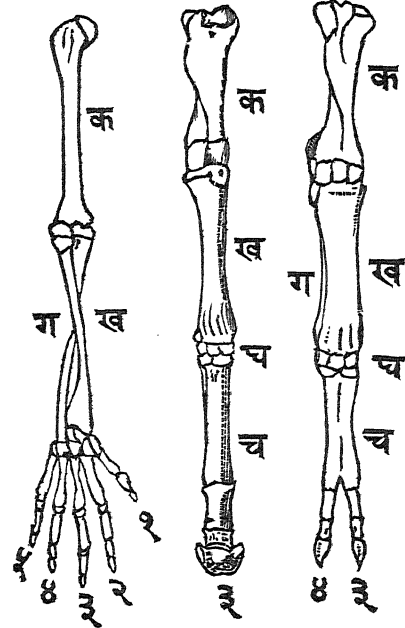
(चित्र १)

इस चित्रमें पहला हाथ (बायां) मनुष्य का है, दूसरा घोड़ेका अगला पैर है और तीसरा बैलका है। क=प्रगंडास्थि, ख=बहिः प्रकोष्ठास्थि, ग=अन्तः प्रकोष्ठास्थि, घ=कूर्चास्थि, च=करभास्थि, उङ्गलियां गिनतियोंसे सूचित हैं।

अंगुलियाँ होती हैं जो कि तीसरी और चौथी हैं। बोझ इन दो के बीचमें बराबर बँटा होता है। यह दोनों खुर इस प्रकार बने होते हैं मानों बीचसे फटे हुए हैं। पर इसका यह तात्पर्य्य नहीं है कि एक अंगुली या खुर ही बीचसे फट गया है। हाथ की लम्बी हड्डियाँ (करभास्थि) जुड़ कर एक कैननास्थि हो गई है, और दो अंगुलियोंके अतिरिक्त दो अवशिष्ट अंगुलियोंके चिह्न भी बाह्यतः स्पष्ट प्रतीत होते हैं। ये असली खुरके पीछे गाँठ रूपके होते हैं। इस प्रकार घोड़े और बैल दोनोंमें ही मूल पांच अंगुलियोंके अंश मिलते हैं, भेद इतना ही है कि

इन्हें आगेके पैरोंसे भी चलने का काम लेना पड़ा, अतः ये एक प्रकारसे घिस गये और घोड़ेमें एक अँगुली बच रही और बैलमें दो।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मनुष्यके हाथ, भुजा और अंगुलियाँ मुख्यतः वैसी ही हैं जैसी बैल या घोड़ेमें, जो कुछ भेद है वह प्रयोजन की भिन्नताके कारण है। मनुष्यका हाथ सौभाग्यतः अपनी आरम्भिक अवस्थामें ही विद्यमान रहा है और इससे अनेक उपयोगी काम लिये जा सकते हैं। अगर कहीं इससे कोई एक ही काम लिया जाता, तो इसकी अंगुलियाँ क्षीण हो जातीं, इसकी भुजाओंमें मुड़ने की शक्ति न रह जाती। इसका फल यह होता कि मनुष्य की समस्त सभ्यता पर पानी फिर जाता, और जो उन्नति भिन्नभिन्न क्षेत्रोंमें यह कर सका है न कर पाता। घोड़ेमें ये सब विशेषतायें नष्ट हो गईं और वह केवल चलने की मशीन रह गया, इसकी पांच अँगुलियोंमें से केवल एक अंगुली ही बच गई। इसके भिन्न भिन्न अवयवों की लम्बाई भी इसके काम लायक़ बढ़ गई और पैर ज़मीनके ऊपर उठ गया, इस प्रकार बैल और घोड़े दोनों ही अंगूठेके सिरोंके बल दौड़ते हैं। वस्तुतः घोड़ेका 'घुटना' आदमीकी कलाई का स्थानापन्न है, और उसके स्कंधों की पेशियोंमें उसकी कुहनी लुप्त-प्राय हो गई है।

ह्वेल मछलीके फटफटाने वाले परोंमें और मनुष्य की बाहुओंमें कुछ भी समानता नहीं दिखाई पड़ती है, और न ये घोड़ोंके अगले पैरोंसे ही मिलते जुलते हैं, पर शल्यनिरीक्षण द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि इनका रचना-विधान भी उसी प्रकार का है जैसा कि हाथों और भुजाओं का, पर मछली को पानीमें रहना पड़ता है, अतः इसको इन अंगोंसे दूसरे ही काम निकालने पड़ते हैं, और इसीके अनुसार उनमें भेद हो गया है। कन्धे को छोड़ कर और कहीं भी इनमें वास्तविक सन्धियाँ नहीं पायी जाती हैं, जिसके कारण इनमें फटफटानेके अतिरिक्त और गति होने की सम्भावना नहीं रह जाती है। भुजाओं की अस्थियाँ छोटी भरी हुई और सीधी-साधी हैं। अंगुलियोंमें सन्धियों की संख्या मनुष्य अथवा अन्य पशुओं की अपेक्षा बहुत ही अधिक बढ़ गई है। इस प्रकार ये काफ़ी लम्बी हो गई हैं और फटफटानेमें सहायता देने योग्य हो गई हैं। स्पष्टतः ह्वेल का पङ्ख उसी प्रकार का है जैसा कि भूमिमें रहने वाले चौपाओंके आगेके दो पैर (या हाथ) पर उनके सामुद्रिक जीवनके कारण कुछ अन्तर आ गये हैं।

चमगादड़के परों की अन्य चिड़ियोंके परोंसे तुलना करने पर पता चलता है कि यद्यपि दोनोंसे उड़ने का काम लिया जाता है पर तब भी उनमें
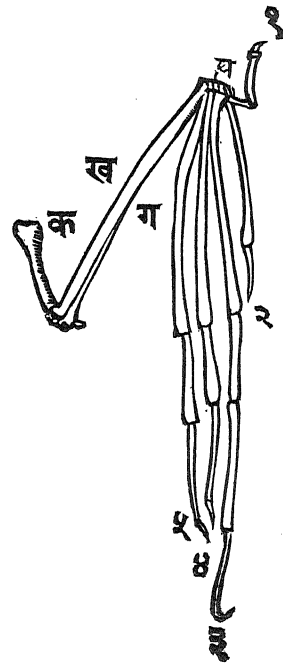
(चित्र २)
चमगादड़ का दाहिना पर चिह्न चित्र (१) के समान

कितना अन्तर आ गया है। परिस्थिति की अनुकूलता प्राप्त करने की दोनोंमें चेष्टा विद्यमान है। चमगादड़ की भुजा की हड्डियाँ बहुत पतली पर अधिक लम्बी हैं। अन्तः प्रकोष्ठास्थि बहुत छोटी है, केवल ऊपर की एक तिहाई रह गई है और यह बहिः प्रकोष्ठास्थिसे

सट कर मिल गई है। पहली अंगुली या अंगूठा अन्य अंगुलियोंसे बहुत अलग हट गया है, यह पर-की त्वचामें नहीं है, और टेढ़ा हुक रूप पञ्जे के समान मालूम पड़ता है। अन्य अंगुलियों की हड्डियाँ बहुत ही लम्बी और पतली हैं, और बहुधा इनमें अन्तिमसन्धियाँ एवं पंजे दब गये हैं; पर फल खाने वाले चमगादड़ों की जिन्हें 'उड़नवाली लोमड़ियाँ' कहा जाता है, दूसरी अंगुलीमें अन्तिम सन्धि और पंजा विद्यमान है, और कुछ अन्य जातिके चिमगादड़ों की तीसरी अंगुलीमें अन्तिम सन्धि तो होती है, पर पंजा नहीं। इनका पर त्वचा का एक पत्र होता है जो शेष शरीरके बाहरी ओर तथा भुजाके नीचे जुड़ा रहता है और यह अंगुलियों की हड्डियोंके बीचमें फैला होता है। इसे इसी प्रकार का समझना चाहिये, जैसे छाते का कपड़ा जो तीलियों को संभाले रहता है। इसी प्रकार का त्वचापत्र चमगादड़के पैरोंमें भी लगा रहता है। इस प्रकार चमगादड़के परोंमें भी अंगुलियोंके सदृश चिह्न विद्यमान हैं, उद्देश्य भिन्नताके कारण थोड़ा सा भेद अवश्य आ गया है। (अपूर्ण)

वैज्ञानिक आस्तिकता

(लेखक—श्री सत्यप्रकाश एम० एस-सी०)

सभ्यताके इतिहासमें मनुष्य कभी तो अज्ञानपूर्ण अन्धविश्वासों द्वारा शासित होता रहा है और कभी धर्माधिकारियोंके हाथों की कठपुतली बना है। इस इतिहासमें एक समय वह भी आया है जब तत्त्ववेत्ताओं और दार्शनिकोंने मनुष्य समाजके मस्तिष्क पर आधिपत्य प्राप्त कर लिया था। पर इधर दो शताब्दियोंसे 'वैज्ञानिक' युग ही सर्व प्रधान रहा है। साधारण जनता न तो धर्मके रहस्यको ही समझती है, न वह दर्शन की गम्भीर प्रहेलिकाओं की विवेचना कर सकती है, और न वह विज्ञानके अनुभवगत सिद्धान्तों की याथातथ्य परीक्षा कर सकती है, पर तो भी धर्म, दर्शन अथवा विज्ञानके नेता आचार्यों द्वारा जिस प्रकार का वायुमंडल तैयार कर दिया जाता है, उसीमें वह विचरती रहती है। यह तो सामान्यतः सबकी प्रकृति है ही।

इस लेखमें हम वैज्ञानिक आस्तिकता अथवा वैज्ञानिक ईश्वरके सम्बन्धमें अपने कुछ विचार प्रस्तुत करेंगे। अब तक जितने प्रकारके ईश्वरों की कल्पनाकी गई है उसे यदि निम्न सारिणीमें (पृ० १५०) चित्रित कर दिया जाय तो कुछ अनुचित न होगा।

इस सारिणीमें संक्षेपतः प्रधान भावों का संचय दिया गया है। इनका विस्तारसे वर्णन करना यहाँ उचित न होगा। अब तक जितने प्रकारके ईश्वरों की कल्पना की गई है अथवा भविष्यमें भी जितने प्रकारके ईश्वरों की कल्पना की जायगी वह मनुष्य-सापेक्ष कल्पना ही होगी। यदि मनुष्य समाजके अन्दर ज्ञान, दया, न्याय, शक्ति, आनन्द आदि वाञ्छनीय गुण माने जाते हैं, तो इसके ईश्वरमें भी इन गुणों की पराकाष्ठा होनी चाहिये, अर्थात् इस समाज द्वारा जिस ईश्वर की कल्पना की जानी चाहिये उसमें सर्वज्ञता, दया, न्याय, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वानन्द आदि गुण होने चाहिये। मनुष्य को ज्ञानसंचयके लिये पांच ज्ञानेन्द्रियाँ दी गई हैं जिनसे वह रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द इन पांच गुणों की प्रतीति करता है। कुछ व्यक्तियोंने जो ईश्वर का अनुभव इन्द्रिय-गत समझते हैं, ईश्वर को भी उपर्युक्त पंच-गुणों वाला समझ रखा है। अथवा जो ईश्वर को निर्गुण समझते हैं वे भी ईश्वर को अपने सापेक्षसे ही निर्गुण मानते हैं अर्थात् वे उसे रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द रहित मानते हैं। अब यदि कल्पना की जाय कि यदि मनुष्यके पास कुछ ज्ञानेन्द्रियाँ ऐसी होतीं जिनसे दया, न्याय, आनन्द आदिका भी उसी प्रकार स्थूल ज्ञान होता जैसे रूप रस आदि का होता है, तो कदाचित् निर्गुण ब्रह्मवादी ईश्वर को दया, न्याय, आनन्द आदिसे उसी प्रकार विहीन मानते जिस प्रकार रूप-आदिसे मानते हैं। यदि हमें कोई एक भी इन्द्रिय और दे दी जाती तो समस्त

	असभ्य जातियों का ईश्वर	पौराणिकों का ईश्वर	कर्मकाण्डियों का ईश्वर	धर्माधिकारियों का ईश्वर	तत्त्ववेत्ता दार्शनिकों का ईश्वर	रसिकों एव कवियों का ईश्वर	योगियोंका ईश्वर
संख्या	अनेक	अनेक	अनेक	अनेकमय एक	एक	न एक, न अनेक	अनिर्वचनीय
रूप	भयावह प्रत्यक्षगत	विचित्र कल्पनागत	दिव्यगुणी परोक्षगत	निराकार साकारगत	रूप रहित	कमनीय (इन्द्रिय जन्य कमनीयताकी पराकाष्ठा)	आनन्दमय अनुभवगत
धर्म	कोप (कुपित होकर शान्त होना)	सर्वधर्मा, (धर्मा, अधर्मा, और विधर्मा)	फलाफल निर्णय	सुख दुःख दातृत्व	कर्त्तृत्व, नियामकता	प्रेम	आनन्द
तुष्टि या प्राप्तिके साधन	बलिदान और प्रार्थना	स्तुति	कर्म (यज्ञ विहित)	आचार (सत्य, ब्रह्मचर्य्य आदि)	ज्ञानोपार्जन	प्रेम मादकता अनन्यभक्ति	समाधि (अन्तरङ्ग निरीक्षण)
प्राप्तिका अर्थ	भय निवारण	मनोवांच्छनाओं की सिद्धि (उचितऔर अनुचित दोनोंका)	स्वर्ग की प्राप्ति	मुक्ति	सर्वज्ञाता (अथवा बहुज्ञता)	रसानन्द (ऐन्द्रिक आनन्द की पराकाष्ठा	तल्लीनता (नाम रूप विमोचन)

इन्द्रिय जन्य संसार का स्वरूप ही परिवर्तित हो जाता, और उस अवस्था में हमारी परोक्ष कल्पनायें (जो प्रत्यक्षके आश्रित होती हैं) भी परिवर्तित हो जातीं और हम एक नये प्रकारके ईश्वर की कल्पना करते। अस्तु, दया, न्याय सर्वज्ञता आदि गुण भी तो इन्द्रियगत हैं,—कमसे-कम इनकी प्रतीति मनसे होती है और मन भी एक ग्यारहवीं इन्द्रिय है। ब्रह्म इन्द्रियगत नहीं है यह तो सभी उच्च दार्शनिक एवं आस्तिक मानते हैं, अतः ऐसी अवस्थामें ईश्वर को दया-रहित, न्याय रहित, ज्ञान रहित आदि भी क्यों न माना जाय, इसमें आपत्ति ही क्या है ? इसी प्रकार वह क्रूरता रहित, अन्याय रहित और अज्ञान रहित भी है। तात्पर्य्य यह है कि इन गुणों का ईश्वरमें आरोप करना केवल मनुष्य की सापेक्ष भावनाओं को प्रकट करना ही है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं, वस्तुतः ब्रह्म शब्दके साथ निरपेक्षतः गुण शब्द का भी प्रयोग नहीं किया जा सकता।

ब्रह्म को निर्गुण मानने वाला व्यक्ति नास्तिक है या आस्तिक ? बिना गुणोंके किसी की सत्ता स्थापित करना असम्भव है, तो फिर निर्गुण की सत्ता

स्थापित करने का क्या अर्थ है? पर फिर भी 'निर्गुण' का अर्थ 'नास्ति' नहीं है। और निर्गुण ब्रह्मके माननेवाले नास्तिक नहीं हो सकते हैं। वैज्ञानिक भी इसी श्रेणी के नास्तिक अथवा आस्तिक हैं। वैज्ञानिक इन्द्रिय-गत गुण और धर्मकी मीमांसा करते हैं। इन्द्रियगत धर्म और गुण ईश्वर का नहीं हो सकता है, अतः वैज्ञानिक ईश्वर के निर्गुण स्वरूप की स्थापना करते हैं। वे बतलाते हैं कि भूल से अमुक-अमुक गुण हमने ईश्वर के समक्ष रक्खे हैं, पर वस्तुतः वे इन्द्रियगत पदार्थों के गुण हैं, अतः वे ईश्वर के हो ही नहीं सकते। ईश्वर यदि है, तो इनसे परे है, वहाँ है जहाँ इन्द्रिय और इन्द्रियजन्य ज्ञान (कल्पना, मनन और चिन्तन आदि का भी) प्रवेश नहीं हो सकता है।

वैज्ञानिकों का ईश्वर सामान्य मनुष्यों के ईश्वर से इसी दृष्टि में भिन्न है। वैज्ञानिकों के ईश्वर में निर्गुणता अति परिविस्तृत हो गई है—भूल से कभी कभी यहाँ तक कि 'अस्ति' गुण भी उसमें नहीं माना जाता है—इस प्रकार अवैज्ञानिकों का ईश्वर अधिक स्थूल है और वैज्ञानिकों का अधिक सूक्ष्म। आत्मा की सूक्ष्मता का पुराने ग्रन्थों में कुछ उल्लेख आता है। शिर के एक केश को लीजिये (यह पदार्थ सामान्य ज्ञान में अति सूक्ष्म माना जाता है यहां तक कि बालकी खाल खींचना लोकोक्ति प्रसिद्ध है) इसके सहस्र भाग कीजिये और फिर हर एक भाग के सहस्र भाग कीजिये। इस प्रकार जो सूक्ष्म केश मिलेगा उसके अनुरूप आत्माकी सूक्ष्मता है पर वैज्ञानिकोंकी दृष्टि में ईश्वर का यह सूक्ष्म परिमाण अत्यन्त स्थूल है। वैज्ञानिकों ने प्रकृति के जिन परमाणुओं की कल्पना की है वे $१०^{-२२}$ अर्थात् $\frac{१}{१ \text{ पर } २२ \text{ बिन्दी}}$ मिलीमीटर के बराबर हैं अतः यह परमाणु दार्शनिकों के बताये गये ईश्वर की अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म है। यदि कहीं प्राचीन दार्शनिकोंको परमाणु के इस सूक्ष्म परिमाण का पता होता तो वे परमाणु के अपेक्षा से आत्मा को लाख दो लाख गुना अधिक सूक्ष्म अवश्य मानते। इस प्रकार यदि वैज्ञानिकों का कोई ईश्वर हो सकता है तो वह दार्शनिकों और धर्मवेत्ताओं के ईश्वर से कहीं अधिक सूक्ष्म होगा।

ईश्वर की कल्पना कब आरम्भ होती है? इन्द्रिय गत पदार्थों की मीमांसा के लिये मनुष्य अपनी इन्द्रियों और मन एवं बुद्धि को दौड़ाता है। जिस सीमा या मर्यादा पर ये इन्द्रियाँ रुक जाती हैं, बस उसके आगेही मनुष्य अदृष्ट शक्ति की कल्पना कर लेता है। इस अदृष्ट अनिर्वचनीय शक्ति का नाम ही वह ईश्वर रख लेता है। नेत्र का एक क्षितिज होता है, क्षितिज वह मर्यादा है जो नेत्र शक्तिकी उड़ान पर निर्भर है। यदि ऊंचे स्थान पर चढ़ते जांय तो यह क्षितिज विस्तृत होता जायगा। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि का भी एक निश्चित क्षितिज है। इस क्षितिज से आगे के कल्पित स्थान में ही हम ईश्वर की सत्ता मानते हैं। जिस प्रकार जितना ऊपर चढ़ेंगे, नेत्र क्षितिज बढ़ेगा, उसी प्रकार मनुष्य जितना अधिक ज्ञान संचय करेगा उसका सर्वेन्द्रियापेक्ष क्षितिज भी बढ़ जायगा। इस क्षितिज के बढ़ने से वह सीमा भी जिस पर ईश्वर की कल्पना की जाती है, बढ़ जायगी। एक अवैज्ञानिक छोटी से छोटी प्रहेलिका की सिद्धि के लिये भी ईश्वर की कल्पना का आश्रय ले बैठता है। वह उस अबोध बालक के समान है जो शायद कटोरदान में रखी हुई रोटियों को भी अपने आप बना हुआ समझता है। अथवा जो बिजली की बत्तियों को एक दम जलते हुए देख कर कह उठता है कि ये स्वयं जल उठीं। वह इन क्रियाओं के लिये ईश्वरी या दैवी शक्ति की कल्पना कर सकता है। पर एक ज्ञानवान् व्यक्ति इस कृत्यको मानवीय समझता है न कि ईश्वरीय। प्राकृतिक कृत्य स्थूल होते हैं। आटा चक्की पीसती है, यहाँ चक्की का कृत्य दृष्टिगत होने से अधिक स्थूल है, पर उस चेतन मनुष्य का काम जो चक्की को एक छोटे से यंत्र द्वारा चला देता है, कहीं अधिक सूक्ष्म है। ईश्वर की कल्पना इन कामों से भी कहीं अधिक सूक्ष्म कामों के लिए की जाती है।

वैज्ञानिकों ने अपने अनेक प्रयोगों द्वारा यही तो सिद्ध किया है कि बहुत सी क्रियायें जो पहले अति सूक्ष्म और मनुष्य की शक्ति से परे समझी जाती थीं, वे भी अधिक स्थूल हैं, अतः इन स्थूल व्यापारोंके लिये किसी अदृष्ट चेतनवान शक्ति की कल्पना करना आवश्यक नहीं है। इसप्रकार वैज्ञानिकों ने न केवल यही सिद्ध किया कि ब्रह्म स्वरूपतः दार्शनिकों एवं धार्मिकों के ब्रह्म की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है प्रत्युत उसका कार्य्य भी (यदि वह कोई सत्ता है और वह क्रियावान् भी है तो) पूर्व-निर्दिष्ट कार्य्यों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होना चाहिये।

इस प्रकार विज्ञानवेत्ताओं ने ईश्वर की प्रचलित स्थूलता को दूर कर दिया। उन्होंने उपनिषद् के इस वाक्य को सार्थक कर दिया कि 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम्। तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।' अर्थात् जिसे तुम ब्रह्म समझ रहे हो वह ब्रह्म ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म वह है जो मन से विचारा नहीं जा सकता, प्रत्युत जिसकी प्रेरणा से मन विचार करता है। मन और अन्य समस्त इन्द्रियों द्वारा जिन विषयों का ज्ञान होता है वे तो अनीश्वर हैं, और विज्ञान का क्षेत्र केवल इतना ही है कि मन और अन्य इन्द्रियगत विषयों की मीमांसा करे। इस प्रकार ब्रह्म की मीमांसा करना विज्ञानके क्षेत्रमें ही नहीं, अतः इस दृष्टि से वैज्ञानिकों के सम्मुख आस्तिकता अथवा नास्तिकता का प्रश्न ही नहीं आता है। वे इतना अवश्य बता सकते हैं कि अमुक अमुक सत्ता ब्रह्म नहीं है और अथवा अमुक अमुक कार्य्य प्रकृतिजन्य हैं न कि ब्रह्म-प्रेरित। जब बार बार आस्तिकों की ओर से यह घोषणाकी जाती है कि 'नायमात्मा ज्ञानेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' तो फिर ऐसे ब्रह्मकी सत्ता के विषयमें विज्ञान चुप ही रह जाता है। जो कुछ हम जानते या जान सकते हैं वह तो ब्रह्म नहीं है क्योंकि ब्रह्म ज्ञान का विषय नहीं है, और जो ज्ञानका विषय नहीं है वह है या नहीं, या है तो क्या है इसकी मीमांसा हो ही कैसे सकती है ?

ईश्वर परीक्षण और प्रयोग का विषय नहीं है। ईश्वर ही नहीं, प्रत्युत यह स्थूल प्रकृतिभी सर्वांगतः प्रयोग और परीक्षणों द्वारा मीमांसित नहीं हो सकती है। वैज्ञानिक यह भली भाँति जानते हैं कि इस स्थूल प्रकृतिके सम्बन्धमें भी निश्चयात्मक प्रयोग करना कितना कठिन काम है, इसमें सन्देह नहीं कि वैज्ञानिकोंने अपनी कुशलताके कारण प्रकृतिके अनेक नये रहस्योंको उद्घटित किया है, और अपने अन्वेषणों द्वारा संसारका रूपही परिवर्तित कर दिया है। कभी कभी अभिमानी वैज्ञानिक अपनी सफलता पर मुग्ध हो जाता है और समझने लगता है कि वह समस्तज्ञानका अधिकारी हो चुका है। पर वास्तविकता इसके विपरीत है। पेड़की एक छोटी सी पत्ती भी आज तक उतनाही रहस्य बनी हुई है जितना कि पहले कभी थी। शरीर के अन्दर का रुधिर-प्रवाह भी वैज्ञानिकोंके लिये अज्ञेय ही है। इन तीन शताब्दियोंके अन्दर कोईभी ऐसा वैज्ञानिक नियम अन्वेषित नहीं हुआ जिसकी आयु २०-२५ वर्ष से अधिक रही हो। न्यूटनके गुरुत्वाकर्षण नियमसे लेकर आइन्स्टाइन के सापेक्षवाद तकके सभी सिद्धान्त प्रतिदिन परिवर्तित और सन्देहजनक होते जारहे हैं। जिस आशासे उन्नीसवीं शताब्दीके वैज्ञानिक प्रमत्त होकर ईश्वरका बहिष्कार करनेको उद्यत हो रहे थे, वह आशा आज बीसवीं शताब्दीमें निर्मूल हो गई है। उन्नीसवीं शताब्दी विज्ञानका शैशव थी। नये सीखने वाले शिशु अपनी रङ्ग विरङ्गी छोटीसी पुस्तकों पर और अपने हाथसे लिखे हुए उलटे सीधे अक्षरों पर जितना गर्व और अभिमान करते हैं, उतना प्रौढ़ लेखक अपनी सुन्दर से सुन्दर रचना परभी नहीं करते। यही कारण था कि आरम्भकालीन वैज्ञानिक अपनी आश्चर्य्यजनक गवेषणाओं पर इतने मुग्ध हो गये थे कि उन्हें ईश्वरकी कल्पना करना असह्य हो उठा था। पर आज बीसवीं शताब्दीमें संसारका बड़े से बड़ा वैज्ञानिक भी अपनी अज्ञानता स्वीकार करनेमें ही गर्व समझता है। अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं

शताब्दीमें धर्म और विज्ञानमें मुठभेड़ हो गई थी, इस मुठभेड़का कारण धर्माधिकारियोंका विज्ञान-विरोध था। धर्मके नाम पर अज्ञान, अन्धविश्वास, और रूढ़ियोंकी प्रतिष्ठा हो रही थी जो कि विज्ञानको असह्य है और इसीलिये विरोध स्वाभाविक था। यदि भूमिका गोल या चपटी होना, स्थिर या अस्थिर होना आदि विषयभी धर्म, धार्मिक पुस्तकों द्वारा ही निर्दिष्ट होंगे तो फिर जो न हो थोड़ाहो है। पर आज तो धर्माधिकारी भी अपने क्षेत्र को समझ गये हैं और इस कारण धर्म और विज्ञान विरोधी न होकर बहुत कुछ सहयोगी हो गये हैं।

विज्ञानवादियों को बहुधा जड़वादी या मटिरियेलिस्ट कहा जाता है। इस शब्द का प्रयोग इस दृष्टि में तो ठीक है कि विज्ञानवेत्ता जड़ प्रकृति या मैटर की मीमांसा करना अपना ध्येय समझते हैं। पर इस शब्द में कुछ रागात्मिका भावना भी है। सांसारिक भोग विलासों में आसक्त ऐश्चर्य्यवान व्यक्ति भी मटिरियेलिस्ट कहे जाते हैं, ये लोग परलोकमें विश्वास नहीं करते हैं और 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत' सिद्धान्त के मानने वाले हैं। विज्ञान ने निस्सन्देह ऐहिक ऐश्वर्य में अभिवृद्धि करा दी है और इस दृष्टि में समस्त यूरोप और अमरीका विलासप्रिय हो गये हैं। साधारणतः विज्ञान-प्रभावित और धर्म प्रभावित व्यक्तियोंके जीवन में घोर अन्तर प्रतीत होता है। पर वस्तुतः वैज्ञानिकों का जीवन इसके सर्वथा विपरीत है। विज्ञान के दो अंग हैं एक दार्शनिक और दूसरा व्यापारिक। संसार के सब प्रमुख वैज्ञानिक दार्शनिक हैं। वैश्य प्रवृत्तिवाले व्यापारियों ने इन दार्शनिक वैज्ञानिकोंके अन्वेषणसे लाभ उठाना चाहा है। इन व्यापारियों का उद्देश्य सदा यह रहा है कि सामान्य जनता की आवश्यकताओं को ऐन केन प्रकारेण बढ़ा दिया जाय और फिर इन आवश्यकताओं की पूर्ति का यत्न किया जाय। व्यापारियोंकी इस प्रवृत्ति ने ही यूरोप और अमरीका में दूषित विलासमय वायुमंडल उपस्थित कर दिया है जिसका भयंकर परिणाम अब तो स्पष्ट दिखाई दे रहा है। इसकी बदनामी विज्ञान के मत्थे मढ़ी जा रही है। यदि दो राष्ट्रों में अनबन होती है तो युद्ध की सामग्री के संचय में विज्ञान की सहायता ली जाती है जिससे निर्दोषों के रुधिर की नदियां बह निकलती हैं। पर संसार का प्रसिद्ध वैज्ञानिक सुमुदाय इस कुप्रवृत्ति का सर्वथा विरोध ही करता आया है।

वैज्ञानिकों का निजी जीवन किसी की धर्माधिकारी के पवित्र जीवन से कम उज्ज्वल नहीं है। त्याग, दया, निस्पृहता और अध्यवसायशीलता में वैज्ञानिकों का जीवन सर्वथा अनुकरणीय है। जिस एकाग्रता से वह अपनी प्रयोगशाला में छोटे से छोटा काम भी करता है, उसकी तुलना ज्ञान-मन्दिर के अन्य पुजारियों में शायद कठिनता से मिलेगी, असाधारण से असाधारण वैज्ञानिक भी मजदूरों के समान प्रयोगशाला में आठ नौ घंटे प्रतिदिन अधिकांशतः पैरों पर खड़े खड़े ही समय बिता देता है। न उसे तन की सुध है, न भोजन की और न वस्त्र की। भारतके प्राचीन तपस्याशील योगियोंके समान ही उसकी प्रयोगशाला उसकी रम्य-कुटी है। उसके प्रयोग ही उसके यज्ञ हैं और इस यज्ञ की पूर्ति के लिये जिस क्षमता, त्याग और तल्लीनता से वह संलग्न रहता है उसका वर्णन करना अति कठिन है। सांख्य के 'ज्ञानान्मुक्तिः' सूत्र में विज्ञानवादी को पूरा विश्वास है। ईश्वरीय नियमों की चमत्कारिणी अलौकिकता का जितना अनुभव एक वैज्ञानिक करता है उतना कदाचित ही कोई करता होगा तात्पर्य्य यह है कि वैज्ञानिक का जीवन एक आस्तिक का जीवन है, न कि नास्तिक का।

आस्तिक और वैज्ञानिक में एक प्रकार से कोई भेद नहीं है। प्रत्यक्ष सृष्टि की मीमांसा करने के लिये एक आस्तिक परोक्ष ईश्वर की कल्पना करता है, इसी प्रकार एक वैज्ञानिक प्रत्यक्ष सृष्टि की मीमांसाके लिये एक परोक्ष महानियम (Law or fundamental principle) की कल्पना करता है। यदि आस्तिकों से पूछा जा सकता है कि तुम्हारे पास

क्या प्रमाण है कि सृष्टिका अधिष्ठाता कोई ईश्वर है, तो इसी प्रकार वैज्ञानिकों से भी तो यही प्रश्न किया जा सकता है, कि तुम्हारी इस कल्पना का क्या आधार है कि सृष्टि के प्रत्येक व्यापार में कोई न कोई नियम अवश्य कार्य्य कर ही रहा होगा। यह भी तो वस्तुतः स्वकल्पित धारणा ही है कि प्रकृति का सम्पूर्ण कार्य्य नियमानुकूल हो रहा है। फिर क्यों प्रत्येक वैज्ञानिक इस धारणा से प्रयोग आरम्भ करता है कि उसे कोई न कोई नियम मिलही जायगा और उस पर आश्चर्य तो यह है कि आज तक वैज्ञानिकों को कोई भी अपवाद रहित नियम नहीं मिला है, तो फिर इसका क्या प्रमाण है कि भविष्यमें उन्हें निरपवाद नियम मिलही जायगा। पर तो भी वैज्ञानिकों को इस पर विश्वास है कि संसार के मूल में कोई नियम अवश्य है—इस विश्वास की सिद्धि या असिद्धि के लिये यद्यपि उनके पास कोई प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार आस्तिकों को भी विश्वास है कि सृष्टि का मूल कारण ईश्वर नाम्नी एक सत्ता है। वस्तुतः नियम ही ईश्वर है और ईश्वर ही नियम है। ईश्वर को नियम या नियामक कहना एक ही बात है। वह नियम से पृथक नहीं है और हमारे सम्मुख नियम के रूप में वह प्रकट होता हैं, इस दृष्टि से वह नियम है। नियम उसके आश्रित हैं अतः वह नियामक है। वैज्ञानिकों को नियम में विश्वास है और आस्तिकों को नियामक में—फिर भेद ही क्या है।

अमोनियम लवणों से नोषित और नोषेत बनाने की क्रिया

[ले० श्री सन्त प्रसाद टण्डन, एम० एस—सी०]

कृषि के लिए नोषजन यौगिक सब खादों में प्रधान हैं। पेड़ों की अच्छी उन्नति के लिए नोषेत (Nitrate) या दूसरे नोषजन यौगिक का मिट्टी में रहना बहुत आवश्यक है। जिस मिट्टी में ये नहीं रहते वहाँ उपज अच्छी नहीं हो सकती। अच्छी खादों में नोषेत का अंश हमेशा और सब रासायनिक चीजों की अपेक्षा कहीं अधिक होता है।

पेड़ों को नोषेत की आवश्यकता अपने लिए प्रोटीन (Protein) प्रोटोप्लाज़्म (Protoplasm) आदि जो उसके जीवन के लिए बहुत आवश्यक हैं, बनाने के लिए होती है। अपनी जड़ों द्वारा पेड़ मिट्टी से नोषेत लेते हैं और कर्बोदेत (Carbohydrate) पत्तियोंमें स्वयं बना लेते हैं। इन दोनों के मेल से पेड़ों की अन्य चीजें प्रोटीन आदि बनती हैं। यह नोषेत जमीन में कहाँ से आता है और किस प्रकार बनता है इस पर कुछ प्रकाश डालने के पूर्व इस सम्बन्ध के पुराने इतिहास पर दृष्टिपात करना उपयुक्त होगा।

सृष्टि का यह नियम है कि मनुष्य का ध्यान पहले उन चीजों की ओर आकृष्ट होता है जिनका सम्बन्ध उसकी आवश्यकताओं से सीधे होता है। वनस्पति संसार भी मनुष्य की आवश्यकताओं का एक अङ्ग आदिम अवस्था से रहा है। अतः पेड़ पौधों की उत्पत्ति आदि गहन विषयों को समझाने का प्रयत्न लोगों ने बहुत पहले से ही आरम्भ कर दिया था। उन दिनों वर्तमान वैज्ञानिक जगत के साधनों के अभाव के कारण इस ओर अधिक उन्नति न हो सकी रासायनिक और भौतिक शिक्षा की उन्नति के साथ साथ नये नये साधनों और यन्त्रों के आविष्कार ने इस कठिनाई को दूर कर दिया और फिर धीरे धीरे वनस्पति विज्ञान की भी उन्नति होने लगी। यों तो करीब सन् १६०० से ही वैज्ञानिकों ने कृषि विज्ञान में खोज आरम्भ कर दी थी, किन्तु सन् १८०० तक इस ओर अधिक सफलता न मिली। उन दिनों के वैज्ञानिकों ने पानी को ही पेड़ों की प्रधान खाद्य वस्तु मान रक्खा थी। पुराने वैज्ञानिकों की ऐसी बातों पर हमें प्रायः हँसी आ जाती है, किन्तु हम यह नहीं समझ पाते कि उन वैज्ञानिकों को अपने आविष्कारों में कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। इन्हीं वैज्ञानिकों के सतत प्रयत्न के फल स्वरूप ही

हम वर्तमान विज्ञान जगत की सृष्टि कर सके हैं। पानी को प्रधान खाद्य वस्तु मानने के मत को प्रथम वार ग्लौबर (Glauber) ने सन् १६५६ में गलत सिद्ध किया और यह बतलाया कि नोषेत लवण (Salt-petre) पेड़ों का खास भोजन है। यह बात पुनः १६६४ में मेयो (Mayow) ने अपने प्रयोगों द्वारा हमेशा के लिए सिद्ध कर दी।

वास्तव में वर्तमान कृषि विज्ञान के जन्मदाता हम फ्रेंच रासायनिक बोसिंगाल्ट (Boussingault) को कह सकते हैं। बोसिंगाल्ट ने प्रथम वार वैज्ञानिक ढङ्ग से १८३४ में अपनी जमीन में कृषि पर प्रयोग शुरू किए। इसने प्रथम वार भिन्न भिन्न खादों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया और इस ओर परिमाणात्मक खोज के ढङ्ग का सूत्रपात किया। भिन्न भिन्न खादों को तौल कर उसने अपनी जमीन में डाला और फिर इन खादों वाली जमीन में कितना कितना अन्न हुआ इसे तौला। इन प्रयोगों से उसे यह पता चला कि कौन २ खाद पौधों की आवश्यकताओं के लिए अधिक उपयोगी है।

बोसिंगाल्ट तथा अन्य वैज्ञानिकों के प्रयोगों ने इस समय तक यह बात सिद्ध कर दी थी कि पेड़ अपनी नोषजन की आवश्यकता केवल मिट्टी में वर्तमान नोषजन यौगिक से ही पूरी कर सकते हैं। हवा में नोषजन का काफी अंश रहता है, किन्तु पेड़ों के उपयोग में यह तब तक नहीं आ सकता जब तक उससे नोषजन का कोई यौगिक जैसे अमोनिया या नोषेत न बनाया जाय। इस प्रकार मिट्टी में नोषेत वर्तमान रहने की आवश्यकता लोगों को भली भाँति मालूम हो गई थी; अतः इसी समय से लोगों ने नोषेत लवण (Salt petre) आदि कृत्रिम खादों के उपयोग से लाभ उठाना शुरू कर दिया था।

मिट्टी में नोषेत कहां से और किस प्रकार बन जाता है इसका ज्ञान अभी तक लोगों को नहीं हो पाया था। इन्हीं दिनों पास्तूर (Pasteur) ने छोटे कीटाणुओं बैक्टीरिया (Bacteria) के ऊपर अपनी विश्वविदित खोजें कीं। पास्तूर के आविष्कारों से लोगों को बैक्टीरिया की विशेषता समझ में आई। पास्तूर ने और उसके बाद कई अन्य लोगों ने कुछ तरह के बैक्टीरिया द्वारा कई कार्बनिक तथा अकार्बनिक चीजों का विश्लेषण और संश्लेषण किया जाना सिद्ध कर दिया था। अतः लोगों ने इन प्रयोगों से प्रभावित होकर यह विचार किया कि मिट्टी में नोषेत भी कई तरहके बैक्टीरिया द्वारा ही बनते होंगे। इस सम्बन्ध में वैरिंगटन (Warrington) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सन् १८७४ में वैरिंगटन ने यह देखा कि हरोपिपील (Chloroform), कर्बन द्विगन्धिद (Carbon disulphide) आदि ऐसी चीजें जिनसे बैक्टीरिया मर जाते हैं के मिट्टी में मिलाने से नोषेत का बनना रुक जाता है। उसने यह भी देखा कि यदि अमोनियम लवण के घोल में थोड़ी सी अच्छी मिट्टी डाल दी जाय तो पहले अमोनिया से नोषित (nitrite) बनता है और फिर नोषित से नोषेत। वैरिंगटन के इन प्रयोगों से मिट्टी में अमोनिया से नोषित और नोषेत बनाने वाले बैक्टीरिया का वर्तमान रहने का सिद्धान्त दृढ़ हो गया। इन प्रयोगों से वैरिंगटन को एक और नवीन बात का पता चला, वह यह कि अमोनियम लवण से नोषेत बनाने में दो प्रकार के बैक्टीरिया भाग लेते हैं—एक अमोनियम लवण से नोषित बनाते हैं और दूसरे नोषित से नोषेत। इन दोनों प्रकार के बैक्टीरिया को मिट्टी से अलग कर अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा देखने का प्रयत्न कई वैज्ञानिकों ने किया किन्तु शुरू में सब असफल रहे। अन्तमें सफलता वीनोग्रैडस्की के ही हिस्से में आई। वीनोग्रडस्की सन् १८९० में इन दोनों प्रकार के बैक्टीरिया को कृत्रिम उपायों द्वारा मिट्टी से अलग कर अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा देख सके और उन्होंने इस मिट्टी में नोषेत बनने की पूरी क्रिया की जानकारी की।

प्रोटीन तथा मिट्टीमें वर्तमान अन्य कार्बनिक चीजोंके सड़नेसे अमोनिया बनती है। यह अमोनिया

बनाने का काम बहुत अंशोंमें अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा ही दिखाई देने वाले छोटे छोटे कीटाणुओं द्वारा, जिन्हें हम बैक्टीरिया कहते हैं, होता है। इसके अतिरिक्त लोगों का विश्वास है कि हवाके ऊपरी हिस्सेमें भी कुछ अमोनिया बिजली द्वारा बनती है जो वर्षाके पानीमें घुल कर जमीनमें आ जाती है। वैज्ञानिकोंके प्रयोगोंसे यह बात अब पूर्ण रूपसे सिद्ध हो गई है कि मिट्टीमें बैक्टीरिया द्वारा अमोनियासे पहले नोषित बनता है और फिर नोषितसे नोषेत। इन दोनों रासायनिक क्रियाओंके लिए दो प्रकारके बैक्टीरिया की जरूरत पड़ती है। एक प्रकार के बैक्टीरिया अमोनियासे नोषित बनाते हैं और दूसरे प्रकारके बैक्टीरिया नोषितसे नोषेत। पहले प्रकारके बैक्टीरियामें नाइट्रोसोमोनास (Nitrosomonas) और नाइट्रोसोकोकस (Nitrosococcus) प्रधान हैं और दूसरे प्रकारमें नाइट्रोबैक्टर (Nitrobacter) ये सब क्रियायें मिट्टीमें बहुत शीघ्रतासे होती हैं, अतः मिट्टीमें किसी भी समय अमोनिया अधिक मिकदारमें नहीं रहने पाती। अमोनयाके किसी लवणसे नोषित और नोषेत बनने की क्रिया निम्न लिखित प्रयोग द्वारा भली भाँति देखी जा सकती है!—

२ ग्राम अमोनियम गन्धेत, ०·५ ग्राम मगनीस गन्धेत, १ ग्राम पांशुज स्फुरेत, २ ग्राम सैन्धक हरिद और ०·४ ग्राम लोहस गन्धेत को १ लीटर भभके द्वारा शुद्ध किये पानीमें मिला कर घोल को खूब अच्छी तरह १० मिनट तक उबालना चाहिए जिससे और तरहके बैक्टीरिया मर जायँ। इसमेंसे ५० घ.शम. घोलतक सुराहीदार शीशेके बर्तनमें लेकर उसका मुँह अच्छी रुईसे बंद कर ठंडा होनेके लिए रख देना चाहिए। जब बिल्कुल ठंडा हो जाय तब उसमें ०·५ ग्राम मगनीस कर्बनेत और २ ग्राम अच्छी खाद वाली मिट्टी डाल कर इनक्यूबेटर (Incubater) नामक यन्त्रमें जिसमें २५° श तापक्रम हमेशा रहता हो रख देना चाहिए। एक सप्ताह बाद उसमें नोषित बनाने वाले बैक्टीरिया पैदा हो जायँगे और नोषित बनने लगेगा। जब नोषित काफी बन जाय एब तक लम्बे परप्लैटिनम्के तारके एक सिरे को मोड़ कर उसकी सहायतासे पेंदीमें बैठे मगनीस कर्बनेत का जरा सा भाग एक शीशेके ३ इंच लम्बे और एक इंच चौड़े टुकड़े पर रख कर अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा देखने पर नोषित बनाने वाले बैक्टीरिया दिखाई देंगे।

नोषितसे नोषेत बनाने वाले बैक्टीरिया की वृद्धि तब तक नहीं शुरू होती जब तक सब अमोनिया का नोषित न बन जाय। जब घोलमें नोषितसे नोषेत काफी बन जाय तब ये बैक्टीरिया भी अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा देखे जा सकते हैं।

प्रयोग शालामें अमोनियासे नोषित या नोषेत विशुद्ध रासायनिक क्रियाओं द्वारा भी बन जाती है, किन्तु विद्वानों का मत है कि जमीनमें यह क्रियायें बहुत अंशोंमें बैक्टीरिया द्वारा ही होती है।

सम्भवतः निम्नलिखित दो समीकरणों द्वारा अमोनियासे नोषित बनता है:—

$$२\,नो\,उ_३ + ३\,ओ_२ \longrightarrow २\,उ\,नो\,ओ_२ + २\,उ_२ओ \quad —(१)$$

$$२\,नो\,उ_३ + ३\,ओ_२ — \; नो_२\,ओ_३ + ३\,उ_२\,ओ \quad ——(२)$$
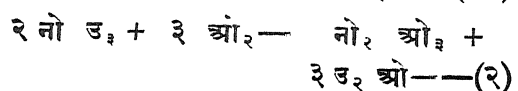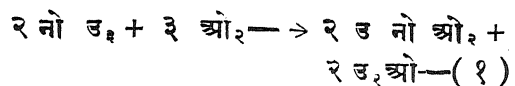
गडलेवस्कीने यह बात अपने प्रयोगों द्वारा सिद्ध कर दी है कि अमोनियासे नोषित बनानेमें $\frac{ओ}{नो}$ का अनुपात ३ रहता है जो ऊपर लिखे द्वारा ठीक आता है। अन्य लोगोंने भी यह अनुपात ३ हीके आसपास पाया है।

आधुनिक सिद्धांतों द्वारा यह विश्वास किया जाता है कि अमोनियासे नोषित बननेमें उदोषिलामिन और उपनोषस अम्ल बीचमें बनते हैं:—

$$\text{नो}\left\langle\begin{matrix}\text{उ}\\ \text{उ}\\ \text{उ}\end{matrix}\right. + \text{ओ} \longrightarrow \text{नो}\left[\begin{matrix}\text{उ}\\ \text{उ}\\ \text{ओ उ}\end{matrix}\right. \xrightarrow{\text{ओ}} \text{नो}\left[\begin{matrix}\text{उ}\\ \text{ओ}\end{matrix}\right. \xrightarrow{\text{उ}_2\text{ ओ}} \text{नो}\left(\begin{matrix}\text{उ}\\ \text{ओ उ}\\ \text{ओ उ}\end{matrix}\right.$$

उदौषलामिन　　　　उपनोषस अम्ल

$$\xrightarrow{\text{ओ}} \text{नो}\left[\begin{matrix}\text{ओ}\\ \text{उ ओ}\end{matrix}\right.$$

नोषस अम्ल
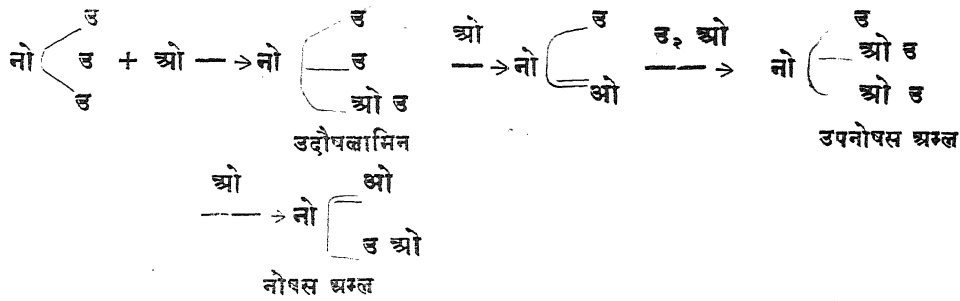
नोषितसे नोषेत इस प्रकार बनता है—

सै नो ओ$_2$ + $\frac{१}{२}$ (ओ)$_2$ —> सै नो ओ$_3$

लोगों का विचार है कि यह क्रिया स्वोत्प्रेरक (autocatalytic) हैं।

कार्बनिक और अकार्बनिक नोषजन यौगिक से नोषित:—कार्बनिक चीजोंसे नोषेत एक दम सीधे नहीं बन सकता। पहले इन चीजोंके सड़नेसे अमोनिया बनती है और फिर इस अमोनियासे नोषित और नोषेत बनता है। यदि कार्बनिक चीजों से और विशुद्ध अमोनियम लवणोंसे नोषेत बनने की क्रियाओं का मिलान किया जाय तो यह मालूम हो जायगा कि कार्बनिक चीजोंसे नोषेत बनने की क्रिया विशुद्ध अमोनियम लवणोंसे नोषेत बनने की क्रिया की अपेक्षा बहुत धीमी होती है। इसका कारण यही है कि कार्बनिक चीजोंसे पहले अमोनियम लवण बनते हैं और फिर इन्हीं अमोनियम लवणोंसे नोषेत बनते हैं। यदि मिट्टीमें मूत्र अधिक रहता है तो नोषित और नोषेत बनने की क्रियामें कमी आ जाती है। मूत्रमें सम्भवत: कुछ ऐसी चीजें होती हैं जो बैक्टीरियाके लिए हानिकारक हैं और इस कारण इसकी उपस्थितिमें बैक्टीरिया की वृद्धि नहीं होने पाती। अधिक मात्रामें विशुद्ध अमोनिया भी बैक्टीरियाके लिए हानिकारक है।

नोषेत और नोषित बननेमें कुछ क्रियाओं का प्रभाव—नोषित और नोषेत का अमोनियासे बनना इनसे सम्बन्धित बैक्टीरिया पर निर्भर करता है। वे ही दशायें जिनमें इन बैक्टीरियाओं की वृद्धि अधिक होती है तथा उनके कार्य अच्छी प्रकार होते हैं नोषित और नोषेत बननेके लिए भी अच्छी हो सकती हैं। नोषित बनाने वाले बैक्टीरियाके सास लेनेके लिए अच्छी दशा तब होती है जब मिट्टीमें उदजन १०—$^{७·४}$ से १०—$^{८·८}$ तक रहे और नोषेत बनाने वाले बैक्टीरिया की अच्छी दशाके लिए उदजन १०—$^{७·३}$ से १०—$^{९·१}$ तक रहना चाहिए। इन दशाओंमें अधिक अन्तर पड़नेसे नोषित और नोषेत का बनना भी कम हो जाता है। सैन्धकम् द्विकर्बनेत ($NaHCO^3$) से मिट्टी का उदजन हमेशा १०—$^{८·४}$ रखा जा सकता है, अतः मिट्टीमें इसकी उपस्थिति नोषित और नोषेत बनने की क्रियाके लिए लाभदायक है।

जहाँ अमोनियम गन्धेत खाद के रूप में बहुत व्यवहार किया जाता है वहाँ की मिट्टी में गन्धकाम्ल बराबर इकट्ठा होते रहने से अम्लीयता अधिक हो जाती है और फिर नोषित और नोषेत का बनना रुक जाता है। ऐसी मिट्टी चूना देकर ठीक की जा सकती है।

लवणों का प्रभाव

सन्धकम्, पांशुजम्, खटिकम्, मगनीसम्, मांगनीज और लौहम् के हरिद, नोषेत, गन्धेत और कर्बनेत लवणों के मिट्टी में अधिक इकट्ठा हो जाने से मिट्टी में अमोनिया से नोषित और नोषेत बनना कम हो जाता है। कुछ क्षार लवणों की उपस्थिति लाभदायक भी होती है। कुछ लवणों के परस्पर के मेल से उन दोनों का हानिकारक प्रभाव दूर हो जाता है और कभी कभी इस मेल से साधारण दशा की

अपेक्षा अधिक नोषेत बनता है। सैन्धक हरिद और सैन्धक गन्धेत अलग अलग दोनों ही हानिकारक हैं, किन्तु यदि ०·२ °/० सैन्धकम् हरिद और ०.५ °/० सैन्धक गन्धेत मिला दिये जायँ तो उनका हानिकारक प्रभाव तो दूर हो ही जाता है किन्तु साथ ही दोनों का मेल नोषेत की क्रिया में लाभदायक भी सिद्ध होता है। पारा और चाँदी के मिट्टी में रहने से नोषित के बनने में बहुत कमी आ जाती है। ताम्रम्, दस्तम्, लौहम् और सीसम् की उपस्थितिमें नोषेत अधिक बनता है।

कुछ गैसों का प्रभाव

ओषजन का अधिक मिकदार में मिट्टी में रहना नोषेत बनने की क्रिया में लाभदायक है। साधारणतः यह बात सभी जानते हैं कि मिट्टी को कभी कभी गोड़ते रहने से पेड़ पौधों की अच्छी उन्नति होती है। इसका कारण यही है कि गोड़ने से मिट्टी के छोटे छोटे छेद, जो अन्य चीजों के इकट्ठा हो जाने से पहले बन्द हो गये थे, पुनः खुल जाते हैं और उन छेदों द्वारा मिट्टी के अन्दर हवा ठीक से पहुँचने लगती हैं। हवा के ठीक मिलने से नोषेत अधिक बनने लगता है और मिट्टी की उपजाऊ शक्ति बढ़ जाती है। कुछ लोगों का यह भी ख्याल है कि कर्बन द्विओषिद थोड़ी मिकदार में बैक्टीरिया के लिए लाभदायक है। मिट्टी में कुछ पानी का रहना भी नोषित बनने की क्रिया के लिए आवश्यक है। १५ फी सदी पानी तक नोषेत के बनने में वृद्धि होती है। इससे अधिक पानी भी हानिकारक है। मिट्टी को कभी २ सुखाकर फिर गीली करते रहने से भी नोषेत अधिक बनता है। इस क्रिया से हवा अधिक मिकदार में मिट्टी को मिलती रहती है और इसी कारण नोषेत अधिक बनता है।

सूर्य की किरणों द्वारा अमोनियम लवणों से नोषित का बनना:—

इस समय तक लोगों का यही विचार था कि बैक्टीरिया के अतिरिक्त और किसी क्रिया द्वारा मिट्टी में नोषित और नोषेत अमोनियम लवण से नहीं बनते। हाल ही प्रयाग-विश्वविद्यालय के रसायन के प्रोफेसर डाक्टर नील रत्न धर और उनके शिष्य श्रीगोपाल राव ने मिल कर यह बात सिद्ध कर दी है कि सूर्यकी किरणों द्वारा भी मिट्टी में अमोनियम लवणों से नोषित और नोषेत का बनना सम्भवित है। इन लोगोंने अमोनियम लवणोंके घोलोंमें किरणोत्प्रेरकचीजें जैसे टिटेनम् ओषिद और दस्त ओषिद आदि मिलाकर धूपमें रख दिया और उसमें शुद्धकी हुई हवा पहुँचाते रहें, करीब ३ घंटे बाद ही काफी नोषित उन घोलों में बन गया। टिटेनम् ओषिद के साथ नोषित और उत्प्रेरकों की अपेक्षा अधिक बनता है। गरम की हुई मिट्टी जिसमें सब बैक्टीरिया मर गये हों, को इन घोलों के साथ मिला कर धूप में रखने से भी नोषित बन जाता है। हाल ही में इसी प्रयोगशाला में अमोनियम लवणों से ८० फी सदी तक धूप द्वारा नोषित का बनना पाया गया है।

यह बात सब देशों में देखी गई है कि गरमी के दिनों में जब धूप सब से अधिक तेज रहती है नोषेत मिट्टी में और ऋतुओं की अपेक्षा कहीं अधिक बनता है। डा० धर का कहना है कि गरमी में चूंकि धूप बहुत तेज रहती है इसी कारण नोषेत अधिक बनता है। यदि नोषेत मिट्टी में केवल बैक्टीरिया द्वारा ही बनता होता तो ऐसी बात कभी नहीं हो सकती। गरमी के दिनों में बैक्टीरिया द्वारा नोषेत बनने की क्रिया में वृद्धि की अपेक्षा कमी होना ही अधिक सम्भवित है। गरमी में मिट्टी का तापक्रम प्रायः ५० तक चला जाता है जो बैक्टीरियाके जीवन के लिए हानिकारक है। इसके अतिरिक्त बीनोग्रेडस्की के अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि सूर्य की तेज किरणें भी बैक्टीरिया के लिए हानिकारक हैं। ऐसी दशा में यही अधिक सम्भव मालूम होता है कि अमोनिया से नोषित सूर्य की किरणों द्वारा भी मिट्टी में बनता होगा।

एक और प्रमाण भी डा० धर ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि में दिया है। प्रायः यह देखा गया है कि

जिस जगह की मिट्टी में टिटेनम् ओषिद अधिक रहता है उसमें नोषित भी अधिक बना करता है। यह बात डा० धर के प्रयोगों से आप ही आप सिद्ध हो जाती है, क्योंकि उन्होंने अपने प्रयोगों में यह देखा है कि और उत्प्रेरकों की अपेक्षा टिटेनम् ओषिद की उपस्थिति में अमोनियम लवणों से नोषेत अधिक बनता है। यदि मिट्टी में नोषेत केवल बैक्टीरिया द्वारा ही बनना होता, तो टिटेनम् ओषिद या और किसी उत्प्रेरक की मिट्टी में उपस्थिति का नोषेत बनने की क्रिया पर कुछ भी प्रभाव न पड़ता।

डा० धर की प्रयोग शाला में इस ओर और अधिक प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है। आशा है इसमें उन्हें शीघ्रही सफलता मिलेगी।

अमोनियम लवणो से नोषित बनाने वाले बक्टीरिया के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी बैक्टीरिया होते हैं जो सीधे हवा में वर्तमान नोषजन से नोषेत आदि मिट्टी में बना देते हैं। इस विषय पर फिर कभी प्रकाश डाला जायगा।

वैज्ञानिकीय

गेहूं

ऐसे बहुत लोग होंगे जिन्होंने अपने जीवनमें इतने सस्ते गेहूँ पहली बार ही खाये हों जितने कुछ मास पहले हो गये थे। कौन जानता है कि शीघ्र ही उन्हें इससे भी सस्ते गेहूँ प्राप्त करने का अवसर न मिले? कुछ लोगों के लिए शायद यह एक हर्षका समाचार हो। परन्तु वास्तवमें इससे संसारके कृषि और व्यापारके क्षेत्रोंमें बड़ी भारी हलचल पैदा हो गई है, जो कृषि-प्रधान देशोंके लिए कुछ कम भयङ्कर बात नहीं है। और यह तो स्पष्ट ही है कि उसका प्रभाव सारे मानव-समुदाय पर पड़े बिना नहीं रह सकता।

गेहूँ की समस्या किसी एक देशकी ही नहीं, बल्कि सारे संसारको चक्करमें डाले हुए है। अर्थशास्त्र और राजनीतिके बड़े बड़े विद्वान् इसे सुलझानेमें लगे हुए हैं, परन्तु यह एक ऐसी पहेली है जो स्पष्ट होते हुए भी सरल नहीं है। संसारके प्रायः सभी गेहूँ पैदा करनेवाले देशोंके किसान इस समय विपत्तिमें हैं। गेहूँका मूल्य उसकी उपज की लागतसे भी कम है। अतः गेहूँके बाजारके विषयमें विचार करनेके लिए हमको अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिसे सोचना होगा। इस छोटे से लेखमें उसका विस्तृत ब्यौरा लिखना एक प्रकारसे असम्भव बात है।

गेहूँका संसारमें सबसे बड़ा ग्राहक योरप है, विशेष कर उसका एक व्यावसायिक जनाकीर्ण भाग। अन्य ऐसे देश जहाँ उनकी आवश्यकतासे अधिक गेहूँ उत्पन्न होता है, उस भू-भागको अपना गेहूँ जते हैं। वर्तमान समयमें कनाडा संसारको सबसे अधिक गेहूँ प्रदान करता है। अपनी आवश्यकतासे लगभग तिगुना माल वह प्रतिवर्ष दूसरोंके हाथ बेचता है।

सन् १९२४ से १९२७ तक के तीन वर्षों में औसतके अनुसार जिस देश ने जितना गेहूँ एक वर्ष में बाहर भेजा है उससे उसकी उत्पत्तिका सहजमें ही अनुमान लगाया जा सकता है।

कनाडा	७०	लाख टन
अमरीका (संयुक्त राज्य)	५०	"
अर्जेन्टाइन	३२$\frac{2}{3}$	"
आस्ट्रेलिया	२६$\frac{2}{3}$	"
अन्य देश	२५	"

अन्य देश हैं हङ्गरी, बालकन-राज्य, रूस, उत्तरी अफ्रीका, भारत, चिली और यूरेगुआ।

इसी प्रकार जिन देशों ने जितना गेहूँ बाहर से एक वर्ष में मँगवाया है उनकी संख्या इस प्रकार है—

ग्रेटब्रिटेन और आयर्लैंड	६०	लाख टन
इटली	२३$\frac{1}{3}$	"
जर्मनी	२०	"
फ्रांस	१३$\frac{1}{3}$	"
बेल्जियम	१०	
अन्य देश	७६$\frac{2}{3}$	

अन्य देशों में हालेंड, जेकोस्लोवेकिया, स्कैंडिनेविया, बाल्टिक राज्य, आस्ट्रेलिया, पोलैंड, स्वीज़लैंड, जापान और मिश्र सम्मिलित हैं।

गेहूँ का भाव एक-दम गिर जाने का कारण जैसा कि सभी जानते हैं, उसकी आवश्यकता से अधिक उपज है। महासमर के पूर्व की उपज से वर्तमान समय की उपज का मिलान करने से स्थिति शीघ्र ही समझ में आ जाती है। सन् १९०९-१९१३ से १९२७-१९२८ के बीच के पन्द्रह वर्षों में कनाडा, संयुक्त राज्य, अर्जेन्टाइन, यूरेगुआ, चिली और आस्ट्रेलिया में कृषि-क्षेत्र लगभग प्रतिशत के हिसाब से अधिक बढ़ गया है, और उपज लगभग ६७ प्रतिशत के अनुपात से बढ़ी है। लेकिन इस असाधारण वृद्धि के लिए विशेष कर ये चार देश ही सबसे अधिक ज़िम्मेदार हैं—कनाडा, संयुक्त राज्य, अर्जेन्टाइन और आस्ट्रेलिया। इन्हीं पन्द्रह वर्षों में इन देशों की उपज में इस प्रकार वृद्धि हुई है।

कनाडा	३२,०१,९१,९०० बुशल
संयुक्त राज्य	२०,२२,६३,३०० ,,
अर्जेन्टाइन	१५,०४,७२,६०० ,,
आस्ट्रेलिया	६,२६,८८,५०० ,,

परन्तु इन देशों की उपज की इस विशाल वृद्धि का भी एक कारण है।

महासमर के पूर्व योरप डैनूब-नदी के किनारेके देशों और रूस से गेहूँ मँगवाता था, किन्तु युद्ध छिड़ने पर जब योरप के जिन देशोंके लिए उधर का माल बिलकुल बंद हो गया तब उन्होंने दूसरे देशों से गेहूँ मँगवाया। परन्तु इस माँग को स्थायी रूप से पूरी करने की कहीं तैयारी नहीं थी। फलतः कुछ ही समय में गेहूँ का भाव तिगुना हो गया।

कनाडा, आस्ट्रेलिया और अर्जेन्टाइन के किसानों के लिए यह स्वर्ण-अवसर था। उन्होंने नई जमीन साफ़ कर ली और उसे बो दिया। पूँजी के लिए वहाँ के बैंकों ने उनके लिए थैलियाँ खोल दीं। मैशीन-विक्रेताओंने उन्हें अपनी नई नई मशीनों-द्वारा सहायता की। फलस्वरूप लड़ाई के चार वर्षों में अनाज की उत्पत्ति में जो वृद्धि वहाँ हुई वह उनके पिछले चालीस वर्षों के बराबर थी। लड़ाई के समाप्त होने पर भी उन्नति की गति धीमी नहीं पड़ी, क्योंकि मध्य और पूर्वी योरप के वर्षों के अकाल-पीड़ित लोगों को भोजन की आवश्यकता थी।

परन्तु धीरे धीरे रूस और डैनूब-नदी के विशाल कृषि क्षेत्रों में फिर खेती आरम्भ हुई, माल की उपज बढ़ी और बाज़ार गिरा।

पूर्वोक्त देशों के किसान अब कल-कारखानों की ओर आकर्षित हुए हैं यद्यपि उन्हें अधिक मज़दूरी मिलने की सुविधा थी। अब वे मशीनों के द्वारा खेती करने में खूब दक्ष हो गये हैं। सस्ते ईंधन से चलने वाले बड़े बड़े यन्त्रों के द्वारा वे बहुत ही कम मज़दूरी और खर्च पर गेहूँ पैदा कर लेते हैं। उन्हें विश्वास था कि यदि रूस और डैनूब के तटवर्ती देश फिर अपने पहले परिमाण में गेहूँ पैदा करने लगें तो भी वे योरप के बाज़ारों में उनका मुक़ाबिला करने का साहस न करेंगे।

फ्रान्सिस डेलसी नामक एक अर्थशास्त्री ने अपनी हाल की एक पुस्तक ('The Two Europes') में बतलाया है कि योरप किस प्रकार दो भागों में विभक्त हो रहा है। एक भाग वह है जिसमें व्यापार और कल कारखाने प्रधान हैं। कोयले की खानें रेलवे, बड़ी बड़ी मिलें, बैंक, दवाओं के कारखाने, मशीनों के कारखाने आदि प्रायः सब हैं। यहाँ की जन-संख्या का अधिकांश भाग शहरों में रहता है। यही व्यावसायिक योरप है। इसके विपरीत एक भाग वह है जिसमें रेलवे का प्रसार उतना सघन नहीं है और जहाँ लोग ७० से ८५ प्रतिशत गाँवों में रहते हैं। खेती में वे आधुनिक वैज्ञानिक उपायों को व्यवहार में नहीं लाते। इंजिनों के स्थान पर अधिक तर घोड़ों या बैलों के ही हलों से काम लिया जाता है। भूमि के क्षेत्रफल के अधिक होते हुए भी आबादी व्यावसायिक योरप से आधी है।

संसार में गेहूँ का सबसे बड़ा ग्राहक उपर्युक्त व्यावसायिक योरप ही है, यद्यपि खेती यहाँ भी होत

है और उसमें विज्ञान से पूर्ण सहायता भी ली जाती है। वहाँ का जल-वायु भी गेहूँ की खेती के लिए खूब अनुकूल है। तो भी वह अपनी आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर पाता है। एक विद्वान् के अनुमानानुसार लगभग नौ अरब रुपये का खाद्य पदार्थ उसे बाहर से मंगवाना पड़ता है। अतः कृषक देशों को अपना माल खपाने का यही सर्वोत्तम बाज़ार है। यहीं के बाजार के ढङ्ग पर गेहूँ का भाव घटता-बढ़ता रहता है। इसलिए गेहूँ की वर्तमान समस्या समझने के लिए यहीं की स्थिति का ज्ञान प्राप्त करना बहुत आवश्यक है।

महासमर के पूर्व (१९०९-१९१३) के औसत से व्यावसायिक योरप का गेहूँ का वार्षिक खर्च १, ४४,५२, ३७,७७७ बुशल था, जिसमें ९७,९८,२२, २२२ बुशल तो वह स्वयं पैदा कर लेता था, बाक़ी ४६,५४,१५,५५५ बुशल गेहूँ उसे बाहर से मंगवाना पड़ता था। किन्तु युद्ध के बाद के पिछले चौदह वर्ष में उसका खर्च बढ़ कर १,५८,८७,११,७४५ बुशल हो गया है, पर वहाँ की भूमि की पैदावार में बहुत थोड़ी वृद्धि हुई। अतएव उसे अब ६०,१८,९०,७९३ बुशल गेहूँ बाहर से मंगवाना पड़ता है, अर्थात् पहले से १३,६४,७५,२३८ बुशल अधिक। ये संख्यायें खर्च की वृद्धि दिखलाती हैं, परन्तु यह वृद्धि बहुत ही कम है। पूरे पन्द्रह वर्षों में यहाँ के खाद्य पदार्थों की खपत में केवल १३,६४,७५२३८ बुशल की वृद्धि हुई जब कि संसार की उपज में इतने ही समय में ९५,१८,२७,३०१ बुशल की वृद्धि हुई है।

इसके अतिरिक्त गेहूँ के क्रय-विक्रय में एक-दम परिवर्तन हो गया है। जहां व्यावसायिक योरप लड़ाई के पूर्व (१९०९-१९१३ में) अपनी ४६, ५४,१५,५५५ बुशल की माँग में से २०,९९,६१,९०८ बुशल की पूर्ति रूस और डैनूब के तटवर्ती देशों से करता था, वहाँ वह अब (१९२७-२८ में) ६०,१८, ९०,७९३ बुशल की अपनी बढ़ी हुई माँगमें से केवल १,९५,९६,४४४ बुशल ही उपर्युक्त देशों से लेता है। शेष ५८,६७,९८,१४२ बुशल वह दूसरे देशों (कनाडा, संयुक्त राज्य अर्जेन्टाइन और आस्ट्रेलिया) से मँगवाता है।

इससे इन पन्द्रह वर्षों में रूस और डैनूब के तटवर्ती देशों से बाहर जानेवाले गेहूँ का परिमाण एकदम गिर गया है। पहले के परिमाण का अब लगभग दशांश ही गेहूँ बाहर जाता है। यह कुछ इसलिए नहीं हुआ कि युद्ध के बाद से वे देश पहले के परिमाण में गेहूँ पैदा नहीं कर सके। वार्षिक अन्तर्राष्ट्रीय कृषिरिपोर्ट के अनुसार सन् १९०९-१३ से सन् १९२७-२८ के समय में रूस में गेहूँ की उपज में २,४४,९५,५५५ बुशल की और डैनूब के तटवर्ती देशों में १४,३४,७३,९६८ बुशल की वृद्धि हुई है। इस प्रकार इन देशों की उत्पत्ति में वृद्धि हुई १६,७९, ६९,५२३ बुशल की और बिक्री में कमी हुई १९,२४, ६५,०७८ बुशल की।

इन देशों के माल की बिक्री की कमी का एक कारण यह भी है कि ये अपने गेहूँ को कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि की तरह शुद्ध और उज्ज्वल बना कर बाजारों में नहीं भेजते।

पूर्वी योरप का माल जब इस तरह रुक गया और खपत का अन्य कोई उपाय न दीख पड़ा तब वहाँ के निवासियों ने स्वयं ही उसे अधिक परिमाण में व्यवहार में लाना आरम्भ कर दिया। जिन बेचारे किसानों को गेहूँ दुर्लभ पदार्थ था, केवल राई (एक प्रकार का मोटा धान्य) या अधिक से अधिक राई और गेहूँ की रोटियाँ ही प्राप्त होती थीं वे अब गेहूँ की सफेद रोटी खाने लगे। यहाँ तक कि मवेशियों को भी गेहूँ खिलाने लगे। जहाँ एक मनुष्य के वार्षिक खर्च का औसत केवल १२५ पाउन्ड था, वहाँ अब ४४३ पाउन्ड हो गया है। व्यावसायिक योरप का प्रतिमनुष्य वार्षिक खर्च ३४७ पाउन्ड ही है।

इससे किसानों को भरपेट उत्तम भोजन मिलने लगा और उससे वे सुखी हुए, यह तो स्पष्ट ही है, परन्तु उनको पूर्ण रूप से सुखी कहना उसकी समस्या को न समझना होगा। केवल अनाज ही मनुष्य की

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त नहीं है। उन्हें अनेक आवश्यक वस्तुओं के अतिरिक्त वस्त्र और खेती के औजार भी चाहिए, जो धनाभाव के कारण उन्हें प्राप्त नहीं हो रहे हैं।

इधर व्यावसायिक योरप को भी इन देशों के निवासियों की तंगदस्ती से बड़ी हानि हो रही है पैसे की कमी के कारण योरपके कारखानों का बना हुआ माल वहाँ नहीं बिक रहा है, जिससे व्यापार की दशा और भी शोचनीय हो गई है। उधर वे भी अपनी दुखद दशा से इतने उकता गये हैं कि उन्होंने किसी भी भाव पर अपना गेहूँ बाहर भेजने की ठान ली है।

इसी सम्बन्धमें हालमें वारसामें एक कान्फ्रेंस हुई थी, जिसमें पूर्वी योरपके प्रायः सभी गेहूँ उत्पन्न करनेवाले देशोंके प्रतिनिधि एकत्र हुए थे। उसमें यह निश्चय किया गया कि अब वे पारस्परिक प्रतियोगिता को छोड़ कर सब मिलकर व्यावसायिक योरपसे एक व्यापारिक समझौता कर लें। अतः पश्चिमी योरपके व्यापारियों को दिये अपने प्रार्थना-पत्रमें वे लिखते हैं—

'आप लोगों को इस समय एक कठिन व्यापारिक परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा है। अनेक देशों में वहाँ की सामाजिक, राजनैतिक, या राष्ट्रीय उथल-पुथल होनेके कारण, या अमेरिकन माल की बेहद बिक्रीके बढ़ जानेके कारण, आप लोगोंके माल की बिक्री धीरे धीरे गिर रही है। और इस स्थितिमें अभी बहुत समय तक परिवर्तन होने का भी कोई अवसर दिखाई नहीं पड़ता। लेकिन इसके बदलेमें आपको योरपमें हमारी नौ करोड़ की आबादीमें जिसके हम प्रतिनिधि हैं—एक बड़ा भारी व्यापारिक क्षेत्र मिल सकता है। आप लोगों का माल खरीदनेके लिए हमें अपने अनाज को अवश्य बेचना होगा अब युद्धके बादसे आप लोग हमसे २०,९९,६१,९०४ बुशल गेहूँके स्थान पर केवल १,९५,९६,४४४ बुशल ही खरीदते हो। इसी अनुपातसे हमारी व्यय-शक्ति भी घट गई है। यह सिर्फ गेहूँके ही कारण है कि आप लोग अपने लगभग सात करोड़ डालरके आर्डर खोते हैं। हमें अपने बाजारोंमें हमारा पुराना स्थान दे दें, जिससे हम अपने अनाजके अतिरिक्त अंश को खपानेमें समर्थ हों। इसके बदले में आप लोगोंके आर्डरोंमें वृद्धि होगी, जो आपके कारख़ानों को चला कर बेकारी को दूर कर देंगे।,

व्यावसायिक योरपके लिए यह आवेदन एक आकर्षक वस्तु है। अपनी वर्तमान व्यापारिक विपत्तिसे मुक्त होनेके लिए वह बेचैन हो रहा है। इसके लिए किसी भी नीति का अवलम्बन करने को वह तैयार है। परन्तु वैसा समझौता कर लेना कुछ सरल बात नहीं है। उसके अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विघ्न उपस्थित होने की सम्भावना है।

उपर्युक्त वारसा-कान्फ्रेन्समें पश्चिमी योरपमें पूर्वी योरप का गेहूँ बिकने की नीति को सफल बनाने के लिए यह उपाय निश्चित किया गया था कि गेहूँ खरीदनेवाले योरपीय देश अपने यहाँके चुंगी-कर में केवल पूर्वी योरपसे आनेवाले गेहूँ पर कुछ कमी कर दें, जिससे वहाँ का सारा माल खप जाय और उसके बाद कनाडा आदिके गेहूँ को बिकने का अवसर मिले।

लेकिन कनाडा, संयुक्त राज्य, अर्जेन्टाइन और आस्ट्रेलिया आदि देश पहलेसे ही अपनी अत्यधिक उपज की खपत न होनेके कारण घबरा रहे हैं। इस वज्राघात को वे कैसे सह सकते हैं! उन्होंने इस नीति का तीव्र विरोध किया है। अभी जेनेवामें कनाडा और आस्ट्रेलियाके प्रतिनिधियोंने यह साफ़ ज़ाहिर कर दिया कि हमारे व्यापारिक नियम अन्तर्राष्ट्रीय संघ की नीतिके अनुसार बने हुए हैं, उनमें कोई परिवर्तन करना संघ पर आघात करना होगा।

फ्रांसके व्यापार-सचिव मोशिये फ्लाडोलने उनके इस विरोध का बड़ा ही उचित और मार्मिक उत्तर दिया है। उन्होंने कहा है कि तुम हमें अपने योरपमें चुंगी घटा कर योरपीयों को व्यापारिक सुविधा क्यों नहीं देने देते जब कि ब्रिटिश साम्राज्यके अन्तर्गत देशोंमें तुम हमारे माल पर अधिक चुंगी लगाने की सम्मति

देते हो। उनका तर्क अकाट्य और बात सच्ची है, परन्तु इन वाग्-युद्धोंसे समस्याके सुलझानेमें कोई सहायता नहीं मिलती। यदि पूर्वी योरप को माँगके अनुसार व्यावसायिक योरपके देश योरपसे ही अपने यहाँ आनेवाले गेहूँ पर चुङ्गी घटा दें तो इससे राष्ट्रीय वैमनस्य ही बढ़ेगा और कुछ नहीं होगा। इससे व्यापारिक प्रतियोगिता इतनी उत्कट हो जायगी कि गेहूँके व्यापार की दशा और भी भयानक रूप धारण कर लेगी। भाव एक-दम गिर जायगा। कनाडा, संयुक्त-राज्य आदि देश किसी भी पड़ते पर योरपमें अपना गेहूँ बेचेंगे। योरपीय कृषक देशों को विशेष सुविधा प्राप्त होने पर भी वे इन बलवान् देशोंसे गेहूँ के व्यापार-क्षेत्रमें लोहा लेनेमें असमर्थ ही रहेंगे। इस युक्ति का प्रयोग दोनों पक्षोंके लिए समान रूपसे हानिकारक सिद्ध होगा।

वर्तमान स्थितिमें सुधार का यदि कोई उपाय हो सकता है तो वह यही है कि गेहूँ विक्रेता सारे देश आपसमें एक शान्तिमय समझौता करके यह निश्चित कर लें कि किस देश को कितना माल योरप को भेजने का अधिकार रहेगा और जहाँ तक हो सके, वे अपने विशाल स्टाकों को घटानेका प्रयत्न करें।

संसारमें गेहूँ का भाण्डार इतना अधिक बढ़ गया है कि उसका पूरा अनुमान लगाना किसी अर्थशास्त्री का ही काम है। विशेष कर यह कनाडा और संयुक्त-राज्यके मालके रोकने की नीति का फल है, यद्यपि यह सोचा जा सकता है कि संसार आवश्यकतासे अधिक खर्च नहीं कर सकता था। परन्तु कनाडा और संयुक्त-राज्यने यह सोच कर माल रोका था कि शायद इस तरह हम बाज़ार की स्थिति सँभाल सकेंगे, और अपने इस आयोजनमें आस्ट्रेलिया को भी निमन्त्रित किया था। परन्तु अभी तक किसी सफल अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध का जन्म नहीं हुआ है।

संयुक्त-राज्यके भूतपूर्व प्रेसीडेन्ट मिस्टर कूलिज ने एक बार न्यूयार्क ट्रिब्यूनमें इस नीति का विरोध करते हुए लिखा था कि 'जब कोई ग्राहक माल ख़रीदता है तब वह उसे ख़र्च कर देता है और माल स्थायी रूपसे बाज़ारसे उठ जाता है। परन्तु जब कोई खानगी या सार्वजनिक संस्था उसे इच्छित दर पर बेचनेके लिए ख़रीद लेती है तब माल बाज़ारमें ही रहता है, और प्रत्येक ग्राहक इसे जानते हुए उसके पुनर्विक्रय तक की प्रतीक्षा करता है इच्छित दर स्थिर करनेमें केवल क्षणिक और स्थानीय सफलता ही मिल सकती है, जो परिस्थिति को पीछे और भी बुरी बना देती है।

अब प्रश्न यह उठता है यदि ये उपर्युक्त देश अपने भाण्डारों को ख़ाली करने और अपनी वार्षिक उपज को किसी भी क़ीमत पर खपाने को उतारू हो गये और गेहूँ को संसारमें ठेल दिया तो वह किस भाव पर बिकेगा और कौन ख़रीदेगा? इस समय संसारमें गेहूँ की यही समस्या है। ('सरस्वती') से

—केशवदेव

समालोचना

पदार्थ विद्या—लेखक और प्रकाशक, वैद्य श्री दुर्गादत्त पन्त, अमीनाबाद लखनऊ। पृ० सं० ३१२। मूल्य ३)

प्रस्तुत पुस्तक का विषय मुख्यतः रसायन से सम्बन्ध रखता है। इसमें दो खण्ड हैं। पहले खण्ड में अणु-परमाणुओं का सामान्य विवरण, अनेक गैसों का उल्लेख (मुख्यतः उद्जन, ओषजन और नोषजन का) एवं गन्धकके विभिन्न यौगिकों का समावेश है। तदुपरान्त स्वर्ण, ताम्र, रजत, लोह, सीस आदि धातुओं का वर्णन है। इसे पुस्तक का अकार्बनिक खण्ड समझना चाहिये। पुस्तकके दूसरे खण्डमें कार्बनिक यौगिकों—जैसे मद्य, शर्करा, आदि का विवरण है। योग्य लेखक ने इन सब की मीमांसा स्पष्ट और सरल रूपमें की है। भाषा भी प्राञ्जल है और प्रय ाभी उचित रूपमें दिए गये हैं।

लेखकके पारिभाषिक शब्दोंसे हमारा बहुत ही मत भेद है, जिसका उल्लेख हम यहां आवश्यक नहीं समझते हैं। इस विषयमें सुविधानुसार फिर कभी लिखा जायगा।

आशा है वैज्ञानिक साहित्यके प्रेमी इस का अवश्य अवलोकन करेंगे।

राजस्थान महिला—वार्षिक मूल्य १॥) प्रति अङ्क दो आना। पता—सम्पादक, राजस्थान महिला अजमेर।

हर्ष का विषय है कि अजमेरसे यह सचित्र मासिक पत्रिका स्त्रियोंके लिए निकलती है। स्त्रियों का सुधार करना तथा स्त्री शिक्षा का प्रचार करना ही इसका मुख्य उद्देश्य है। इसमें कविताएँ भी रहती हैं, लेख सामयिक और उपयोगी रहते हैं। राजस्थान की वीर स्त्रियों का चरित भी रहता है। आशा है कि इसका प्रचार बढ़ेगा।

वैज्ञानिक पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका भाग १—ले० प्रो० रामदास गौड़, एम. ए., तथा प्रो० सालिग्राम, एम.एस-सी. ।)

२—मिफ़ताह-उल-फ़नून—(वि० प्र० भाग १ का उर्दू भाषान्तर) अनु० प्रो० सैयद मोहम्मद अली नामी, एम. ए. ... ... ।)

३—ताप—ले० प्रो० प्रेमवल्लभ जोषी, एम. ए. तथा श्री विश्वम्भरनाथ श्रीवास्तव ... ।।=)

४—हरारत—(तापका उर्दू भाषान्तर) अनु० प्रो० मेहदी हुसेन नासिरी, एम. ए. ... ।)

५—विज्ञान प्रवेशिका भाग २—ले० अध्यापक महावीर प्रसाद, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद १)

६—मनोरंजक रसायन—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम. एस-सी.। इसमें साइन्सकी बहुत सी मनोहर बातें लिखी हैं। जो लोग साइन्स-की बातें हिन्दीमें जानना चाहते हैं वे इस पुस्तक को जरूर पढ़ें। ... १।।)

७—सूर्य सिद्धान्त विज्ञान भाष्य—ले० श्री० महावीर प्रसाद श्रीवास्तव, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद

- मध्यमाधिकार ... ... ।।=)
- स्पष्टाधिकार ... ... ।।)
- त्रिप्रश्नाधिकार ... ... १।।)
- चन्द्रग्रहणाधिकारसे ग्रहयुत्यधिकार तक १।।)
- उदयास्ताधिकारसे भूगोलाध्याय तक ।।।)

८—पशुपक्षियोंका श्रृङ्गार रहस्य—ले० अ० सालिग्राम वर्मा, एम.ए., बी. एस-सी. ... -)

९—ज़ीनत वहश व तयर—अनु० प्रो० मेहदी-हुसैन नासिरी, एम. ए. ... ... -)

१०—केला—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली =)

११—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली ।)

१२—गुरुदेवके साथ यात्रा—ले० अध्या० महावीर प्रसाद, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद ।=)

१३—शिक्षितोंका स्वास्थ्य व्यतिक्रम—ले० स्वर्गीय पं० गोपाल नारायण सेन सिंह, बी.ए., एल.टी. ।)

१४—चुम्बक—ले० प्रो० सालिग्राम भार्गव, एम. एस-सी. ... ... ।=)

१५—क्षयरोग—ले० डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा, बी. एस. सी, एम-बी. बी. एस ... -)

१६—दियासलाई और फ़ास्फ़ोरस—ले० प्रो० रामदास गौड़, एम. ए. ... ... =)

१७—कृत्रिम काष्ठ—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली =)

१८—आलू—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली ... ।)

१९—फसल के शत्रु—ले० श्री० शङ्करराव जोषी ।=)

२०—ज्वर निदान और शुश्रषा—ले० डा० बी० के० मित्र, एल. एम. एस. ... ।)

२१—कपास और भारतवर्ष—ले० पं० तेज शङ्कर कोचक, बी. ए., एस-सी. ... -)

२२—मनुष्यका आहार—ले० श्री० गोपीनाथ गुप्त वैद्य १

२३—वर्षा और वनस्पति—ले० शङ्कर राव जोषी ।)

२४—सुन्दरी मनोरमाकी करुण कथा—अनु० श्री नवनिद्धिराय, एम. ए. ... ... -)

२५—वैज्ञानिक परिमाण—ले० डा० निहाल करण सेठी, डी. एस. सी तथा श्री सत्य-प्रकाश, एम. एस-सी० ... ... १।।)

२६—कार्बनिक रसायन—ले० श्री० सत्य-प्रकाश एम-एस-सी० ... ... २।।)

२७—साधारण रसायन—ले० श्री० सत्यप्रकाश एम० एस-सी० ... ... २।।)

२८—वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द, प्रथम भाग—ले० श्री० सत्यप्रकाश, एम० एस-सी० ... ।।)

२९—बीज ज्यामिति या भुजयुग्म रेखा गणित—ले० श्री० सत्यप्रकाश, एम० एस-सी० ... १।)

३०—सर चन्द्रशेखर वेङ्कट रमन—ले० श्री० युधिष्ठिर भार्गव एम० एस-सी० ... =)

३१—समीकरण मीमांसा प्रथम भाग ... १।।)

३२—समीकरण मीमांसा दूसरा भाग—ले० स्वर्गीय श्री पं० सुधाकर द्विवेदी ... ।।=)

३३—केदार बद्रीयात्रा ... ।)

पता—मंत्री विज्ञान परिषत्, प्रयाग।

मुद्रक—शारदा प्रसाद खरे, हिन्दी-साहित्य प्रेस, प्रयाग।

पूर्ण संख्या—
२१०

Approved by the Directors of Public Instruction, United Provinces and Central Provinces for use in Schools and Libraries. Reg. No. A. 708.

कन्या, संवत् १९८९

सितम्बर १९३२

संख्या ६
No. 6

प्रयागकी विज्ञान परिषत्का मुखपत्र

'VIJNANA' THE HINDI ORGAN OF THE VERNACULAR SCIENTIFIC SOCIETY, ALLAHABAD.

अवैतनिक सम्पादक

ब्रजराज एम. ए., बी. एस-सी., एल-एल. बी.,

सत्यप्रकाश, एम. एस-सी., एफ. आई. सी. एस.

प्रकाशक

वार्षिक मूल्य ३)] विज्ञान परिषत्, प्रयाग [१ प्रतिका मूल्य ।)

विषय-सूची

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥ तै० उ० ।३।५॥

भाग ३५ | कन्या, संवत् १९८९ | संख्या ६

प्रकाश लेखन

रंगीन प्रकाश लेखनकी आधुनिक पद्धति

इस पद्धति को त्रिरंगीन पद्धति भी कहते हैं और यह प्रथम फिलाडेलफिया निवासी एफ्. इ. इवेन्स ने निकाली थी। तीन रंगके दीप इसमें काममें आते हैं और इन्हींकी सहायतासे चाहे जो रङ्ग पैदा कर सकते हैं। यदि इन तीनों रंगोंके प्रकाशको एक साथ गिरने दिया जाय तो प्रकाश सफेद मालूम होता है। यह तीन दीप लाल, हरे और नीले रङ्ग के होते हैं। भिन्न भिन्न दीप के प्रकाश को एक साथ मिलाने से निम्न दिये हुए प्रकाश पैदा होते हैं।

लाल, हरा और नीला ...... सफेद
लाल ...... लाल
लाल और नीला ...... नारंगी
लाल और हरा ...... पीला

इन्हीं तीनों प्रकाशों की तीव्रता कम अधिक करने से चाहे जिस रंग का प्रकाश मिल सकता है। रंगीन चित्र उतारते समय जिस वस्तुका चित्र खींचना हो उसके तीन उलटे चित्र खींचे जाते हैं। प्रथम लाल रंग का छन्ना रख कर उलटा चित्र निकालना। इस तरह से वस्तु से जितना लाल प्रकाश का परावर्तन होता है उसकाही पटली पर असर होगा। यदि अब लाल दीप की सहायता से इस उलटे चित्र से प्रकाश को आने दिया जाय तो उतनाही लाल प्रकाश आवेगा जितना कि वस्तु से परावर्तन हुआ है। इसी तरह से हरे और नीले छन्ने रख कर बाकी के दो उलटे चित्र खींच कर इन तीनों को एक करने से हम चीज का रंगीन चित्र पाते हैं और इसका रंग वही होता है जो कि चीज का है। इवेन्स के अलावा लुमिरी, ओ० जाली आदि की पद्धतियाँ भी प्रचार में हैं।

प्रकाश का जीव रसायन में कार्य

[ले० श्री वा० वि० भागवत, एम० एस—सी०]

हमारे नित्य-जीवन में प्रकाश का कार्य अत्यंत महत्वका है। प्रकाशके बिना हम लोग जीवित नहीं रह सकते। उसके बिना अनाज की पैदायश भी नहीं होती। प्रकाश के कारण बहुतसे रोग पैदा नहीं हो सकते। प्रकाश का और जीवन का संबन्ध अनादि तथा अनंत है, यह सोच कर ही हमने प्रकाशोत्पादक को ईश्वर मान कर उसकी आराधना शुरू की। लेकिन वास्तव में सूर्य प्रकाश की प्रक्रिया क्या है, उसके प्रभाव से क्या परिणाम होते हैं, यह बात हमको पुराने जमाने में मालूम नहीं थी। जीवन के लिए प्रकाशकी नितान्त आवश्यकता है यह हम जान चुके थे लेकिन प्रकाश का कार्य किस तरह से होता है इसका ज्ञान हमको इसी शताब्दी में हुआ है। पाश्चात्य शास्त्रज्ञों ने अपने प्रयोगों से इसका कार्य समझाया और बतलाया कि जीव जन्तु तथा वनस्पतियों के जीवन को भी प्रकाश की आवश्यकता है। वनस्पति के जीवन और प्रकाश के सम्बन्ध का विवेचन हमने प्रकाश संश्लेषण में किया ही है। प्राणियों के जीवन के वास्ते प्रोटीन, शर्कराजनक तथा स्निग्ध पदार्थों की ही आवश्यकता है, यह मानना ठीक नहीं है किन्तु यह पदार्थ मिल कर भी यदि विटेमिन नामके पदार्थ न मिलें तो जीवन असाध्य है। और इन विटेमिनों में जो प्रमुख 'विटेमिन डी' है उसकी तो पैदायश प्रकाश से ही होती है। बहुत सारे असाध्य रोग सूर्य प्रकाश से या कृत्रिम प्रकाश से ठीक किये गये हैं।

पदार्थों की वायु में जलने की गति तथा पेट में जलने की गति एक नहीं होती यह बात वायट ने स्पष्ट की। प्रोटीन पदार्थ जैसे चने की दाल, अरहर की दाल आदि हवा में जल्द नहीं जलतीं। यानी उसका ओषदीकरण उतना शीघ्र नहीं होता जितना चर्बी, घी आदि स्निग्ध और चावल आदि शर्कराजनक पदार्थों का होता है। किन्तु यह होते हुए भी प्रोटीन पदार्थ पेट में जल्द जल जाते हैं। खाने के पदार्थ वैसे हवा तथा सूर्य प्रकाश में रखें तो उनका ओषदीकरण नहीं होता, किन्तु धर महोदय ने जो प्रयोग किये हैं उनके द्वारा यह बात मालूम होती है कि इन पदार्थों का सूर्य प्रकाश से ओषदीकरण होता है इस अनुभवकी सहायतासे सूर्य प्रकाश की शरीर पर होने वाली प्रक्रिया का स्वरूप जानने की उन्होंने चेष्टा की। प्रकाश से शारीरिक पचन क्रिया बढ़ती है और इसी से रोग का नाश होता है ऐसी उनकी राय है।

फिनसन को प्रकाश वैद्यक का जन्म दाता कहना उचित है। उसने अपने कार्यको १८९३ में आरम्भ किया और 'लुपस' नाम का क्षय रोग को जो कि चमड़े पर होता है प्रकाशसे ठीक करके बतलाया। करीब करीब १२०० रोगियों पर प्रयोग किये गये और उसमेंसे ११०० अच्छे हुए। फिनसनके बाद रौलियर ने इस कार्य को प्रोत्साहन दिया। उसने स्विटजर लैण्ड के लायसीन गांव में एक दवाखाना खोल दिया, जिसमें सूर्य प्रकाशसे रोग निवारण करने की चेष्टा की गयी। इसी कारण उसको 'सूर्योपासक पादरी' नाम दिया गया। जिन क्षय रोगों की दुरुस्ती के लिये शल्य क्रिया की जरूरत थी वे भी सूर्य प्रकाश से ठीक हो गए। यह कार्य सूर्य प्रकाश की कौन सी किरणों से होता है यह जानने की उन्होंने चेष्टा की और फिनसन तथा रौलियर को ऐसा अनुभव हुआ कि यह कार्य सूर्य प्रकाश की पराकासनी किरणों से होता है। इसी कारण यह प्रयोग आल्प्स पर अधिक लाभकारक हुये, क्योंकि जैसे जैसे हम ऊँचे जाते हैं पराकासनी किरणों की तीव्रता बढ़ती है। आल्प्स पर दूसरा भी एक फायदा है। बर्फ के कारण परालाल किरण शोषित होती हैं और पराकासनी किरणों का परावर्तन होने से उनकी तीव्रता और भी बढ़ती हैं। प्रकाश वैद्यक में रोगी के सूर्य प्रकाश में ही बैठने की जरूरत होती है ऐसा नहीं, किन्तु नील वर्ण प्रकाश से विकरण के पाने वाले प्रकाश में भी काफी पराकासनी किरण होते हैं।

पराकासनी किरणों का रोगों पर किस तरह असर होता है यह जानने के लिये पारद वाष्प क्वार्टज़ दीप बहुत उपयुक्त है। उसकी सहायता से यह सिद्ध हो गया है कि रोग निवारण के लिये पराकासनी किरण ही चाहिए इसी कारण इस दीप का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। यह दीप दो प्रकार के होते हैं। एक में हवा से दीप को ठंडा रखते हैं। दूसरे में उसको पानी से ठंडा रखा जाता है। हवा से ठंडे किये जाने वाले दीपों में ३००० अं के ऊपर के किरण अधिकांश में होते हैं तथा पानी से ठंडे किये जाने वाले दीप में ३००० अं की नीचे के किरणों की तीव्रता अधिक पाई जाती है। इन किरणों का परिणाम ठीक होने के लिये इओसिन आदि उत्तेजक भी जिस भाग'को प्रकाशित करना हो वहां लगाते हैं।

प्रकाशका परिणाम व्यक्ति पर कहां तक निर्भर है इस बात का बिचार पैसिनी ने किया। वह कहता है कि प्रकाश का असर काले आदमी से गोरे आदमी पर मर्दों से औरतों पर, बुड्ढों से बच्चोंपर अधिक होता है। शरीर का जो भाग प्रकाश से छुपा हुआ रहता है उस पर अन्य भाग से अधिक असर होता है। शरीर को एक दम प्रकाशित करना उचित नहीं समझा जाता। प्रथम कुछ भाग को थोड़ी देर प्रकाशित करते हैं। दूसरे समय अन्य विभाग को प्रकाशित करते हैं। जब उसी भाग को दूसरे वक्त प्रकाशित करते हैं तब ज्यादा देर प्रकाशित करना ज़रूरी है।

प्रकाश का चमड़ा, आंख तथा अन्य भाग पर क्या परिणाम होता है यह जानने की बाख ने कोशिश की। इसके लिये उसने अपनी ही आंखों पर प्रयोग किये। अतितीव्र पराकासनी किरणों को उसने अपनी आंखों पर गिरने दिया। दीप की शक्ति ३००० मोमबत्ती के बराबर थी और इस दीप को आंखों से २० इञ्च दूर रख कर तीस मिनट तक प्रकाशित किया। बाद में माथा तथा शरीर को भी प्रकाशित किया। दो तीन मिनट के बाद कुछ गरमसा मालूम हुआ, दस मिनट के बाद जल जलाहट हो उठी और दो घंटे के बाद चमड़ा बिलकुल लाल हो गया। यह लाल रंग दो तीन दिन के बाद बिना इलाज किये हुए नष्ट हो गया। प्रकाशित करने के बाद तथा कुछ दिनों तक बड़ा उत्साह मालूम हुआ। कभी कभी रोग को ठीक करने के लिये केवल पराकासनी किरणों से ही उपचार करते हैं, और कभी कभी अन्य उपचारोंके साथ यह भी एक इलाज किया जाता है।

कुनिन गन्धेत पराकासनी किरणों का याने १२०० अं से छोटी किरणों का शोषण करता है। यदि प्रकाश को इसके पार जाने देने के बाद चमड़े पर गिरने दिया जाय तो चमड़ी लाल नहीं होती। यानी जिन किरणों से शरीर पर असर होता है वे पराकासनी किरण ही हैं। यह असर ३३०० से लेकर ३००० अं तक की किरणोंसे होता है और उसमें भी २९६१ अं किरणों से सब से ज्यादा होता है, ऐसा हाउसर और वाल ने बतलाया। इन्हीं किरणों से विटेमिन 'डी' का संश्लेषण होता है यह बात महत्व की है।

प्रकाश वैद्यक के बारे में क्रुकशाँक और वैट कहते हैं; "अभी तक शरीर वृद्धि के लिये दवाइयों की योजना की जाती थी लेकिन अब प्रकाश का एक नया साधन प्राप्त हुआ है। इसकी उपयोगिता वैद्यक शास्त्रमें कहाँ तक होगी यह हम आज नहीं कह सकते, लेकिन जहाँ तक मालूम है, हम विश्वासके साथ कह सकते हैं कि इससे बहुत कुछ आशायें हैं। प्रकाशसे उत्साह आता है, शरीर वृद्धि होती है, खून ज़ोरसे बहने लगता है और सामर्थ्य बढ़ती जाती है। हर एक रोगी ने इस प्रकाश से लाभ ही उठाया और हमें आशा है कि कुछ थोड़े दिनों में ही इस शास्त्र का महत्व बहुत बढ़ जायगा।"

क्रुकशाँक और वैटके विचार से प्रकाश द्वारा शरीर कोष्ठों का प्रसरण होता है, इससे धर्म कोष्ठ उत्तेजित होकर धर्म बाहर निकलता है और इसके साथ गंदी चीजें बाहर आकर रोग का कारण नष्ट होता है। इस तरह प्रकाश से आरोग्य बढ़ता है।

छोटी लम्बाई की किरणों का शोषण शरीर की सूक्ष्म त्वचा में हो जाता है, किन्तु बड़ी लम्बाई के किरण और भी अंदर घुस जा सकते हैं। इसी कारण केवल पराकासनी किरणों से ही नहीं किन्तु लम्बी लहरों से भी कोष्ठ उत्तेजित होते हैं और इसी लिये इन किरणों से रोग भी नष्ट होते है ऐसा घर का कहना है। लहर लम्बाई और इनके पार जाने की शक्ति ग्लीटशर और हसलबाक ने निकाली। यह संबंध नीचे दिया है:—

सूक्ष्मत्वचा (Epidermis) की पारदर्शकता

लहरलंबाई	प्रतिशत पारदर्शकता	
	०.१ सहस्रांश मीटर मोटाई	१ सहस्रांश मीटर मोटाई
४३६० अ°	५९	०.५
४०५०	५५	०.३
३६६०	४९	०.०८
३५४०	४२	०.०२
३१३०	३०	—
३०१५	८	—
२९९०	२	—
२९७०	०.०१	—

सूर्य प्रकाशका क्या परिणाम होता है जिससे रोग नष्ट होता है यह जानने की चेष्टा घरनेकी। इन्होंने प्रोटीन जनक, शर्कराजनक और स्निग्ध पदार्थों में से ओषजन को जाने दिया। उसी वक्त इन पदार्थों को सूर्य प्रकाशमें भी रक्खा। इन्होंने यह देखा कि प्रकाशमें इन पदार्थों का ओषदीकरण होता है। इन प्रयोगोंके अनुभव से उनका यह कहना है कि अन्नका पेट में जो ओषदीकरण होता है उसकी गति शरीर को प्रकाशित करनेसे बढ़ती है क्योंकि प्रकाश अन्दर तक जा सकता है यह ऊपर बतलाया ही है। रोग का कारण अपचन है किन्तु प्रकाश से पचन क्रिया बढ़ने के कारण रोग नष्ट होता है।

विटेमिनों का प्रकाश-संश्लेषण:—

जीवनके लिये अन्नकी जरूरत है। अन्नमें शर्कराजनक, स्निग्ध और प्रोटीन पदार्थ ही केवल होता है ऐसा हमारा विश्वास है। किन्तु अब यह ठीक मालूम हो गया है कि इन पदार्थों के साथ यदि विटेमिन न हो तो केवल इन्हीं पदार्थों से शरीर वृद्धि नहीं होती। विटेमिन 'डी' से शरीर की हड्डी बढ़ती है। यदि विटेमिन 'डी' अन्न में न हो तो रिकेट नामका रोग पैदा होता है और इस रोगमें हड्डी की वृद्धि बन्द हो जाती है। यह रोग अधिकतर बच्चोंमें ही पाया जाता है। यदि इन लड़कों को काडलिवर तेल, घी, दूध या अन्य पदार्थ जिनमें विटेमिन डी है दिये जांय तो उनकी रुकी हुई वृद्धि फिर होने लगती है। हल्डशीनस्कीनें यह बतलाया कि, यह रोग बच्चों को पारदवाष्पदीपसे प्रकाशित करने से ठीक होता है। यानीं पराकासनी किरणों से रोग का कारण नष्ट होता है। प्रकाशकी तीव्रता ऋतु के साथ बदलती है। शीतमें सूर्यप्रकाश की तीव्रता बहुत कम होती है। हेस और उंगरने यह देखा कि ऋतु के साथ रिकेट परिमाण कम अधिक होता रहता है। गर्मी में यह परिमाण कम होता है तथा जाड़ों में अधिक पाया जाता है। इस से सूर्य प्रकाश से रोग ठीक होता है ऐसा उसका कहना है। उसी वक्त उन्होंने चूहोंपरभी प्रयोग किये। उनको जो अन्न दिया जाता था उसमें विटेमिन 'डी' की कमी थी। किन्तु उनको रोज पराकासनी किरणों से प्रकाशित किया जाता था। देखा गया कि उनकी वृद्धि ठीक होती गयी और कुछ भी रिकेट पैदा नहीं हुआ। मिस चिकनें यहाँ तक बतलाया कि पराकासनी प्रकाश का वही असर होता है जो कि कौडलिवर तेल आदि का जिनमें विटेमिन 'डी' होता है,। इसके बाद थोड़े ही दिनों में स्टिनवाकनें यह बतलाया कि जिस अन्नमें विटेमिन 'डी' नहीं रहता और जिसको खाने से रिकेट पैदा होता है, उसको यदि पराकासनी किरणों से प्रकाशित किया जाय तो रिकेट नहीं पैदा होता। यानी प्रकाशसे प्रकाशित अन्नमें विटेमिन डी जरूर पैदा होता होगा। उसने चने की दाल, गेहूँ, तिल्ली का

तेल आदि पदार्थों को पराकासनी किरणों से प्रकाशित करके उनमें विटेमिन 'डी' पैदा किये। इससे ज्ञात हुआ कि अन्नमें कुछ ऐसा पदार्थ रहता है कि प्रकाशित करने से उसका विटेमिन 'डी' में परिवर्त्तन होता है। पदार्थों में ऐसी क्या चीज होती है कि जिसके प्रकाश से विटेमिन 'डी' पैदा होता है, इस बात की खोज की गयी। पहिले तो ऐसा सोचा गया कि अन्न में जो स्निग्धांश रहता है वही उस का कारण है। बाद में यह मालूम हुआ कि यह पदार्थ स्टिरालकी जाति का है।

डुमंडने कौंडलिवर तेल का उद्विश्लेषण क्षार की सहायता से किया और यह देखा कि विटेमिन उस भागमें इकट्ठा होता है जिसका साबुनीकरण नहीं होता। बादमें इस विभागसे कोलेस्टिराल को अलग करने से भी बाकी बचे हुए अंश में विटेमिन 'डी' पाया गया। इससे विटेमिन 'डी' का स्वरूप कोलेस्टिराल के समान यद्यपि है, तो भी कोलेस्टिराल और विटेमिन 'डी' दोनों एकही चीज नहीं हैं यह स्पष्ट हुआ बाद में गेहूँसे कोलेस्टिराल पाया गया और उसको प्रकाशित करनेसे विटेमिन 'डी' पैदा होता है यह देखा गया। कैनान के प्रयोग से यह मालुम हुआ कि, प्राणी अपने शरीरमें कोलेस्टिरालको पैदा कर सकते हैं। इससे ऐसा समझा गया किप्रकाश से प्राणियोंमें इस कोलेस्टिराल का विटेमिन 'डी' में परिवर्तन होता है और इसीलिये विटेमिन 'डी' के प्रभाव से पैदा होने वाले रोग प्रकाशन से ठीक होते हैं।

विंटेमिन डी का और कोलेस्टिराल का शोषण चित्र निकाला गया। उससे यह मालूम हो गया कि उनका प्रकाश शोषण चित्र भिन्न है इसीलिये कोलेस्टिराल और विटेमिन 'डी' दोनों एकही चीजें नहीं है यह स्पष्ट हुआ। बाद में कोलेस्टिराल की शुद्धि की गयी और उसकी अशुद्धता को अलग किया गया। आश्चर्य की बात है कि इस अशुद्धता का प्रकाशशोषण चित्र और विटेमिन 'डी' का शोषणचित्र बिलकुल एकही पाया गया। विटेमिन डी पराकासनी विभागमें २९३० अ°, २७०० अ° और २६९०अ° किरणों को शोषित करता है। जिस वक्त यह कार्य चल रहा था उसी वक्त पिण्डाउस और हेस दोनों भिन्न भिन्न स्टिरालसको लेके उनका प्रकाश शोषण चित्र मालुम कर रहे थे। उन्होंने यह देखा कि अर्गेस्टिराल का प्रकाश शोषण वही है जो विटेमिन 'डी' का है। तथा अर्गेस्टिराल को प्रकाशित करने से विटेमिन डी पैदा होता है। यह भी देखा गया कि अर्गेस्टिराल कोलेस्टिरालके साथ हर वक्त पाया जाता है। इसीलिये कोलस्टिराल को प्रकाशित करनेसे विटेमिन पाया गया। शरीर में भी अर्गेस्टिराल रहता है। इसी वास्ते जब शरीर को पराकासनी किरणोंसे प्रकाशित किया जाता है शरीर में विटेमिन डी पैदा होता है और यद्यपि अन्नमें विटेमिन डी न हो तो भी शरीर वृद्धि यदि नियमित प्रकाशन किया जाय, तो होती रहती है। अर्गेस्टिराल को कुछ देर तक प्रकाशित करने से उसकी विटेमिन 'डी' शक्ति बढ़ती जाती है, लेकिन इससे भी ज्यादा देर प्रकाशित किया जाय तो शक्ति कम होकर आखिर में बिलकुल नष्ट होती है। उसका प्रकाश शोषण चित्र भी बदल जाता है। काडलिवर तेल की शक्ति प्रकाशन से जो नष्ट हो जाती है उसका भी कारण यही है। इस से यह मानने में कोई हानि नहीं है कि प्रकाशित अर्गेस्टिराल और विटेमिन 'डी' एक ही है।

प्रकाशन से विटेमिन 'डी' पैदा होता है यह बात निश्चित हो गयी, लेकिन जीवन में प्रकाश की उपयोगिता कितनी है यह तभी ध्यान में आवेगा जब जीवन के लिये विटेमिन 'डी' की कितनी जरूरत है यह ठीक तरह से मालूम होगा।

पुराने जमाने से हमारा यह विश्वास है कि आदमीकी ऊँचाई तथा मोटाई यह बातें स्वाभाविक हैं किन्तु शास्त्रज्ञों ने अब यह ठीक तरह से बतला दिया है कि कुछ अंश में यद्यपि यह बात सत्य है तथापि यदि प्रयत्न किया जाय तो इसमें

सुधार जरूर हो सकता है। इस बारे में अमेरिका के वेसार कालेज को विद्यार्थिनिओं पर कुछ प्रयोग किये गये। उन्होंने यह देखा कि तीस बरस के पहिले आने वाली लड़कियाँ ऊँचाई में दो इञ्च कम थी। सन् १८९१ से १८९५ तक जितनी लड़कियाँ आयीं इनकी ऊँचाई करीब करीब ६३ इञ्च, उनका वजन ११७ पौंड रहता था। किन्तु अब १९२३ से १९२७ तक आने वाली लड़कियों की ऊँचाई ६५ इञ्च और वजन १२४ पौंड पाया गया। इसमें एक और बात महत्व की है कि १९२३ में आने वाली लड़कियाँ उमर में १८९१ में आने वाली लड़कियों से कम थीं। यही बात अन्य जगह भी पायी जाती है। अमेरिका में रहने वाले जापानी खुद जापान में रहने वालों से ज्यादा ऊँचे और मजबूत होते हैं। इस वृद्धि का कारण नियमित व्यायाम तथा अच्छा अन्न है।

शरीर की बाढ़ अन्न पर निर्भर है यह बात शर्मन ने बतलाई। उसने अपने प्रयोग चूहों पर किये और यह बतलाया कि अच्छे अन्न पर रहने वाले चूहे अधिक दिन जिन्दा रहे, तथा उनकी संतति भी अधिक रही और वे अधिक पुष्ट भी रहे। उसके प्रयोग निम्न दिये हैं।

	खराब अन्न वाले	अच्छे अन्न वाले
चूहे का वजन ३०० दिन के बाद	२६८ ग्राम	३१५ ग्राम
पहिला बच्चा कब हुवा	१५५	११२
कितने दिन तक बच्चे होते रहे	१८६	३२२
कितने बच्चे होते रहे	६	१८
कुल वंश एक बरस में कितना बढ़ा	७७	३६८

अच्छे अन्न पर रहनेवाले चूहों का जीवन फीसदी दस बढ़ा।

जैसे चूहों पर प्रयोग हुवे वैसे बच्चों पर भी किये गये। डा० मान ने हर एक को विशिष्ट अन्न दिया और इसके अलावा किसीको दूध तो किसको शक्कर तो किसको मक्खन दिया और क्या फरक होता है यह देखा। जिनको दूध या मक्खन दिया गया उनकी वृद्धि अधिक हुयी।

अन्न	लड़कों की संख्या (जिन पर प्रयोग किये)	उष्णता (अन्न की) (कलारी में)	बरस भर में क्या वृद्धि हुयी वजन में	ऊंचाई में
विशिष्ट अन्न	६१	१७२४	३.८	१.८
विशिष्ट अन्न + दूध	२१	२११२	७.०	४.६
„ + शक्कर	२०	२०७४	५.०	२.०
„ + मक्खन	२६	२१११	६.३	२.२
„ + मार्गेरिन	१६	१८०८	५.२	१.८
„ + केसीन	३०	१७२४	४.०	१.७

शरीर की हड्डी बढ़ने के लिये किन चीजों की जरूरत है इस बारे में खोज की गयी। यह तो हम जानते हैं कि बहुत सारे बच्चों को हड्डीकी वृद्धि नहीं होती। इस रोग को रिकेट्स कहते हैं। रिकेट्स में हड्डी बिलकुल नरम हो जाती है। इसका कारण जानने के इरादे से मैलेन्बी ने करीब करीब ४०० कुत्ते के बच्चों पर प्रयोग किये और यह बतलाया कि उनकी हड्डी का पृथक्करण करके रिकेट्स में खटिकम् तथा स्फुरका अंश कम होता है। बादमें इन्हीं बच्चों को काडलिवर तेल तथा अन्य चीजें देनेसे यह रोग नष्ट हो गया। इससे इसमें कुछ शक नहीं कि रिकेट्स अन्न के प्रभाव से होता है। लेकिन इतना होकर भी उसका निर्णय गलत रहा। उसका कहना यह था कि जिस अन्न से रोग नष्ट

हुआ उसमें विटेमिन 'ए' था, इसलिये रिकेट्स विटेमिन 'ए' के अभाव से पैदा होता है। १९२२ में रिकेट्स का कारण विटामिन 'ए' नहीं है किन्तु विटेमिन 'डी' है यह मैककालम ने बतला दिया। उसने काडलिवर तेल आदि को उबाल कर विटेमिन 'ए' को नष्ट कर दिया, तब भी उस काडलिवर तेल से रिकेट ठीक हुवा। इससे 'विटेमिन 'डी' ही रिकेट्स के नष्ट होनेका कारण है इसमें कुछ सन्देह नहीं।

ऊपर बतलायी हुयी बातें प्रकाश रसायन दृष्टि से इतनी महत्व की नहीं, जितना सन् १९१९-२० में जर्मनी में जो संशोधन हुआ, वह महत्व का है। उस वक्त महायुद्ध के कारण जर्मनी में अन्न मिलना मुश्किल था। इसी सबब से रिकेट इतना फैल गया कि बच्चों में ही नहीं, बड़े लड़कों में भी पाया गया। इस बारे में हल्डशीनस्की ने खूब कोशिश की। उसने यह आश्चर्य की बात बतलायी कि रिकेट के बच्चों को यदि पराकासनी किरणों से प्रकाशित किया जाय तो यह रोग नष्ट हो जाता है। यही बात १९२१ मे हेस और उन्जर भी देखी। इस तरह से प्रकाश से विटेमिन डी पैदा होता है यह मालूम हुआ। यदि अन्न में विटेमिन डी' न हो तो शरीरको प्रकाशित कीजिये फिर कभी भी हड्डी की वृद्धि रुक जाने की डर नहीं रहेगा।

विटेमिन 'डी' यदि न हो तो हड्डी की वृद्धि नहीं होती यह बात तो मालुम हुयी, किन्तु विटेमिन 'डी' का कार्य क्या है जिससे हड्डी की वृद्धि होने लगती है इसका पता न चला। हड्डी के वास्ते तो खटिकम् और स्फुर की ही केवल जरूरत है। फिर विटेमिन 'डी' की क्या जरूरत है। मैककालम्, हेस, स्टिनवाक, मेलेन्बी, शर्मन आदि ने पहले चूहों पर और बाद मे आदमियों पर भी प्रयोग किये और बतलाया कि अन्न व खटिकम् स्फुर काफी होते हुये भी हड्डी नहीं बनती। उनका कहना यह है कि अन्न में यद्यपि खटिकम् और स्फुर काफी है तो भी जब तक वह शरीर में नही रह सकता किन्तु पेशाब तथा पाखाने के द्वारा बाहर चला आता है अतः हड्डी की वृद्धि असंभव है। हड्डी की वृद्धि के लिये शरीर में खटिक और स्फुर रह जाना चाहिये। विटेमिन 'डी' की विद्यमानता में अन्न का खटिक—स्फुर खून में घुल जाता है और फिर उससे हड्डी बनती है। अतः विटेमिन 'डी' और इसी लिये उसको पैदा करने वाले प्रकाश की केवल शरीर वृद्धि के ही लिये नहीं प्रत्युत हड्डीके बननेके वास्ते भी बहुत ही आवश्यकता है। हमारे दाँत भी खटिक-स्फुर से बनते हैं। यह देखा गया है कि छोटे बच्चों को यदि दांत निकलने के पहिले विटेमिन 'डी' दिया जाय तो दांत तुरन्त और बिना कुछ तकलीफके निकलते हैं। हम तो यह जानते हैं कि निकलते वक्त कितनी परेशानी होती है, लेकिन उसका उपाय हम नहीं जानते। विटेमिन 'डी' या पराकासनी प्रकाश उसके लिये बहुत ही उपयुक्त हैं। अन्नका प्रकार और दांत की वृद्धिके विषयमें में मिस मेलेन्बी ने १४०० आदमियों के दांत देखे और अन्न का महत्व स्थापित किया। दांत बचपन में आते हैं। इस लिये बच्चोंकी सावधानी रखना बहुत ही महत्वकी बात है। हड्डी भी इसी वक्त बनती है। इसीलिये बचपनमें यदि बच्चों का देखभाल ठीक तरह से न की जाय तो बाद में किसी भी इलाज से वह आरोग्यावस्था नहीं प्राप्त कर सकते। पैसे से भी वह नहीं मिल सकती। हमारे हिन्दुस्थान में सावधानीकी बहुत आवश्यकता है। पहिले तो हम लोग गरीब हैं। और फिर कुछ जानते नहीं। ऐसी अवस्थामें यदि सूर्य प्रकाश न होता तो हमारी क्या दुर्दशा होती हम कह नहीं सकते। इतना अज्ञान होते हुये भी सूर्य प्रकाश से बिना हमारे जानते हुए विटेमिन 'डी' पैदा होता है और शरीर वृद्धि होती है। हमको यह ध्यान में रखना चाहिये कि बाल्यावस्था अत्यंत महत्व की है।

विटेमिन 'डी' की जरूरत केवल बचपनमें ही नहीं रहती। विशेष करके दुग्धावस्था तथा गर्भावस्थामें उसकी अत्यंत आवश्यकता है। इसी लिये प्रकाशकी भी जरूरत है। गर्भावस्थामें गर्भ के तैयार

होनेके लिये खटिक तथा स्फुर होना चाहिए और यह खटिक स्फुर मा के शरीर से गर्भ पाता है। यदि सेवन किये हुये अन्न से काफी खटिक स्फुर न मिलता हो तो मा की हड्डी से तथा दांत से पाया जाता है। इसी कारण मा का शरीर दुर्बल होता जाता है। शरीर के लिए तथा गर्भ के लिये अत्यावश्यक इतना खटिक स्फुर का संचय रोज खाये हुये अन्नसे होना जरूरी है। तभी तो होने वाले बच्चेकी तथा मा की तन्दुरुस्ती ठीक रहेगी। अन्नमें खटिक स्फुर का परिमाण काफी होना चाहिये यह तो एक बात आवश्यक है किन्तु इससे भी उसका संचय होना अधिक महत्व की बात है। कभी कभी खटिक स्फुर काफी होते हुये भी यदि वे अशुद्धता के साथ शरीर से निकल जाय तो कुछ फायदा नहीं। इस संचय के लिए विटेमिन का सेवन अथवा पराकासनी किरणों से प्रकाशन अत्यावश्यक है। दुग्धावस्था में भी यही बात है। प्रसूति के बाद स्तनसे दूध आने लगता है और उसके लिए आवश्यक खटिक स्फुर भी मा के शरीर से लिया जाता है। यह दूध अच्छा होने के लिये तथा मा की भी तन्दुरुस्ती रहने के वास्ते पराकासनी प्रकाश या विटेमिन 'डी' होना जरूरी है। हमारे यहां आजकल बच्चोंको मां से काफी दूध भी नहीं मिलता इससे संतान में कमजोरी पैदा होती जा रही है। इसका कारण आरोग्यशास्त्र का अज्ञान ही है। हमारे सुशिक्षित कहलानेवाले भाई भी आरोग्य क्या है यह नहीं जानते और न जानने की कोशिश ही करते हैं। फिर अबला के बारे में हम क्या कह सकते हैं।

प्रकाशन से आदमी में ही विटेमिन 'डी' तैयार होता है, ऐसा नहीं। १९२४ में हेस, स्टिन बाक, नेल्सन आदि ने जो प्रयोग किये उससे प्रकाश का महत्व हजार गुना बढ़ गया। उन्होंने यह बतलाया कि अन्न में चाहे विटेमिन 'डी' न हो तो भी उसको प्रकाशित करने से यह पैदा होता है। उन्होंने तिल्ली का तेल, और जैतून का तेल को प्रकाशित करके यह बात स्थापित की। यदि अप्रकाशित तिल्ली या जैतून का तेल रिकेटिक बच्चों को दिया जाय तो कुछ असर नहीं होता किन्तु यही प्रकाशित करके देने से रोग नष्ट हो जाता है। बादमें उन्होंने और भी पदार्थों को प्रकाशित किया। चने की दाल, अरहर की दाल, गेहूँ, आटा, खोबरे का तेल, लार्ड, मारगेरिन, दूध इन सब को प्रकाशित करने से विटेमिन 'डी' तैयार होता है। लेकिन खनिज तेल तथा शक्कर पर पकाश का कुछ असर नहीं होता। वैसे देखा जाय तो दूधसे रिकेट इतनी जल्दी ठीक नहीं होता जितना काडलिवर से होता है, किन्तु प्रकाश के बाद दूध का परिणाम अधिक होता है। यह भी देखा गया है कि जिस जानवर से दूध निकालते हैं उसको अच्छा खाना दिया जाय और उसको रोज प्रकाशित किया जाय तो इसके दूध में विटेमिन 'डी' का अंश अधिक रहता है। विटेमिन 'डी' मुर्गी के अंडे में भी होता है और उसका प्रभाव प्रकाशित करने से बढ़ता है। यदि मुर्गीको भी प्रकाशित किया जाय और बाद में अंडा लिया जाय तो विटामिन 'डी' का अंश अधिक पाया जाता है। इतना ही नहीं तो मुर्गी ज्या अंडे देती हैं। अमेरिका में तो पराकासनी किरणों से प्रकाशन यह एक व्यापार हो गया है। उसके कई पेटंट लिये गये हैं। स्टिनलाक ने अन्न को प्रकाशित करने का पेटंट ले लिया है।

जीवन के लिये प्रकाशकी जरूरत है यह बात तो मालुम हो गयी, लेकिन क्या सब सूर्य प्रकाश उपयोगी है यह सोचना जरूरी है। प्रयोगसे कि पराकासनी प्रकाश अधिक उपयुक्त है यह बात सिद्ध हो गयी है। हेस और विनस्टाक ने यह बतलाया कि ३०२० से लेकर ३१३० तक के पराकासनी किरणों का असर सब से ज्यादा होता है। श्री कथ और स्पेनसर कहते हैं कि २६५० अं से बड़ी किरणों से ठीक नहीं होता याने सूर्य प्रकाश में २८६१ से ३२४७ तक के किरण ही हमारे लिये उपयुक्त है। यदि इन किरणोंकी तीव्र

ओर, हेन्डरसन और क्रिक्टानने ९ महीने के सुअर के बच्चेको पराकासनी प्रकाश से प्रकाशित किया और यह देखा कि खटिक और स्फुरके संचय करने का परिमाण बढ़ता ही गया, तथा पाखाना द्वारा जाने वाले खटिक स्फुर का अंश कम हुआ। यही बात फेअरहाल ने चूहों के बारे में देखी। इन प्रयोगोंसे मालूम हुआ कि प्रकाशनसे जानवरों में खटिक स्फुर अधिक संचित होता है। प्रकाशन से मुर्गी के बच्चों के पैर मजबूत बनते हैं, तथा मुर्गी से मिलने वाले अंडों की संख्या और उसमें का विटेमिन 'डी' का अंश बढ़ता है। ओर, हेण्डरसन और क्रिक्टान कहते हैं, "भाइयो, सूर्य प्रकाश का महत्व ठीक तरहसे जान लीजिये और उसका फायदा उठाइये। प्रकाशसे पौधे बढ़ते हैं इतना ही नहीं किन्तु जानवर भी अधिक तन्दुरुस्त रहते हैं यह बात कृषक लोगोंको ध्यानमें रखना जरूरी है।" हमारा हिन्दुस्थान देश तो कृषि प्रधान है और हमारी कृषि तो जानवरों पर ही निर्भर है। यूरोपमें खेती जैसी यांत्रिक तरहसे की जाती है वैसा यहाँ नहीं होता। इसी लिये यह आवश्यक है कि हमारे भाई जानवरों के आरोग्य की ओर भी ध्यान दें।

सूजी (Tsuji) ने यह जाननेकी कोशिशकी है कि पौधों पर पराकासनी किरणोंका असर क्या होता है। उसने यह बतलाया कि यदि गन्नोंको पराकासनी किरणोंसे प्रकाशित किया जाय तो शक्करका परिमाण बढ़ता है। इसी तरह फूलोंको या तरकारीको प्रकाशित करने से उनकी वृद्धि अधिक होती है। प्राणियों की वृद्धि के वास्ते २७०० से ३२०० अं तक के पराकासनी किरण उपयुक्त हैं किन्तु इन किरणों से पौधे नष्ट हो जाते हैं। किन्तु ३२०० से ३९०० तक की किरणों से वे बढ़ते हैं। इससे यह मालूम होता है कि पौधोंको और प्राणियों की वृद्धि के वास्ते एक ही किरण कार्य में नहीं आते किन्तु भिन्न भिन्न किरणों की उसके वास्ते आवश्यकता है।

प्रेरक जीवों पर प्रकाश का असर

प्रकाश परिणाम के अनुसार अगुलहान ने प्रेरक जीवों के तीन विभाग किये हैं:—

(१) प्रेरक जीव जिनका ओषदीकरण हवा में चाहे किसी भी किरणोंके अस्तित्व में होता हो किन्तु शून्य में केवल पराकासनी किरणों से ही वे नष्ट होते हैं। जैसे इन्वेज, टायरोसीनेज, लेकेज।

(२) प्रेरक जीव, जिनका नाश ओषजन में या ओषजन के बिना सब किरणों से होता है। इमल्सीन, केटेलेज आदि।

(३) प्रेरक जीव, जिनका नाश शून्य में पराकासनी किरणों से होता है, तथा दृश्य प्रकाश से वे कमजोर होते हैं। जैसे रेनेट।

पिनकुसेन और उसके सहयोगियों ने डायस्टेज प्रेरक जीवों पर प्रकाश का असर देखा। इनमें यह बतलाया कि प्रेरक जीव का कुछ भी समाहरण हो, पराकासनी किरणों से प्रकाशित करने के बाद उसकी कार्यकारिणी शक्ति नष्ट होती है। लेकिन दृश्य प्रकाश का कुछ भी असर नहीं होता। यदि डायस्टेज तथा माल्टेज के साथ नमक मिलाया जाय तो फिर सूर्य प्रकाश से वे नष्ट नहीं होते। अन्य लवणों से भी इनका नाश रोका जा सकता है। पांशुज नैलिद के साथ पन्क्रीएटीक, सलीवरी और टेकाडायस्टेज की कार्य शक्ति बढ़ती है, किन्तु माल्टडायस्टेज को कार्यकारिणी शक्ति कम होती है। मूत्रेज घोल के प्रेरक जीव की शक्ति सूर्य प्रकाश से कम हो जाती है तथा पराकासनी किरणोंसे वह बिलकुल साफ नष्ट हो जाती है। लूर्स और लारिनसन ने ताप और पराकासनी किरणों के परिणाम की माल्टअमिलेज के नाश के बारे में तुलना की। इस नाश की गति की श्रेणी, एक है या दो यह हम ठीक नहीं बतला सकते और शुट्ज़के सिद्धान्तका भी पालन नहीं किया जाता। इस कारण इन शास्त्रज्ञों का कहना यह है कि ताप तथा प्रकाश का परिणाम भिन्न भिन्न प्रकार का है। पिनकुसन कहता है कि यदि नष्ट किये हुये

डायस्टेज को अप्रकाशित डायस्टेज के साथ मिला दिया जाय तो उसकी कार्यकारिणी शक्ति फिर आ जाती है। हेडर ने यह बतलाया कि कालरा तथा पेराटायफाइड 'ए' के एग्ल्यूटिन्स टायफाइड के एग्ल्यूटिन्स से जल्द नष्ट होते हैं और एग्ल्यूटिन्स से बेक्टेरिओ लाइसिन और भी जल्द नष्ट होते हैं।

यदि शरीर को सूर्य-प्रकाश से प्रकाशित किया जाय तो वह चारात्मक होता है ऐसा बाल्डेरी और बारकुस ने देखा। कूपमेन कहता है कि, इरिथ्रोसायटिस तथा हेमोग्लोबिन का समाहरण और खून की अधःक्षेपण शक्ति तथा स्निग्धता पराकासनी किरणों से प्रकाशित करने के बाद भी वही रहती है। ३००० से २००० अं तक की किरणों से प्रकाशित करने से श्वेतरक्ताणुओं की संख्या बढ़ती है, यह बात क्लार्क ने सिद्ध की। पराकासनी किरणों से प्रकाशित करने के बाद खून में पानी का अंश बढ़ता है और २४ घंटे के बाद फिर वही हो जाता है ऐसा क्रोएट्ज़ ने प्रयोगसे बतलाया। कीटाणु नाश के सम्बन्ध मैरीसलर, फिलिबर्ट और कोरटीअर ने कुछ प्रयोग किये हैं। उन्होंने यह देखा कि यदि स्फटम् के तार का विद्युत शक्ति से वाष्प रूप में परिवर्तन किया जाय तो उस प्रकाश से कीटाणु तुरन्त ही मरते हैं। उन्होंने यह भी बतलाया कि, पिनासायनोल तथा अन्य रंगों के अस्तित्व में नूतनदीप के प्रकाश से क्षयरोग के कीटाणु कुछ अंश में नष्ट हो जाते हैं। इन सब प्रयोगों से यह बात स्पष्ट है कि पराकासनी किरणों से रोग के कीटाणु मर जाते हैं और इसी लिये आरोग्य के लिये हम सूर्य प्रकाश तथा पराकासनी प्रकाश से उपकृत हैं।

प्रकाशसे शुद्धिकरण

प्रकाशन से कीटाणु का नाश होता है यह बात पुराने जमाने से मालूम थी। इसके बारे में बहुत कुछ कार्य हो चुका है और उससे जो कुछ बातें मालूम हुयीं है नीचे दी जाती हैं।

(१) २९७० से २१०० अं तक की किरणों से कीटाणु तुरन्त मरते हैं, लेकिन ३००० से ३८०० अं तक की किरणों का बहुत ही कम असर होता है। यह किरण शरीर के अन्दर जा सकते हैं, किन्तु २९७० से २१०० तक के किरण पृष्ठ पर ही शोषित हो जाने से अन्दर नहीं जा सकते।

(२) कीटाणु उन्हीं किरणों से नष्ट होते हैं, जिनका शोषण होता है। प्रकाश का परिणाम उसकी तीव्रता पर निर्भर है, तथा वक्त पर भी निर्भर है। ज्यादा देर प्रकाशित करने से कीटाणु नष्ट होते हैं।

(३) प्रकाश का असर कीटाणु के प्रत्यमिन विभाग पर अधिकतर होता है, तथा बानजाविक अमिनोअम्ल पर उससे भी अधिक होता है।

(४) कीटाणु नष्ट होने के लिये ओषजन की आवश्यकता नहीं है। वे केवल प्रकाश से ही नष्ट होते हैं। त्रिओषिद या उदजनपरोषिद के बनने से कीटाणु नष्ट नहीं होते। पराकासनी किरणों से प्रथम ओषजन का उदजनपरोषिद या ओषोन नहीं बनता और फिर उनके द्वारा कीटाणु नष्ट नहीं होते किन्तु केवल पराकासनी किरणों से प्रकाशित करने से ही वे नष्ट हो जाते हैं।

(५) यदि प्रकाशित किया हुआ द्रव पदार्थ गंदा हो तो पराकासनी प्रकाश का इतना असर नहीं होता।

सब तरह के कीटाणुओं पर प्रकाश का परिणाम एक ही नहीं होता, कुछ जल्द नष्ट होते हैं तो कुछ देर से नष्ट होते हैं। एस-पी० कालरा, बी० टायफोसस, बी० डिसेन्टीआ और बी० कोली तुरन्त ही नष्ट होते हैं। तथा बी अन्थ्रसीस न्यूमोबेसीलस आदि पर बहुत ही कम असर होता है। बी० टीटनी, बी० मगेथेरिअम, बी०फ्लीओल कीटाणुओं को नष्ट होने के लिये दुगुना वक्त लगता है। फारमेसिआ को दसगुना और यीस्ट को बी० कोली से २० गुना वक्त लगता है। कीटाणु के नष्ट होने के लिये जो भिन्न भिन्न वक्त लगता है उसका फायदा शुद्धिकरण पद्धति

में उठाया जाता है। दुग्ध का शुद्धिकरण पराकासनी किरणोंसे किया जाता है। हानिकारक कीटाणु तुरन्त नष्ट होते हैं लेकिन दुग्धाम्ल कीटाणु जिनकी आवश्यकता होती है वे जल्द नष्ट नहीं होते। इसी लिये थोड़ी देर प्रकाशित करने से आवश्यक कीटाणु तो रह जाते हैं और अन्य नष्ट होकर दुग्ध का शुद्धिकरण होता है।

यक्ष्मा कीटाणुका शुद्धिकरण पराकासनी किरणों से तुरन्त होता है और उसकी कार्यशक्ति नष्ट होती है यह हेनरी और बेरोनी ने देखा। अन्य शास्त्रज्ञों ने यह बतलाया कि दुग्ध के आक्सीडेज कीटाणु, तेलों में के लिपोलिटिक कीटाणु आदि पराकासनी प्रकाश से नष्ट होते हैं। कोब्लान्ज् और फुल्टन ने बी० कोली को पराकासनी प्रकाश से प्रकाशित किया और यह देखा कि ३६५० अं तक की किरणों से ही कीटाणु नष्ट होते हैं। यदि किरणों की लहर लम्बाई ज्यादा हो तो अधिक देर तक प्रकाशन करना चाहिये। २९७० अँ से ३६५० अँ तक का परिणाम ज्यादा देर प्रकाशित करने के बाद दिखाई पड़ता है। यदि पराकासनी किरणों की लहर लम्बाई २८०० अँ से कम हो तो उसकी तीव्रता कम होते हुये भी उसका परिणाम ३०५० अँ से अधिक लम्बाई की किरणों के दस गुना होता है। 'बी' कोली कीटाणु को नष्ट करने के लिये १७०० अँ से २८०० अँ तक की किरणों की कम से कम १९×१०^{-१२} वाट शक्ति लगती है।

यहाँ एक महत्व की बात की ओर ध्यान देना चाहिये। यद्यपि लम्बी लहरों से कीटाणु नष्ट नहीं होते या उनका प्रभाव ज्यादा नहीं होता तो भी यदि कीटाणु को रंग से रंग दिया जाय तो अब लम्बी लहरों का भी असर होता है। कीटाणु पर दृश्य प्रकाश का परिणाम नहीं होता किन्तु हूपर ने यह बतलाया कि उनको इरीथ्रोसीन रङ्ग में रख के दृश्य प्रकाश से भी वे नष्ट होते हैं यह बात तो रासायनिक प्रक्रियाओं के बारे में भी देखी गयी है। रासायनिक क्रिया कुछ किरणों से न होती हो तो भी उसमें ऐसा पदार्थ मिलाने से जो उस प्रकाश का शोषण करता है, होने लगती है। कीटाणु को रङ्गीन करने से क्या अन्तर हो जाता है यह नीचे दिया हुआ है।

छन्ने	प्रकाश छन्ने से आने वाला	कीटाणु के नाश के लिये लगने वाला वक्त	
		१ रङ्गीन	२ बिना रङ्गीन
क्वार्ट्ज्	सब दृश्य प्रकाश तथा पराकासनी किरण	१ मिनट	१ मिनट
काँच	दृश्य प्रकाश	१० ,,	१० ,,
५० नकलगंधेत	लाल, नारङ्गी, पीला, हरा और नीला प्रकाश	१० ,,	१० ,,
पांशुज रागेत	लाल से हरे तक	१५ ,,	४ घंटे से ज्यादा
पांशुज द्विरागेत	लाल से पीले तक	२५ ,,	९ घंटे से ज्यादा

यदि कीटाणु शरीर के अन्दर हों तो बाहर से पराकासनी किरणों से प्रकाशित करने से वे नष्ट नहीं होते ऐसा बेनार्ड और मार्गन का अनुभव है। किन्तु जब चोट आ जाती है तब ज़ख़म के प्रकाशनसे उसमें के कीटाणु मार डाले जा सकते हैं। पराकासनी किरणों की कीटाणु नाशक शक्ति का पानी के शुद्धिकरण में उपयोग किया जाता है। इस तरह की शुद्धिकरण से बहुत सारे लाभ है।

(१) इस शुद्धिकरण से पानी के स्वरूप में कुछ परिवर्तन नहीं होता। पानी में की वायु तथा घुले हुये पदार्थ जिनसे पानी का स्वाद बढ़ता है वे प्रकाशन से नष्ट नहीं होते। (२) इस तरह से पानी का सम्पूर्ण शुद्धिकरण हो सकता है और फिर यह पानी शल्यक्रिया में या और किसी भी कार्य में लाया जा सकता है। लेकिन प्रकाशन के पहिले पानी को छान लेना चाहिये। यदि पानी गंदा हो तो पराकासनी किरणों का असर जल्द नहीं होता।

दुग्ध का सम्पूर्ण शुद्धिकरण इस तरह से होना कठिन है, क्योंकि दूध को ज्यादा देर प्रकाशित करने से उसका विश्लेषण शुरू होता है। इसी लिये उसका शुद्धिकरण ताप और प्रकाश इन दोनों की सहायता से किया जाता है। यदि दूध को ६० अंश तक गरम किया जाय तो फिर शुद्धि के वास्ते ज्यादा देर प्रकाशित करने की जरूरत नहीं होती। कीटाणु थोड़ी देर में ही मर जाते हैं। शायद इस प्रकाशन से विटेमिन 'डी' का अंश बढ़ता है, किन्तु साथ साथ विटेमिन 'ए' कम होता है। यदि विटेमिन 'ए' ३००० से ३७०० अंतक की किरणों से नष्ट होता हो तो प्रकाश छन्ने काम में लाकर पहिले उनके द्वारा इस प्रकाश का शोषण किया जाय। ऐसे करने से छन्ने के पार आने वाले प्रकाश में ३००० अं तक का प्रकाश नहीं रहेगा और अब ऐसे प्रकाश से दुग्ध को प्रकाशित करने पर कीटाणु नष्ट हो जावेंगे, विटेमिन 'डी' पैदा होगा और विटेमिन 'ए' उतना ही रहेगा। (क्रमशः)

चौपायों की ओर से प्रार्थना-पत्र

(लेखक चिरञ्जीलाल माथुर बी० ए० एल० टी०)

श्रीमान् मनुष्य महाशय !

यदि कोई जीवधारी श्रीमान् कहलाने के योग्य है तो आप हैं। बने हुए तो आप साढ़े तीन हाथ के ही हैं परन्तु आप में कार्य-कुशलता इतनी बढ़ी हुई है कि समस्त जीवधारी आपके सामने हार मान गये हैं और पृथ्वी माता आपके समस्त रत्न आपको अर्पण कर चुकी है। आपकी बुद्धि के बल से जल, वायु, अग्नि इत्यादि आपके चरण सेवक हो गये हैं। जल इसीलिए बरसता है कि आपके खेतों में अन्न उपजावे—वायु इसलिए चलती है कि आपकी चक्की चलावे या जहाज चलावें। नदी इसलिए बहती है कि कहीं खेतों को सींचे और कहीं आपके लिए बिजली पैदा करे। समुद्र इस वास्ते हैं कि आपके बड़े बड़े जहाजों को छाती पर लादे रहे। पहाड़ इस वास्ते हैं कि आपके मकान बनाने को पत्थर दें, लकड़ी दें और कभी कभी जवाहिरात भी नजर करें। सूरज दिन में रोशनी के लिए हाजिर रहता है। रात को चन्द्रमा मशाल लिए खड़ा रहता है। बिजली तो ऐसी गुलाम हो गई है कि आपके दरबार हाल के रोनक देने से लेकर झाड़ू बहारू तक का काम करती है। अभिप्राय यह है कि जो कुछ है आपही की सेवा के लिए है। हम चौपाये भी आपही की सेवा करते रहे हैं। हमने जो आपकी प्रशंसा में कहा है यह कोरी खुशामद नहीं है, बिलकुल सत्य है।

हम आपके पुराने सेवक हैं। जब रेल नहीं थी तो हम ही आपको अपनी पीठ पर बिठा कर एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाते थे या आपकी गाड़ी खींचते थे और अब भी हमें कोई इन्कार नहीं है। मगर अब हमको बाहर गाँव वाले ही अधिक तर काम में लाते हैं। हमारी प्रार्थना यह है कि अब आपको नौकर बहुत मिल गये हैं हमको अब पचपन साला में निकाल कर पेन्शन दे दी जावे। हमारी वजूहात निम्नलिखित हैं:—

हे "अशरफुल मखलूकात" (गो यह पदवी आपने स्वयं ले ली है परन्तु हमको तो आपसे काम निकालना है इसलिये जो पदवी आपको प्रसन्न करे वही लगा देंगे) ध्यान देकर हमारी बात सुनिये—हम आपसे पेन्शन इसलिए नहीं माँगते कि आपका हर्ज करके हम आराम करें बल्कि जब हमने देख लिया है कि अब हमारे बगैर आपका काम चल सकता है तो प्रार्थना की है वरन् आप जानते ही हैं हमने आपकी सेवा जब भी की थी जब आप बुद्धि में हमसे कुछ थोड़े ही अच्छे थे। अब हम आपका ध्यान इस ओर दिलाते हैं कि हमारा क्या क्या काम किस तरह हमारे बगैर हो सकता है।

१ सवारी—इस सेवा से आप हमें छुट्टी बड़ी

आसानी से दे सकते हैं क्योंकि बाइसिकल आपने बना ली है और मोटरें ऐसी ऐसी बना ली हैं कि कई आदमियों को शीघ्रता से एक जगह से दूसरी जगह ले जावें। बड़े फासले के लिए रेल है और जमीन पर चलने की क्या अब तो आपने परंदों की तरह उड़ने के लिए हवाई जहाज़ भी बना लिए हैं।

२. माल घसीटना—इस काम के लिए भी लारी मोटरें रेलगाड़ी अच्छी तरह काम में आरही हैं। जहाँ नहीं चलती हैं वहाँ और चला दो और हमको छुट्टी देदो। देखो हममें से बहुत सों की तो नाकें कट गई हैं, बहुतसों के मुँह छिप गये हैं। ज़रा तो हमारे ऊपर रहम खाओ।

३. खेती के लिए—स्टीम (भाप) के जरिये से चलने वाले हल बन गये हैं। कूओं में से एञ्जिन के जरिए से पानी खिंच आता है—दाना छांटने की मशीनें बन गई हैं। जब खेती के तमाम कामों की मशीनें बन गई हैं तो हम लोगों को छुट्टी क्यों नहीं दे देते।

४. शान के लिए—वाहरे आपकी शान! हमारी तो जी पर बीतती है और आपकी शान! परन्तु शान के लिए भी बड़ी बड़ी खूबसूरत मोटरें बन गई हैं। हवाई जहाज हैं और और कोई चीज बना सकते हो।

५. फौज के लिए—अव्वल तो आपको चाहिए कि आप आपस में लड़े भिड़े नहीं कि जिससे फौज की जरूरत ही न रहे। आप आपस में लड़ कर अपनी अशरफुलमख़लूकाती को बट्टा लगाते हैं। ख़ैर अगर आपको हमारे जैसा बने बग़ैर सरता ही नहीं है तो भले हो लड़ें परन्तु अब फौज में हमारी क्या जरूरत है—मशीन ही तोपें खेंच लेती हैं—टेंक हैं फौजी मोटरें हैं—और फिर अब तो आप चील की तरह हवा में उड़ कर भी तो बम्ब व गेस फेंक देते हैं। फिर भलाफौज के कामों के लिए हमें क्यों दुख देते हो।

६—दूध दही के लिए—आप में से कुछ शायद यह कहेंगे कि इनको छुट्टी नहीं देनी चाहिए क्योंकि इनमें से कुछ सवारी के अतिरिक्त दूध भी देते हैं और दूध से घी निकलता है कि जिससे इतनी खाने पीने की चीजें बनती हैं—इन महाशयों से हमारी यही प्रार्थना है कि दूध के बिना तो आप के खाने का काम बहुत अच्छी तरह से चल सकता है। वास्तव में दूध बच्चों का खाना है, बड़ों का नहीं है और स्तनों में दूध बच्चों के लिए ईश्वर पैदा करता है न कि आपके लिए। फिर आपमें से बहुत से बड़े परहेजगार बनते हैं, क्या परहेजगारी के यह ही माने हैं कि हमारा खून पीवें? दूध एक तरह का खून ही है—हमारे जिस्म में बनता है यह आपके शाक या फल में तो शामिल है, नहीं हम चौपायों को भी हँसी आती है जब आपके कई महात्मा कहते हैं कि "हमने अन्न छोड़ दिया है केवल दूध पीते हैं।" अजी साहब अन्न छोड़ कर खून पिया तो आप तो उलटे पिशाची भोजन करते हैं। खैर कुछ ही हो हमारे कहने का मतलब यह है कि आप बिना दूध अच्छी तरह गुजर कर सकते हैं। अगर यह भी माना जावे कि दूध सात्विक भोजन है तो महाराज हुआ करो, हमें क्यों तंग करते हो, अपनी स्त्रियों का पीओ। रहा आपके घी का तो महाराज घी तो अब वनस्पति का आप लोगों ने बना लिया है। अब हमारे खून में से घी निकालने की क्या जरूरत है। वनस्पति का घी वास्तव में सात्विक है उससे अपना हलुवा पूरी, पकौड़ी, बनाएं और हत्या से बचिए।

कुछ महाशय आपमें से यह भी कहते हैं कि यदि हम जानवरों को पालना छोड़ देंगे तो हमारी प्रकृति का कोमल भाग नष्ट हो जावेगा—यह कहना दो तरह से व्यर्थ है—प्रथम तो आप लोग बजाय कोमल भाग के क्लिष्ट भाग को हमारे लिये रिजर्व किए हुए हैं। क्या कोमलता के यही माने हैं कि आप हमारे गले में फाँस डाल कर खूँटे से बाँध दें। पैरों को पछाड़ी से

जकड़ दें या बेड़ी डाल दें, नथनों को छेद दें। नाक में सूराख कर दें, गर्दन में तीक्ष्ण नोंक चुभा दें। जब चाहे तब खाने को दें, जब चाहे तब पानी दें। कंधे पर जूड़ा रख दें, पीठ पर सवार हो जावें। लकड़ी से हांके—अगर यही कोमलता है तो कृपा कीजिये, हम बाज आये इस कोमलता से। इस कोमलता को आप अपनी मनुष्य जाति के लिए रख छोड़िये और हमको छुट्टी दीजिये।

दूसरी तरह से आपकी कोमलता की वजह यों गलत है कि आप कोमलता जानते ही नहीं। जब आप अपनी मनुष्य जाति में ही कोमलता नहीं बर्तते तो हमसे क्या खाक़ बर्तेंगे। यदि आप में कोमलता होती तो क्यों अदालतों में कतल के, मार पीट के, लड़ाई दङ्गों के, लूट मार के, भगा ले जाने के, मुकद्मे होते—कौन नहीं जानता है कि आप लोगों ने अपनी जाति ही के मारने के लिए क्या क्या उपाय किये हैं और कर रहे हैं। लोहे का ज्ञान हुआ तो इसलिए कि उससे नोकदार हथयार बना कर भाई को बींधें। बारूद का इल्म जाना तो इस लिए कि भाई को दूर से ही मार दें। गेंसों को मालूम किया तो इसलिए कि भाई को हवा के ज़रिये से नष्ट कर दें हवा में उड़ना सीखा तो इस लिए कि भाइयोंके ऊपर हवा में से ही बम्ब डाल दें। यह तो आप की करतूत है और फिर आप दम भरते हैं कोमलता का। जब आप अपनी मनुष्य जाति ही के साथ ऐसा बरताव रखते हैं तो हम आप से क्या आशा रख सकते हैं।

अब हमने हर तरह से आप की बिनती कर ली, है हमारे बिना कैसे काम चल सकता है यह भी बता दिया हमारे साथ अत्याचार का भी हाल सुना दिया। अब भी अगर आप हमारी प्रार्थना न सुनेंगे तो आप याद रखिये, हम हिन्दुस्तानियों की तरह निहत्थे नहीं है। हम सींगों से, सुमोंसे, दांतों से आप की खबर ले डालेंगें। हम केवल रेलवे के नौकरों की तरह से स्ट्राइक ही नहीं करेंगें वरन तुम लोगों को कुचल डालेंगे। यह तो हमारी भलमनसी है जो कुछ कहते नहीं हैं, नहीं तो हम में से एक भी फिर जावे तो तुम्हारी जाति के सैकड़ों के दांत खट्टे कर दें। हम हज़ारों वर्षों से भलमनसी का बर्ताव कर रहे हैं, परन्तु आप नहीं मानते हैं। अब यह अन्तिम प्रार्थना है इसको अल्टीमेटम समझें। यदि अब भी आप लोगों ने हमको आज़ाद नहीं किया तो हमको भलमांसी छोड़ कर आप जैसा बनना पड़ेगा।

एक और काम में भी आप लोगों में से कुछ हम को लाते हैं। वह पहिले इस वजह से नहीं कहा कि वह इतना घृणित है कि अगरचे आपको उसके करने में शर्म नहीं आती पर हमको तो कहने में भी लज्जा आती है। वह यह है कि हमसे कुछ का दूध खाकर, खेती में काम लेकर उनका मांस भी खाने को आप तैय्यार हो जाते हैं। जब सैकड़ों हज़ारों चीजें खाने की हैं और आपने बना ली हैं तो हमको इस काम में लाना मनुष्यता है या नहीं आप स्वयं सोच सकते हैं। हमारे ख़याल से तो ऐसा करना शेर भेड़ियों की नक़ल करना है। परन्तु नक़ल करनेमें तो महाशय जी आप बड़े प्रवीण हैं। कोई जीवधारी सिवाय बंदर के कि जो डार्विन मत के अनुसार आपका पुरुषा है, ऐसा नक्काल नहीं है जैसा मनुष्य। कुछ पक्षियों को रंग बिरंग पंख वाला देखा तो आपने भी रंग विरंगे कपड़े पहिन लिये। परंदों को हवा में उड़ते बहुत दिनों से देख रहा था आख़िर आप भी उड़ने लग गया। मछलियों की नक़ल तो पानी में तैरने की बहुत पहिले कर चुका था। मांस-हारी जीवधारियों के तेज दांत व नख होते हैं तो उनकी नक़ल करके आपने भी काँटे छुरी बना लिए और उनसे खाने लगा। शेर के नख़ों की बएन ही नक़ल करके एक हथियार बाघनख़ही बना लिया। गधे घोड़े के सुम देख कर आपने भी जूतियों में हील लगा ली और नाल भी आदमियों की नाल बंदी होती है।

उकाबकी तेज आँखें देखकर आपने दूरबीन बना ली। बये का घोंसला देखकर आपने भी दुमंजले मकान बना लिए। शहद की मक्खियों का छत्ता

देखकर सिपाहियों के बेरेक्स बना लिए। यहाँ तक कि बतख की तरह डुबकी भी लगाने लगे। गरजे कि हर जानवर की नक़ल कर डाली। अगर सृष्टि की रचना से पहिले ईश्वर को यह मालूम होता कि आप ऐसे तमाम जानवरों की नक़ल कर लेंगे तो ईश्वर या तो केवल आपही आपको बनाता या आप को बिल्कुल नहीं बनाता।

— — —

विकास वाद

[अनु० विकास प्रिय]

(६)

शारीर रचना की समानता पाया जाना विकास-वाद की पुष्टिमें एक प्रबल प्रमाण अवश्य है, पर इसके सम्बन्धमें भी वही आक्षेप उठाये जा सकते हैं जो वर्गीकरण के सम्बन्ध में थे। एक प्रकार की शारीरिक गठन विभिन्न प्राणियों में पायाजाना यह सिद्ध नहीं करता है कि एक जाति के प्राणी की उत्पत्ति दूसरी जाति से हुई है। यह तो पूर्व निश्चित सुसंगठित आयोजना ही प्रतीत होती है। ऐसा क्यों न माना जाय कि सृष्टि कर्ता ने एक विशेष क्रमित और नियमित आयोजना निर्धारित की और तदनु-कूल सृष्टि रचना की। यदि मनुष्य विकास-क्रम का अन्तिम प्राणी है और घोड़े, बैल, आदि उसके पूर्वज हैं, तो पांचों उंगलियों का निश्चित विधान पूर्वजों में पाया जाना चाहिए था न कि अग्रजों में, क्योंकि यहां कल्पना तो यह की गई है कि प्राचीन-तम प्राणियों में पांचों उंगलियाँ थीं, और बाद को परिस्थिति और उद्देश्य के अनुसार वे घिसती गईं। इस दृष्टिसे मनुष्य तो आदिप्राणी के अधिक निकट प्रतीत होता है और घोड़े बैल आदि सापेक्षत: दूर।

दूसरा आक्षेप यह भी किया जाता है कि शरीरों की पारस्परिक तुलना विकास के क्रम पर कोई भी प्रकाश नहीं डालती। कई विभिन्न प्रकार की जातियों में से कौन सी पहले हुई और कौन सी बाद को, इसका कुछ भी पता नहीं चलता है। लोब्सटर से मछली की उत्पत्ति, और ओयस्टर से स्टारफिश का विकास और इसी प्रकार की विभिन्न गठनों वाली जातियों का विकास किस प्रकार हुआ इसका उचित समाधान शरीर-रचना के तुलनात्मक अध्ययन से नहीं मिल सकता है। एकही प्रकार की जातियों का पारस्परिक विकास चाहें इससे व्यक्त अवश्य होता हो पर विभिन्न प्रकार की जातियों का परस्पर सम्बन्ध कुछ निश्चित नहीं होता है।

इन सब आक्षेपों का उत्तर यही है कि जो जातियाँ सृष्टि में इस समय विद्यमान हैं, उन्हीं के आधार पर शरीर रचना का अध्ययन किया जा सकता है। सृष्टि के आदि से इस समय तक न जाने कितनी जातियाँ उत्पन्न हुईं और तदुपरान्त सदा के लिए लुप्त हो गईं। यदि सभी इस समय भी उपलब्ध होतीं तो विकास की पूर्ण शृंखला अवश्य निश्चय रूप से बताई जा सकती। विकासवाद पर आक्षेप करने वालों को इस बात पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

इसमें किसी को सन्देह नहीं है कि संसार की समस्त भाषायें आरम्भ में एक ही स्रोतसे निकली थीं, फिर भी योरोप, भारतवर्ष, अरब, चीन आदि प्रदेशों की भाषाओंमें कितना अन्तर हो गया है। साधारणत: यह विश्वास ही नहीं होता है कि इतनी विभिन्न भाषाओं का स्रोत भी एक हो सकता है। पर तोभी भाषाओं के विकासमें किसी को संशय नहीं है। यही बात प्राणियोंके विकासमें भी क्यों न मानी जाय।

प्रजनन शास्त्र या गर्भ विज्ञानका अध्ययन करनेसे भी विकासवाद की पुष्टि होती है। गर्भ विज्ञान में समस्त उस वृद्धिका अध्ययन किया जाता है जिसका संबन्ध अंडेकी आरम्भिक अवस्थासे लेकर प्राणीके जन्म तक तकसे है। इस व्यक्तिगत वृद्धि को ओण्टो-जेनी कहते हैं। ओण्टोजेनी का जातियोंके पैतृक

इतिहास से जो संबन्ध है उसका नाम फाइलोजेनी है। यह भी प्रजननशास्त्र का ही एक मुख्य अंग हैं। इसके सम्बन्धमें बहुतसे मतभेद उत्पन्न हो गये हैं जिनका समाधान आज तक नहीं हो पाया है। तीस वर्ष पहले 'पुनर्स्मरण सिद्धान्त' (Recapitulation theory) सर्वमान्य समझा जाता था जिस के अनुसार व्यक्तिगत वृद्धि या ओण्टेजेनी एक प्रकार से जातियोंके पैतृक इतिहास की सूक्ष्म पुनरावृत्ति थी या एक प्रकारका सिंहावलोकन था। अतः ओण्टोजेनी को फाइलोजेनी का सूक्ष्म संस्करण मानना चाहिये। हेकलने इस सिद्धान्त को विश्वसनीय और मान्य माना है, और इसीके आधार पर उसने प्राणियोंके विकासका इतिहास लिखा है। पर आज कल त इस सिद्धान्त केविरुद्ध अनेक आक्षेप किये जाते हैं और बहुतसे वैज्ञानिक तो इसे नितान्त भ्रममूलक समझते हैं। पर तो भी इस पुनर्स्मरण सिद्धान्तके विरोधी भी इस बात को मानते हैं कि प्रजनन शास्त्रसे विकासवाद की बहुत ही बड़ी पुष्टि होती है।

यह तो आरम्भमें भी लोगों को मालूम था कि पुनर्स्मरण सिद्धान्त का अक्षरशः उपयोग नहीं किया जा सकता है, इसमें कई सन्देह जनक और आक्षेप-पूर्ण बातें हैं:—

(१) पहली बात तो यह है कि इस सिद्धान्तके
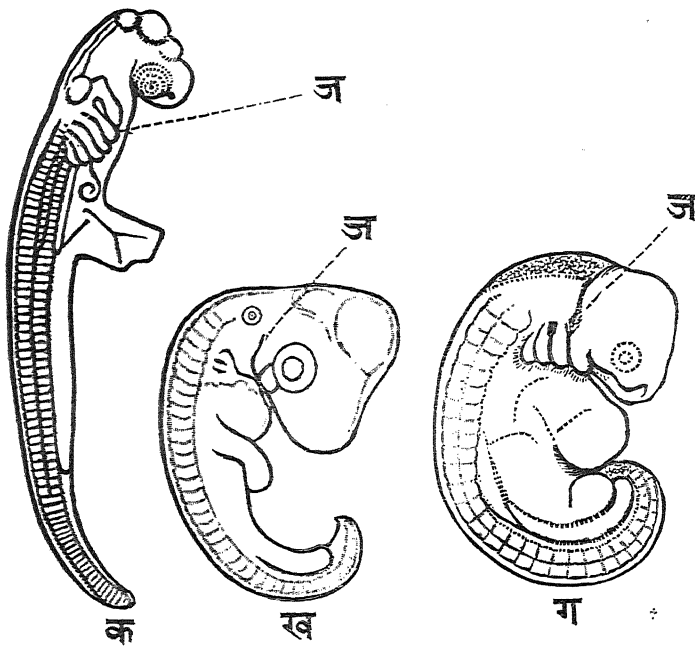
गर्भकी समान अवस्थाय

क = शार्क का गर्भ

ख = बाज या मुर्ग का गर्भ

ग = मनुष्य का गर्भ

ज = श्वास रन्ध्र

मानते हुए यह भी मानना पड़ेगा कि पैतृक इतिहास बहुत ही सूक्ष्म रूपमें उपस्थित होता है। तीन मासके सेहनेमें ही कललरस (प्रोटोप्लाजम) का छोटा सा बिन्दु जो मुर्गी के अण्डे की जर्दी पर छोटा एक गोल चिह्न सा दिखाई देता है इतना उन्नत हो जाता है कि कि वह ऐसे बच्चेका रूप धारण कर लेता है जो थोड़े

ही समयमें अपनी रक्षा स्वयं करने योग्य हो जाता है। इसके विपरीत बेरीढ़दार प्राणियों को मछलियों एमफीबियों, उरगों आदि श्रेणियोंमें होते हुए पक्षियों के विकास तक पहुँचने में तो लाखों वर्ष लगते हैं, अतः ऐसी अवस्था में यह विश्वास करना बड़ा ही कठिन है कि प्रजनन शृंखला के कुछ सप्ताहों में ही लाखों वर्ष के समस्त पैतृक इतिहास का सिंहावलोकन हो जाता होगा, अतः ऐसा होता भी होगा तो बहुत ही सूक्ष्म रूप से, न कि विस्तारसे।

(२) वृद्धि की प्रत्येक श्रेणी में बीज में इतनी शक्ति अवश्य होनी चाहिये जिससे वह परिस्थिति के अनुकूल अपने को सँभाल सके, और आगे को बढ़ सके। कुछ पशु तो ऐसे हैं जिनका प्रारम्भिक विकास माता के शरीर में ही होता है, दूसरे प्राणी ऐसे हैं जिनका विकास बाहर अंडों में होता है जैसे चिड़ियों में, पर मछलियों के समान कुछ प्राणी ऐसे भी हैं जिनके अंडे स्वतन्त्रतः समुद्र के जल में उतराते रहते हैं और उनकी रक्षा की चिन्ता किसी को नहीं करनी पड़ती है। इस प्रकार, भिन्न भिन्न परिस्थितियों के कारण उन प्राणियों की विकासवृद्धि में भी अन्तर पड़ जाता है, वहाँ उन्हें किस प्रकार का भोजन या अंडे की जर्दी मिलती है इस पर भी उनका व्यक्तिगत विकास या ओएटाजेनी निर्भर है।

(३) बहुत से प्राणियों की वृद्धि में एक कौतूहल पूर्ण अवस्था आती है जिसमें अप्रौढ़ शिशु स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करता है, और इस समय इसका आकार, रूप, गठन आदि सभी अपने प्रौढ़ माता पिता से सर्वथा भिन्न होते हैं। इस प्रकार के सर्वविदित उदाहरण टेडपोल, जो मेंढ़क का कौतूहलजनकरूप है, और कैटर पिलर जो तितली का रूपान्तर है, हैं। इन शैशवावस्था के प्राणियों को अपने निर्वाह के लिये परिस्थितियों से घोर जीवन संघर्ष करना पड़ता है, यदि इन शिशुओं को जीवित रहना है तो यह संघर्ष उतना ही घोर होता है जितना कि प्रौढ़प्राणियों के जीवन के लिये आवश्यक है। इस प्रकार व्यक्तिगत वृद्धि या ओएटोजेनी में ऐसे बहुत से परिवर्तन होते हैं जिसका पैतृक इतिहास या फाइलोजेनी से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसे बहुत से उदाहरण मिलते हैं कि परिस्थितियों की भिन्नता के कारण एकही जातिके प्राणियों का व्यक्तिगत विकास पृथक् पृथक् रूप में हुआ, इस प्रकार यद्यपि सब की फाइलोजेनी एक थी तब भी ओएटोजेनी में बहुत अन्तर पड़ गया। उदाहरणतः एक ही जाति के समुद्री कीड़े यदि वे भूमध्यसागर के गरम जल में रहें तो उनकी शैशवावस्था का रूप और होगा और यदि वे ध्रुवी सागर के ठंडे, जल में हों तो उनकी शैशवावस्था बिलकुल भिन्न होगी। इस प्रकार यदि गर्भ विज्ञान की समस्याओं को सुलझाना है तो इस भेद को समझ लेना चाहिये कि नवजात प्राणी में कुछ लक्षण तो अतीत पैतृक पैलिनजेनेटिक (Palingenetic) होते हैं अर्थात् उनकी समानता किसी बहुत ही दूर के पूर्वज से मिलेगी, और दूसरे लक्षण वे होते हैं जो परिस्थिति के प्रभाव के कारण शिशुओं में नये उत्पन्न हो जाते हैं, इन्हें गौण या सैनोजेनेटिक (Cenogenetic) कहते हैं।

इस सम्बन्ध में गीगनबौर के ये शब्द उल्लेखनीय हैं:—यदि यह माना जाय कि पैलिनजेनेटिक या पैतृक लक्षणों के साथ सैनोजेनेटिक या गौण लक्षण भी विद्यमान रहते हैं तो व्यक्तिगत वृद्धि या ओएटोजेनी के आधार पर ही फाइलोजेनी या पैतृक इतिहास का विश्वसनीय अध्ययन नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार ओएटोजेनी के अध्ययन के बाद कल्पना की दौड़ान के लिये विस्तृत क्षेत्र शेष रह जाता है। इस कल्पना के आधार पर उचित अनुचित सभी सोचा जा सकता है, पर इसके आश्रय पर पैतृक इतिहास के विषय में कुछ भी निश्चय करना निरापद नहीं है। इन निश्चयों के पूर्व यह परमावश्यक है कि यह जाना जाय कि कितने लक्षण वस्तुतः पैलिनजेनेटिक हैं और कितने केवल सैनोजेनेटिक। दोनों को पूर्णतः अलग अलग कर लेने की आवश्यकता है, पर यह कैसे किया जा सकता है? क्या उसी ओएटोजेनी के आधार पर? कदापि नहीं,

क्योंकि इस बात का क्या विश्वास है कि यदि सैनी-जेनेटिक लक्षण किसी एक में विद्यमान हो सकते हैं, तो किसी दूसरे में जिसकी अपेक्षा से आप तुलना करेंगे, वैसे ही सैनोजेनेटिक लक्षण विद्यमान न हों। यदि यह बात मान ली जाय कि कहीं भी पैलिनजेनेटिक लक्षण अकेले नहीं मिलते हैं, तो फिर ओण्टोजेनी पर पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता है। अतः प्रजनन शास्त्र के अध्ययन करने वाले के लिये इस बात की सावधानी रखनी चाहिये कि ओण्टोजेनी को वह सब कुछ न समझ ले। उसे अपनी पुष्टि अन्य साक्षियों से भी करनी चाहिये।

गीगनबौर ने जो बातें यहाँ उठायी हैं, उनके सम्बन्ध में लोगोंने भिन्न भिन्न धारणायें प्रस्तुत कीं। वस्तुतः गर्भ विज्ञान के विषयों की मीमांसा के लिये कोई सर्वतन्त्र सिद्धान्त या नियम न थे, अतः भिन्न लेखकों ने अपने अपने पृथ पृथक् विचार प्रस्तुत किये और इन विचारों में कभी कभी तो बहुत ही अन्तर हो जाता था। इस सम्बन्ध में विलसन के निम्न शब्द उल्लेखनीय हैं:—

"प्रत्येक जिज्ञासु इस बात को स्वीकार करेगा कि गर्भ विज्ञान विधि न केवल आक्षेपजनक है, प्रत्युत इसके आधार पर निर्भर मोर्फोलोजी का जो विशाल भवन बनाया गया है, उसके भी पुनर्निर्माण की नितान्त आवश्यकता है। २० वर्ष तक प्रजनन सम्बन्धी अन्वेषण 'पुनर्स्मरण सिद्धान्त' के प्रभाव में ही अधिकतर परिमित रहे, और निस्सन्देह बहुत सी आपद् जनक बातों पर इसने प्रकाश अवश्य डाला और बहुत सी ऐसी उलझी हुई समस्याओं को सुलझाया भी अवश्य जो अन्यथा कदाचित सदा ही अज्ञात प्रहेलिकायें बनी रहतीं। इसकी इन सब विशेषताओं को स्वीकार करते हुए भी यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि अन्य बहुत से सिद्धान्तों के समान इसका भी उपयोग यथोचित मर्य्यादा के बाहर भी खींचातानी करके किया जा रहा है। लोगों को गर्भ विज्ञान के प्रमाणों पर इतना अन्ध विश्वास हो गया है कि इनके आधार पर बहुत सी कल्पनापूर्ण पैतृक ऐतिहासिकता या फाइलोजेनी मनोनीत कर ली गई हैं जिससे प्रत्येक जिज्ञासु एक विचित्र उलझन में फंस जाता है। जब कभी किसी जिज्ञासु को किसी प्रकार के प्राणियों का आदि स्रोत मालूम करने की उत्कण्ठा होती है, तो बस कल्पना के घोड़े दौड़ाने लगता है और ऐसी साक्षियों और प्रमाणों का वह आश्रय ले बैठता है जो स्वयं आक्षेप-रहित नहीं हैं।"

प्रजननवाद के सम्बन्ध में इसी प्रकार के बहुत से अन्य और युक्ति-युक्त सन्देह उपस्थित किये जा सकते हैं। पर इस बात पर ध्यान रखना चाहिये कि प्रजनन वादका सम्बन्ध जहां तक काल्पनिक विकास-क्रम निश्चय करने से या इसी प्रकार की अन्य समस्यायें सुलझाने से है, वहीं तक यह आक्षेपग्रस्त है अन्यथा यह बात तो सर्वमान्य है कि सामान्यतः विकासवाद की पुष्टि का सर्वोपरि श्रेय इसी प्रजनन वाद या गर्भ विज्ञान को है।

प्रजननवाद द्वारा प्रस्तुत साक्षियां किस प्रकारकी हैं इस पर अब विचार करना चाहिये। अठारहवीं शताब्दी में लोगों को यह विश्वास था कि प्रत्येक प्राणी अपनी गर्भावस्था से लेकर प्रौढ़ावस्था तक केवल आकार और परिमाण में ही बढ़ता जाता है पर इसका स्वरूप मुख्यतः एक ही रहता है। अर्थात् मूल शुक्राणुओं को उस प्राणी का पूर्णतः छोटा चित्र समझना चाहिये। जब इसकी वृद्धि होती है यह चित्र अथवा स्वरूप न बदलता हुआ केवल अपना आकार या परिमाण बढ़ाता जाता है। पर उन्नीसवीं शताब्दी से इस विचार में परिवर्तन आरम्भ हुआ। प्राणियों का व्यक्तिगत विकास या ओण्टोजेनी का सूक्ष्म अध्ययन करने से यह पता चला कि वास्तविक बात यह नहीं है। व्यक्तिगत विकास की भिन्न भिन्न श्रेणियों में बड़े ही मौलिक परिवर्तन उत्तरोत्तर होते जाते हैं। केवल आकार या परिमाण ही नहीं बढ़ता प्रत्युत स्वरूप भी परिवर्तित होता है। इस प्रकार आरम्भ में तो यह मानते थे कि मूल जीवाणु पिता का ही छोटा अनुरूप है, पर यह बात तभी तक मानी

जा सकी जब तक अच्छे सूक्ष्म दर्शक यन्त्रों का आविष्कार नहीं हुआ था और जब तक व्यक्तिगत विकास की प्रत्येक श्रेणी का अध्ययन किया जाना संभव न था।

अंडा वस्तुतः एक-कोष्ठक है जिसमें एक केन्द्र और तदनुकूल अन्य भाग होता है, चाहे यह कितना भी बड़ा क्यों न हो। अंडों का आकार तो इसकी सफेदी और जर्दी की मात्रा पर निर्भर है जो कि उस एक कोष्टक मूलाणु का भोजन है। मुर्गी के अंडे में यह जर्दी बिल्कुल निश्चेष्ट रहती है और इस जर्दी के बाहर जो छोटा सा बिन्दु होता है वहीं से चेष्टा आरम्भ होती है। पर मेंढक के अंडे में यह जर्दी और सफेदी समस्त अण्डे में फैली रहती है (यद्यपि एक-रस नहीं) पर दूध पिलाने वाले पशुओंके अंडों में जो बहुत ही सूक्ष्म होते हैं कोई जर्दी या सफेदी नहीं होती। यह बात बड़े महत्व की है कि सब रीढ़दार हड्डी वाले जानवर जैसे मछली, अमफ बिया, उरग, चिड़ियाँ, या दूध पिलाने वाले सस्तन पशु चाहें अपने धर्म स्वभावों में कितने ही विभिन्न क्यों न हों, पर उन सबकी व्यक्तिगत वृद्धि या ओण्टोजेनी पूर्णतः एक ही प्रकार की आयोजना का पालन करती है। शारीरिक रचना की पारस्परिक समानता का जो पहले उल्लेख किया गया है, उससे भी अधिक समानता इस आयोजना से मिलती है। अण्डा अथवा इसका सक्रिय भाग एक निश्चित और क्रम बद्ध रूप में बहुत से कोष्ठों में विभाजित हो जाता है। ये कोष्ठ भीतरी और बाहरी निश्चित तहों में क्रमित हो जाते हैं और इन तहों के अन्दर इन कोष्ठ समूहों से शरीर के अंग बनने आरम्भ होते हैं जो धीरे धीरे क्रमशः प्रौढ़ होते हैं। इस वृद्धि की रीति और आयोजना ही समस्त रीढ़ वाले प्राणियों में नहीं मिलती है प्रत्युत पुनस्स्मरणवादके अनुसार बहुत से लक्षण जो विकासक्रम के निम्नावस्थावाले प्राणियों में पाये जाते हैं, उनका भी प्रादुर्भाव ऊँची श्रेणी के प्राणी में होता है। यह बात ठीक है कि ऊँची श्रेणी के प्राणियों में ये लक्षण बहुत ही थोड़े समय तक रहते हैं, और वृद्धि की अवस्था में ये या तो शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, या इसप्रकार से परिवर्तित हो जाते हैं कि प्रौढ़ावस्था में ये पहिचान भी नहीं पड़ते।

व्यक्तिगत वृद्धिकी एक अवस्थामें सस्तन प्राणियों के अंकुर में मछली के समान श्वास-थैलियाँ (Gill pouch) होती हैं। इन श्वास थैलियों का अस्थिमय आधार, नाड़ियाँ और स्नायुतन्तु जिनसे उन्हें रुधिर प्राप्त होता है, हृदय की गठन, और यही नहीं, समस्त प्रवाह-संस्थान मछली कासा होता है। बाद को बहुत सी थैलियाँ तो क्षीण हो जाती हैं, पर एक ही थैली बच जाती है जो यूस्टेचियन मार्ग (Eustachian Canal) या कण्ठकर्ण नाली का रूपधारण कर लेती है औरगले के बीचके कानसे (कर्ण ढोलके भीतर) सम्बन्धित करती है। इसी प्रकार गर्भ-वैज्ञानिक साक्षियों से पता चलता है कि हवा खींचने के फेंफड़े भी मछली के तैरने वाली त्वचाओं से ही निकले हुए हैं जैसा कि तुलनात्मक शरीर-रचना से भी सिद्ध होता है। यही नहीं, डिपनोइ जाति की मछलियों में तो सचमुच फेंफड़े होते ही हैं।

बहुधा ऐसा आक्षेप किया जाता है कि यद्यपि गर्भ विज्ञानसे एक ही जातिके भिन्न भिन्न प्राणियोंमें तो संबन्ध निश्चित किया जा सकता है, पर भिन्न भिन्न जातियों का सम्बन्ध निर्धारित करनेमें यह असफल है। पर यह बात सर्वथा ठीक नहीं है। ट्यूनीकाटा नाम की एक विचित्र समुद्री प्राणि-जाति है जिसे पहले मौलुष्का जाति का समझा जाता था। इसकी व्यक्तिगत-वृद्धि या ओण्टोजेनी का अध्ययन करने से पता चलता है कि यह भी रीढ़वाले प्राणियों से मिलता जुलता है। वस्तुतः आधुनिक प्राणि-विद्या विशारदोंने इस प्रकार का वर्गीकरण किया है जिसमें कोरडाटा जातिमें न केवल वास्तविक रीढ़-हड्डी वाले प्राणियों को ही रखा जाता है, प्रत्युत लेन्सेलेट (एम्फीओक्सस), ट्यूनीकेट, और बैलानोग्लोसस का भी समावेश है। यह आयोजना गर्भविज्ञान की साक्षियों पर आधारित है। बेरीढ़ी प्राणियोंमें तो और

भी अधिक महत्वके उदाहरण मिलते हैं। इतनी भिन्नता रखने वाले प्राणी जैसे कि विभाजित (Segmented) कीड़े और घोंघा-मछली (मौलुसका) भी ओएटोजेनीके आधार पर एक दूसरे से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। अटलांटिक सागरके तट पर पाये जाने वाले राज केंकड़ों (King crab) या अश्वपदी केंकड़ों (Horseshoe crab) का सम्बन्ध कुछ दिनों पूर्व बिलकुल अज्ञात था। इनके सामुद्रिक जीवनके कारण इन्हें क्रस्टेशिया का समझा जाता था। पर गर्भ विज्ञान के अध्ययन से यह सिद्ध हो गया है कि ये हवा खींचने वाले बिच्छुओं और मकड़ियोंसे सम्बन्धित हैं। इस विषय पर रुधिर परीक्षाने भी प्रकाश डाला है जिसका उल्लेख आगे किया जावेगा।

डार्विन के 'ओरिजिन आव् स्पेसीज़' ग्रन्थके प्रकाशित होनेके पूर्व भी विशिष्ट-सृष्टिवादके सामने एक प्रमुख कठिनाई उपस्थित होती थी, वह थी कि पशुओं में बहुत से निरर्थक प्रारम्भिक अंग (Rudimentary) पाये जाते हैं, ये प्राणियोंके किसी उपयोगके नहीं होते हैं। ये क्यों हैं ? या कैसे। इसका समाधान विकासवादके पूववर्ती सिद्धान्तों द्वारा होना कठिन था। इसके सम्बन्धमें एक उदाहरण दिया जा सकता है। मान लीजिये कि एक नौका है जो बल्लियों से खेई जाती है। बल्लियां लगाने के लिये नावके दोनों ओर दो खुली कड़ेदार कीलें हैं जिनमें बल्ली हिलगा ली जा सकती हैं। इन कीलों का खास उपयोग है। अब मान लीजिये कि धीरे धीरे ऐसी पङ्खदार नौका बनाई गई जिसका चक्र पैरोंसे घुमाया जा सकता है। पहले वाला मल्लाह इस दूसरे तरह की नई नौका मोल तो नहीं लेना चाहता, प्रत्युत वह अपनी पहली नौका में ही एक पैर से चलाने वाली मशीन आगे के भाग में लगवा लेता है, पर वे कीले जिनमें बल्लियां लगाई जाती थीं, ज्यों की त्यों लगी रह जाती है क्योंकि इनके होने से कोई हानि लाभ नहीं है। अब यदि कोई नया यात्री आवे जिसने मल्लाह की इस नौका को पहले न देखा हो, तो वह स्वभावतः यह प्रश्न कर सकता है कि इन कीलों से इस नौका को क्या लाभ ? मल्लाह यही कहेगा, कि ये कीलें पहले प्रकार की नौका की हैं जिनका उस समय तो उपयोग था, पर नयी नौका में यों ही पड़ी रह गई हैं। हाँ, यदि नये चाल की नौका पहली नौका का रूपान्तर न होती, प्रत्युत नये सिरे से बनाई गई होती तो उसमें ये कीलें न होतीं।

इसी प्रकार इन निरर्थक अनावश्यक चिह्नोंका भी यही समाधान है कि जिन पूर्ववर्ती प्राणियों से अमुक प्राणी का विकास हुआ है, उनमें तो इनका उपयोग था, और नये प्राणी में इनके रहने से कोई विशेष हानि भी नहीं है, अतः ये ऐसे ही शेष रह गये हैं। हां, यदि यह नवीन प्राणी विकास से उत्पन्न न होता, प्रत्युत नये सिरे से बनाया जाता तो अवश्य इसमें ये निरर्थक अङ्ग न होते। इस प्रकार ये अनावश्यक अवशिष्ट चिह्न भी विकासवाद की भली भाँति पुष्टि करते हैं।

जो लोग इस सृष्टि में प्राणियों की अलग अलग विशिष्ट रचना मानते हैं, उनके विरुद्ध इन निरर्थक अङ्गों की समस्या बड़ा भारी आक्षेप है। इसका उत्तर साधारणतः यह ही दे दिया जाता है कि जो अङ्ग तुमको अनावश्यक या पृथक् प्रतीत हो रहा है, हो न हो, उसका कोई विशेष उपयोग होगा जिसका हमें इस समय पता नहीं है। कदाचित् भविष्य के नये अन्वेषणों द्वारा इस पर प्रकाश पड़ सके। गर्दन में एक चुल्लि—ग्रन्थि (Thyroid gland)होती है जिसे कुछ दिनों पूर्व अनावश्यक समझा जाता था, पर आधुनिक अन्वेषणोंने इसे बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्ध कर दिया है। पर यह बात सब जगह ठीक नहीं है। उदाहरणतः, सिटेशिया श्रेणी की अनेक विभिन्न व्हेल जातियों में जिनके अन्तर्गत व्हेल बोन, व्हेल, स्पर्म-व्हेल, पोरपायज, डालफिन आदि हैं, इन सब में आगे के दो पैरोंने तो तैरने के परों का रूप धारण कर लिया है पर पीछेके पैर इनमें बिलकुल ही लुप्त हो गये हैं, बाहरसे जिनके अब निशान भी

नहीं रह गये, पर अन्दर से परीक्षा करने पर इन पैरोंके स्पष्ट निशान पाये जाते हैं। किस व्हेल में ये कितने शेष हैं यह व्हेल की जाति पर निर्भर है। ग्रीनलैण्ड की 'राइटव्हेल' में नितम्बास्थि, उर्वास्थि, और पादास्थि के चिह्न मिलते हैं। फिनलैण्ड की ह्वेलमें केवल नितम्बास्थि और उर्वास्थिके थोड़ेसे चिह्न पाये जाते हैं। दाँत वाली व्हेलोंमें नितम्बास्थि का आभास मात्र शेष रहा है और डॉल्फिनमें कोई भी चिह्न नहीं पाया जाता है। इसी प्रकार साँपोंमें भी अगले पिछले पैर पूर्णतया विलुप्त हो गये हैं, कमसे कम बाहरसे देखने पर तो यही मालूम होता है, और चीड़ने पर भी अधिकांशमें इन अंगों का कोई चिह्न नहीं मिलता है, पर कुछ सांपोंमें अवश्य इन अंगोके अवशेष पाये गये हैं। अब यह सोचने की ही बात है कि क्या इन समस्याओं का समाधान विशिष्ट रचना द्वारा हो सकता है या विकासवाद द्वारा।

अगर यह मान भी लिया जाय कि जिन अंगों को निरर्थक अवशेष समझा जाता है उनका कोई न कोई रहस्यमय उपयोग हो ही, पर तो भी इस बातके एक दो नहीं, अनगिनती उदाहरण हैं कि गर्भावस्था में बहुतसे ऐसे अंग स्पष्टतः उभड़ते प्रतीत होते हैं, जो बादको जन्मके पूर्व बिलकुल विलुप्त हो जाते हैं। इनमें से कुछ का ही उल्लेख यहां पर किया जा सकता है, सबका नहीं।

ओटो मास ने एक स्थल पर इस विषय को इस प्रकार प्रतिपादित किया है:—

बहुत ही भिन्न समूहों के प्राणियों में से भी इस विषय के उदाहरण दिये जा सकते हैं। कीड़ों के गर्भ में विशेषतः कोल्योप्टेरा वर्ग के बीटेल कीड़ों के गर्भ में—अंडे के भीतर ही सब पैर बन जाते हैं, केवल सिर और वक्षस्थल पर ही नहीं, प्रत्युत उदर पर भी। पर सिरवाले पैर आगे चलकर मुखके रूपमें परिणत हो जाते हैं और वक्षस्थल के पैर अधिक सुदृढ होने लगते हैं जिनसे बाद को चलने का काम लिया जाता है। उदर के पैर भी बाद के लुप्त हो जाते हैं। स्वच्छ जल के बहुत से ऐसे कीड़ों में जिनके अंडे कोकून या पैदियों में होते हैं और सेवने के बाद जिनमें से छोटे छोटे रेंगते हुए कीड़े निकलते हैं, इस प्रकार की प्रारम्भिक-इन्द्रियाँ (Larval organ) बनती हैं जिनके देखने से ट्रोकोफोर का स्मरण आ जाता है जो कि उन मूल कीड़ों का प्रारम्भिक रूप है जो समुद्र में स्वतंत्र तैरते फिरते हैं। पर इन प्रारम्भिक इन्द्रियों से कभी उचित काम नहीं लिया जाता है क्योंकि इसके प्रारम्भिक रूप (लार्वा) को तैरने का काम ही नहीं पड़ता है, यह तो पैदों के अंडसित्-द्रव में केवल उतराता रहता है।

"व्हेल के गर्भ विकास के अध्ययन से भी इन विचारों की मनोरंजक पुष्टि होती है। कूकन्थल वैज्ञानिक ने इसका विशेष अध्ययन किया है। प्रौढ़ावस्था में इनमें केवल आगे के हाथ पैर (जो कुछ कहा जाय) होते हैं, पर गर्भ में इनमें पीछे के भी होते हैं जो बाद को बिलकुल तिरोभूत हो जाते हैं। ये व्हेल यद्यपि प्रौढ़ावस्था में सस्तन प्राणी हैं, पर उनमें बाल आदि के आवरण बिलकुल नहीं हैं। क्योंकि उनको जलके जीवन में गरमी सुरक्षित रखने के लिये चर्बी की फूली हुई तह के रूप में एक विशेष साधन प्राप्त रहता है। इनमें कुछ छोटे छोटे रोम किसी विशेष उद्देश्य से अवश्य रह जाते हैं। पर गर्भावस्था में इनमें बड़े ही घने बाल उगते हैं जो बाद को या तो लुप्त या विचित्र रूप से अन्य अंगों में परिवर्तित हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ व्हेलों में प्रौढ़ावस्था में दांत नहीं होते, केवल विशेष कांटेदार या सींघदार पटलियाँ होती हैं जिनसे व्हेलास्थि की उत्पत्ति होती है, पर इनके गर्भ में तो बहुत से दांत उगते हुए दिखाई पड़ते हैं, पर ये बाद को मसूढ़ों को फोड़ने से पूर्व ही फिर लुप्त हो जाते हैं।"

दांतों से चबाचबा कर खाने वाले पशुओं में जिनमें बैल, भैंस, बिसन, भेड़, बकरी, हिरन आदि सम्मिलित है, ग्रीवास्थि (कौलर बोन) तो होती ही नहीं, क्योंकि यह उनके लिये निरर्थक है क्योंकि उन्हें आगे के पैरों से केवल चलनेका काम लेना

पड़ता है। भेड़ के गर्भमें इस ग्रीवास्थि की विद्यमानता सिद्ध की जा चुकी है, और यह कुछ अस्थिमय होने भी लगती है पर बाद को तिरोभूत होते होते बिलकुल ही लुप्त हो जाती है। अन्य चबा कर खाने वाले पशुओं के गर्भ में भी परीक्षा करने पर यह ग्रीवास्थि पाई जायगी पर भेड़ के गर्भ में तो यह निश्चय पूर्वक देखी गई है। उच्च जाति के स्तन प्राणियों में आरम्भ में ४४ दांत थे, अर्थात् ऊपर और नीचे के जबड़ों में दायें बायें ग्यारह ग्यारह। पर आज कल के उच्चतम स्तन प्राणियों में इनकी संख्या बहुत घट गई है क्योंकि कुछ दांत लुप्त हो गये हैं। इस बात का मानना बिलकुल ही युक्तियुक्त है कि इन स्तन प्राणियों के पूर्वजों में पहले अवश्य ४४ दाँत थे पर विकास की परम्परा में इनमें से कुछ दांतों का ह्रास हो गया। गर्भ विज्ञान इस बात की बहुत ही अच्छी सिद्धि करता है। दांतों से काटने वाले स्तन पशुओं के रोडेन्शिया समूह को लीजिये जिनमें ऊपर और नीचे के आगे के दांत (छेदक दन्त-incisor) कम होकर नीचे ऊपर एक एक रह गये हैं (खरगोश में ऐसा नहीं है)। ये छेदक दन्त बहुत ही तेज़ और दृढ़ होते हैं जिससे कि एक के ऊपर दूसरे दांत को दबा कर काटने में आसानी हो। इन दांतों की जड़ नहीं होती हैं, पर जीवन भर ये बढ़ते रहते हैं। इन छेदक दन्तों और चबाने वाले दांतों के बीच में एक लम्बा दन्त-रहित रिक्त स्थान बच रहता है। इस रिक्तस्थान का होना यह बताता है कि इनके पूर्वजों में कुछ छेदक दन्त (दूसरे और तीसरे), रदनक दन्त (Caniine) और कुछ चबाने वाले दांत और थे, गर्भावस्था का निरीक्षण करने से इस बात की पुष्टि होती है। गिलहरी के गर्भ में इन लुप्त दांतों को मूल रूप में उगते हुए देखा गया है, पर बाद को इनकी वृद्धि रुक जाती है, मसूढ़े फोड़ कर ये दांत आगे नहीं निकल पाते, और जन्म से पूर्व ही विलीन हो जाते हैं।

सभी साक्षियों से यह बात सिद्ध होती है कि चिड़ियों की उत्पत्ति उरग अर्थात् पेट के बल चलने वाले रेप्टाइल से हुई है। इसकी पुष्टि भग्नावशेष विज्ञान से तो बहुत ही अधिक होती है जिसका आगे उल्लेख किया जावेगा। चिड़ियोंके गर्भमें ओएटोजेनी या व्यक्तिगत वृद्धि इस प्रकार की होती है कि उसका समाधान इसी प्रकार हो सकता है कि उनका विकास उरगोंसे ही माना जाय अन्यथा नहीं। उरगोंके से लक्षण गर्भमें थोड़ी थोड़ी देरके लिये दृष्टिगत होते हैं, यद्यपि बाद को ये विलीन हो जाते हैं या चिड़ियोंके अनुकूल अङ्गोंमें परिवर्तित हो जाते हैं। इसका एक आश्चर्य्यजनक उदाहरण यह है कि गर्भ का अध्ययन करने से मालूम होता है कि कुछ चिड़ियों में मूल दांत निकलते से मालूम होते हैं, पर बाद को अंडा सेवनेके पूर्व ही ये लुप्त और विलीन हो जाते हैं।

बहुत से लोगों का यह कहना है कि प्राणीकी व्यक्तिगत वृद्धिके लिये उसके गर्भमें इस प्रकारके अनेक अङ्गों का मूल रूपमें उत्पन्न होना और बाद को विलीन हो जाना सर्वथा आवश्यक है, पर यह बात ठीक नहीं मानी जा सकती है। ये अङ्ग विकासवादके अनुसार बिलकुल निरर्थक रूपमें ही उत्पन्न होते हैं और इनका प्रकट होना पैतृक स्मृतिके कारण है, अर्थात् उन पूर्वजोंके लक्षण जिनसे अमुक प्राणी का उत्तरोत्तर विकास हुआ है, एक एक करके प्रकट होते और बाद को उपयोगी और सार्थक न होनेके कारण विलीन हो जाते हैं। हाँ, उन पूर्वजों में इनका उपयोग अवश्य था। उनके प्रकट और विलीन होने का इससे अच्छा और कोई समाधान नहीं हो सकता है।

गर्भ विज्ञान से इस बात का भी पता चलता है कि प्राणियों का विकास निम्नतम प्राणियों से क्रमशः उच्चतम प्राणियों में ही नहीं होता है, प्रत्युत उच्च प्राणियोंके निम्न प्राणियों में ह्रास होने का भी चित्र गर्भ में अङ्कित हो जाता है। विकासवादके अन्दर विकास और ह्रास दोनों ही संभव हैं। यह ह्रास कभी कभी परोपजीविता अर्थात् दूसरेके आश्रित जीवन व्यतीत करनेकी आदतके कारण भी होता है।

परोपजीवियोंके ह्रासके कुछ बहुत ही उल्लेखनीय उदाहरण देखे गये हैं। एक उदाहरण सैकुलिना का है जो विशेष प्रकारके केंकड़ों की परोपजीवी है। यह केंकड़े की पूंछ की ओर जड़ोंके आकारके तन्तुओं द्वारा चिपटा रहता है। ये तन्तु केंकड़ेके अन्दर तक घुस जाते हैं, और केंकड़के शरीर से भोजन ग्रहण करके ये तन्तु परोपजीवी को भोजन पहुँचाते हैं। इसका प्रभाव यह होता है कि परोपजीवीके शरीरमें एक थैला मात्र रह जाता है, न इसमें मांस पेशियाँ रह जाती हैं, न स्नायुसंस्थान, न श्वासेन्द्रियाँ, न पाचन नली, और न कोई अन्य इन्द्रिय, केवल जननेन्द्रियाँ अवश्य रहती हैं। यह बेचारे केंकड़ेके शरीर द्वारा बनाये हुए भोजन पर यथाक्रम निर्वाह करता है, और यह भोजन उसे जड़ाकार तन्तुओं द्वारा मिलता जाता है। इस भोजन को अपने अनुकूल परिवर्तित करने की शक्ति इसमें अवश्य रहती है, सन्तानोत्पत्ति की क्रियायें भी यह कर सकता है, और कदाचित् यह मलत्याग भी करता हो और श्वास भी लेता हो यद्यपि इसमें न तो नासिकारंध्र मालूम होते हैं और न किसी प्रकार की ग्रन्थियाँ ही। इस प्रकारके प्रौढ़परोपजीवी का निरीक्षण करने पर यह निर्धारित करना कि यह किस वर्ग या श्रेणी का प्राणी है, अति दुस्तर है। पर गर्भ विज्ञान का अध्ययन करनेसे इस बात का निर्णय अवश्य हो जाता है। अंडे में से सेवने पर स्वतंत्र तैरने वाला लार्वा बनता है जिसमें मांसपेशियाँ, स्नायु संस्थान, पाचन संस्थान आदि सभी होते हैं, और ये सब क्रस्टेशिया समूह की ओर संकेत करते हैं। बाद को ये सब लक्षण धीरे धीरे विलुप्त होने लगते हैं। यह इस बात का उदाहरण है कि प्राणियों में अवनति की ओर भी विकास किस प्रकार हो सकता है इस परोपजीवी में तो ह्रास हद दर्जे का हो गया था। वस्तुतः, गर्भ विज्ञान ने ही यहाँ यह सहायता दी कि हम इस ह्रास की क्रमशः श्रेणियों का निरीक्षण कर सके।

इसमें सन्देह नहीं है कि बहुत से लोग उस समस्त प्रणाली के विरुद्ध हैं जिसमें कि गर्भ की भिन्न भिन्न अवस्थाओं के आधार पर विकास के क्रम की पुष्टि की जाती है। उनका यह कहना है कि यदि गर्भ की आरम्भिक अवस्था में पूर्वजों के लक्षण उत्पन्न हुए, तो ये आगे भी क्यों न विद्यमान रहे, विशेषतः जब कि ये लक्षण मूलजीवाणु में की पैतृक स्मृति में विद्यमान थे, और यह मूलाणु कभी विनष्ट नहीं होता। पर इस प्रकार के आक्षेपों का अधिक मूल्य नहीं है, क्योंकि गर्भ विज्ञान द्वारा विकास की पुष्टि में इतने अधिक उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं कि उनकी सरलता से अवहेलना नहीं की जा सकती है।

कार्बनिक रसायन का विस्तार

भाग १

लीबिग और वोलर के अनुसंधान

[लि० श्री आत्माराम एम० एस०-सी०]

गेलुसाक व थेनार्ड ने १८१० ई० में कार्बनिक रसायनका विस्तार कम होनेका कारण कार्बनिक विश्लेषणकी कमी बतलाया था। यह कथन उस समय के अनुसार ठीक भी था परन्तु इसके बाद ही वैज्ञानिकों की प्रवृत्ति कार्बनिक रसायन की ओर आकर्षित होने लगी। उस समय प्रत्येक कार्बनिक वस्तु के बनने का श्रेय एक जीव संबन्धी शक्ति को दिया जाता था और यही कार्बनिक रसायन के बिछुड़ने का मुख्य कारण था क्योंकि प्रत्येक रसायनज्ञ को यही विचार रहता था कि कार्बनिक वस्तु के बनने के लिए उक्त शक्तिका होना आवश्यक है इस लिए किसी ने भी प्रयोगशाला में कार्बनिक वस्तु बनाने की चेष्टा न की।

कार्बनिक रसायन केवल पिछले १०० वर्ष में ही इतनी बढ़ गई है कि इसकी सीमा की खोज लगाना साधारण कार्य्य नहीं है। इसके विस्तार को भले

प्रकार जानने के लिए १८ वीं शताब्दी के अन्तिम समय की दशा पर दृष्टि डालना उपयोगी होगा। सन् १६७५ में लेमरी ने सब वस्तुओं को दो भागों में बांटा। १ खनिज २ वनस्पतिक। इसके बाद बरथोले और प्राउस्ट ने बतलाया कि कार्बनिक वस्तुओं में कर्बन का होना आवश्यक है उनके अणु बहुत गूढ़ और साधारण वस्तुओंके अणुओं से कहीं भारी होते हैं और ये ऐसी ही विधियों से पृथक की जा सकती हैं जिनमें कोई रासायनिक क्रिया नहीं होती। जैसे घोलना, छानना इत्यादि।

मेकर ने फिलोजिस्टन सिद्धान्त के समय यह बतलाया था कि प्रत्येक कार्बनिक वस्तु में फिलोजिस्टन होता है जिसका लैवासिये ने खंडन किया। इसी प्रकार ब्लैक, वर्गमन, शीले इत्यादिने कई प्रकार के नये नये सिद्धान्त रखने की चेष्टा की। यदि वास्तव में देखा जाय तो शीले को उस समय के उच्च कोटि के कार्बनिकरासानज्ञों में गिनना चाहिये। गैलिकाम्ल काष्ठाम्ल और बहुत प्रकार के यौगिक इसी पुरुष के अनुसन्धान हैं। उस समय सबसे बड़ी असुविधा विश्लेषण क्रिया की थी। यद्यपि लैवासिये ने कार्बनिक वस्तु को ओषजन की उपस्थितिमें जला कर इस प्रकार निकली हुई कर्बन द्विओषिद को माप कर यौगिक का गठन निकालने की रीति निकाली थी परन्तु उससे भी अधिक सफलता प्राप्त न हुई क्योंकि बहुत से यौगिकों में नोषजन होने के कारण इस रीति से उसके गठन का पूरा ज्ञान होना असम्भव था।

जैसा कि पहिले बतलाया जा चुका है गेलुसाक व थेनार्ड ने कार्बनिक यौगिकों का संगठन निकालने की एक नई रीति निकाली जिसमें उन्होंने ओषजन के बजाय ताम्रओषिद का प्रयोग किया। इस रीति से जो लाभ कार्बनिक रसायन को हुआ है उसका अनुमान केवल कार्बनिक रसायनज्ञ ही लगा सकते हैं। कार्बनिक रसायन उन्नीसवीं शताब्दीके आरम्भमें तक टूटी फूटी ही दशामें रही। इसी समय दो तीन ऐसे व्यक्तियों का जन्म हुआ जो कि मुख्य रूप से कार्बनिक रसायन के निर्माता कहे जा सकते हैं।

जस्टस वान लीबिग

१८०३—१८७३

लीबिग का जन्म १८०३ ई० में डर्मस्टड में हुआ जहाँ पर विश्वविख्यात मर्क कार्यालय जो कि रसायनिक पदार्थों के लिये प्रसिद्ध है स्थापित है। उसका पिता तेल और रङ्गों का व्यापार करता था और वास्तव में यही कारण लीबिग के रसायनज्ञ होने का है। आरम्भसे ही उनकी रसायनकी ओर प्रवृत्ति रहने लगी। जब उसके स्कूल मास्टरने पूछा कि तुम काम क्यों नहीं करते—तुम बड़े बेवकूफ हो उस पर युवक लीबिगने उत्तर दिया कि मैं रसायनज्ञ हूँगा। यह बात बड़ी हास्यप्रद हुई परन्तु पाठक देखेंगे कि वास्तव में लीबिग अपनी शताब्दी का सब से बड़ा कार्बनिक रसायनज्ञ हुआ। १५ वर्ष की अवस्था में लीबिग पाठशालामें भेजा गया वहाँ पढ़ने के बाद एक वैद्यके पास नौकर हो गया। यहाँ रह कर उसने भिन्न-भिन्न वस्तुओं का बनाना भले प्रकार सीख लिया परन्तु लीबिग का मन इन बातोंमें लगता ही नहीं था। वह सर्वदा कहा करता था कि वैद्यों के कार्यालयों में रसायन नहीं प्राप्त हो सकती। यह तो केवल अपनी औषध सम्बन्धी पदार्थ ही बनाना जानते हैं। उसका मन तो रसायन की खोज के लिये हिलोरें लिया करता था। भला ईश्वर कब उसको वैद्यों की दूकानों में छोड़ सकता था। उसे तो हमारे ज्ञान का निर्माता होना था। जब कि वह वैद्य के यहाँ नौकर था उसने बाजीगरों को तमाशा दिखाते हुए देखा था जो रजत फलमिनेत रजतम् विस्फुटेत का प्रयोग किया करते थे। लीबिग चंचल हृदय तो था ही। एक रोज दूकान में इस चीज को बना बैठा जिससे कहते हैं कि दूकान की छत उड़ गई। यह वही घटना थी जिसने उसके जीवन को बिल्कुल बदल दिया। अब लीबिग इस वैद्यके कार्यालय को छोड़ कर रसायन की खोज में चल दिया। उसने अपने पिता से विश्वविद्यालय जाने का अनुरोध किया। सुहृद पिता ने अपने प्यारे लीबिग को

वान विश्वविद्यालयमें भेज दिया १८२० में डिग्री प्राप्त करके लीबिगकी इच्छा रसायनिक खोज की ओर बढ़ी परन्तु इसके लिये उसे जर्मनीमें अधिक सुविधा न दिखाई पड़ी और पूरा विश्वास हो गया कि रसायनज्ञ होने के लिये तो कहीं बाहर ही जाना पड़ेगा। इस समय तक लीबिगकी चतुराई की महिमा डर्मस्टड के राजकुमार के कानों तक पहुँच चुकी थी। बहुत कुछ परिश्रम के बाद हीसियन सरकार ने लीबिग को पैरिस में पढ़ने के लिये छात्रवृत्ति दी। १८२३ ई० में लीबिग पैरिस गया और वहाँ पर दैव-योग से अलेकजेंडर वान हमबोल्ट से भेंट हुई जो कि नवयुवकों की उन्नति के लिये सर्वदा उनके साथ परिचय रखता था। हमबोल्ट महाशय ने लीबिग को गेलुसाक के सामने उपस्थित किया और इस प्रकार नवयुवक की मनोकामना पूरी हुई।

गेलुसाक की प्रयोगशाला में लीबिग ने विस्फटि काम्ल पर कार्य्य आरम्भ किया जो अब तक रसायनज्ञों की दृष्टि में एक उच्च कोटि का कार्य्य समझा जाता है। इसी समय १८२४ ई० में ऐरलैंगेन विश्वविद्यालय ने लीबिग को पी-एच० डी० की उपाधि प्रदानकी और उसी वर्ष वह गीसेनके छोटे से विश्वविद्यालय में रसायन अध्यापक नियुक्त किया गया। परन्तु यहाँ पर लीबिगको बड़ा परिश्रम करना पड़ा क्योंकि प्रयोगशाला में सुविधायें कम थीं और अधिक पढ़ाने के कारण खोज करने के लिए कम समय मिलता था। लीबिग के गीसेन आने पर एक छोटी सी जगह मोल ले ली गई जिसमें लीबिग ने बड़े परिश्रम से काम आरम्भ कर दिया। कौन जानता था कि इन ही छोटी कोठरियों में जगत विख्यात कार्बनिक रसायनज्ञ उत्पन्न होंगे। चारों ओर से उत्साहित विद्यार्थी झुंडों में आने लगे यद्यपि प्रयोगशाला बहुत छोटी थी पर यहां की नई नई खोजों और लीबिग के व्याख्यानों का जनता पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि थोड़े ही दिनों में इस प्रयोगशाला में कार्य्य करने की आज्ञा मिलने को विद्यार्थी लोग अपने जीवन की विशेष घटना मानने लगे।

लीबिग केवल एक विषय पर ही कार्य नहीं करता था उसके कार्य्य की सीमा अपार थी। यद्यपि शुरू में उसने कार्बनिक रसायन पर ही अधिकतर प्रयोग किये परन्तु बाद में कृषि सम्बन्धी और खाद्य सम्बन्धी कार्य्यों में भीअति रुचि लेने लगा था। रात दिन कार्य्य करने और शिष्यों को पढ़ानेसे लीबिगका स्वास्थ्य बिगड़ गया यहाँ तक कि जब वह १८५२ में म्यूनिक विश्वविद्यालय में मुख्य अध्यापक के पद पर नियुक्त किया गया तो उसने केवल इसी शर्त पर कि वह पढाने का कार्य्य न करेगा इस पद को ग्रहण किया।

कार्बनिक रसायन में विश्लेषण क्रियाओं का प्रयोग करने वाला यह पहिला ही मनुष्य था। उसने भिन्न भिन्न प्रकार की रीतियां निकालीं और अपने शिष्यों को सिखलाया। वह सर्वदा प्रयोगशाला में विश्लेषण क्रियाओं पर मुख्य रूप से जोर देता था। यह उसी के कार्य्य का फल है कि कार्बनिक रसायन में विश्लेषण क्रिया को इतना स्थान मिला हुआ है। लीबिग के इस प्रयोग का सबने समर्थन किया और इसी के आधार पर सब प्रयोग शालाओं में कार्य्य आरम्भ हो गया। लीबिग का नाम कार्बनिक विश्लेषणके साथ सर्वदा जीवित रहेगा, यद्यपि लैवासिये, गेलुसाक इत्यादिने इस पर बहुत कुछ कार्य्य किया और विश्लेषण क्रियाओं को ठीक भी किया परन्तु लीबिगने कमसे कम भस्मीकरण रीति (Combustuon Prrcess) को तो इतना साधारण बना दिया था कि आज तक पूरे १०० वर्ष के बाद भी इसमें कोई अन्तर नहीं हुआ है। उस समय लीबिग ने कहा था कि मैंने इस रीति को इतना साधारण बना दिया है कि एक चतुर बन्दर भी इससे काम कर सकता है।

जिस समय लीबिग गेलुसाक की प्रयोगशाला में था तो उसने विस्फुटिकाम्ल पर कार्य्य किया था। उसी समय (१८२२ ई० में) वोलरने श्यामिकाम्ल पर अपना कार्य्य प्रकाशित किया। इन दोनों वस्तुओं का रसायनिक अनुपात एक ही है परन्तु स्वभाव में

दोनों भिन्न भिन्न हैं बरजेल्यूस उस समय जीवित था। उसका कथन था (और सब रसायनज्ञ मानते भी थे) कि प्रत्येक वस्तुका स्वभाव रसायनिक अनुपात (Chemicalcomposition) पर ही निर्भर है, अर्थात् भिन्न भिन्न स्वभाव वाली वस्तुओं का रसायनिक अनुपात भी भिन्न होना चाहिए परन्तु यह एक उदाहरण ऐसा उत्पन्न हो गया जहां कि भिन्न भिन्न स्वभाव की वस्तुओं का रासायनिक अनुपात एक ही था। इस पर लीबिग और वोलर में वाद विवाद आरम्भ हो गया। लीबिग ने वोलर के विश्लेषण को गलत बताया परन्तु इस प्रकार यह झगड़ा तै नहीं हो सकता था क्योंकि वोलर को अपने कार्य्य पर दृढ़ विश्वास था। अन्त में वोलर और लीबिग ने एक दूसरे के साथ कार्य्य आरम्भ किया और दोनों का कथन ठीक निकला। पाठकों को याद होना चाहिये कि उस समय तक यह अनहोनी बात समझी जाती थी कि भिन्न भिन्न स्वभाव की दो वस्तुओं का रसायनिक अनुपात एक ही हो सकता था। बस यहीं से समरूपता (Isomerism) की नीव पड़ी। यह पहला ही महत्व पूर्ण उदाहरण था जिसने रसायनिक जगत के इस झूठे सिद्धान्त को उड़ा दिया। बरजेल्यूसने जो वोलर का गुरू था इस सिद्धान्त को केवल अपनाया ही नहीं परन्तु इसका पूरे तौरसे समर्थन किया। इसके पश्चात् लीबिग और वोलर में घनिष्ट मित्रता हो गई जो सारे जीवन तक रही। लीबिगके महत्व पूर्ण और सबसे विख्यात कार्य्य अधिकतर वोलर के साथ ही हुये। इस जोड़े में एक अद्भुत बात है यद्यपि दोनों अपने समय के बड़े क्या सबसे बड़े कार्बनिक रसायनज्ञ थे परन्तु विचार और स्वभाव से एक दूसरे के विरुद्ध भी इतने थे जैसे उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव। इसका वृत्तान्त आगे दिया जायगा। सरलता और सुगमता के लिये ऐसे कार्य्य जो वोलर और लीबिग ने मिल कर किये हैं यहीं पर दिये जायेंगे, इनसे पाठक यह न समझें कि वोलर का उनमें कोई श्रेय नहीं है।

लीबिग और वोलरके समयमें कार्बनिक रसायन में प्रति दिन आन्दोलन सा रहा करता था। १८२० के बाद को जब कि बरजेल्यूस का यौगिक सिद्धान्त (Dualistic system) प्रयोग में था और वैज्ञानिक इसका प्रयोग कार्बनिक यौगिकोंमें करने में तत्पर थे, परन्तु इस विषयमें सब का भिन्न भिन्न मत था। सन् १८३२ में लीबिग और वोलर ने कड़वे बादामके तैल पर अपना कार्य्य प्रकाशित किया। जैसा कि सब जानते हैं इस तैलमें विशेष कर बानजाव-मद्यानार्द्र (Benzaldehyde) होता है। लीबिग और वोलर ने इसका ओषदी करण करके बानजाविकाम्ल तैय्यार किया तथा और क्रियायें करके बानजोइन और हरिन् के प्रभाव से बानजावील हरिद तथा हरिद से अरुणिद और नैलिद बनाए। इस प्रकार लीबिग और वोलर ने बानजावील नाम का मूल इन सब यौगिकों में दर्शाया। $क_{१४} उ_{१०} ओ_{२}$ मूल का नाम बानजावील रक्खा। पाठक देखेंगे कि यह सूत्र आजकल के $क_{७} उ_{५}$ ओ से दूना है वरना बिल्कुल वही है। लीबिग और वोलर के अनुसार बानजाव मद्यानार्द्र बानजावील का उदजन के साथ युक्त यौगिक है। और इसी प्रकार बानजाविकाम्ल और बानजीवील हरिद भी इस मूल से बनते हैं। इस कार्य्य का बरजेल्यूस पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उसने लीबिग तथा वोलर दोनों को इस कार्य्य पर बधाई दी और अपनी वार्षिक रिपोर्ट में भी उनकी प्रशंसा की।

इसके पश्चात् लीबिग और वोलर ने मद्य का मूल $क_{२} उ_{५}$ को बतलाया परन्तु इसको अपनानेमें बरजेल्यूस को जरा देर लगी क्योंकि ऐसा करने में ओषजन का कोई स्थान न रहता था और इस कारण उसके सिद्धान्त के अनुसार जिसमें ओषजन मूल में होना आवश्यक था यह बात उसको ठीक न सिद्ध हुई। परन्तु कुछ दिन बाद बरजेल्यूस ने ओषजन का मूल में आवश्यक होना छोड़ दिया परन्तु तत्वों के योग पर वह दृढ़ ही रहा।

टामस ग्रेहम ने १८३२ ई० में बहुक्षारिक (Poly-

basic) अम्लों पर कार्य्य करके जगत्को दिखा दिया कि यह कह देना कि प्रत्येक अम्ल एक-क्षारिक है ठीक नहीं है। इसी कार्य्यके आधार पर लीबिग ने १८३७ में कार्बनिक अम्लों पर कार्य्य आरम्भ कर दिया। इस कार्य्य में लीबिग डूमाके साथ लगा हुआ था परन्तु एक म्यानमें दो तलवार कैसे रहें। बस इस कार्यके बाद दोनों फिर अलग हो गये। इमलिकाम्ल, निम्बुइकाम्ल, श्याम मूत्रिकाम्ल इत्यादि को लीबिग ने बहुक्षारिक सिद्ध किया। लीबिग की मुख्य शर्त यह थी कि यदि कोई अम्ल दो प्रकार के क्षारों से निश्चित लवण बनावे तो उसको बहुक्षारिक समझना चाहिये, यद्यपि इस कार्य्य में लीबिग को सफलता हुई परन्तु यह शर्त बिलकुल ठीक न थी। क्योंकि इसके अनुसार लीबिग ने गन्धकाम्ल को भी इकक्षारिक ही बतलाया इस कार्य्य के करने में उसने अम्लों के ओषजन सिद्धान्त का पूरा पूरा विरोध किया परन्तु अन्त में बरजेल्यूस को यह बात माननी ही पड़ी।

लीबिग और वोलर ने मूत्रिकाम्ल पर भी काफी अच्छा कार्य किया था। उन्होंने दिखलाया कि मूत्रिकाम्ल पर नोषिकाम्ल के प्रभाव से ऐलकाष्ठन (alloxan) बनती है। इस कार्यमें सब से महत्त्व की बात यह सिद्ध हुई कि मूत्रिकाम्ल और ऐलकाष्ठन में घनिष्ट सम्बन्ध है और मूत्रिकाम्ल की बनावट ऐलकाष्ठन जैसी होनी चाहिये। रसायनिक कार्य तक ही लीबिग की पहुँच न थी। वह खाद्य संन्बधी और कृषि संबंधी कार्यों में पूरा पूरा भाग लेता था। लीबिग का नाम केवल रसायनिक संसार में ही नहीं, सारे जगत में प्रसिद्ध है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति "मांस रस" को जानता है जो लीबिग के अद्भुत मस्तिष्क का कार्य है। इस वस्तु का जीव संबन्धी रसायनमें अधिकतर प्रयोग है।

कृषि के लिये जो कार्य लीबिग ने किया उसका वर्णन साधारण शब्दों में करना असम्भव है क्योंकि उसके पहिले यह कोई नहीं जानता था कि बार बार पौधे उगने से पृथ्वी क्षीण हो जाती है। सब से पहिले लीबिग ने ही यह बतलाया कि पृथ्वी में अकार्बनिक लवण डालकर उसकी शक्ति फिर बढ़ सकती हैं, क्योंकि पौधों को नोषजन की आवश्यकता है और बार बार पौधे उगने से पृथ्वी का नोषजन व्यय हो जाता है। लीबिग ने अपनी आयु के अन्तिम वर्ष कृषि संबन्धी कार्यों में व्यतीत किये। लीबिगके नाम पर जगत विख्यात् भभका (Condenser) भी प्रसिद्ध है इस यन्त्रको सब से पहिले उसी ने बनाया था।

इन सब कार्यों के अतिरिक्त लीबिग का साहित्य-कार्य भी उसके वैज्ञानिक कार्यों से कम न था उसने कार्बनिक रसायन संबन्धी कई पुस्तकें लिखीं और कई पत्रिकाओं का सम्पादन भी लीबिग के ही हाथोंसे होता था। यहाँ तक कि एक पत्रिका का नाम लीबिग पत्रिका अभी तक प्रसिद्ध है।

संसार भर का कार्बनिक गुरु लीबिग को ही कहा जा सकता है। उसने ही जर्मनी में सब से पहिले कार्बनिक रसायन की शिक्षा आरम्भ की और संसार भर के विद्यार्थी उसकी प्रयोग शाला में कार्य करने आने लगे। हौफ़मैन सा रसायनज्ञ जो इंगलैंड में कार्बनिक रसायन का जन्मदाता कहा जाता है, बायर जो कि ऐमिल फ़िशर और विल्सटेटर जैसे नोबेल पुरस्कार विजेताओं का गुरु, केकूले कार्बनिक रसायन का प्रमुख सिद्धान्ती इत्यादि लीबिग की ही प्रयोग शाला से उत्पन्न हुये थे। धन्य है लीबिग को जिसके परिश्रम से हम आज कार्बनिक रसायन जो रसायन का केवल एक भाग ही किसी विज्ञान शाखा से कम नहीं है। लीबिग अपने शिष्यों और सहायकों से अधिक कार्य लेता था। और कोई उसकी प्रयोग शाला में जाकर ऐसा नहीं रहा जिस पर उसके उत्साह का प्रभाव न पड़ा हो। उसकी मूर्ति और वाणी में अद्भुत जादू था। लीबिग के मन में सहनशीलता कम थी वह सचाई के सामने किसी की परवा न करता था। बहुत शीघ्र उसकी दूसरों से शत्रुता हो जाती थी। परन्तु

आश्चर्य और गौरव की बात तो यह है कि इस पर भी उससे सब प्रेम करते थे। जितना लीबिग क्रोधी था उतना ही वोलर सहन शील था। यह इन दोनों की मित्रता का अद्भुत उदाहरण है।

लीबिग के लिये पदक और पुरस्कार एक घर की बात थी। वह लगभग सभी समितियोंका सदस्य था और समस्त रसायनिक सभाओं ने उसको अपना सदस्य चुना था। सन् १८५३ ई० में लीबिग म्यूनिक विश्वविद्यालय में मुख्य अध्यापक नियुक्त किया गया। यहां पर लीबिग ने अद्भुत परिश्रम के साथ कार्य्य किया। लीबिग को जर्मन सरकार से बैरन (Baron) की उपाधि भी मिली थी। यह ही नहीं, लीबिग का मान जर्मनीमें ही नहीं समस्त देशोंमें स्वेदश की ही भांति था। महारानी विक्टोरियाके समयमें लीबिगको इङ्गलैंडमें वहां की रसायनिक दशा पर सम्मति देनेके लिये बुलाया गया। सत्य कहनेमें तो वह प्रसिद्ध था ही,वहांके सब कालेजोंको देखकर यही कहा कि इङ्गलैंड के रसायनज्ञ अपने आपको रसायनज्ञ कहनेमें लज्जा खाते हैं। बस लीबिगके कहते ही महारानीने अपने देशमें साइंस कालेज खोलने का प्रस्ताव किया जिसके अनुसार लंदनमें "राजसी कालेज" (इम्पीरियल कालेज) खोला गया। अब यह प्रश्न उठा कि इनका सबसे मुख्य अध्यापक कौन नियत किया जाय, सर्व सम्मिति से यह ही निश्चय हुआ कि लीबिगके किसी शिष्य को बुलाना चाहिये। लीबिग ने अपने शिष्य होफमैन को इस पद पर नियुक्त किया जिसकी कीर्त्ति का वर्णन आगे किया जायगा।

लीबिग कार्य्य करनेमें इतना लिप्त रहता था कि उसने अपने स्वास्थ्य की बिलकुल परवा न की और अन्तमें स्वास्थ्यके कारण विश्वविद्यालयसे विदा मांगी। उसके कुछ ही दिनों पश्चात् १८७३ में इस रसायनके गुरुने सर्वदाके लिये इस ससांर को सूना कर दिया। अभी तक प्रतिष्ठित इतिहास रचयिताओं का कथन है कि लीबिगके बाद औस्टवाल्ड ही इतना बड़ा गुरु हुआ है। लीबिग का जीवन पढ़ने से मन्द से मन्द हृदयमें भी कार्य्य करने की उमंग उठने लगती है। लीबिग जैसे महा पुरुष सर्वदा संसारमें नहीं आते। धन्य है उनको जिन्हें इस महान् गुरुके कर कमलोंमें पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

फ्रेडरिक वोलर

१८०८—१८८२.

वोलर का जन्म ऐशरशीममें १८०० ई० में हुआ था। उसका पिता यद्यपि अधिक धनवान तो न था परन्तु वोलर को उसने मारबर्ग विश्वविद्यालयमें भेज दिया जहां वोलरने वैद्यक पढ़ना आरम्भ कर दिया। वोलर को वैद्यक से इतनी रुचि नहीं थी और इसी कारण उसने मारबर्ग विद्यालय छोड़ कर हाइडेलबर्गमें ग्मेलन की शरण ली। २३ वर्ष की अवस्थामें वोलर बरजेल्यूस की प्रयोगशालामें गया। इसके कुछ दिनों पश्चात् वोलर कासेल विश्वविद्यालयमें अध्यापक नियुक्त हुआ। इसके पांच वर्ष पश्चात् गोटिंगेन विश्वविद्यालयने उसको मुख्य अध्यापक नियुक्त करके सम्मानित किया। लीबिग का वृत्तान्त देते समय यह बता दिया गया था कि वोलरका अधिकतर कार्य्य लीबिगके साथ हुआ। यहां पर केवल वही कार्य्य दिये जायेंगे जो उसने स्वयं किये। यह पहिले ही बता दिया गया है कि कार्बनिक रसायनमें जैव सिद्धान्त (vitalistic theory) का जोरथा परन्तु धन्य है वोलर को जिसने इस अनावश्यकसिद्धान्त की जड़ उखाड़ दी। मूत्रिया (urea) का जहां भी वर्णन आता है वहीं वोलर का नाम भी सूर्य सा चमक पड़ता है। मूत्रिया जोकि कार्बनिक वस्तु है वोलरने पाशुंज श्यामिदसे तैय्यार की। परन्तु उस समय भी बहुत से वैज्ञानिक कहने लगे कि पाशुंज श्यामिद कार्बनिक वस्तु है और साथ साथ यह जीवोंके सीगोंसे तैय्यार होती है। इस कारण यह नहीं माना जा सकता कि कार्बनिक वस्तु बिना किसी जीव शक्ति के अकार्बनिक वस्तुओंसे बन सकती है। परन्तु साथ ही साथ बरथोलोने जिसका वृत्तान्त

आगे दिया जायगा कर्बन और उदजन को मिला कर सिरकीलिन (acetylene) तैय्यार करके इस सिद्धान्त को बिल्कुल ही जड़ से उड़ा दिया।

वोलर ने बरजेल्यूसके साथ से भी कुछ कार्य्य श्यामिकाम्ल पर भी किया और साथ साथ इसकी समरूपता भी दर्शाई जो कि श्याममूत्रिकाम्ल के साथ है।

वोलर को बहुत से वैज्ञानिक ऐल्यूमीनयम या स्फटम् का मुख्य ज्ञाता कहते हैं। उसने टिटेनम् इत्यादि बहुत सी धातुओं पर अच्छा कार्य्य किया।

वोलर उच्च कोटि का गुरु था। जहां तहां से वैज्ञानिक उसके पास कार्य्य करने के लिये आते थे। यह कहना कठिन है कि वोलर और लीबिगमें कौन बड़ा था। दोनों मस्तिष्कमें एक दूसरेसे बढ़े चढ़े थे। लीबिग राजनीतिक कामोंमें भी भाग लिया करता था परन्तु वोलर केवल अपने कार्य्यमें ही लगा रहता था। वोलर लीबिग की भांति क्रोधी न था। वह सर्वदा शील और मधुर स्वभावसे वर्त्ताव करता था कोई भी ऐसा मनुष्य न था जो उससे शत्रुता रखता हो? उसके व्याख्यान अति गूढ़ परन्तु साधारण होते थे और प्रत्येक व्याख्यानमें उसको प्रयोग दिखाने का बड़ा शौक़ था। वोलर विशेषतः प्रयोगिक था और अधिक सिद्धान्तिक न था परन्तु लीबिगमें यह बात न थी। वह सिद्धान्तोंमें काफ़ी भाग लेता था। जब कभी लीबिग किसी से रुष्ट होता था तो वोलर उसका क्रोध कम करने की चेष्टा करता था। कभी कभी ऐसा करनेमें उसको स्वयं भी डाट खानी पड़ती थी, परन्तु वोलरकी सी सहनशीलता प्रत्येक व्यक्तिके भीतर होना कठिन है। वोलर को वैज्ञानिक संस्थायें अपना सदस्य चुननेमें बड़ा मान समझती थीं। यह पहिले तो बता ही चुके हैं कि वोलर सरकारी कार्य्योंमें अधिक भाग नहीं लेता था इसलिए उसको लीबिग की भांति बैरन की उपाधि नहीं मिली।

वोलर की प्रयोगशाला लीबिग की प्रथाके भांति भरी रहती थी। मुख्य कर अमेरिकाके अधिकतर वैज्ञानिकोंने वोलरकी ही अध्यक्षता कार्य किया था। लीबिग और वोलर दोनों को सत्यमें तो कार्बनिक रसायन का निर्माता ही मानना चाहिये। क्योंकि इन्हींके परिश्रम से कार्बनिक रसायनने अपना वर्तमान रूप धारण किया। अब दूसरे भागमें डूमा, गरहर्ड इत्यादिके कार्योंके वर्णन करने का प्रयत्न किया जायगा। वोलर और लीबिग जैसे अद्भुत व्यक्तियों का ही कार्य आज हमें रसायन सिखा रहा है। यह ऐसा जोड़ा है कि एक का नाम लेते ही दूसरे का नाम होंठों पर आ जाता है। ८२ वर्ष की आयुके पश्चात् वोलरने १८८२ में सर्वदाके लिये इस संसार से विदा मांगी।

वैज्ञानिकीय

इलियस होवने सीनेकी मशीन का आविष्कार कैसे किया?

आपढ इलियस साधारण स्थिति का युवक था। उसके हृदय में दूसरों को धन के साथ किलोल करते देखकर धन प्राप्त करने की इच्छा उठा करती थी। यह कोई नवीन बात नहीं थी। सभी ग़रीब युवकों को धनवान् बनने की चिंता घेरे रहती है, परन्तु विरले ही सफल होते हैं। हमारे यहां तो भाग्य की फ़िलासफ़ी ने 'बंटाधार' कर दिया है। हम हाथ-पर हाथ रक्खे बैठे रहते हैं कि "ईश्वर को देना होगा तो छप्पर फाड़ कर देगा।" अकर्मण्यता-पूर्ण युग का भारत में साम्राज्य फैला हुआ है। अच्छा तो यह होता कि भाग्य की फ़िलासफ़ीवाले थाली से उठाकर मुँह में कौर भी न डालते, और भगवान् को भोजन खिलाने के लिये बुलाते।

इलियस एक मशीनवाले की दूकान में काम करता था। बेचारे को मजदूरी बहुत कम मिलती थी। जीविका चलाने में बड़ी कठिनाई होती थी। अतएव उसकी पत्नी ने भी बोझ को बँटा लेना

उचित समझा। घर-गृहस्थी के काय्यों से छुट्टी पाकर वह सीने का काम करने बैठ जाती थी। पड़ोस के भले आदमियों के बाल-बच्चों के लिये कपड़े सिया करती थी। काम सरल नहीं था, पेट पालने का एक अच्छा साधन अवश्य था।

इलियस दिन-भर का हारा-थका जब घर लौट कर आता था, बिछौने पर लेटे लेटे वस्त्र पर अपनी पत्नी की उंगलियों की गति ताका करता था। कभी कह उठता था कि लाओ, मैं सी देता हूँ। परंतु पत्नी शक्ति रहते पति को कष्ट नहीं देना चाहती थी।

इसी तरह महीनों बीत गए। एक दिन उसने अपनी पत्नी से कहा—"प्रिये! यदि सीने की कोई नवीन युक्ति ढूंढ़ी जाय, तो?"

"तो बड़ा अच्छा हो, पर इस काम के लिये द्रव्य और समय की बड़ी आवश्यकता होगी।"

"देखा जायगा।"

इलियस ने बहुत सोचने के बाद यह निश्चय कर ही लिया कि वह एक ऐसी मशीन बनावेगा, जिससे कार्य शीघ्र और अच्छी तरह हो सकेगा।

अतएव अपने फ़ुरसत के समय को वह परीक्षाएं करने में लगाने लगा। एक युक्ति सोचता था, उसके द्वारा सीने का प्रयत्न करता था, असफलता होते देख कर दूसरी युक्ति विचारता था। अनेकों परीक्षाएं उसने कीं। पहले उसने दोनों ओर पैने सिरोंवाली सुई का उपयोग किया। इस सुई के बीच में धागा डालने का छेद रहता था। फिर नवीन टांके की विधि को ढूंढ निकाला। अंत में दो धागों की प्रणाली का उपयोग करना शुरू किया। ईश्वर की कृपा और परिश्रम के योग से इलियस की मशीन सन् १८४४ ईस्वी में बनकर तैयार हो गई। नवीन मशीन तार और लकड़ी का एक खिलौना-मात्र थी।

युवक ने अपनी सफलता को सरलता और यौवन की ख़ुशी की दृष्टि से देखा। उसे देख पड़ता था कि संसारके सामने वह जब अपने इस आविष्कार को रक्खेगा, तो संसार उसका हृदय से स्वागत करेगा। रुपयोंके ढेर लग जायँगे। वह मशीन उसे भिखारी से भगवान् बना देगी। फिर भला अब नौकरी की कौन आवश्यकता है? नौकरी छोड़ दी, और पिता जी के पास सकुटुंब पहुँच गया। मशीनके विज्ञापनमें अपनी ग़रीबीके थोड़े-से धन को ख़र्च कर डाला।

इतना ही नहीं, अभी एक नवीन समस्या सामने थी। एक मशीन बना लेने से तो भाग्य में परिवर्तन होता नहीं। जब तक अनेक मशीनें तैयार नहीं की जातीं और बेची नहीं जातीं, तब तक धनवान् होना एक स्वप्नवत् बात थी। मशीनें तैयार करने के लिये धन की आवश्यकता थी। इस कठिन समय में इलियस सड़कोंके चक्कर काटा करता था। वह धनवान् सहायक की खोज में रहता था। एक दिन केंब्रिज-निवासी मासचेस्टर-नामक व्यक्ति से भेंट हो गई। उसने इसके नमूने को देखा। उसे पैसा पैदा करने का इसमें एक सच्चा साधन दिखलाई पड़ा। अतएव वह एक हिस्सेदार बन गया। इलियस के कुटुंब के रहने और भोजन का उसने उचित प्रबंध ही नहीं कर दिया, बल्कि ५०० डालर नक़द भी दिए। इस द्रव्य से इलियस मशीन तैयार करने लगा।

शीत-ऋतु में इलियसके पास केवल एक ही काम था, और वह था मशीन तैयार करना। कुछ ही महीने में उसने मशीन तैयार कर ली। एक दिन मशीन और हाथ से सीनेवालों में होड़ हुई। एक बड़ी तेज़ी से सीनेवाले ने कहा कि मैं मशीन को हराए बिना न रहूँगा। ४ गज़ की लंबी पट्टी लेकर वह बैठ गया। भला हाथ और मशीन की प्रतिद्वंद्विता में किसकी विजय होती? यदि मशीन का हार जाना संभव था, तो मशीन का जन्म ही व्यर्थ था। आविष्कार-कर्ता इस बात को अच्छी तरह जानता था। अंत में हुआ वही, जो होना था। जितने समय में मनुष्य एक पट्टी सीसका, उतने ही समय में मशीन ने ५ पट्टियां सीकर दिखा दीं। साथ ही मशीन की सिलाई भी सुन्दर थी। मशीन की इस विजय को दर्ज़ियों ने हर्ष से नहीं देखा। वे अपने व्यापार और कार्य को ठुकरानेवाली इस नवीन मशीन का कैसे स्वागत

कर सकते थे ? उन्होंने इसका विरोध किया। इलियस के मित्र ने भी मदद करने से इनकार कर दिया। आविष्कारक ने फिर अपने पिताके गृहकी शरण ली।

दिनोदिन पेट की समस्या सता रही थी। लाचार हो उसने एक इंजीनियर के यहाँ नौकरी कर ली। परन्तु मालूम होता है कि दुर्भाग्य उसके पीछे पड़ा हुआ था। नौकरी भी चली गई। अब मशीन ही उसके जीवन का अंतिम आधार रह गई।

इसी समय उसका एक भाई इङ्गलैण्ड गया। वहाँ उसने यह मशीन कई व्यक्तियों को दिखाई। एक मनुष्य ने उसे २५० पौंड में खरीद लिया। इस व्यक्तिका नाम शायदथा थामस, और वह लंदन-निवासी था। इलियसभी सकुटुंब लंदन पहुंच गया था, परंतु वहां भी उसके पेट की समस्या ठीक रीति से हल न हो सकी। विदेश में भूखों मरने की अपेक्षा देश को लौट जाने में ही उसने अपना भला सोचा। किसी तरह पेटेंट के द्वारा कुछ द्रव्य एकत्रित कर और कुछ अपने कुटुम्बियों से प्राप्त कर इलियस अमेरिका वापस चला आया। वहां थामस ने मशीन की अन्तिम गुत्थी सुलझाने में अपनी शक्तियां लगाई।

न्यूयार्क पहुंचते ही उसे अपनी पत्नी की बीमारी की खबर मिली। द्रव्य होता, तो वह अपनी प्राणप्यारी की सेवा करने के लिये उपस्थित हो सकता। मार्गव्यय के लिये द्रव्य-संचय करने में कुछ दिन लग गये। व्यग्र-चित वह घर पहुँचा। पत्नी उसकी बाट जोह रही थी। एक बार दोनों ने एक दूसरे को देखा, और पत्नी ने अंतिम विदा ली। दुखी इलियस की आंखों से आँसू गिरने लगे।

सच है, जब विपत्ति आती है, तो चारो ओर से आती है। वहां उसके पास धन नहीं था। यहां उसकी पत्नी परलोकवासी हो चुकी थी, और उसकी गैरहाजिरी में उसके देशवासियों ने उसकी मशीन की नकल कर सैकड़ों मशीनें तैयार कर ली थीं।

बड़ी भीषण विपत्ति का समय था। उसने बड़े बड़े वकीलों को खड़ा कर इन नक़ालों के विरुद्ध अभियोग चलाए। खूब मुक़द्दमेबाज़ी हुई। इस कार्य में ८ वर्ष लग गये। परन्तु उसके हृदय से अभी तक आशा बिदा नहीं हुई थी। यद्यपि उसे चारो ओर से असफलता के घनघोर बादल घेरे हुये थे, फिर भी उसे अपने हृदय और अपने कार्य पर विश्वास था। अंत में, सन् १८५६ में, संयुक्त राष्ट्र की अदालत ने उसके पक्ष में अपना न्याय दिया, और समस्त नक़ालों को हर्जाना देने के लिए विवश किया।

थोड़े समय में ही एकदम काया पलट गई। इलियस की वार्षिक आमदनी ५० हजार पौंड से भी अधिक होने लगी। सर्वाधिकार की अवधि समाप्त होने के पहिले ही उसने करोड़ों रुपये पैदा कर लिए सन् १८६७ में, पेरिस की प्रदर्शिनी में, उसकी मशीन के लिए एक स्वर्ण पदक प्राप्त हुआ। उसकी युवावस्था की अभिलाषा पूर्ण हो गई, पर सुख दुःख में साथ देनेवाली उसकी प्रेमिका अब कहाँ थी ?

(सुधा से)

समालोचना

सिन्धदेश की प्राचीन ग्राम कहानियाँ

प्रथम भाग

ले० महर्षि शिवव्रतलाल, प्रकाशक—दीवान वंशधारीलाल जी, संत कार्य्यालय प्रयाग पृ० सं० १०६, मूल्य ॥।) छपाई सफाई सब उत्तम।

सन्त मासिक पत्र का मई जून अंक पाठकों को इस मनोरंजक रूप में भेंट किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक की आठ कहानियों में से कुछ तो पंजाब से और कुछ राजपूताना से सम्बन्ध रखती हैं, परन्तु सिन्ध में आकर इन्होंने सिन्धी रूप धारण कर लिया है। यह पुस्तक कनकीड साहब की अंग्रेजी 'टेल्ज आफ सिन्ध' के आधार पर लिखी गई है। इन कहानियों का प्रचार सिन्ध में बहुत दिनों से चला आ रहा है। ये सब अधिकतर प्रेम कहानियाँ हैं जिनमें स्वाभाविकता का बहुत ही सुन्दर परिपाक हुआ है। हीर-रांझा, जामतमाचीनूरी, वीरसिंह सुन्दर बाई, अमर और मरई तथा सस्सी और पन्नू, की कहानियाँ बहुत ही रोचक हैं। महर्षि शिवव्रतलाल जी की भाषा अति प्राञ्जल है जिसने इसकी रोचकता को और भी बढ़ा दिया है। प्रत्येक कहानी के अन्त में प्रेम से सम्बन्ध रखने वाली एक सुन्दर लावनी भी देदी गई है।

यदि अन्य देशों या प्रान्तों की कहानियाँ भी इसी प्रकार प्रकाशित हो जांय तो बहुत ही अच्छा हो। आशा है कि कहानियों के प्रेमी इस पुस्तक को अवश्य ही बड़े चाव से पढ़ेंगे।

प्रयागकी विज्ञानपरिषत्‌का मुखपत्र

Vijnana, the Hindi Organ of the Vernacular Scientific Society, Allahabad.

अवैतनिक सम्पादक

प्रोफ़ेसर ब्रजराज,
एम० ए०, बी० एस-सी०, एल० एल० बी०

श्रीयुत सत्यप्रकाश,
एम० एस-सी०, एफ० आई० सी० एस०

भाग ३५

कन्या संवत्‌ १९८९

प्रकाशक

विज्ञान परिषत्‌ प्रयाग।

वार्षिक मूल्य तीन रुपये

विषयानुक्रमणिका

अर्थशास्त्र

आरोग्यविज्ञान

इतिहास और जीवन चरित्र

कृषि

जीव विज्ञान

पारिभाषिक शब्द

रसायन

मिश्रित

वैज्ञानिक पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका भाग १—ले० प्रो० रामदास गौड़, एम. ए., तथा प्रो० सालिग्राम, एम.एस-सी. ।)

२—मिफताह-उल-फ़नून—(वि० प्र० भाग १ का उर्दू भाषान्तर) अनु० प्रो० सैयद मोहम्मद अली नामी, एम. ए. ... ... ।)

३—ताप—ले० प्रो० प्रेमवल्लभ जोषी, एम. ए. तथा श्री विश्वम्भरनाथ श्रीवास्तव ... ॥=)

४—हरारत—(तापका उर्दू भाषान्तर) अनु० प्रो० मेहदी हुसेन नासिरी, एम. ए. ... ।)

५—विज्ञान प्रवेशिका भाग २—ले० अध्यापक महावीर प्रसाद, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद १)

६—मनोरंजक रसायन—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम. एस-सी. । इसमें साइन्सकी बहुत सी मनोहर बातें लिखी हैं। जो लोग साइन्स-की बातें हिन्दीमें जानना चाहते हैं वे इस पुस्तक को जरूर पढ़ें। ... १॥)

७—सूर्य सिद्धान्त विज्ञान भाष्य—ले० श्री० महावीर प्रसाद श्रीवास्तव, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद

- मध्यमाधिकार ... ... ॥=)
- स्पष्टाधिकार ... ... ॥)
- त्रिप्रश्नाधिकार ... ... १॥)
- चन्द्रग्रहणाधिकारसे ग्रहयुत्यधिकार तक १॥)
- उदयास्ताधिकारसे भूगोलाध्याय तक ॥)

८—पशुपक्षियोंका शृङ्गार रहस्य—ले० अ० सालिग्राम वर्मा, एम.ए., बी. एस-सी. ... -)

९—ज़ीनत वहश व तयर—अनु० प्रो० मेहदी-हुसैन नासिरी, एम. ए. ... ... -)

१०—केला—ले० श्री० गङ्गाशंकर पचौली ‌-)

११—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली ।)

१२—गुरुदेवके साथ यात्रा—ले० अध्या० महावीर प्रसाद, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद ।-)

१३—शिक्षितोंका स्वास्थ्य व्यतिक्रम—ले०स्वर्गीय पं० गोपाल नारायण सेन सिंह, बी.ए., एल.टी. ।)

१४—चुम्बक—ले० प्रो० सालिग्राम भार्गव, एम. एस-सी. ... ... ।=)

१५—क्षयरोग—ले० डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा, बी. एस, सी, एम-बी. बी. एस ... -)

१६—दियासलाई और फ़ास्फ़ोरस—ले० प्रो० रामदास गौड़, एम. ए. ... ... -)

१७—कृत्रिम काष्ठ—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली =)

१८—आलू—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली ... ।)

१९—फसल के शत्रु—ले० श्री० शङ्करराव जोषी ।-)

२०—ज्वर निदान और शुश्रूषा—ले० डा० बी० के० मित्र, एल. एम. एस. ... ।)

२१—कपास और भारतवर्ष—ले० पं० तेज शङ्कर कोचक, बी. ए., एस-सी. ... -)

२२—मनुष्यका आहार—ले० श्री० गोपीनाथ गुप्त वैद्य १

२३—वर्षा और वनस्पति—ले० शङ्कर राव जोषी ।)

२४—सुन्दरी मनोरमाकी करुण कथा—अनु० श्री नवनिद्धिराय, एम. ए. ... ... -)।

२५—वैज्ञानिक परिमाण—ले० डा० निहाल करण सेठी, डी. एस. सी. तथा श्री सत्य-प्रकाश, एम. एस-सी० ... ... १॥)

२६—कार्बनिक रसायन—ले० श्री० सत्य-प्रकाश एम-एस-सी० ... ... २॥)

२७—साधारण रसायन—ले० श्री० सत्यप्रकाश एम० एस-सी० ... ... २॥)

२८—वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द, प्रथम भाग—ले० श्री० सत्यप्रकाश, एम० एस-सी० ... ॥)

२९—बीज ज्यामिति या भुजयुग्म रेखा गणित—ले० श्री० सत्यप्रकाश, एम० एस-सी० ... १।)

३०—सर चन्द्रशेखर वेङ्कट रमन—ले० श्री० युधिष्ठिर भार्गव एम० एस-सी० ... =)

३१—समीकरण मीमांसा प्रथम भाग ... १॥)

३२—समीकरण मीमांसा दूसरा भाग—ले० स्वर्गीय श्री पं० सुधाकर द्विवेदी ... ॥=)

३३—केदार बद्रीयात्रा ... ।)

पता—मंत्री विज्ञान परिषत्, प्रयाग।

Approved by the Directors of Public Instruction, United Provinces and Central Provinces for use in Schools and Libraries. Reg. No. A. 708.

भाग ३६ VOL. 36. तुला, संवत् १९८९ संख्या १ No. 1

अक्तूबर १९३२

प्रयागकी विज्ञान परिषत्‌का मुखपत्र

'VIJNANA' THE HINDI ORGAN OF THE VERNACULAR SCIENTIFIC SOCIETY, ALLAHABAD.

अवैतनिक सम्पादक

ब्रजराज एम. ए., बी. एस-सी., एल-एल. बी.,

सत्यप्रकाश, डी. एस-सी., एफ. आई. सी. एस.

प्रकाशक

वार्षिक मूल्य ३)] विज्ञान परिषत्, प्रयाग [१ प्रतिका मूल्य ।)

विषय-सूची

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥ तै० उ० ।३।५॥

भाग ३६ } तुला, संवत् १९८९ { संख्या १

'अन्वेषण'

[ले० श्री व्रजकिशोर मालवीय, बी० एस-सी०]

रसायनशाला तो वही है जहां सहस्त्रों बोतलों का समावेश है। जहां रंग बिरंगे द्रव पदार्थ देखने में आते हैं तथा जहां संसार की सभी धातुयें अथवा धातु संबन्धी वस्तुयें विद्यमान हैं। ऐसी चर्चा का विस्तार होते होते रसायनिक आविष्कारों का वर्णन आगया और महाशय कहने कि लगे विज्ञानकी और शाखाओं के खोज का ढंग तो शीघ्र समझ में नहीं आता किन्तु रसायन शास्त्र की तो सीधी सादी चाल है, इसके अन्वेषण का एक अनोखा ढंग है। रसायनिकों का काम है किसी वस्तुका विश्लेषण करना या संश्लेषण करना और इन दो क्रियायों के लिये उन्हें तपाने, भपका उतारने, सुखाने इत्यादि अकर्मण्य कार्य की सुधि लेनी पड़ती है। जो व्यक्ति अन्वेषण में लगे हैं वे एक बोतल के द्रव को दूसरे बोतल में और दूसरे बोतल को तीसरे में तथा दोनों को एक साथ तीसरे में मिलाते हैं। इसी प्रकार के अनेक एकादिभेद अथवा अङ्कपाश क्रिया किया करते हैं और कभी अच्छे अच्छे रंग पा जाते हैं, कभी कोई रंगीन तलछट आजाता है तो कभी केवल कोई बोतल गर्म ही हो जाते हैं। इनमें से कितने एकादिभेद पहले देखे जा चुके हैं और उनकी संग्रहीत पुस्तकें हैं। इसी प्रकार से कोई नई जिसे किसी ने पहले नहीं देखा है, वस्तु मिलने पर आविष्कार हो जाता है।

ऐसी अंधेर नगरी में अंधे को चाहे अंधेरे में बड़ी दूर की सूझे लेकिन आविष्कार आविष्कार तो होता नहीं। घटनात्मक या अचानक ही कोई आविष्कार न आज तक हुआ है न कभी होने की सम्भावना ही है। यों तो कितने ही आविष्कारों का इतिहास संग्रहीत किया जा सकता है जो स्पष्ट रूप में घटनात्मक ही दृष्टि आते हैं। किन्तु खोज विनोद से यही पता चलेगा कि ऐसे आविष्कार केवल ऊपर ही से घटनात्मक हैं।

कभी कभी प्रतिक्रिया मंडल में अवश्य वस्तुओं के आजाने से कितने आविष्कार हुये हैं। नील के

एक माध्यमिक वस्तु की बनावट में तापमापक के टूट जाने से जो पारा प्रतिक्रिया मंडल में आ गिरा उसने नीलव्यापार में उथल पुथल मचा दिया। पारद एक ऐसा योगवाही मिल गया जिसके कारण नील की माध्यमिक वस्तुका बनना सम्भव हो सका। यदि तापमापक टूटने की शुभ घटना या दुर्घटना न हुई होती तो संश्लेषिक नील देखने में न आती। इस घटना को शुभ होने का अवसर तभी मिल सका जब कि एक नियमबद्ध प्रणाली के कारण इस घटनाके सम्मुख प्रतिक्रिया मंडल स्थापित था। यह तो सर्व विदित है कि सच्चा कारण मालूम करने के लिये बड़े प्रयत्न की आवश्यकता पड़ी और घटना को रचनात्मक बनाने में कितने ही प्रयोग करने पड़े।

साधारणतया लोग जानते हैं कि परकिन को अचानक ही माविन नामक रंग का पता लग गया। लेकिन एमिल फ़िशर का कहना है :—

"उस समयमें प्राप्य अशुद्ध एनीलीन (Aniline) की परीक्षा करते हुए उन्हें उस पर ओषद्-कारकों का असर देखना पड़ा। तुरन्त ही उन्हें बगनी तलछट मिले। जिसे उनके समय के कितने ही रसायनिक हौद में फेंक देते किन्तु ऐसी उनकी कार्य संलग्नता थी कि एक ऐसी निःसार वस्तु से कोलतार के अपार रंगों में से पहला रंग बना सके" इस प्राकथन से विदित है कि आविष्कारक की कार्य दृढ़ता और कार्य संलग्नता ही मुख्य कारण है।

जिस तरह फैराडे ने घंटों चुम्बक को तारवेठन में रक्खा था लेकिन जरा भी विद्युतशक्ति-मापक में गति न हुई थी। अन्त में हार मान कर चुम्बक को निकालना शुरू किया था कि तुरन्त ही विद्युच्छक्ति-मापक गतिप्राय हो गया। इस महान आविष्कारक की कैसी अद्भुत शक्ति थी कि इतना निराश हो जाने पर भी इसकी आंखे विद्युच्छक्ति-मापक पर से न हटीं यदि जरा भी आंख निराश-स्तब्ध होती तो विद्युत के सारे चमत्कार, डाइनामों, बिजली की कलें, मोटर इत्यादि देखने में न आतीं। इन सब की जड़ तो वही एक सादा प्रयोग है जिसे आज भौतिक विज्ञान का साधारण से साधारण विद्यार्थी जानता है और प्रयोग कर सकता है। यह प्रयोग केवल फैराडे के महान निरीक्षण ही के प्रताप से है।

नारंगियों को गिरते कितने ही मनुष्यों ने देखा होगा और कितने ही लोग बहुधा देखते हैं लेकिन गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिये न्यूटन ही की आवश्यकता थी। नारंगी जैसी निर्जीव चीज ने एक विचित्र भावना को जगा दिया जिससे न्यूटन ने बड़े गम्भीर विचार के बाद अपने सिद्धान्त को जगत् विख्यात किया।

उसी प्रकार आइन्स्टाइन ने एक मनुष्य को छत पर से गिरते देखा जिसे देखकर हममें से कितने ही मनुष्य उस बेचारे पीड़ित की दशा पर तर्स खाते लेकिन आइन्सटाईन की उस समय न जाने कैसी विचार प्रगति थी कि वे कागज पेन्सिल लेकर बैठ गये और सापेक्षिक सिद्धान्त का निर्माण बड़े गूढ़ विचारके बाद किया। अतः यह घटना आविष्कारका मुख्य कारण नहीं है, आविष्कारक की बुद्धि तथा उसकी कार्यदक्षता ही मुख्य कारण है। आज तक जितने आविष्कार हुये हैं उनमेंसे कोई भी साधारण व्यक्ति के नाम अंकित नहीं है।

केकुले (Kekule) एक विचित्र विचारवान रसायनिक थे। उन्हें कर्बन रसायन का ऐसा नशा था कि दिन रात अपनी रसायन कथा गाथा ही में निमग्न रहते थे। साधारणतया लोग जानते हैं कि एक दिन उन्होंने स्वप्न देखा कि एक सर्प ने नाचते नाचते अपने मुखसे अपनी ही दुम पकड़ ली और फिर नाचने लगा बस इसी स्वप्न के आधार पर उन्होंने बानजावीन (Benzene) का सांचा बना डाला जो अब कर्बन रसायन का आधार है। लेकिन इस बानजावीन सिद्धान्त का निर्माण केकुलेकी विचार शक्तिके प्रभावसे हुआ है। स्वप्न अचानक ही बीचमें टपक पड़ा जैसा कि हम केकुले के स्वयं लिखित

वाक्यों से देखते हैं। उन्होंने अपनी जीवन स्मृति में लिखा है कि—

"मैं अपनी पुस्तक लिख रहा था किन्तु कार्य ज्यादा नहीं चल रहा था। मेरा ध्यान कहीं और था मैंने अपनी कुर्सी आगे की ओर घुमा ली और ऊंघने लगा, फिर परमाणु हमारे सामने उछलने लगे। इस बार छोटे छोटे समूह (groups) पीछे ही की ओर रहे। मेरा आंख ऐसे दृश्य बार बार देखने से बड़ी तीव्र हो गई थी लेकिन बड़े और मिश्रित सांचों को पहचान न सकी जो कि लम्बी सतरों में और कभी कभी खूब सटे हुये सर्प गतिके समान आपसमें घूमते और लपटते थे। लेकिन देखो! यह क्या था इनमें से एक सर्प ने अपनी ही दुम को पकड़ लिया और यह आकार हमारी आंखे के सामने उछल पड़ा। बिजली की तरह मैं उठ बैठा और इस समय भी बाकी रात मैंने सिद्धान्त को समझने में व्यतीत कर दिया।"

चाहे विचार स्टिवेनसन की तरह निद्रावस्था में जागृत हो या झपकी में केकुले की तरह आजाय या प्वांकरे की तरह नदी के पुल पर विचार निर्माण हो, घटनायें स्वयं आविष्कार का कारण नहीं हो जातीं। ये केवल आन्तरिक विचार, जो आभास रूप में सर्वदा जागृत रहता है दिन के प्रकाश में लाने में सहायक होतो है। जब विचार अन्दर ही अन्दर पूर्ण रूप में परिपक्व हो जाता है तो किसी न किसी बाह्य रूप में फटक पड़ता है और तब जीवित या जाग्रत अवस्था के विचार-विमर्श से सिद्धान्त का पूर्ण जन्म होता है।

गत शताब्दी से आविष्कार का इतना महत्व ऊँचा हो गया है कि अब संसार के सभी कार्य क्रममें आविष्कार का आतंक जम गया है। पत्र पत्रिकाओं में इस शब्द को ऊँचा स्थान मिला है। आजकल इसकी ऐसी बढ़ती धाक देखकर विज्ञापनमें भी अन्वेषण शब्द आघुसा है। नित्य ही चौराहों पर विज्ञापन पत्रों पर देखनेमें आता है कि अमुक न अमुक क्रीम बड़े अन्वेषण के बाद निकाली गई है और इसके बनने में बड़े वैज्ञानिक निरीक्षण से काम लिया जाता है। यदि रसायनिक वस्तुओं के बारे में ऐसा कहा जाय तो बहुत कुछ ठीक भी उतरता है। क्योंकि अनेक औद्योगिक शालाओं में अब अन्वेषण शालाएं स्थापित हो गई हैं। लेकिन जब हम पढ़ते है कि अमुक नाम का जन्त्र बड़ी खोज के बाद निकाला गया, इसकी सारी क्रिया वैज्ञानिक है, यह मनोवांछित फलदायक है, हमको दीख पड़ता है कि अन्वेषण और वैज्ञानिक शब्द की महत्ता धीरे धीरे उठ जायगी। हमारे देशमें तो बड़ी दूकानों तथा उद्योगिक शालाओंका तो यह शब्द अमोघ शब्द है। इस शब्द का बहुधा काम में लाना उन्हें आवश्यक समझ पड़ता है किन्तु वास्तव में इस नाम की लाज रखने को भी उनका अन्वेषण की ओर झुकाव नहीं है। अभी तो कारबारी लोग अन्य देशों के कारबार की नकल में लगे हैं। पाश्चात्य देशों की कलें और उनके ढंग पूर्ण रूप में काम में लाये जाते हैं। डेढ़ सौ वर्ष पहले जो देश अपनी कला-कुशलता में कोई सानी नहीं रखता था जिसकी कला भेद तलवार के जोर पर छीन लिया गया वही देश अब अन्य देशोंकी राह देखता है। जिस देशके कला कौशल में 'विज्ञान और अन्वेषण' इन दो शब्दों की बहार नहीं थी किन्तु निर्मित पदार्थों के गुण और उनके बनावट का व्यय और देशों की प्रतिद्वन्दता में अद्वितीय था। आज वही देश अन्वेषण शब्द चर्चा निमग्न है। लेकिन ऐसा करने से हमारा देश लम्बी दौड़ में हमेशा आश्रित ही रहेगा।

इंगलैंड वाले हमेशा से आसरा देखने की नीति के उपासक है। जब कभी किसी देश में आविष्कार होता और आविष्कार पेटेन्ट द्वारा सुरक्षित कर लेते हैं तो इंगलैंड पेटेण्ट की अवधि तक आसरा देखता और जब पेटेण्टकी अवधि पूर्ण हो जाती है तब इङ्गलैंड वाले उस वस्तुको बना कर लाभ उठानेके प्रयत्न में लगजाते हैं। ऐसा करनेसे उनको केवल उद्योगिक लाभ हो जाता है और आविष्कारक अन्वेषण व्ययसे

तथा उद्योगिक व्यय से कहीं अधिक लाभ होता। प्रारम्भिक अन्वेषण का काम दूसरों के हाथ छोड़ देने से कुछ व्यय तो अवश्य बच जाता है लेकिन यदि कोई आविष्कार हो जाता है तो व्यय से इतना अधिक लाभ होता है कि अन्वेषण व्यय नहीं के बराबर मालूम होता है।

कुछ वर्ष हुये रोडामिन टी नाम का एक रंग बाजारमें आया। इसके ऐसे गुण अभी तक किसी रंग में नहीं पाये जाते थे। इस रंग का भाव आरम्भ में लगभग ४८ रु० प्रति पाउण्ड था और संसार के सब बाजार पेटेण्ट वालों के अधिकार में थे। जब पेटेन्ट की अवधि समाप्त हो गई इस रंग का दाम ४८ रु० प्रति पाउण्ड से घट कर ४ रु० पाउण्ड हो गया। इतने कम मूल्य में बिकनेमें बनाने वाले को केवल उद्योगिक लाभ ही होता है। पेटेण्ट खुल जाने के बाद सभी जगह चीजें बनने लगती हैं और प्रतिद्वन्द्वता इतनी बढ़ जाती है कि उसका मूल्य अत्योचित होकर ही रहता है। आसरा देखने वालों को पेटेन्ट का अत्यधिक लाभ नहीं मिलता। खोज निमग्न उद्योगिक शालाएँ जिन दिनों पेटेन्ट से लाभ उठाती रहती हैं उन्हीं दिनों में बनाने की क्रिया को इतना शुद्ध कर लेती हैं कि पेटेन्ट खुल जाने पर भी उन्हीं का आंतक जमा रहता है और दूसरी उद्योगिक शालाओं को पेटेन्ट की अवधि के बाद बहुत समय लगता है जब कि वे उन्हीं वस्तुओं को कुछ लाभ पर बेंच सकें।

और और स्वतंत्र देशों में अब अन्वेषण की बड़ी चलन हो गई है और बड़े २ कारखानों में अन्वेषण शालाऐं खुल गई हैं और आय का अच्छा हिस्सा खोजमें व्यय किया जाता है। बहुत दिनों तक उद्योगिक शालाओं में उद्योगिक खोज ही पर ध्यान दिया जाता है लेकिन अब उन्हें शुद्ध अन्वेषण क्रिया की महत्ता में पूर्ण विश्वास हो गया है और ये अन्वेषण शालायें विज्ञान की हद बढ़ाने में सहायक हुई हैं।

हमारे देश में जो कुछ भी अन्वेषण होते हैं वह केवल शुद्ध विज्ञान में ही होते हैं और वह भी विश्वविद्यालयों में। जो भी विद्यार्थी इन विश्वविद्यालयों की प्रयोगशाला में काम करते हैं और फिर खोज में लग जाते हैं उन्हें उद्योगिक खोज का ज्यादातर कुछ भी ज्ञान नहीं होता। उनके लिये उद्योगिक खोज उठाना उतनी ही समस्या होती है जैसे फौजी आदमी परेट पर जाने में बड़ा उत्साह दिखाते हैं पर लड़ाई पर जाने में उनकी दशा में काया पलट हो जाती है। विश्वविद्यालय के खोज विद्यार्थी जब उद्योगिक खोज में हाथ लगाते हैं तो उनको बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इस नवीन मैदान में हिलते हाथ किनारे कर दिये जाते हैं और अनिश्चय काम करने वाले शीघ्रही अपनी जगह ढूंढ़ लेते हैं। कालेज प्रयोग शालाओं में जो भी प्रयोग निष्फल जाता है उसको हौद में फेंक कर हाथ धो लिया जाता है। उद्योग शालाओं में काम बिगड़ जाने पर इतनी व्यर्थ वस्तु एकत्रित हो जाती है कि उसका पार लगाना एक दूसरा प्रश्न हो जाता है। कोई भी प्रयोग कितना भी अध्ययन न कर लिया गया हो लेकिन जब यह बृहत परिमाण में शुरू किया जाता है तब न जाने कहाँ से कितनी कठिनाइयां आ घेरती हैं। यदि कोई प्रयोग कुछ वर्षों तक चल निकला तो बाद में उसमें उलट फेर करना बड़ी टेढ़ी खीर हो जाती है। मजदूर तथा और उच्च-श्रेणी के उद्योगिक कार्य कर्त्ता पुराने ढंग में इतने मंज जाते हैं कि उनको कोई परिवर्त्तन बड़ा बेतुका मालूम होता है। थोड़े परिमाण में प्रतिक्रियायों की कई श्रेणी बड़ी अच्छी गति से होती हैं लेकिन जितनी ही प्रतिक्रिया मिली होती हैं उनका उद्योग में प्रयोग उतना ही दुर्गम होता है। ऐसी जगह यदि कोई बुराई पैदा हो जाती है तो यह बतलाना बड़ा कठिन हो जाता है कि कौन सी प्रतिक्रिया गलत है। अस्तु, कितनी प्रकार की कठिनाइयां आ जाती हैं कि जो शुद्ध विज्ञान में खोज निमग्न विद्यार्थी को अवाक् कर देती हैं। इसलिये इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि हमारे विश्वविद्यालयोंमें शिक्षा इस प्रकार से

ढाली जाय और अन्वेषणका रूप इस प्रकार बदला जाय जिससे उद्योगिक धंन्धों को सहायता मिले तथा यहां के विद्यार्थी उद्योगिक शालाओं में भली भाँति कार्य निपुण रहें।

———

विद्युत द्वारा कलई

[ले० श्री गणेश प्रसाद दुबे]

मनुष्यकी सभ्यताकी वृद्धिके साथ हीसाथ उसकी आवश्यक वस्तुयें भी बढ़ती ही जाती हैं। प्राचीन काल के इतिहास से ज्ञात होता है कि सर्व प्रथम लोग हड्डी तथा पत्थर के औजार, और मिट्टी के बर्तन काम में लाते थे, धातु की बनी हुई वस्तुयें तो उनके पास थीं ही नहीं। परन्तु रसायन शास्त्र की वृद्धि तथा भिन्न भिन्न धातुओं के अन्वेषण से और वैज्ञानिकों के कठिन परिश्रम से आज कल लगभग सभी लोग धातु की बनी हुयी वस्तुओं का प्रयोग करने लगे हैं। खाने के बर्तन तथा जलपात्र इत्यादि भी धातुओं के ही बने हुये होते हैं, परन्तु कालचक्र की गति बहुत ही कठिन होती है, इन सब धातुओं की शोभा तथा चमक वायु और जल के प्रभाव से नष्ट हो जाती है, और उन पर बहुधा हानिकारक वस्तुयें जम जाती हैं। किसी धातु की वस्तु को हवा और जल के हानि कारक प्रभाव से सुरक्षित रखने के लिये, उस पर सुन्दरता और स्वच्छता लाने के लिये उस पर एक दूसरी धातु की पतली तह जमा दी जाती है। इसको कलई करना कहते हैं, जमी हुई धातु ऐसी होनी चाहिये कि उस पर हवा इत्यादि का प्रभाव न पड़े। कलई कई प्रकार से की जाती है, परन्तु यहाँ पाठकों का ध्यान विद्युत द्वारा कलईकी ओर आकर्षित किया जायगा।

किसी जल में घुले हुये लवण में यदि विद्युत् धारा का प्रवाह कराया जाय तो उसके धन मूल ऋणोद पर तथा अम्ल मूल धनोद पर एकत्रित हो जाते हैं। इसी सिद्धान्त का प्रयोग कलई करने में किया जाता है। जिस वस्तु पर कलई करना होता है उसे ऋणोद बनाते हैं और जिस पदार्थ से कलई की जाती है उसे धनोद बनाते हैं, इन दोनों के बीच में धनोद वाले पदार्थ के एक ऐसे लवण का घोल रखते हैं, जिसमें विद्युतधारा प्रवाह शीघ्र हो सके। विद्युत संचालन करने पर ऋणोद पदार्थ पर दूसरे धातु की पतली तह जमना प्रारम्भ हो जाती है, कुछ काल के बाद यह तह काफ़ी मोटी हो जाती है और तब विद्युत धारा प्रवाह बन्द कर दिया जाता है, बस कलई हो गयी। चूँकि यह बात परम आवश्यक है कि जमे हुये धातु की तह सब जगह समान रहे तथा कलई चिरकाल तक बनी रहे, इसलिये जिस वस्तु पर कलई करना हो, उसे बहुत ही साफ़ रखना चाहिये, उस वस्तु के स्वच्छ होने पर भी प्रायः कलई चिरकालीन नहीं रह सकती। इसका कारण यह है कि दोनों प्रकार की धातुओं में अच्छी तरह मेल नहीं होता है, जैसा बहुधा दो मनुष्यों में पाया जाता है। यदि उस धातु में मुरचे लग गये हों तथा उस पर ओषजन की एक तह जम गयी हो तो उसे बालू दार कागज (Sand paper) से भली भांति साफ़ कर लेना चाहिये। यदि कोई तेल का पदार्थ लग गया हो तो उसे क्षार के घोल में डुबो कर साफ़ कर लेना चाहिये। फिर उस वस्तु को ऋणोद के स्थान पर रख कर, जैसे उपर्युक्त वर्णन किया गया है, विद्युत संचालन करना चाहिये।

जस्ते की कलई

लोहे की वस्तुयें जैसे पानी की कलें, लोहे के तार इत्यादि, शीघ्र ही मुरचे से खराब हो जाती हैं इसलिये उस पर कलई की आवश्यकता पड़ती है। बहुत दिनों के अनुभव ने सिद्ध किया है कि लोहे पर जस्ते की कलई बहुत आसानी से की जा सकती है और उस लोहे के पदार्थ को सुरक्षित बना

सकती है। लगभग ५० ग्राम प्रति लीटर दस्त गन्धेतका घोल बनाया जाता है। उसकी विद्युत प्रवाह शक्ति को बढ़ाने के लिये उसमें कुछ सैन्धक गन्धेत, साधारण नमक या मगनीस गन्धेत भी डाल दिये जाते हैं। उस लोहे की वस्तु को भली भांति साफकर उसे ऋणोद स्थान में रख दिया जाता है फिर जस्ते के एक टुकड़े को धनोद बनाया जाता है। तत्पश्चात् विद्युत संचालन करने पर कुछ समय के बाद उस पर जस्ते की एक समान पतली तह जम जाती है। बस जस्ते की कलई हो गयी। कभी कभी घोल दस्त श्यामिद और पांशुज श्यामिदके मिश्रणका बनाया जाता है। विद्युत द्वारा कलई के समय सर्वदा इसका ध्यान रहे कि कलई कीजाने वाली वस्तु ऋणोद स्थान पर रहे।

ताँबे की कलई

इसमें तूतियेका एक घोल बनाया जाता है, जिसमें एक तांबे का धनोद तथा एक दूसरी धातुका ऋणोद रहता है। लोहे तथा जस्ते पर तांबे की कलई आसानी से नहीं हो सकती है। इसके लिये एक दूसरे घोल की आवश्यकता रहती है। घोल पांशुज श्यामिद और ताम्र श्यामिदके मिश्रण का बनाया जाता है।

कांसे की कलई

रसायन शास्त्र द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि कांसा दो धातुओं के मिश्रण से बनता है, ये दोनों धातुयें जस्ता और ताँबा हैं, इस मिश्रण का अनुपात भिन्न भिन्न भी होता है परन्तु अधिकतर दोनों ४ : १ के अनुपातमें रहते हैं, इसलिये इसमें पांशुज दस्त श्यामिद और पांशुज ताम्र श्यामिद के मिश्रण का घोल रखा जाता है और धनोद स्थान पर ८०°/॰ जस्ता और २०°/॰ तांबे का बना हुआ एक टुकड़ा रहता है।

चांदी की कलई

चांदी एक काफी महंगी धातु है, परन्तु बहुतेरे धनी लोग अपने बर्तनों पर चांदीकी कलई कराते हैं, चांदी में विद्युत धारा प्रवाहन शक्ति सबसे अधिक है। चांदी के मंहगे होनेके कारण, इसकी कलई की तह बहुत ही पतली होनी चाहिये। इसलिये इसमें रजत श्यामिद और पांशुज श्यामिद का मिश्रित घोल रखा जाता है। इसमे चांदी की तह बहुत धीरे धीरे चारों ओर समान जमती है और चिरकालीन रह सकती है और तिस पर भी उस पर हवा का प्रभाव नहीं पड़ सकता क्योंकि चांदी, भस्म जल्दी नहीं बन सकता। धनोद चांदी ही का रहता है। कभी कभी रजत नोषेतका घोल भी बहुत अच्छा काम दे सकता है।

सोने की कलई

चांदीकी अपेक्षा सोना अधिक कीमती है, इसमें भी पांशुज स्वर्ण श्यामिदका घोल प्रयोगमें लाया जाता है। सोने की अपेक्षा पांशुज श्यामिद छः गुना अधिक लिया जता है, सोने का धनोद बनाया जाता है परन्तु कभी कभी यह पूर्णतया काम नहीं देता और निश्चेष्ट हो जाता है। श्यामिद के प्रयोग से सोने की तह चारों तरफ समान जमती है तथा वह जल्दी छूटती नहीं।

निकेल की कलई

और धातुओंकी अपेक्षा यह काफी सस्ती है, इस लिये यह कम कीमती वस्तुओंको कलईमें अधिक प्रयोगकी जाती है इसमें निकेल अमोनियम गन्धेत का घोल प्रयोग में लाया जाता है और उसके साथ कुछ गंधक का तेजाब भी मिला दिया जाता है—इसको विद्युत संचालक शक्ति बढ़ाने के लिये सैन्धक हरिद या गन्धेत इत्यादि का भी प्रयोग किया जाता है, प्रायः अमोनियम गन्धेत से निकेल गन्धेतका अवकरण हो जाता है, इसलिये आज कल निकेल गन्धेत, न $ग ओ_४$, ७ $उ_२$ ओ का प्रयोग किया जाता है।

उपर्युक्त बातों को ध्यानमें रखते हुये यह कहा जा सकता है कि कलई व्यवसाय की व्यापारिक सफलता विद्युत् उत्पन्न करनेके व्यय पर है। जितना

ही विद्युत् का व्यय कम होगा उतनी ही व्यापारिक सफलता होगी। भारतवर्षमें बिजली उत्पन्न करनेके बहुतसे प्राकृतिक साधन हैं, परन्तु अति खेद की बात है कि भारत सरकार अपना ध्यान उस पर न देकर भारत वर्ष को बहुत बड़ी व्यापारिक हानि पहुँचा रही है।

अणुवीक्षण यंत्र

(Microscope)

[ले० श्री डी० एस० निगम० एल, ऐजी, बी० एस-सी०]

बहुत सी ऐसी वस्तुएं हैं जो कि आंखोंसे नहीं देखीजा सकती हैं। उनको देखनेके लिये ऐसे यंत्रकी आवश्यकता है जिससे छोटी वस्तु बड़ी दिखाई दे। ऐसे यंत्र को अणुवीक्षण या सूक्ष्मदर्शक कहते हैं। इस यंत्र की सहायतासे वैज्ञानिकोंने अनेक प्रकार की सूक्ष्म वनस्पतियों को देखा है जिसका साधारण मनुष्य कभी भी अनुभव नहीं कर सकते और यह सुन कर कि संसार में ऐसी सूक्ष्म वस्तुऐं भी हैं कभी विश्वास न करने को तय्यार होंगे। ऐसे सूक्ष्म जीव प्राणीवर्गमें भी हैं। यंत्र ऐसे ऐसे बने हैं कि एक छोटी चीज़ को कई हज़ार गुना बड़ा करके देख सकते हैं। इसकी सहायता से प्राणी और पौधोंके अंग की भीतरी बनावट भी देखी जा सकती है।

चित्रमें अणुवीक्षण यंत्रके भिन्न भिन्न अङ्गोंके नाम दिये हैं।

परीक्षक चक्षुतालमें से देखता है। देखी जाने वाली चीज़ पट्टी पर रख कर एक शीशे की पत्ती (Cover glass) से ढंक कर रक्खी जाती है। यह पट्टी ठीक स्थान पर रख कर कमानीसे दबाई जाती है। मंचमें एक छेद होता है शीशा उजाले को इकट्ठा करके इकट्ठा करने वाले शीशे द्वारा वस्तुताल को देता है। यदि उजाला अधिक हो तो पर्दे से कम कर देते हैं। यह उजाला ठीक वस्तुतालके शीशे पर डालनेके लिये पर्देके पेंच काममें लाये जाते हैं। फिर यह उजाला पट्टी और वस्तुमें होकर वस्तुतालमें पहुँचता है और वस्तु का चित्र बड़ा हो जाता है। यह उजाला और देखी जाने वाली वस्तु का चित्र चक्षुतालमें होकर परीक्षक को दीखता है। इस तरह से वस्तु बहुत बड़ी दीख पड़ती है। पौधोंके अङ्गकी बनावटके देखनेके लिये उसकी पतली से पतली झिल्लियां काटी जाती हैं।

वस्तुताल और चक्षुताल कई प्रकारके होते हैं और उनके बदलने से परीक्षक को वस्तु का चित्र उतना ही बड़ा या छोटा दिखाई पड़ता है नीचे दिये हुए नक्शे से भिन्न भिन्न चक्षुताल और वस्तुतालके साथ लगाने से चित्र कितना बड़ा दिखाई देगा यह मालूम होगा।

भिन्न भिन्न चुक्षुताल और वस्तुताल के मेल से चित्र की नाप

		न०	नं० १	चक्षुताल नं० २	नं० ३	नं० ४	नं० ५
	०	४	५	६	८	१०	१२
छोटे	१*	११	१३.५	१६	२२	२७	३२
वस्तुताल	१	१३	१६	१९	२६	३२	३८
	१(अ)	८-१२	१०-१६	१३-१९	१६-२५	२०-३१	२६-३८
	२	२३	२९	३५	४६	५८	७०
	३	४१	५१	६२	८२	१०३	१२३
	३(अ)	५४	६८	८१	११०	१३५	१६५
	४	७५	९५	११५	१५०	१९०	२३०
	५	१३५	१६५	२००	२६५	३३५	४००
	६ (अ)	१७५	२२०	२६५	३५०	४४०	५३०
बड़े	६	१८०	२२५	२७०	३६०	४५०	५४०
वस्तुताल	७ अ)	२३०	२९०	३५०	४६५	५८०	७००
	७	२५०	३१०	३७५	५००	६२५	७५०
	८	२८०	३५०	४२०	५६०	७००	८४०
	९	३४०	४२५	५१०	६८०	८५०	१०२०
पानी का वस्तुताल	१०	३६०	४५५	५४५	७२५	९०५	१०९०
	१/७(अ)	२१५	२७०	३२५	४३०	५४०	६५०
तेलवाले	१/१०(अ)	२८०	३५०	४२०	५६०	७००	८४०
वस्तुताल	१/१२	३६०	४५०	५४०	७२०	९००	१०८०
	१/१२(अ)	३८०	४७५	५७०	७६०	९५०	११४०
	१/१६	४५०	५६०	७००	९००	११४०	१४००

अणुवीक्षण (Microscope)
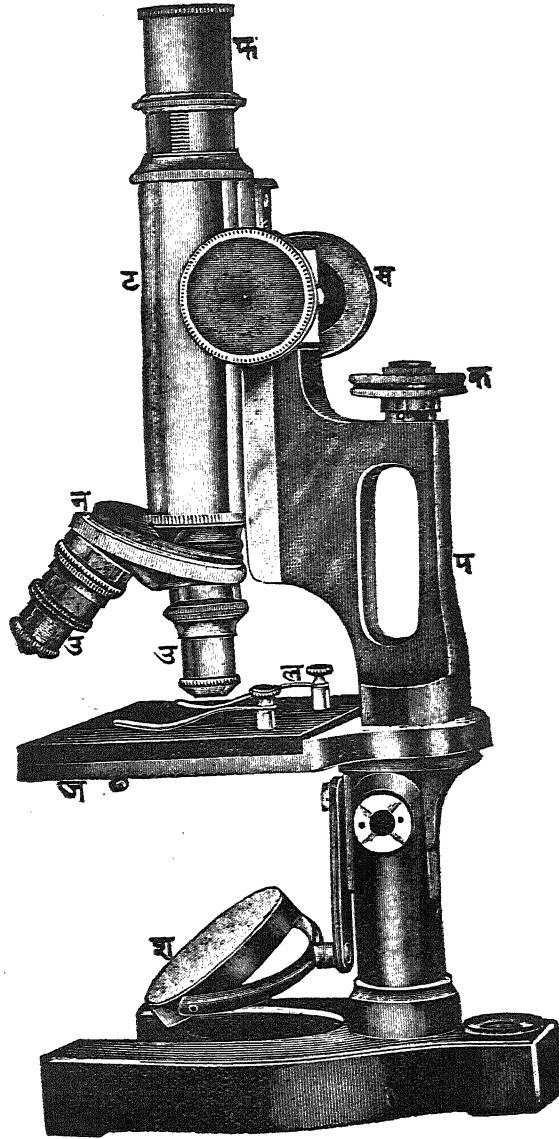
फ=चक्षुताल, स=मोटा पेंच, न=नाक, उ=वस्तुताल, ल=कमानी, ज=मन्च, श=शीशा ।

अंग्रेजी नाम	हिन्दी शब्द
Microscope	अणुवीक्षण, सूक्ष्मदर्शक
Eye piece	चक्षुताल
Draw Tube	भीतर की नली
Body tube	बड़ी नली
Coarse adjusment crew	मोटापेंच
Fine adjustment screw	छोटा पेंच
Low power lens	छोटा वस्तुताल
Nose Piece	नाक
High power lens	बड़ा वस्तुताल
Immersion lens	तेल वाला वस्तुताल
Slide	पट्टी
Clips	कमानी
Stage	मंच
Mechanical Stage	मंच का पैमाना
Diaphragm	पर्दा
Centering Screw	पर्दे का पेंच
Body	शरीर
Condensor	उजाला इकट्ठा करने का शीशा
Mirror	शीशा
Legs	पैर
Tilting Screw	घुमाने का पेंच
Cover glass	शीशे की पत्ती

जल चिकित्सा

[ले० श्री गौदत्त शर्मा]

आज संसार में विज्ञानकी धूम मची है। असंभव कार्य भी संभव ही नहीं किन्तु आसान भी हो गये हैं। जो काम आसानीसे न हो सकते थे मशीनों द्वारा अत्यन्त कम समयमें तथा बड़ी सरलताके साथ पूरा किये जा सकते हैं। जिस कामकी स्वप्नमें भी सम्भावना न थी वह साधारणसे साधारण मनुष्य भी सरलता से कर सकता है। विज्ञानके कारण हर ओर उन्नति ही उन्नति दिखाई देती है। परन्तु आयुर्वेद अर्थात् चिकित्सा शास्त्र का कुछ अजब ही हाल है। यह बात ठीक है उसमें पाक शास्त्र का भी बहुत कुछ भाग है परन्तु कुछ भी हो आज इतनी औषधियों के रहते पर भी पहिले से कहीं अधिक रोग दिखाई देते हैं। नये नये रोग जो पहिले कभी किसी को हुआ करते थे आजकल साधारण से हो गये हैं। यद्यपि रोगों की संख्या से भी औषधियों की संख्या अधिक है तथापि रोग ही विजयी प्रतीत होते हैं।

हमारे शरीरमें बाह्य पदार्थ (foreign matter) के होने का ही दूसरा नाम रोग है। सर में दर्द हो

या भगंदर। पाण्डुरोग हो या राजयक्ष्मा, पैर में नासूर हो या आंख में मोतिया परन्तु इन सब रोगों का कारण एक ही है और वह है हमारे शरीर में बाह्य पदार्थ की उपस्थिति। यद्यपि यह बात आश्चर्य-जनक सी प्रतीत होती है कि इतने भिन्न रोगों का कारण एक ही वस्तु है परन्तु हमें चकित न होना चाहिये। वही बिजली जो पंखा चला कर शीतल वायु द्वारा गर्मी का नाश करती है, भट्टी दहका कर जाड़े का अपहरण करती है। जैसे एक ही विद्युत प्रवाह भिन्न भिन्न यंत्रों द्वारा ठीक विपरीत कार्य कर सकता है वैसेही बाह्य पदार्थ भी भिन्न स्थानों में रहने से भिन्न प्रभाव दिखा सकता है। शरीरके जिस भाग में वह होगा उसी भाग का कोई न कोई रोग हो जायेगा और फिर क्या रोग होता है वह इसके परिमाण पर निर्भर है। यदि वह अधिक परिमाण में उपस्थित होगा तो भयानक, नहीं तो साधारण रोग का कारण होगा।

आप जानते हैं कि पाखाना पेशाब पसीना आदि यदि ठीक तरह से चलता जाय तो स्वास्थ्य ठीक रहता है और यदि एक दिन भी इसमें गड़बड़ हुई तो सरका दर्द, पेट का फूल जाना, खट्टे डकार आना, शरीर का गिरना आदि किसी न किसी रोग का श्री गणेश हो जाता है। इनमें से किसी में भी गड़बड़ होना रोग का नोटिस होता है। इससे मेदे (abdomen) में सड़न या जोश पैदा होता है और गंदी वाष्प पैदा होती हैं इसी का नाम बाह्य पदार्थ है और यही रोग का मुख्य कारण है। अप्राकृतिक तथा अवैज्ञानिक ढंग से पचे भोजन का सेवन अथवा स्वादिष्ट भोजन का आवश्यकता से अधिक सेवन ही इस बाह्य पदार्थ का मुख्य कारण है। अब यह गंदे वाष्प शरीर के जिस भाग की ओर भी जाते हैं उसके कार्य संचालन में विघ्न स्वरूप होते हैं, फलतया शरीर का वह भाग अपना काम ठीक प्रकार नहीं कर पाता और इसे ही डाक्टर वैद्य, या हकीम रोग कहते हैं। जब ये वाष्प फेफड़ों पर कृपा दृष्टि करते हैं तो फेफड़ों का कोई रोग उत्पन्न होता है जिसे डाक्टर दमा या राजयक्ष्मा या निमोनिया इत्यादि के नाम से पुकारते हैं। और जब यह आंख की ओर कूच करते हैं तो अंधा बना देते हैं। सरमें पहुँच जाते हैं तो सरदर्द, नजला प्रमाद या और किसी रोग के कर्त्ता बन जाते हैं। सो हम देखते हैं कि इस सब रोगों का कारण एक ही है।

हमारे कुछ भाइयों का विचार है कि बहुत से रोग हैजा, ताऊन इत्यादि कीटाणुओं द्वारा आरम्भ होते हैं। उनके मतानुसार कुछ ऐसे विषैले कीटाणु रहते हैं कि जो यदि किसी भांति हमारे शरीर में प्रवेश करजायें तो हमें वह रोग होजाता है जिस के विष से कि वे कीटाणु भरे रहते हैं। परन्तु जब हमारी पाचन शक्ति ठीक है तो हमारा रुधिर भी स्वच्छ ही होगा और यदि ऐसा है तो उन विषैले कीटाणुओं को हमारा रुधिर एक ऐसी वस्तु में परिणत कर देता है कि वह उस रोग के लिये जिसके कि वे कीटाणु के औषधि स्वरूप हो जाते हैं। तो फिर एक स्वस्थ मनुष्य के लिये तो विषैले कीटाणु औषधि का काम देते हैं, अनिष्ट के बदले लाभदायक सिद्ध होते हैं। परन्तु हां यदि बाह्य पदार्थ उपस्थित है तो वे कीटाणु भली प्रकार पोषित हो जाते हैं। और फिर एक भयानक रोग की अवस्था में दृष्टिगोचर होते हैं। सच पूछिये तो फस्द लगाने या टीका का भी यही सिद्धांत है। तो फिर रोग का कारण वह विषैले कीटाणु न होकर वही बाह्य पदार्थ तो हुआ क्योंकि न गंदगी होती न कीड़े रहते। और इसही कारण से हम इसी सिद्धांत को दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि विषैले कीटाणु कुछ नहीं होते क्योंकि उनसे हमारी कुछ हानि नहीं होती। यदि बाह्य पदार्थ नहीं है तो कुछ होता ही नहीं और यदि है तो उनको कीटाणुओं की अनुपस्थिति में भी कोई न कोई रोग होही जायेगा।

जब यह सिद्ध है कि सब रोगों का मूल कारण एक है तो फिर उनके उपचार के लिये नाना प्रकार

या भगंदर। पाण्डुरोग हो या राजयक्ष्मा, पैर में नासूर हो या आंख में मोतिया परन्तु इन सब रोगों का कारण एक ही है और वह है हमारे शरीर में बाह्य पदार्थ की उपस्थिति। यद्यपि यह बात आश्चर्य-जनक सी प्रतीत होती है कि इतने भिन्न रोगों का कारण एक ही वस्तु है परन्तु हमें चकित न होना चाहिये। वही बिजली जो पंखा चला कर शीतल वायु द्वारा गर्मी का नाश करती है, भट्टी दहका कर जाड़े का अपहरण करती है। जैसे एक ही विद्युत प्रवाह भिन्न भिन्न यंत्रों द्वारा ठीक विपरीत कार्य कर सकता है वैसेहो बाह्य पदार्थभी भिन्न स्थानों में रहने से भिन्न प्रभाव दिखा सकता है। शरीरके जिस भाग में यह होगा उसी भाग का कोई न कोई रोग हो जायेगा और फिर क्या रोग होता है वह इसके परिमाण पर निर्भर है। यदि यह अधिक परिमाण में उपस्थित होगा तो भयानक, नहीं तो साधारण रोग का कारण होगा।

आप जानते हैं कि पाखाना पेशाब पसीना आदि यदि ठीक तरह से चलता जाय तो स्वास्थ्य ठीक रहता है और यदि एक दिन भी इसमें गड़बड़ हुई तो सरका दर्द, पेट का फूल जाना, खट्टे डकार आना, शरीर का गिरना आदि किसी न किसी रोग का श्री गणेश हो जाता है। इनमें से किसी में भी गड़बड़ होना रोग का नोटिस होता है। इससे मैदे (abdomen) में सड़न या जोश पैदा होता है और गंदी वाष्प पैदा होती हैं इसी का नाम बाह्य पदार्थ है और यही रोग का मुख्य कारण है। अप्राकृतिक तथा अवैज्ञानिक ढंग से पचे भोजन का सेवन अथवा स्वादिष्ट भोजन का आवश्यकता से अधिक सेवन ही इस बाह्य पदार्थ का मुख्य कारण है। अब यह गंदे वाष्प शरीर के जिस भाग की ओर भी जाते हैं उसके कार्य संचालन में विघ्न स्वरूप होते हैं, फलतया शरीर का वह भाग अपना काम ठीक प्रकार नहीं कर पाता और इसे ही डाक्टर वैद्य, या हकीम रोग कहते हैं। जब ये वाष्प फेफड़ों पर कृपा दृष्टि करते हैं तो फेंफड़ों का कोई रोग उत्पन्न होता है जिसे डाक्टर दमा या राजयक्ष्मा या निमोनिया इत्यादि के नाम से पुकारते हैं। और जब यह आंख की ओर कूच करते हैं तो अंधा बना देते हैं। सरमें पहुँच जाते हैं तो सरदर्द, नजला प्रमाद या और किसी रोग के कर्त्ता बन जाते हैं। सो हम देखते हैं कि इस सब रोगों का कारण एक ही है।

हमारे कुछ भाइयों का विचार है कि बहुत से रोग हैजा, ताऊन इत्यादि कीटाणुओं द्वारा आरम्भ होते हैं। उनके मतानुसार कुछ ऐसे विषैले कीटाणु रहते हैं कि जो यदि किसी भांति हमारे शरीर में प्रवेश करजायें तो हमें वह रोग होजाता है जिस के विष से कि वे कीटाणु भरे रहते हैं। परन्तु जब हमारी पाचन शक्ति ठीक है तो हमारा रुधिर भी स्वच्छ ही होगा और यदि ऐसा है तो उन विषैले कीटाणुओं को हमारा रुधिर एक ऐसी वस्तु में परिणत कर देता है कि वह उस रोग के लिये जिसके कि वे कीटाणु के औषधि स्वरूप हो जाते हैं। तो फिर एक स्वस्थ मनुष्य के लिये तो विषैले कीटाणु औषधि का काम देते हैं, अनिष्ट के बदले लाभदायक सिद्ध होते हैं। परन्तु हां यदि बाह्य पदार्थ उपस्थित है तो वे कीटाणु भली प्रकार पोषित हो जाते हैं। और फिर एक भयानक रोग की अवस्था में दृष्टिगोचर होते हैं। सच पूछिये तो फस्द लगाने या टीका का भी यही सिद्धांत है। तो फिर रोग का कारण वह विषैले कीटाणु न होकर वही बाह्य पदार्थ तो हुआ क्योंकि न गंदगी होती न कीड़े रहते। और इसही कारण से हम इसी सिद्धांत को दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि विषैले कीटाणु कुछ नहीं होते क्योंकि उनसे हमारी कुछ हानि नहीं होती। यदि बाह्य पदार्थ नहीं है तो कुछ होता ही नहीं और यदि है तो उनको कीटाणुओं की अनुपस्थिति में भी कोई न कोई रोग होही जायेगा।

जब यह सिद्ध है कि सब रोगों का मूल कारण एक है तो फिर उनके उपचार के लिये नाना प्रकार

की औषधियों की क्या आवश्यकता है। सब रोगों का मूल कारण एक है तो सब की औषधि भी एक होनी चाहिए। परन्तु हम देखते हैं कि आज इतने रोग भी नहीं जितनी औषधियाँ उपस्थित हैं। परन्तु हम देखते हैं कि इतनी औषधियोंके होते हुये भी तथा आयुर्वेदमें वैज्ञानिक प्रक्रियाओं द्वारा इतनी उन्नति होते हुये भी पहिले से अधिक रोग दिखाई पड़ते हैं। इसका यह कारण अवश्य है कि हमारे भोजन अप्राकृतिक तथा अवैज्ञानिक ढंगसे पके होते हैं परन्तु कुछ मनुष्यों के मतानुसार ये औषधियां भी इसका कारण हैं। एक मनुष्य को दो तीन बार जुलाब लेने के बाद वैद्य जी पर आयुपर्यन्त आश्रित रहना पड़ता है। उसका मैदा बिल्कुल खराब हो जाता है। जिस मनुष्य ने बचपन में अधिक औषधि सेवन की होती है उसे अपनी आयु औषधालय में ही व्यतीत करनी होती है। आप को यदि कोई रोग है तो वैद्यजी या डाक्टर साहब अथवा हकीम साहेब उसे दबाने का प्रयत्न करेंगे। वह न तो उस बाह्य पदार्थ को निकालेंगे और न उसके बनने को बन्द करेंगे। केवल उसे वहां से हटाकर कहीं और भेज देंगे जो कुछ दिन बाद किसी और रूप में उस अंग के रोग का कारण हो जायेगा और फिर उस बेचारे को औषधालय की शरण में जाना पड़ेगा। इलाज ऐसा होना चाहिये जो रोग को दबाने के बदले उसे समूल नष्ट करदे। ऐसा होने के लिये पहिले हमें उसका बनना बंद करना होगा और फिर जो बन चुका उसको दूर करना होगा। हम जानते हैं कि रोग बाह्य पदार्थ का केवल एक पर्यायवाची शब्द है। जब तक हम बाह्य पदार्थ का बनना बंद न करेंगे तब तक कोई भी उपचार सफल नहीं हो सकता।

बाह्य पदार्थ बनना बंद करने के लिये हमें अपने भोजन की ओर ध्यान देना होगा। हमारा पाकशास्त्र आजकल कुछ ऐसा भ्रष्ट हो गया है कि हमारे नाश का कारण सिद्ध हो रहा है। गेहूँ जिसे अमीर से गरीब तक सब लोग व्यवहार में लाते हैं पहिले मशीन में खूब बारीक पिसवा लिया जाता है। तत्पश्चात् उसे खूब बारीक छलनी में से छान लिया जाता है ताकि रोटी सफेद हो और फिर उस पर खूब घी लगाया जाता है इसलिये वह बहुत देर में पचने वाली हो जाती है। दालें धुली हुई हों यह आजकल का फैशन है। उनका छिलका जो पौष्टिक पदार्थ होता है वह धुल जाता ही है, साथ ही दालका भी बहुत कुछ हिस्सा भिगा कर पानी से धोने से जाता रहता है। शाक इत्यादि में मसाले न पड़ें तो हमारे स्वाद में बाधा पड़ती है। 'मसाले बिना तो पशु खाते हैं मनुष्य [illegible] खाय। चाहे मसाला कितना ही अनिष्ट कर क्यों न सिद्ध हो मगर हम तो उसे न छोड़ सकेंगे। चाय, कोको, काफी तो सुबह शाम अवश्य होगी, भले ही वह 'रक्तहि पानी सब हरे' परन्तु हमें रक्त से क्या मतलब हम तो 'कोला टानिक' द्वारा गई शक्ति फिर बुला लेंगे। शर्बत, सोडा, मिठाई तो भोजन का आवश्यकीय भाग है। भले ही शर्बत मिठाई खाने से हमें हानि हो परन्तु स्वाद तो बना रहेगा। यद्यपि तमाम संसार एक मत से कह रहा है कि भोजन के पौष्टिक होने के लिये उसमें प्रोटीन एवम् प्राणतत्वका रहना आवश्यकीय है परन्तु हमें क्या। हमें तो देखना है कि भोजन सुस्वादु होना चाहिये। सुस्वादु भोजन है तो ये सब पदार्थ हों या न हों। इसी स्वाद को भोजन का लक्ष्य देखकर तो महात्मा गांधी ने और व्रतों के साथ ही साथ अस्वाद व्रत का भी निर्माण किया। यदि ऐसा ही भोजन रहा तो बाह्य पदार्थ का बनना कैसे बंद हो सकता है। यदि हमें इसे बंद करना है तो अस्वाद व्रत ग्रहण करना पड़ेगा। बिना छना आटा तथा बिना धुली दाल खानी पड़ेगी, तथा उपर्युक्त अन्य बातों से बचना होगा।

अब रही यह बात कि जो बाह्य पदार्थ बन चुका है उसे कैसे दूर किया जाय। इसके लिये भी हमें किसी वैद्य, हकीम या डाक्टर के पास न जाना पड़ेगा। क्योंकि औषधियां हमारे शरीर के लिये अनिष्टकर सिद्ध होती हैं। जिस कुंजी से ताला बंद

हुआ है उसी से खोलना पड़ेगा। अर्थात् मेंदे ने ही उस पदार्थ को बनाया है इसलिये उस ही द्वारा उसका अपहरण होगा। हमारा लक्ष्य यह होगा कि जो बाह्य पदार्थ मेंदे से निकल कर शरीर के दूसरे अंगों में प्रवेश कर गये हैं उन्हे फिर वापिस वहीं भेज दिया जाय। इसके लिये उस भाग को जिसमें रोग है भाप द्वारा पसीना लाना चाहिये और फिर पेडू को ठंडे पानी द्वारा ठंडा करना चाहिये। केवल यही नहीं और भी कई प्रकार के स्नान हैं जिनका आविष्कार जर्मनी के प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता डाक्टर लुई कोनी ने किया है, और जिनको वह जल चिकित्साके नामसे पुकारता है। यह स्नान हर रोग का ठीक ठीक उपचार कर सकते हैं। जल चिकित्सा वैसे तो कोई नई वस्तु नहीं है चरक और 'जालीनूस' नेभी इसका विवरण दिया है। लुई कोनी से बहुत पहिले भी भारतवर्ष में यह चिकित्सा विद्यमान थी परन्तु इसका करीब करीब अंत हो चुका था। डाक्टर लुई कोनी ने इसे फिर से संगठित कर दिया। जैसे नकसीर आने पर सर पर ठंडा पानी गिराना, पांव गरम पानीमें रखना। तेज बुखार और सरसाम में ठंढे पानी की पट्टियों को व्यवहार में लाना जादू का असर दिखाता है पानी सब रोगों के समूलोच्छेदन में समर्थ है। जब अजीर्ण में दस्तावर औषधियों का प्रयोग हानिकर सिद्ध हुआ है तो अनीमा या निहुकने का प्रयोग बहुत ही लाभदायक प्रतीत होता है। इसी तरह जख्मों में पानी अच्छा रहा है। उबाले हुये पानी से जख्म को धोकर ठंडे पानी की पट्टी लाभदायक सिद्धहुई है। जल चिकित्सा के कुछ तरीके अधोलिखित हैं:—

(१) हिपबाथ, इसका नाम ट्रंक बाथ भी है।
(२) सिठ्स बाथ।
(३) स्टीम बाथ या भाप का स्नान
(४) शावर बाथ। यह दिमाग की कमजोरियों के लिये विशेष लाभदायक है
(५) फाउन्टेन बाथ
(६) वेपर ऐण्ड टरकिश बाथ
(७) साल्ट बाथ
(८) मिनरल वाटर बाथ
(९) गर्म और ठंडी हवा का स्नान

इनमें से कुछ तो डाक्टर लुई कोनी के ही आविष्कृत हैं कुछ बाद में जोड़ दिये गये हैं। कोई भी बीमारी हो जल चिकित्सा के किसी अच्छे डाक्टर से राय लेकर उपचार आरम्भ कर देना चाहिये तथा भोजन की ओर एक दम विशेष ध्यान देना चाहिये।

पराकासनी किरणों की उपयोगिता

लेखक:—श्री वा० वि० भागवत

पराकासनी प्रकाशकी व्यवाहरिक उपयोगिता दिनों दिन बढ़ती जा रही है। यह प्रकाश नष्ट हुये दस्तावेज (Document) पहचाननेके लिये तथा खोटी तसवीरों को जाननेके वास्ते आज कल काममें लाये जाते हैं। रंग तथा स्याही कच्ची या पक्की है यह भी इसी की सहायतासे मालूम करते हैं। तेलों का सुखाना, वार्निश को कृत्रिम तरह से नष्ट करना, तथा अन्य बातें भी पराकासनी किरणोंसे हो सकती हैं। कुछ चीजों को पराकासनी किरणों में प्रकाशित करने पर थोड़ा सा प्रकाश उनसे बाहर फेंका जाता है, किन्तु वही वस्तु यदि अशुद्ध हो तो हम बड़ी जोरदार चमक पाते हैं। इस प्रकार शुद्ध और अशुद्ध वस्तु पहचानना सुलभ हो गया है। भिन्न भिन्न प्रकार के कांच के साथ पराकासनी किरणोंसे भिन्न भिन्न तरहकी चमक निकलती है और इस चमकसे हम यह फौरन ही पहचान सकते हैं। किन्हीं किन्हीं चीजोंके साथ हम चमककी जगह दमक पाते हैं। यदि सैन्धक उद्-औषिद को पिघला कर बादमें पराकासनी प्रकाश से प्रकाशित किया जाय तो यह लाल मालूम होगा किन्तु जैसे ही उसको प्रकाश से दूर ले जाने लगते हैं वह हरा दिखाई देता है। आँखका ताल (Lens)

३५०० अं तथा४ ००० अं किरणों के साथ चमक बतलाता है।

रंग कच्चा या पक्का है यह निश्चित करना:—कौन सा रङ्ग कच्चा है या पक्का यह पराकासनी प्रकाशसे तुरन्त मालूम हो जता है। हम जब अपने लिये तथा अपने घर की औरतों के लिये कपड़ा खरीदते हैं तब उसमें बहुत सा रङ्गीन भी होता है। इस रङ्गीन कपड़े के बारेमें हमारी यह इच्छा होती है कि वह रंग धोने से भी न निकले। किन्तु यह बात ठीक जानने के लिये हमारे पास कुछ साधन नहीं। दुकानदार की राय पर ही हमको निर्भर रहना होता है यह अफसोस की बात है। पराकासनी किरण इसके वास्ते बहुत ही उपयुक्त है। सूर्य प्रकाश की सहायता से भी यह कार्य हो सकता है, किन्तु उसमें पराकासनी किरण कम होने से वस्त्र को अधिक देर तक प्रकाशमें रखना होगा। पराकासनी प्रकाश से यह परिणाम तुरन्त ही होता है। इसलिये वस्त्र की भी बचत होती है। यदि रङ्ग को प्रकाशित किया जाय तो उसकी रंगीनता कम होती जाती है। जिसकी रंगीनता प्रकाशित करने से जल्द नष्ट नहीं होती उस रंगका कपड़ा पक्का है इसमें संदेह नहीं। रंगीनता की नष्टता की गति पर हम यह निश्चित कर सकते हैं कि एक रङ्ग दूसरे से कितना पक्का है। कुछ लोगों का कहना यह है कि रङ्ग की पक्काई पराकासनी किरणों से नहीं पता लगानी चाहिये, क्योंकि सूर्य प्रकाशमें रंगों के नष्ट होने की परस्पर गति तथा इनके नष्ट होने की पराकासनी किरणोंमें की गति एक सी ही नहीं होती है। लेकिन यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि रङ्ग के नष्ट होने की गति, वायु की आर्द्रता तथा प्रकाश की तीव्रता आदि बातों पर भी निर्भर है। सूर्य प्रकाश की तीव्रता हर वक्त एक नहीं रहती, तथा वायु की आर्द्रता भी बदलती जाती है; इसी लिये सूर्य प्रकाश की सहायता से रङ्गकी पक्काई की तुलना ठीक नहीं हो सकती। सूर्य प्रकाश की तीव्रता एक ही रखना हमारे हाथमें नहीं है। तथा यही बात वायु की आर्द्रताके बारेमें भी कही जा सकती है। किन्तु यदि विद्युत् दीप से पैदा होने वाले पराकासनी किरण कार्यमें लाए जांय तो हम उनकी तीव्रता हर वक्त एक ही रख सकते हैं और फिर रंगोंके उसका ऊपर परिणाम हम कमरेमें अध्ययन कर सकते हैं, जहां की आर्द्रता भी हर वक्त एक ही रखना आसान बात है। इस तरह पाये हुये निर्णय विश्वसनीय भो होंगे। एक दफे एक रंग को इकाई मान कर हम दूसरे रंगकी पक्काई उसी मापमें जान सकते हैं।

पराकासनी प्रकाश से रंगीनता कितनी नष्ट हुयी यह आंखों से देख कर कहना कठिन है। इसोलिये जिबहार्ड ने प्रकाश लेखन पद्धतिसे कार्य लिया है। इस पद्धतिमें रंगीन पदार्थ को कार्ट्ज पारद बाष्प दीप के प्रकाश से प्रकाशित करते हैं। रंगीन पदार्थ के पीछे उसी रंग का छन्ना रखते हैं और बादमें इसके पीछे प्रकाश लेखन पटली होती है। यह कहने की जरूरत नहीं है कि यह सब एक बंद संदूकमें रखे हुये होते हैं। प्रकाश रङ्गीन पदार्थ पर गिरता है। उससे निकल कर जो प्रकाश बाहर आता है छन्नेके बाद निकल कर प्रकाश लेखन पटली पर गिरता है। जैसे जैसे रंग प्रकाश की प्रक्रिया से नष्ट होता जाता हैं, वैसे वैसे ही अधिक प्रकाश उसके पार निकलता है और पटली पर अधिक प्रक्रिया होती है। इस तरह पटलो पर कितनी प्रक्रिया हुयी वह जान कर हम रंग के नष्ट होने की गति मालूम कर सकते हैं।

प्रकाश से रंग क्यों नष्ट होता है उसके बारेमें भी सोचा गया है। जिबहार्ड का कहना यह है कि यह प्रक्रिया हवा की विद्यमानमें होती है। इसी लिये रङ्गके परोषिद बनते हैं और रङ्ग नष्ट होता है। धरका विचार इससे भिन्न है। वह कहते हैं कि प्रकाश की विद्यमानतामें रङ्गका ओषदीकरण होता है। उनका कहना यह भी है कि दृश्य प्रकाशमें हवा के ओषजन से प्रथम ओषदीकरण होता है और फिर बादमें पराकासनी किरणों से उसका विश्लेषण होता है। बहुत सारे रङ्ग कच्चे होते हैं और उनका

अवकरण तथा ओषदीकरण सुलभता के साथ करना मुश्किल नहीं है।

पराकासनी प्रकाशके वास्ते कर्बन का चाप भी कार्यमें लाया जाता है। हरीसन और फ्लीन ने यह जानने की कोशिश की है कि पारद बाष्पदीप तथा सूर्य प्रकाश का रङ्गों पर क्या असर होता है। सेल्यूलोज का प्रकाश से अवकरण होता है यह बात देखी गई है तथा उसके साथ अवकरण यौगिक भी तैयार होते हैं। शून्यमें पारद चाप की सहायतासे सेल्यूलोज फ्लावेन्थ्रीन का अवकरण करती है। सूर्य प्रकाशसे सेल्लूल्योजका शून्यमें थोड़ासा ही अवकरण होता है। सब रङ्ग जल, हवा तथा तंतुके अस्तित्व में ही ही नष्ट होते हैं। मानों रङ्ग के नाशके लिये तंतुओं का अस्तित्व आवश्यक है। प्रकाशसे प्रथम तंतु का अवकरण हो कर बादमें उसके द्वारा रङ्ग का अवकरण होता है। क्षारात्मक रङ्ग ओषजन के बिना अवकृत वा नष्ट नहीं होते। ऊन तथा रेशम की अवकरण शक्ति कपास से या तंतुओं से कम पायी जाती है। फ्लीनके विचार से क्षारात्मक रङ्ग ओषदीकरणसे नष्ट होते हैं तथा अन्य रङ्ग के प्रकाशसे अवकरण होता है और यह अवकरण सेल्यूल्योज के अस्तित्वमें और भी जल्द होता है। हरमनने प्रकाश का परिणाम जानने की चेष्टा की है। उसने बहुत सारे रङ्गों को प्रकाशित किया और यह देखा कि ३००० अं से नीचे की किरणों से ही रङ्गअधिकतर नष्ट होते हैं, लेकिन ऑरेमिन परजो दृश्य प्रकाश में तुरन्त ही नष्ट होता है पराकासनी किरणों का कुछ असर नहीं पड़ता।

स्याहियों की (inks) परीक्षा करना

बाजारमें हमको बहुत प्रकार की स्याहियां मिलती हैं, लेकिन कौन सी स्याही अच्छी है वा बुरी है यह हम ठीक तरह से नहीं कह सकते। हम तो उसी स्याही को ठीक कहते हैं जिसका रङ्ग खूबसूरत हो। हम यह नहीं जानते कि उस स्याही को अच्छा कहना चाहिये जो जल्द नष्ट नहीं होती। क्योंकि फिर लिखा हुआ अक्षर वैसा ही रहता है। आप यह जानते हैं कि, हमारे हिन्दुस्तानके बनिये कालेज विद्यार्थियों की स्याही काममें नहीं लाते किन्तु काजल से बनायी हुयी काली स्याही ही पसन्द करते हैं। यह स्याही बहुत दिन तक वैसी ही रहती है और इसी लिये उससे लिखी हुयी चीजें सौ या दोसौ बरस तक वैसी ही रहती हैं। इसी की सहायता से तो वे सौ सौ बरसके पहिले दिये हुये पैसे मुकदमें लड़ कर प्राप्त कर सकते हैं। रुपटने स्याही पक्की होती है या कच्ची होती है इसके बारेमें प्रयोग किये और स्याहीका पक्कापन जाननेके लिये उनको सूर्य प्रकाश तथा पराकासनी किरणोंसे प्रकाशित किया। इस वास्ते वह हर एक स्याही को आठ दिन तक सूर्यप्रकाशसे प्रकाशित करता रहा। ब्यूरो आव् स्टैण्डर्ड्सके विचार से स्याही से कागज पर लकीर खीचने के बाद उनको पराकासनी प्रकाश से ४७ घंटे प्रकाशित किया जाय और स्याही के नाश की गति से उसका पक्कापन ठहराया जाय।

वार्निश तथा तेलों को सुखाना—यदि तेलों या वार्निशोंको सुखाना हो तो यह कार्य पराकासनी किरणों से जल्द होता है। जब मेज, कुर्सी, अलमारी आदि फर्नीचर बनाया जाता है, तब उसमें खूबसूरती तथा सफ़ाईके लिये वार्निश लगाते हैं। यह वार्निश जब तक नहीं सूखती, तब तक फर्नीचर काम में नहीं ला सकते। इसी कारण उसको तुरन्त सुखाने की आवश्यता रहती है। हमारे यहां वार्निश लगाने के बाद उसको वैसाही सूर्य प्रकाश में रख कर सूखने देते हैं, किन्तु यह कार्य पराकासनी प्रकाश से बहुत ही जल्द होगा ऐसा प्रयोग से मालूम हुआ है। इस कारण हम वक्त को भी बचा सकते हैं। ओषजन के वातावरण में गेन्थेने तिल्ली के तेल को छुआ कागज पर फैला कर और क्वार्ट्ज के बरतन में रख कर पराकासनी प्रकाश के सुखाया। इस हालत में ओषोन बिलकुल पैदा न हुआ। पहले दो घंटों में ओषजन का शोषण कम हुआ लेकिन तीसरे घंटे

में वह बहुत शीघ्रता से बढ़ने लगा तीसरे घंटे के बाद फिर शोषण कम होता गया। शाफील्ड ने तिल्ली के तेल को सुखाने की एक अजब तरकीब निकाली है। उसने इस विधि में तेल का फुवारा एक कमरे में छोड़ने की योजना की है और यह कमरा पराकासनी किरणों से प्रकाशित किया जाता है तथा उसमें शुद्ध ओषजन भी भरा हुवा रहता है।

वाल्फ, रेग, वालमन, एलिस आदि ने वार्निशों पर प्रकाश का क्या असर होता है यह जानने की कोशिश की, किन्तु इसके बारे में हम कुछ ठीक तरह से नहीं कह सकते। गार्डनर और पार्क ने भी तिल्ली के तेल तथा वार्निश पर प्रकाश का परिणाम किस कारण होता है यह देखने की चेष्टा की है। उनके अनुभव से यह मालूम होता है कि यदि वार्निश को सूर्य प्रकाश से प्रकाशित किया जाय या बीच में छन्ने रख कर सूर्य की भिन्न भिन्न किरणों से अलग अलग प्रकाशित किया जाय तो कुछ भी फरक नहीं मालूम होता। वार्निश के सूखने की गति सूय प्रकाश में या छन्ने से पाये हुये प्रकाश में एक ही पायी जाती है। यह बात तो सच है कि सूखने की गति अँधेरे से प्रकाश में हर वक्त ज्यादाही होती है किन्तु प्रकाश के भिन्न स्वरूप के कारण गति में भिन्नता नहीं होती। यदि सूर्य प्रकाश की जगह दिनका विकीर्ण प्रकाश लिया जाय तो छन्ने रख कर यह देखा गया है कि भिन्न प्रकाश में गति भिन्न मिलती है। यदि पराकासनी किरणों को पहिले लाल रंगके छन्नेसे जाने दिया जाय और बादमें इस प्रकाश से वार्निश को प्रकाशित किया जाय तो अब उसका कुछ असर नहीं होता। अतः लाल रंग को सुखाने के लिये हम काम में नहीं ला सकते यह स्पष्ट है। जब तेलों को हवा से अलग रख कर हम पराकासनी किरणों से सुखाते हैं तब उनका संघट्टभवन होता है। ऐसा मारक्यूसन का विचार है, क्योंकि उसका घनत्व तथा नैलिन शक्ति बढ़ती है।

पेटंटचमड़ा:—लुंबार्डनें पेटंट चमड़ा बनाते वक्त पराकासनी प्रकाश का उपयोग किया है। पेटंट चमड़ा बनाते वक्त उसपर वार्निश चढ़ाते हैं और इस वार्निशको सुखाना जरूरी होता है। उस वार्निशका चमड़े पर अन्य असर भी होता है, जिससे चमड़ा अच्छा और ठीक मजबूत बनता है। लुंबार्डनें यह बतलाया कि जो असर सूर्य प्रकाश में रखने से कई दिनों के बाद देखा जाता है वह केवल १० मिनट पराकासनी किरणों से प्रकाशित करके पाया जाता है। प्रिस्ट का अनुभव भी इसी तरह का है। जब चमड़ेको तिल्ली के तेल की वार्निश लगाते हैं तब वह सूर्य प्रकाश के बजाय पराकासनी प्रकाश में जल्द सूखता है।

पेंटों की स्थिरता:—खूबसूरती के लिये बहुत सारी चीजों को पेंट करते हैं यानी रङ्गाते हैं। लेकिन जिस पेंटसे हम रँगाते हैं वह पेंट कितने दिनतक वैसा ही रहेगा इसका विचार हम नहीं करते किन्तु हमारी इच्छा तो यह रहती है कि पेंट बहुत दिन तक रहे और चीज हर वक्त नई मालूम हो। पेंट कितने दिन तक नष्ट न होगा इस बात का ज्ञान हमको पराकासनी प्रकाश के द्वारा हो सकता है। इस वास्ते पेंट को पराकासनी किरणों से प्रकाशित करते हैं और वह कितनी जल्द नष्ट होता है यह देखते हैं। नेल्सनका कार्य इस बारे में महत्व का है। उसने पेंट को ५० से लेकर ६० डिग्री तक के तापक्रम पर रखा और बादमें पराकासनी प्रकाशसे २४ घंटे के लिये उनको प्रकाशित किया। इस प्रयोग से उसने यह निश्चित किया कि पेंटस् ३००० अं के नीचे की किरणों से नष्ट होते हैं। लिथोफोन यह सफेद रंग का एक पेंट है और उस पर दृश्य प्रकाशका बहुत ही कम असर होता है। इस पेंटको तीन बरस तक हवा में रखने से कुछ भी फरक न हुआ। हवा की आर्द्रता तथा तापक्रम तो हर वक्त बदलता था लेकिन तब भी कुछ प्रक्रिया दिखाई न पड़ी। इसी पेंट को पराकासनी किरणों में रखने से वह थोड़े ही वक्त में नष्ट होने लगा।

अन्न का प्रकाशन:— यदि कोकोमें शङ्ख (Shell) के टुकड़े मिलाये गये हों तो हम पराकासनी प्रकाश से पहिचान सकते हैं। क्योंकि जब पराकासनी किरणों को ताम्रगन्धेत तथा नोषोसोह्रिदारीलामिन छन्नेके बाहर आने देने के बाद शङ्खके सूक्ष्म टुकड़ों पर गिरने देते हैं तब उनका रंग कुछ पीलासा मालूम देता है। जब आटे पर ओषदीकरणीय चीजों की प्रक्रिया की जाती हैं तब उसके साथ पराकासनी किरण भी कार्य में लाते हैं। प्रथम आटेपर हरिन वायु की प्रक्रिया होती है जिससे कीटाणु उत्तेजित होते हैं। बादमें उस पर उदजन परोषिदकी प्रक्रिया की जाती है। फिर उसको पराकासनी किरणों से प्रकाशित किया जाता है, जिससे ओषजन निकलता है। अब इस ओषजन के आटे का रंग नष्ट हो जाता है और वह बिलकुल सफेद हो जाता है।

यह तो हम पहिले ही कह चुके हैं कि पराकासनी प्रकाश से अन्नमें विटेमिन डी पैदा होता है। जीवन के लिये विटेमिनों की जरूरत है और शरीर वृद्धिके लिये विशेषकर विटेमिन डी होना चाहिये। गेहूँ, ज्वार, अरहर की दाल, चने की दाल, मूंग की दाल तथा अन्य पदार्थोंमें विटेमिन 'डी' नहीं होता। इसी लिये इस अन्न को खानेसे ठीक वृद्धि नहीं होती। यदि अब इस अन्न को पराकासनी प्रकाशसे प्रकाशित किया जाय तो अब उसमें विटेमिन डी पैदा होता है। तिल्ली का तेल तथा अन्य तेलों की भी यही बात है किन्तु मिट्टीके तेल को प्रकाशित करनेसे विटेमिन-डी पैदा नहीं होता। यदि अन्नमें विटेमिन 'डी' न हो तो बच्चों की हड्डी ठीक तरह से नहीं बढ़ती। दूध को भी प्रकाशित करनेसे उसमें के विटेमिन 'डी' का परिमाण बढ़ता है। अंडोंमें विटेमिन 'डी' रहता है किन्तु यदि उसको पराकासनी प्रकाशमें रखा जाय तो उसकी उपयोगिता अधिक रहती है। पराकासनी प्रकाश एक आश्चर्यजनक चीज है, क्योंकि उसके प्रभावसे जीवनावश्यक विटेमिन 'डी' पैदा होता है।

प्राणी जीवन और पराकासनी किरण—हमारे तथा अन्य प्राणियोंके जीवनकेलिये पराकासनी किरण की कितनी जरूरत है यह हम पहिले ही कह चुके हैं। बच्चोंमें रिकेट्स, सूखा आदि जो बीमारियां पैदा होती हैं वे प्रकाशसे तुरन्त नष्ट हो जाती हैं, इतना ही नहीं, इससे शरीर की संपूर्ण वृद्धि होती है। गर्मी तथा अन्य रोगों के सुधारके वास्ते भी पराकासनी किरणों को कार्यमें लाया जाता है और क्षय रोगके लिये तो इसके समान अन्य उपाय ही नहीं है। जानवरों की भी वृद्धि पराकासनी प्रकाश के बिना ठीक नहीं होती और जब तक उनकी वृद्धि अच्छी नहीं होती तब तक दूध आदि पदार्थ जो हम उनसे पाते हैं आरोग्यकारक तथा वृद्धिकारक नहीं हो सकते। पराकासनी प्रकाश तो आज कल विलायतमें मुर्गीके अंडे पैदा करनेके काममें लाते हैं। यह देखा गया है कि, यदि मुर्गीको पराकासनी प्रकाशसे ठीक तरह प्रकाशित किया जाय तो वह ज्यादा अंडे देती है। इतना ही नहीं, ये अण्डे अन्य अंडोंसे अधिक अच्छे भी होते हैं। यदि अब इन अंडों को प्रकाशित करें तो उनकी शक्तिवर्धकता और भी बढ़ती है। इस तरह यह अंडे ज्यादा दाममें बेचे जा सकते हैं। पराकासनी किरणोंसे अण्डे तैयार करना अब तो एक धंधा हो गया है।

क्रमशः

सहकारिता

सरकारी सहायता और नियंत्रण

[ले० श्रीयुत पं० शंकर राव जोशी]

सहकारिता के पूर्ण विकास के लिए सरकार ने इन संस्थाओं को कई रियायतें प्रदान की हैं। और प्रारम्भ में अच्छी आर्थिक सहायता भी दी है। कानून से सहकार को आदर्श मान लेना ही सहकार की उन्नति के लिए काफी नहीं है। हर

सूरत से सहकार को तरक्की देना राजा और प्रजा दोनों का ही पवित्र कर्तव्य है।

सहकारी कानून बनाकर भारत सरकार ने सहयोग-संस्थाओं को कई प्रकार की रियायतें दी हैं। कानून द्वारा यह ठहरा दिया गया है कि हिस्सों द्वारा या अन्य किसी प्रकार से प्राप्त सहकारी-संस्थाओं की पूंजी पर का, किसी सभासद का हक, सभासद के खानगी कर्ज की अदायगी के लिए, किसी कोर्ट से जप्त नहीं किया जा सकता है। सभासद के हिस्से या अमानत की रकम या सहकारी-सभा की सहायता से पैदा की हुई या प्राप्त की हुई जायदाद पर सभा के कर्ज का सब से पहला हक माना गया है। कोर्ट में दावा किये जाने पर सभा के बही-खातों की तसदीक-शुदा नकलें सबूत में ग्राह्य मानी गई हैं। किसी सभासद की मृत्यु हो जाने पर, उसके हिस्सों पर, उसके वारिसों या कानूनन हकदारों, वा उस सभासद द्वारा नामजद किये हुए व्यक्ति का नाम दर्ज किया जा सकता है और इसके लिए 'वारसा सार्टिफिकेट' पेश नहीं करना पड़ता है। कानून से यह भी ठहरा दिया गया है कि सहकारी-संस्थाओं के सिवा अन्य कोई सभा या मंडल अपने नाम के साथ 'सहकारी' शब्द का उपयोग नहीं कर सकता। सहकारी सभाओं के हिस्सों या डिबचरों के दस्तावेजों की रजिस्टरी कराना अनिवार्य नहीं है। ये संस्थाएँ स्टाम्प एक्टसे भी बरी रखी गई हैं। और सहकारी-संस्थाओं के मुनाफे पर या मुनाफे की बटनी पर इनकम टैक्स भी नहीं लिया जाता है।

ऊपर लिखे हुए कानूनी अख्त्यारात के अलावा सहकारी-विभाग की ओर से भी कई रियायतें दी गई हैं। सहकारी सभाएँ, सरकारी खजाने के मार्फत, ट्रांसफर रेमिटंस रसीद से रुपया भेज सकती हैं। सहयोग संस्थाओं का रुपया उनकी निज की सीलबंद पेटी में सरकारी खजाने में रखा जा सकता है।

कई प्रान्तोंमें सहकारी-सभाओं को पोस्ट आफिस सेविंग्ज-बैंकमें रुपया अमानत रखने और 'चलतू खाते' खोलने का भी अधिकार दे दिया गया है। बम्बई और पंजाब में, बैंक सभा आदि से कर्ज लिया हुआ रुपया मनिआर्डर से भेजने पर कमीशन का प्रतिशत ७५ भाग वापस करने का अधिकार रजिस्ट्रार को दिया गया है।

भारत सरकारने बहुत कम संस्थाओं को, प्रत्यक्ष रूप से, आर्थिक सहायता प्रदान की है। सरकार का आर्थिक सहायता न देना अच्छा ही हुआ। अधिक लम्बे समय तक आर्थिक सहायता देते रहने से, सरकारी-सभाओंमें स्वाश्रय का बीज जमने नहीं पाता है, जिससे सहकार का असली उद्देश सिद्ध नहीं होता है। भारत सरकारने नीचे लिखे हुए अपवादों को छोड़कर सहकारी सभाओं को आर्थिक सहायता बिलकुल ही नहीं दी है।

१—भारत सरकारने प्रारंभिक कार्य-संचालनके लिए प्राथमिक सभाओं को रुपया उधार दिया है। सन् १९०४ के कानून से प्रान्तिक सरकारों को अधिकार दे दिया गया था कि कृषि जातियों की सहकारी सभाओं को, सभासदोंके हिस्सों की रकम के बराबर रुपया अमानतें रख कर जितनी रकम एकत्रित की जाय, उतनी रकम तक, जो दो हजार रुपया से अधिक न हो, रुपया कर्ज दिया जावे। तीन वर्ष तक इस रकम पर सूद नहीं लिया गया था। तीन वर्ष बाद चार प्रतिशत सूद लिया जाता था और वार्षिक किश्तोंसे दस साल में कुल रुपया वसूल कर लिया गया था। किन्तु इस प्रकार की सहायता बहुत कम परिमाण में दी जाती रही है। सरकार द्वारा दी गई आर्थिक सहायता के कारण जनता का इन संस्थाओं पर विश्वास बैठ गया है और काफी पूंजी जमा न होने पर भी, ये सभाएं अपना कारोबार चलानेमें समर्थ हो सकी हैं। यदि सरकार द्वारा दी गई आर्थिक सहायता का दुरुपयोग न किया जाय, तो जुलाहों, मजदूरों, और भील, भिलाले संथाल आदि जंगली जातियों की सहकारी सभाओं को धनसे सहायता की जाना अत्यन्त

आवश्यक है। क्रय-विक्रय-संस्थाओं, जीवनोपयोगी आवश्यक सामिग्री खरीद कर सभासदों को पुराने वाली सभाओं और निर्धनकारीगरों की समितियों को अपना कारोबार चलानेके लिये रुपया कर्ज लेने को आवश्यकता बनी ही रहती है। किन्तु कड़े नियम और काफी नियंत्रण रखने पर ही ऐसी सहायता दी जानी चाहिए।

२—गत महायुद्धके समय युक्त-प्रान्त और पंजाब की मध्यवर्ती बैंकोंकी साम्पत्तिक अवस्था बहुत खराब हो गई थी। जनता अपना रुपया वापस निकालने लगी। जिससे बैंकों की स्थितिडाँवाडोल होगई थी। किन्तु सरकार की आर्थिक सहायता से बैंकों की कोई हानि नहीं हुई। जनता को विश्वास हो गया कि सरकार इन बैंकों को सहायता देने को तैयार रहती है। अतएव शीघ्र ही स्थिति सुधर गई।

३—बम्बई मे सेंट्रल बैंक द्वारा जारी किए हुए डिबेंचरों के सूद का जिम्मा भारत सरकारने अपने ऊपर ले रखा है। ऐसा करने से लम्बी मुद्दत के लिए कम सूदपर, काफी रकम कर्ज मिलने का प्रबंध होगया है। लम्बी मुद्दत के लिए कर्ज मिले बिना, किसानों का कर्ज का बोझ हलका नहीं किया जा सकता है। यदि बैंक या मध्यवर्ती बैंक केवल सहकारी संस्थाओं से ही लेन देन करें, तो इस प्रकार की सहायता करना लाभदायक ही है।

सरकारी नौकरों को सहकारी संस्थाओं से आर्थिक-सम्बंध रखने की मुमानियत की गई है। कुछ प्रान्तों में, आवश्यकतानुसार यह रोक नहीं रखी गई है। ब्रह्म देश में, सरकारी नौकरों को, प्रान्तिक बैंकों के हिस्से खरीदने या अपना रुपया इन बैंकों में अमानत रखनेकी इजाजतदे दीगई है किन्तु बिहार—मध्य-प्रान्त और मद्रास में सरकारी नौकरों को किसी मध्यवर्ती बैंक के हिस्से खरीदने और रुपया अमानत रखने की आम इजाजत है। कुछ प्रान्तों में, इण्डियन सिविल सर्विस, प्राविंशियल सर्विस और सबार्डिनेट सर्विस के नौकरों को छोड़कर शेष सब सरकारी नौकरों को बैंकों से आर्थिक सम्बंध रखने की इजाजत दे दी गई है। हमारे खयाल से कोई सरकारी नौकर प्रान्तिक बैंक के कारोबार में, व्यक्तिशः हस्तक्षेप नहीं कर सकता है। अतएव ऐसी रोक रखना उचित नहीं है। किन्तु मध्यवर्ती बैंक में रुपया अमानत रखने या बैंक के हिस्से खरीदने की इजाजत उसी आफीसर को दी जानी चाहिए। जो उस मध्यवर्ती बैंक के कार्य-क्षेत्र में किसी ऊंचे ओहदे पर काम न करता हो। प्राथमिक सभाओं के हिस्से खरीदने की मुमानियत, सरकारी नौकरों के लिए अवश्य ही रखी जानी चाहिए। जातीय-सभाओं या सरकारी नौकरों की सहकारी सभाओं के हिस्से किसी दर्जे के सरकारी नौकर खरीदें, तो अनुचित नहीं है। इन संस्थाओं का कारोबार चलाने में सरकारी नौकर योगदें, तो हानिकारक भी नहीं है। किन्तु यह नियम बना दिया जाना चाहिए कि सिविलसर्विस, प्राविंशियल—सर्विस और सबार्डिनेट सर्विसके गैजिटेड आफीसर इजाजत हासिल किए बगैर किसी सहकारी-संस्था की प्रबंधक-समिति में कोई पद स्वीकार न करें।

सहकारी-संस्थाओं के कारोबार में हस्तक्षेप करने का अधिकार किसी जिलाधीशको (डिस्ट्रिक कलेक्टर) नहीं दिया जाना चाहिए। उत्तर भारत के कई प्रान्तों में जिला कलेक्टर अपने जिले के मध्यवर्ती बैंक का चेअरमेन (सभापति) होता है। किन्तु बम्बई, मध्यप्रान्त, मद्रास और ब्रह्मदेश में ऐसा नहीं होता है। हमारे मत से जिलाधीश का सहकारी-संस्थाओं से किसी प्रकार का सम्बंध रखना हानिकारक है। सहकार का मुख्य उद्देश स्वाश्रय और स्वनियंत्रण है। स्वतंत्र प्रयत्नों से ही सहकार फूलता फलता भी है। मध्यवर्ती बैंकों की प्रबंधक-समिति में, ऊंचे दर्जे के सरकारी अधिकारियों के रहने से दूसरे लोगों की आवाज सुनी ही नहीं जाती है, जिससे वे लोग काम में दिलचस्पी नहीं रखते हैं। और आफीसर की उच्छृंखल प्रवृत्ति के कारण एकता का विनाश हो जाता है, जिससे संस्था को हानि पहुँचने की संभावना रहती है। सहकारी-संस्था

ओं से, कलेक्टर का सम्बन्ध इस प्रकार का होना चाहिए, कि उसके प्रमाद और उच्छृंखलता से सहकारी-संस्थाओं के स्वतंत्र विकास और सहकार की प्रगति में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। सरकारी नौकरों का इन संस्थाओं के कारोबार से दूरही रहना अच्छा है।

भारत में सहकारी-संस्थाओं के रजिस्ट्रार को बहुत अधिक अधिकार दिए गए हैं। सहकार-प्रवृत्ति की नींव डालते समय रजिस्ट्रार की नियुक्ति पर खास ध्यान दिया गया था। केवल सभाओं को रजिस्ट्रार करने का काम ही रजिस्ट्रार के जिम्मे नहीं किया गया था सभाओं का निरीक्षण करना, उनको सहायता और सलाह देना और उनके कारोबार पर नियंत्रण रखने का काम भी रजिस्ट्रार के जिम्मे किया गया था। प्रारंभ में यह सोचा गया था कि सरकार द्वारा नियुक्त नियामक और सहायक की बहुत ही थोड़े समय के लिए आवश्यकता होगी। किन्तु यह धारणा गलत निकली। बरसों के अनुभव से मालूम हो गया है कि सरकारी नियंत्रण और नियंत्रण को और भी बढ़ाने की आवश्यकता है।

सभाओं को रजिस्टर करने के लिए दरखास्त लेना और तहकीकात करके उनका निर्णय करना, सभाओं के नियमों और उपनियमों की दुरुस्ती को रजिस्टर करना, प्रतिवर्ष सभाओं के हिसावकी जाँच करना, एक सभा को दूसरी सभासे कर्ज लेनेकी साधारण या विशेष आज्ञा प्रदान करना, सभाओं के कारोबार पर नजर रखना, सभाओं की रजिस्टरी रद्द करना, सभा तोड़ना, लिक्विडेटर मुकर्रर करना, सभाओं या सभा सदों के आपसी झगड़े तय करना या पंचों द्वारा तय कराना, आदि काम रजिस्ट्रार के जिम्मे किए गए हैं। इनके अलावा सहकारके सिद्धान्तों का प्रचार करने वाली संस्थाओं पर देखरेख रखना, हिसाब जाँचने और इन्सपेक्सन करने वालों पर नियंत्रण रखना, नियम और उपनियम बनाना, सहकारी-सभाओं को रुपया उधार देने वाले बैंकों से निकट सम्बन्ध रखना और सहकारी-संस्थाओं की आर्थिक अवस्था और कारोबार से पूरा पूरा परिचय प्राप्त करना भी रजिस्ट्रार का फर्ज माना गया है।

कहा जाता है कि रजिस्ट्रार के जिम्मे इतना अधिक महत्व-पूर्ण और जिम्मेदारी का काम रखा गया है कि इस पद पर ऊँचे दर्जे के सरकारी आफीसर के अलावा किसी अन्य की मुकर्ररी करना हानिकारक हो सकता है। अतएव कलेक्टर के दर्जे के आदमी का ही इस पद पर मुकर्रर किया जाना उचित समझा गया है। प्रति हजार सहयोग-संस्थाओं या उनके हिस्से के लिए हर प्रान्त में रजिस्ट्रार या जाइन्ट रजिस्ट्रार का नियुक्ति की गई है। निश्चित किया गया है कि जाइंट रजिस्ट्रार का पद सेटलमेंट आफीसर के पद से कम दर्जे का कदापि न होना चाहिए। सहकार-प्रवृत्ति के प्रचार और सहकारी-संस्थाओं की सुव्यवस्था को नजर में रखते हुए, कहा जाता है कि ऐसा होना उचित ही है। किन्तु बड़ी बड़ी तनखा पाने वाले अधिकारियों की नियुक्ति करना आर्थिक दृष्टि से उचित नहीं हैं। इससे संचालन का खर्च बहुत ज्यादा बढ़ जाता है। खर्च के सवाल को एक ओर रखदें, तो भी ऊँची ऊँची तनखा पाने वाले रजिस्ट्रारों की एक बड़ी फौज खड़ी कर देने भर से सहकार की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहेगी, ऐसा मान लेना भूल है। यह अनुभव सिद्ध बात है कि एक बहुत बड़े विभाग का काम निर्जीव यंत्रवत् चला करता है। यही हालत किसी किसी प्रान्त में, इस विभाग की भी हो गई है। और अवैतनिक प्रचारकों में स्वाश्रय और स्वनियंत्रण के विचार दब से गए हैं। सभी अधिकार सरकारी कर्मचारियों के हाथ में दे दिए गए हैं। ऐसा होना सहकार-प्रवृत्ति में स्वाश्रय और स्वनियंत्रण के सिद्धान्त के प्रतिकूल है। शिक्षा के अभाव के कारण देहातों की सहकारी-सभाओं के मार्ग में अनेक बाधाएं उपस्थित हैं। फिर भी, कृषि जीवियों की कई सहकारी-सभाएं बहुत अच्छी तरह से चल रही हैं। और उनके द्वारा सहकार प्रवृत्ति का भी उल्लेख-

नीय प्रचार हुआ है। सरकार ने इस बात को भी निस्संकोच स्वीकार कर लिया है कि अवैतनिक कार्य कर्त्ताओं का भी इस सफलता और प्रचार में खासा हाथ रहा है। हमारा विश्वास है कि यदि अवैतनिक कार्य कर्त्ताओं को पूर्ण स्वतंत्रता दे दी जाय, तो इससे भी अधिक अच्छा परिणाम हो सकता है।

सहकारी कमेटी ने अपने रिपोर्ट में सुझाया है कि राजनैतिक या धार्मिक प्रश्नों की चर्चा इन संस्थाओं की बैठकों में न होने पावे। यदि किसी सभा में ऐसे प्रस्ताव पर विचार किया जाय, तो उस प्रस्ताव को रद्द करने या नामंजूर कर देने का अधिकार रजिस्ट्रार को दिया जाना इष्ट है। किन्तु कमेटी का इस प्रकार की सूचना करना हास्यास्पद है। सहयोग संस्थाओं में राजनैतिक और धार्मिक प्रश्नों का उठना असंभव सा है तब ऐसा नियम बनाने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। हमारे खयाल से शासकों के कुतर्कों, उनके सलाहकारों की दुष्ट सम्मतियों और राष्ट्रीय आन्दोलन की उत्तुङ्ग तरंगों की भयानकता के कारण भारत सरकार को प्रत्येक संस्था के संगठन और संचालन में राजनैतिक और धार्मिक आंदोलन की गंध आने लगी है।

सहयोग संस्था एक लोक नियुक्त सभा है। इसका कार्य संचालन लोक मत के अनुसार ही किया जाना चाहिए। जब तक लोगों का इन संस्थाओं पर विश्वास न बैठ जायगा तब तक वे जनता के हृदय में स्थान न पा सकेंगी, और ऐसा हुए बिना भारतीय राष्ट्र की आर्थिक उन्नति के कार्य में सहकार कुछ भी सहायता प्रदान न कर सकेगा। इसके अलावा सहकार प्रवृत्ति में लोक तन्त्र का प्रवेश हुए बिना सामाजिक संगठन का कार्य भी नहीं हो सकेगा।

मध्य प्रान्त में मध्यवर्ती बैंकों का फेडरेशन (संघ) कायम किया गया है। सम्बद्ध मध्यवर्ती बैंकों, और सहकारी सभाओं के कारोबार की देख रेख करना, उनका हिसाब किताब जाँचना, उनके कार्य संचालन पर नियन्त्रण रखना ही इस संघ का उद्देश है। सभी सम्बद्ध संस्थाओं के कारोबार और कार्य संचालन में एकता बनाये रखने के लिए ही इस संघ की सृष्टि की गई है। यह सन्घ कार्यकर्त्ताओं को ट्रेनिंग देने का भी काम करता है। इस सन्घ को हम मध्य-प्रान्त के सहकारी-स्वराज्य की लोक-प्रतिनिधि-सभा (पार्लमेंट) कह सकते हैं। सहकार-प्रवृत्ति की कार्य-पद्धति निश्चित करने और रुपया पुराने का प्रबन्ध करने का काम भी सन्घ ही करता है। हिसाब निरीक्षक, बैंकों के मैनेजर, सेक्रेटरी आदि के जरिए, मध्य-प्रान्त के सहयोग-स्वराज्य के शासन-सूत्र, इसी पार्लमेंट — सन्घ, के हाथ में है। मद्रास में भी सहकारी-सभाओं का एक प्रान्तिक संघ अस्तित्व में है। किन्तु इसकी सब शक्ति सहकार के सिद्धान्तों का प्रचार करने में ही व्यय होती रही है। फिर भी, इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भाषणों, पत्र-पत्रिकाओं आदि साधनों का अवलम्बन करके इस सन्घ ने सहकारी-विभाग की नीति-निर्धारित कराने में बहुत काम किया है।

भारत के कुछ प्रान्तों में अवैतनिक रजिस्ट्रार भी मुकर्रर किए गए हैं। इससे सहकार की प्रगति को अच्छी गति मिली है।

बिहार और उड़िसा में भी प्रान्त की सब सहकारी-सभाओं का एक युनियन (सन्घ) काम कर रहा है। इसकी रचना मध्य प्रान्तीय फेडरेशन के अनुसार ही की गई है। इस सन्घ के उद्देश नीचे दिए जाते हैं—

१—सम्बद्ध संस्थाओं की देखरेख करना, हिसाब किताब-जाँचना और उनके कार्य-संचालन का नियन्त्रण करना।

२—कृषि जीवियों की सहकारी सभाओं, औद्योगिक सहयोग-संस्थाओं और अन्य प्रकार के सहयोग-मंडलों की स्थापना के लिए प्रयत्न करना।

३—प्राथमिक शिक्षा के प्रचार में सहायता देना, जनता के आरोग्य को सुधारना और औषधोपचार का प्रबन्ध करना, अकाल के दिनों में हर प्रकार की

सहायता करना और सम्बद्ध संस्थाओं के नैतिक और आर्थिक विकास के लिए प्रयत्न-शील रहना।

४—बिहार और उड़िसा की सभी सहकारी-संस्थाओं में ऐक्य बनाये रख कर उनये कार्य-संचालन में समता स्थापित करना।

विकास वाद

[अनु० विकास प्रिय]

(७)

गर्भ विज्ञान द्वारा जो प्रमाण विकास वादकी पुष्टि में मिलते हैं उनका उल्लेख कियाजा चुका है। रुधिर परीक्षायें भी इस विषय पर बहुत ही उपयोगी और मनोरञ्जक प्रकाश डालती हैं। लगभग गत ४० वर्षों से अनेक शरीरवेत्ताओं ने इस क्षेत्र में कार्य किया है। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के डा० जार्ज एच० एफ० नट्टाल (Nattall) इस क्षेत्र के प्रधान कार्य्य कर्त्ता हैं। रुधिर सम्बन्धी परीक्षणों को यों तो कई विधियाँ हैं पर यहाँ डा० नट्टाल की 'अवक्षेपण विधि' का इस सम्बन्ध में उल्लेख करना ही समुचित होगा। यह विधि क्या है और इसका क्या महत्व है यह जानने के लिये मनुष्य के रुधिर का उदाहरण लेना अधिक अच्छा होगा क्योंकि एक तो इसको परीक्षा बड़े विस्तार और गम्भीरता से की जा चुकी है और दूसरी बात यह भी है कि मनुष्य के रुधिर की परीक्षा कानून की दृष्टि से भी उल्लेखनीय है। साधारण रासायनिक विश्लेषण द्वारा भिन्नभिन्न पशुओं के रुधिर की विचित्रता का परिचय मिलना बड़ा ही कठिन है, पर यह बात चिरकाल से लोगों को मालूम है कि पशुओंके रुधिर भिन्न भिन्न होते हैं। इस का प्रमाण इस बात में मिलता है कि अनेक रोगा में यह देखा गया है कि मनुष्य के शरीर में प्रत्येक पशु का रुधिर प्रवेश कराना सर्वदा निरापद नहीं होता। कभी कभी तो मनुष्य के शरीर में पशु का रुधिर पहुँचाना बहुत ही खराब होता है, और इससे रोगी को बड़ी क्षति पहुँचती है।

रुधिर परीक्षा की अवक्षेपण विधि इस प्रकार है। मनुष्य का ताजा खून जम जाने दिया जाता है। यह सभी जानते हैं कि रुधिर शरीर से पृथक् होते ही प्याली में कुछ मिनटों में ही दही के समान चक्का जम जाता है। थोड़ी देर के बाद इस ठोस चक्के में से गेहूँआं रंग का रस पृथक् होने लगता है जिसे रक्तरस (Serum) कहते हैं। इस रक्तरस की थोड़ी सी मात्रा एक एक दो दो दिन के बाद खरगोश की नसों में सुई द्वारा पहुँचाई जाती है। ऐसा करने से खरगोश के रुधिर में प्रतिद्वन्द्वियों (Antibodies) का जन्म होता है। ये प्रतिद्वन्द्वी उसी प्रकार के होते हैं जैसे कि विष-विरोधी (antitoxin) जो कि घोड़े में डिप्थीरिया वीरस के सुई द्वारा पहुँचाने से प्रकट होते हैं। अन्तिम बार सुई लगाने के पश्चात् खरगोश को कई दिनों तक जीवित रखा जाता है और फिर बाद को इसे मार डाला जाता है और इस का खून खींच लिया जाता है। इस रुधिर को रख छोड़ते हैं। ऐसा करने से पहले तो यह जमता है और बाद को इसमें से रक्त रस पृथक होता है। इस रक्त रस को पृथक कर लिया जाता है एवं इसे सुरक्षित रखते हैं। इस प्रकार खरगोश से प्राप्त रक्त रस मनुष्य के रक्तरस का प्रतिद्वंद्वी समझा जाता है, इसे 'वै मानव रक्तरस' (anti-human) कहते हैं। इससे मनुष्य के रुधिर की बहुत ही अच्छी पहचानकी जा सकती है, ताजे रुधिरकीही नहीं प्रत्युत पुराने रुधिरके धब्बों या सड़े हुए रुधिर को भी। रुधिर के धब्बों को नमक के हलके घोल से भिगोया जाता है। इस घोल को फिर छान कर बिलकुल स्वच्छ कर लेते हैं। रुधिर के इस घोल में वै-मानव रक्तरस को कुछ बूंदें डाली जाती हैं। यदि यह धब्बा मनुष्य के रुधिर का था तो शीघ्र ही श्वेत अवक्षेप प्राप्त होता है। पर यदि यह भेड़ बकरी आदि किसी पालतू पशु के रुधिर का है तो फिर कोई अवक्षेप न मिलेगा। इस प्रकार मनुष्य का रुधिर सरलता से पहचाना जा सकता है। जैसे वै मानव रक्तरस होता है उसी प्रकार अन्य पशुओं के भी प्रतिद्वन्द्वी रक्तरस जैसे

वै-अश्व रक्तरस भी मिलते हैं। इनके बनाने की भी विधि उसी प्रकार की है। इन पशुओं का रक्तरस पहले खरगोश की नस में सुई द्वारा पहुँचाया जाता है, बाद को खरगोश को मार डालते हैं और उसके रक्त से रक्त-रस निकालते हैं। यह उन पशुओं का प्रतिद्वन्द्वी रस होता है। न्यायालयों में विशेषतः जर्मनी और आस्ट्रिया में इस विधि का उपयोग रुधिरों की पहचान में किया जाता है। खूनी मनुष्यों के मुक़द्दमों के फैसला करने में इससे बड़ी सहायता मिलती है।

इस रुधिर परीक्षा का प्रयोग सम जातीय पशुओं का सम्बन्ध निश्चित करने में भी किया गया है। यह बात ठीक है कि 'वै मानव रक्त रस' मनुष्य के रक्त रस के साथ तो अति शीघ्र अवक्षेप देगा, पर मनुष्य के निकटस्थ जो अन्य प्राणि जातियाँ है उनमें भी थोड़ी बहुत देर में अवक्षेप प्राप्त हो जायगा। ऐसा ही अन्य पशुओं के भी सम्बन्ध में है। किसी भी पशु का प्रतिद्वन्दी रक्तरस उसकी जाति के निकटस्थ अन्य पशुओं के रक्तरस से भी अवक्षेप दे सकता है। जिस पशु का रक्तरस जितनी आसानी से इस परीक्षण को देगा वह उतना ही उस पशु के निकट समझा जायगा जिसका कि प्रतिद्वन्दी रस प्रयुक्त किया गया है। अधिक गाढ़े घोलों के उपयोग से इस प्रकार के दूर-सम्बन्ध भी निर्धारित किये जा सकते हैं। डा० नट्टाल और उसके सहयोगी ग्रेहम स्मिथ ने इस प्रकार के सहस्रों प्रयोग किये और इससे उन्हें जो सम्बन्ध-शृंखला मिली वह बिलकुल वही थी जो कि विकासवाद की अन्य साक्षियों से मिली थी। यहाँ उनके कुछ प्रयोगों का उल्लेख कर देना बुरा न होगा। डा० नट्टाल की "ब्लड, इम्यूनिटी एण्ड ब्लड रिलेशनशिप" से निम्न उद्धरण लिये गये हैं। इसमें ग्रेहम-स्मिथ और स्ट्रजवेज के अन्वेषण भी सम्मिलित हैं:—

"जहाँ भग्नावशेष साक्षियों का अभाव है वहाँ पशुओं का पारस्परिक सम्बन्ध उनके शरीर की गठन और रचना के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। इन समताओं के निरीक्षण में बहुधा निरीक्षक को अपने मनोभावों से काम लेना पड़ता है।" "जानसन ने आंख के सम्बन्ध में जो मनोरञ्जक निरीक्षण किये हैं, उनसे भी प्राचीन पशुओं और मनुष्य का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। अपने अवक्षेपकों से मैंने जो प्रयोग किये हैं उनसे भी यही बात सिद्ध होती है। सिमिडाई जो एक प्रकार का प्राचीन बन-मानुष है, उसके रक्त में और मनुष्य के रक्त में वैमानवरक्तरस के प्रति एक ही प्रकार की प्रक्रिया होती है। इसके बाद इस क्रम में सरकोपिथेसिडाई (प्राचीन जगत् का बन्दर) की गिनती है, और तदुपरान्त सेबिडाई और हेपेलिडाई (नवीन जगत् के बन्दर) का स्थान है। ये अन्तिम तो वै-मानवरक्तरस के साथ बहुत ही थोड़ी प्रक्रिया देते हैं। लेमुरोइडिया बन्दर तो बिलकुल भी प्रक्रिया नहीं देता।" (पृ० २) "अनेक रुधिरों पर मैं ने प्रतिद्वन्दी रक्तरसों द्वारा परीक्षायें की हैं, उनसे पता चल जायगा कि इनसे कुछ बहुत ही उपयोगी और निश्चित धारणायें स्थित की जा सकती हैं, यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है कि प्राणियों के कुछ विशेष समूह में जिनके पूर्वज एक ही थे एक समान गुण पाया जाता है, यद्यपि इनके भोजन में और रहने की अन्य परिस्थितियों में बहुत भेद हो गया है। रासायनिक रुधिर सम्बन्ध के पाये जाने से हम अति अतीत काल तक का इतिहास ज्ञात कर सकते हैं, और मुझे यह विश्वास है कि यह कार्य यद्यपि अभी आरम्भ ही हुआ है भविष्य में विकासवाद सम्बन्धी बहुत सी उलझनों को सुलझा देगा।"

पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में नट्टाल और ग्रेहमस्मिथ ने अपनी रुधिर-परीक्षाओं द्वारा मनोरञ्जक परिणाम निकाले हैं, उनको इस प्रकार सूक्ष्मतः संकलित किया जा सकता है।—

(१) यदि समुचित गाढ़े घोलों का प्रयोग किया जाय और अधिक समय भी दिया जाय तो समस्त स्तन प्राणियों का पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित हो सकता है।

(२) मनुष्य, वन मानुष और बन्दरों का क्रम निर्धारित हो ही चुका है जैसा कि ऊपर बताया गया है।

(३) वै-मांसाहारी-रक्तरस से स्पष्ट है कि प्रक्रिया मांसाहारियों में सस्तन पशुओं की अपेक्षा अधिक तीव्रता से होती है। जीव विज्ञान की दृष्टि से जो प्राणी अधिक निकट हैं, उनमें ये क्रियायें अधिक समान होती हैं।

(४) वै-शूकर रक्तरस अपने ही वंश की अन्य जातियों से तो अधिकतम प्रक्रियायें देता है। रुमिनैण्ट (ruminont) और ऊँटोंके रक्तरसके साथ साधारण प्रक्रियायें, और व्हेल के साथ उससे भी कम। वै-लामा-रक्तरस (llama) ऊँट के रस के साथ साधारण प्रक्रिया देता है, और मृग जाति तथा अनेक एण्टीलोप, भेड़, बकरी, और बैलों का सम्बन्ध निश्चित कर देता है।

(५) वै व्हेल-रक्तरस अन्य व्हेलों के साथ तो अधिक प्रक्रिया देता है पर शूकर और रुमिनेण्ट के साथ क्षीण प्रक्रिया देता है।

(६) समस्त मार्सुपियलों में बहुत कुछ सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। थायलेसिन या टेस्मेनियन भेड़िया इसका अपवाद है।

(७) वै-टर्टल-रक्तरस का तीव्र घोल टर्टल और मगरों के साथ अधिकतम प्रक्रिया देता है पर लिज़ार्ड और सांपों के साथ बिलकुल नहीं। उरगों और पक्षियों के अण्डसित के साथ थोड़ी सी प्रक्रिया होती है।

(८) वै-लिजार्ड रक्तरस लिजार्डों के साथ सब से अधिक प्रक्रिया देता है और दूसरे सर्पों के साथ भी इसकी अच्छी प्रक्रिया होती है।

(९) इन प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि लिजार्डों का एक ओर तो सर्पों से सम्बन्ध है और दूसरी ओर टर्टल और मगरों से। इसके अतिरिक्त यह भी पता चलता है कि पक्षी सर्प या लिजार्डों की अपेक्षा टर्टल और मगरों के अधिक निकट हैं, यह बात भग्नावशेषकी साक्षियों से भी पुष्ट होती है।

(१०) मुर्ग और शुतुर्मुर्ग के प्रतिद्वन्दी रस से क्रमशः ७९२ और ६४९ रुधिरों की परीक्षा की गई। इससे पता चला कि सब पक्षियों का रुधिर तो आपस में बहुत समान है, पर सस्तन प्राणियों के प्रतिद्वन्दी रस से जब अन्य सस्तन प्राणियों की परीक्षाकी जाती है तो वहां बहुत ही भेद मिलता है। परन्तु पक्षियों के रुधिरों की इन परीक्षाओं द्वारा क्रमशः श्रेणी निश्चित नहीं की जा सकी है।

(११) यह पहले कहा जा चुका है कि 'हार्स शू क्रेब' के गर्भ की परीक्षा करने के यह पता चलता है कि यह श्वास लेने वाली मकड़ियों और बिच्छुओं का सम्बन्धी है न कि समुद्री क्रस्टेशियाका। यह बड़े ही महत्व की बात है कि रुधिर परीक्षा से भी इसी बात की पुष्टि होती है।

यहाँ यह बात न समझ लेनी चाहिये कि रुधिर परीक्षा द्वारा व्यक्त सम्बन्ध और अन्य शरीर रचना या भग्नावशेष द्वारा व्यक्त पुष्टियों में कोई गणित निष्पत्ति है। ऐसा मानना आपद जनक होगा, क्योंकि सस्तन प्राणिओं और पक्षियों के रुधिर में बड़ा ही अन्तर है। इस बात पर कोई विश्वास न करेगा कि शुतुर्मुर्ग और तोते परस्पर में भेड़िया और होना की अपेक्षा अधिक निकट है। यद्यपि रुधिर परीक्षा से यही परिणाम निकलता है। विकास के क्रम में जिस प्रकार अन्य शारीरिक परिवर्तन हो जाते हैं उसी प्रकार रुधिर भी परिवर्तित हो जाता है और यह परिवर्तन प्रत्येक अंग में एक ही मात्रा में नहीं होता है। बहुधा यह पाया जाता है कि शरीर का कोई एक भाग अन्य भागों जैसे दांत, खोपड़ी या पैर की अपेक्षा अधिक विकसित हो जाता है। सामान्यतः हम मनुष्यों का शरीर तो पशुओं के शरीर के अधिक निकट है और कुछ विशेष उन्नति नहीं हुई है, पर मनुष्य का मस्तिष्क अन्य पशुओं की अपेक्षा बहुत ही अधिक विकसित हो गया है। इसीलिये मनुष्य की खोपड़ी का ढांचा बिलकुल ही नया है। शेष शरीर की ठठरी, हाथ पैर आदि अंग पशुओं के समान ही है। हाथियों की जाति में

भी यही पाया जाता है कि सामान्यतः उनकी शरीर-रचना में कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ है, केवल आकार अवश्य बढ़ गया है, पर हाथी की खोपड़ी और दांतों में बहुत ही अधिक परिवर्तन मिलता है अतः किसी एक लक्षण के आधार पर पारस्परिक सम्बन्ध व्यक्त करना या वर्गीकरण करना बहुत ही आपद्जनक होगा। रुधिर परीक्षा सम्बन्धी प्रयोगों को बड़ी सावधानी से करने की आवश्यकता है, और इसके परिणामों को अन्य साक्षियों द्वारा पुष्ट करना भी सर्वथोचित है। इन सब बातों के होते हुए भी रुधिर परीक्षा के फल बहुत ही मनोरञ्जक हैं, और विकासवाद की इससे यतस्ततः बहुत ही सुन्दर पुष्टि होती है। इस विधि का क्षेत्र ही निराला है।

यक्ष्मा।

टुवर्कुलिन चिकित्सा।*

[ले० श्री कमला प्रसाद जी, एम० बी०]

टुवर्कुलिनके आविष्कार का श्रेय जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कौक (Koch) को ही प्राप्त है। बहुत आरम्भमें यह यक्ष्मा-रोगियों के लिए एक मात्र रामवाण समझा जाने लगा था, अथच प्रत्येक रोगीको चाहे वह किसी अवस्था में क्यों न हो इसकी भरपूर मात्रायें दी जाने लगीं। फल यह हुआ कि यह दवा पूरी तरह बदनाम हो गई और बहुत से चिकित्सकों ने इसका व्यवहार बन्द कर दिया। इस घटना को बीते बहुत वर्ष हो गये और एक बार फिर भी इस चिकित्सा के उद्धार की चेष्टा की गई, तथा अनुभव ने यह सिद्ध कर दिखाया कि कुछ चुने हुए रोगियोंके लिए टुवर्कुलिन वास्तवमें लाभदायक है।

* टुवर्कुलिन के सम्बन्ध की बहुत सी बातें निदान प्रकरण में ही लिखी जा चुकी हैं, अस्तु इस प्रकरण में केवल चिकित्सा से सम्बन्ध रखने वाली बातों का समावेश होगा। कभी २ ऐसा जान पड़ता है मानो पूर्व कथित विषयों का पुनर्वर्णन किया जा रहा है, पर बात ऐसी नहीं है यह केवल आद्योपान्त पढ़ने पर जाना जा सकता है।

शरीर में टुवर्कलिन की क्रियायें।

(क) टुवर्कुलिन स्वस्थ व्यक्तियों के लिए कुछ भी हानिकारक नहीं है।

(ख) यक्ष्माग्रस्त व्यक्तियों के लिए यह एक प्रबल विष है।

प्रतिक्रियायों का कारण:—

यक्ष्माग्रस्त रोगियों की रक्त धारा में तंतुओं द्वारा प्रादुर्भूत कुछ प्रतिविष (कीटाणुविष-नाशक पदार्थ—Antibodies) संचारित होते रहते हैं तथा केन्द्रोत्पन्न टुवर्कुलिन (कीटाणु विष) को शिथिल करने की चेष्टा करते रहते हैं। इस समय यदि बाहर से कुछ टुवर्कुलिन प्रवेश कराया जाय तो ये प्रतिविष उसे भी नष्ट करने की चेष्टा करेंगे, तथा इस चेष्टा में टुवर्कुलिन को छिन्न भिन्न कर देंगे। छिन्न टुवर्कुलिन सरल किन्तु अपने से अधिक विषाक्त पदार्थों अण्डसितोजों, (Albumoses) में परिणत हो जाता है जिनके फल स्वरूप शारीरिक प्रतिक्रियायें (ज्वर इत्यादि) बढ़ती जाती हैं।

स्वस्थ शरीर में इस प्रतिविष की अनुपस्थिति में टुवर्कुलिन प्रवेश कराये जाने पर भी ये घटनायें नहीं घटतीं।

टुवर्कुलिन प्रतिक्रियायें।

ये तीन प्रकार की होती हैं। स्थानीय, कैन्द्रिक और सर्वाङ्ग। यदि टुवर्कुलिन की मात्रा कम हुई तो केवल स्थानीय प्रतिक्रिया हो कर रह जाती है, यदि मात्रा अधिक हुई तो रक्त धारा दूषित हो जाती है, तथा कैन्द्रिक और सर्वाङ्ग प्रतिक्रियायें भी उपस्थित हो जाती हैं।

(१) स्थानीय प्रतिक्रियायें:—

ये साधारण प्रदाह चिह्नों के रूप में प्रगट होती हैं, प्रवेश स्थान पर पीड़ा होती है, सूजन तथा लालिमा दीख पड़ती हैं। बहुधा ये चिह्न स्पष्ट रूप से

नहीं लक्षित होते किन्तु जब प्रगट होते हैं तो अन्य प्रतिक्रियायों की सम्भावना के सूचक होते हैं—अस्तु, चिकित्सक को इसके सम्बन्ध में सतर्क रहना उचित है।

ऐसे टुबर्कुलिन जो रक्त में शीघ्र प्रवेश कर जाते हैं—जैसे मौलिक टुबर्कुलिन (T. O.) स्थानीय प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न करते किन्तु जो कठिनतासे रक्तमें मिश्रित होते हैं अधिकतर स्थानीय प्रतिक्रिया प्रगट करते हैं।

(२) कैन्द्रिक प्रतिक्रियायें।

यक्ष्मा केन्द्रों के चारो ओर रक्ताधिक्य हो जाता है, जिससे फुफ्फुस-यक्ष्मा-रोगियों के वक्षस्थल में पीड़ा होती है, खांसी एवं बलगम की वृद्धि होती है। राल्स अधिक स्थानों में विस्तृत हो जाते हैं, तथा जिन स्थानों में नहीं पाये जाते थे वहां भी सुन पड़ते हैं। कम मात्रा में ये प्रतिक्रियायें रोगी के लिए लाभदायक होती हैं, अधिक मात्रा में अनिष्ट करती हैं।

(३) सर्वाङ्ग प्रतिक्रियायें:—

ये कभी कभी नहीं उपस्थित होतीं, किन्तु जब उपस्थित होती हैं, तो निम्न लिखित लक्षण देखे जाते हैं—

(क) ज्वर। तापक्रम अधिक हो जाता है—१०१° वा १०२° तक पहुँच सकता है। इसका एकाएक बढ़ना प्रतिक्रिया का सूचक होता है।

(ख) शिरदर्द।

(ग) साधारण अस्वस्थता का अनुभव होना।

(घ) हाथों और पांवों में पीड़ा।

(ङ) क्षुधा नाश।

(च) मितली एवं उबकाई आना।

टुबर्कुलिन द्वारा चिकित्सा करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ये लक्षण उपस्थित न होने पावें।

कभी २ ये सर्वाङ्ग प्रतिक्रियायें इतना भीषण हो जाती हैं कि रोगी का बहुत बड़ा अनिष्ट हो जाता है अथवा मृत्यु तक हो जाती है। टुबर्कुलिन चिकित्सा का यह बहुत बड़ा प्रतिरोधक है। अस्तु, चिकित्सक का ध्येय यही रहता है कि ये प्रक्रियायें उपस्थित नहीं होने पावें।

टुबर्कुलिन द्वारा विष नाशक शक्ति (Immunity) का उत्पादन

यदि टुबर्कुलिन संबंधी सिद्धान्त (अर्थात् प्रति विष द्वारा टबर्कुलिन का छिन्न भिन्न हो कर और भी गुरुतर विषाक्त पदार्थों में परिणत हो जाना) को सत्य मान लिया जाय तो यह प्रश्न उठता है जब कि शरीरमें स्वयं उद्भूत कीटाणु-विष यथेष्ट परिमाणमें वर्त्तमान रहते हैं। जिनको नष्ट करनेके लिये प्रतिविषों की उत्पत्ति होती हैं, तो बाहरसे भी टुबर्कुलिन प्रवेश कराना कहां तक न्याय-संगत है। इसका उत्तर यह है कि यक्ष्मा-जनित अंग विकृतियों पर ध्यान देनेसे यह ज्ञात होगा कि यक्ष्मा केन्द्रों की रक्त नलिकायें प्रायः भ्रष्ट हो जाती हैं, अस्तु रुधिर-धारामें संचरण करने वाले प्रति विष इन केन्द्रों तक कदापि नहीं पहुँच सकते अथच शरीर की वास्तविक सहायता करनेमें असमर्थ रह जाते हैं। इसी समय टुबर्कुलिनकी सहायता ली जाती है। इसके प्रवेश कराये जाने पर यक्ष्मा-केन्द्रोंके निकट अधिक रुधिर-प्रवाह होने लगता है जिससे ये प्रतिविष इन केन्द्रों तक पहुँच सकते हैं तथा केन्द्रोद्भूत यक्ष्मा-विष को शिथिल करनेमें समर्थ होते हैं।

इसके अतिरिक्त टुबर्कुलिन द्वारा साधारण प्रदाह उत्पन्न होता है जिससे श्वेताणुओं तथा लसीकाणुओं की साधारण संख्या बढ़ जाती है जिससे विषाक्त पदार्थोंके हटाये जानेमें सहायता मिलती है। कभी २ तो शरीर इतना प्रति-विष उत्पन्न करता है कि इसके सभी विष नष्ट हो जाते हैं, यह उन रोगियोंमें विशेष कर देखा जाता है जिनमें रोग-मुक्ति की आशा अधिकांशमें सम्भव हो।

टुबर्कुलिन प्रवेश कराये जाने पर रोगी की दो अवस्थायें होती हैं—

(क) प्रतिक्रिया की ऋणात्मक अवस्था (negative phase) आरम्भमें प्रतिविष कुछ कम

हो जाते हैं। यह अवस्था टुवर्कुलिन प्रवेश कराये जानेके कुछ ही घण्टे बाद आरम्भ हो जाती है।

(ख) कुछ कालोपरान्त द्वितीय धनात्मक अवस्था (Positive phase) उपस्थित होती है। इसमें रोगी कुछ अच्छे हो जाते हैं, यक्ष्मा-केन्द्रों पर स्वास्थ्यकर प्रभाव पड़ता है तथा प्रतिविषों की मात्रा बढ़ जाती है। यह अवस्था दो सप्ताहों तक रहती है तथा पुनः पूर्वावस्थामें परिवर्तित हो जाती है।

रोग-क्षमता (Tolerence)

यह अवस्था तब प्राप्त होती है, जब टुवर्कुलिन की बड़ी २ मात्रायें बिना किसी बुरे परिणामके सह्य हो जाती हैं, और जब यह शक्ति प्राप्त हो जाती है तब शरीरके किसी स्थानमें एकाध यक्ष्मा-केन्द्रके वर्त्तमान रहते हुए भी रोगी अपने काममें लग सकता है।

यह शक्ति किस प्रकार बढ़ाई जा सकती है? यह टुवर्कुलिन की उचित मात्राओं को उचित समय प्रवेश करने से बढ़ाई जा सकती है।

क्या प्रतिक्रिया वैशेषिक है?

इसके सम्बन्धमें कुछ लोगों की धारणा है कि यह वैशेषिक नहीं है क्योंकि इसी प्रकार की प्रतिक्रिया अन्य बाह्य मांसीय पदार्थ (Foreign protein) के प्रवेश कराये जाने पर भी सम्भव है। पर यह धारणा निर्मूल है क्योंकि जिन लोगोंमें यक्ष्मा का आक्रमण कभी हुआ ही नहीं उनमें टुवकुलिन प्रवेश कराये जाने पर भी यह प्रतिक्रिया उपलब्ध नहीं होती।

कौन से टुवकुलिन का व्यवहार किया जाय?

किसी प्रकारके टुवकुलिन को क्यों न प्रवेश कराया जाय, प्रतिक्रियायें (स्व-भावतः) एक सी होंगी किन्तु उनकी मात्राओं की न्यूनाधिकता, भिन्न २ प्रकारके टुवकुलिन की शक्ति, विषाक्तता एवं शोषणगति पर निर्भर करती है।

शक्ति—

जीर्ण टुवकुलिन,

पाशविक टुवकुलिन,

पाशविक टुवकुलिन मौलक,

ये क्रमशः एक दूसरेसे शक्ति में कम हैं।

विषाक्तता—

जीर्ण टुवकुलिन (सर्वाधिक विषाक्त)

मौलिक टुवकुलिन

अल्बुमोज रहित टुवकुलिन (Albumose free tuberculin)

वेरैनेक

ये क्रमशः एक दूसरे से कम विषाक्त हैं।

शोषण-गति

(Rate of absorption)

यह गति टुवकुलिनके प्रस्तुत करने की रीति पर निर्भर करती है। ऐसे टुवकुलिन जो कीटाणुओंके सार (Extracts) मात्र हैं अर्थात् जिनमें कीटाणुओं का कुछ भी अंश नहीं होता, बहुत शीघ्र ही रक्तमें मिल जाते हैं। अस्तु, इनकी प्रतिक्रियायें शीघ्र भीषण एवं अचिरस्थायी होती हैं। ये टुवकुलिन रोग-निदानके लिए अधिक कामके हैं न कि चिकित्सा के लिए। इस प्रकारके टुवकुलिन हैं जीर्ण टुवकुलिन, मौलिक टुवकुलिन तथा डेनी का वुलियन फिल्टर टुवकुलिन। दूसरी रीति से प्रस्तुत टुवकुलिन जो रक्त-धारामें इतना शीघ्र नहीं मिल जाते (नवीन टुवकुलिन, कीटाणुघोल इत्यादि) ऐसी प्रतिक्रियायें उत्पन्न करते हैं जो मात्रामें कम होती तथा अधिक दिनों तक ठहरती हैं। ये ही चिकित्साके काम के हैं।

पाशविक टुवकुलिन।

बहुधा मनुष्योंमें भी पाशविक कीटाणुओं का आक्रमण होता है और उसकी चिकित्साके लिये पाशविक टुवकुलिन का व्यवहार किया जाता है। किन्तु इस दशामें जहां कच्चे दूध का व्यवहार बहुत कम होता है, और तदनुसार पाशविक कीटाणुओं का आक्रमण भी बहुत कम होता है इस प्रकारके

टुवकुलिनके व्यवहार करने का आवश्यकता बहुत कम होती है।

टुवर्कुलिन का घोल।

बाजारके टुवकुलिन १ घन शतांशमीटर की शीशियोंमें बन्द मिलते हैं। शरीरमें प्रवेश करानेके लिए इन्हें और हलका करने की आवश्यकता होती है। इसके लिए निम्नलिखित घोल घोलक का काम करता है:—

तरल कार्बलिकाम्ल—५ अंश
सैंधव लवण
(सैंधक हरिद)—८ अंश
स्रावित जल—१,००० अंश तक।

इस घोलको पानीके एक वर्त्तनमें रख कर उबाल लिया जाता है और तब कई छोटी छोटी (कीटाणु विहीन) शीशियों (प्रत्येक) में इसका ०.९ घन श' भर लिया जाता है। अब पहली शीशीमें बाजारसे प्राप्त टुवकुलिन का ०.१ घन शंताशमीटर मिलाया जाता है, और इस नूतन घोल का ०.१ घ. श. दूसरी शीशीमें, तथा दूसरी शीशीके नवप्रस्तुत घोल का ०.१ घ श. तीसरी शीशीमें मिलाया जाता है। इस प्रकार क्रमशः क्षीण (Dilute) टुवकुलिन घोल प्रस्तुत किया जाता है। अर्थात् पहली शीशीमें प्रारम्भिक टुवकुलिन की दशांश शक्ति का, दूसरीमें शतांश शक्ति का, तीसरीमें सहस्रांश शक्ति का टुवकुलिन प्रस्तुत होता है। शीशियों पर टुवकुलिन-घोल की शक्ति के अनुसार लेबुल चिपका दिये जाते हैं, जिससे रोगीके शरीरमें प्रवेश करानेके समय सुविधा होती है। इन कार्योंके लिए तथा शरीरमें प्रवेश करानेके लिए एक विशेष टुवकुलिन-पिचकारी (Tuberculin Syringe) जिसके बाहरी भाग में एक घन शतांशमीटरके शत-भाग के माप-चिह्न अंकित रहते हैं, की आवश्यकता होती है।

शरीर में प्रवेश कराने की रीति।

टुवकुलिन त्वचाके भीतर ऊपरोक्त पिचकारी द्वारा प्रवेश कराया जाता है। शरीर का एक ऐसा स्थान चुन लिया जाता है जहां की त्वचा कुछ ढीली हो अथच कुछ खींची जा सके। इस स्थान को भली भांति साबुन तथा मद्यसार द्वारा धो कर कीटाणु विहीन कर लिया जाता है और इसी स्थान में सुई प्रवेश करा दी जाती है।

मात्रायें

मात्राओं का आधुनिक परिमाण शतांशमीटर हैं किन्तु कुछ लोग अभी तक पुराने अर्थात् मिलीग्रामका ही व्यवहार करते हैं। वास्तव में टुवकुलिन एक तरल पदार्थ है और इसके ठोस पदार्थों का तौल ठीक २ नहीं मापा जा सकता। अस्तु, पहली रीतिका ही व्यवहार करना अच्छा हैं। निम्न लिखित सारणी द्वारा दोनों के मापों की तुलना की जाती है।

एक घनशतांश मीटर बाजारू टुवकुलिन का घोल	= मिलीग्राम
जीर्ण टुवकुलिन पाशविक जीर्ण टुवकुलिन मौलिक टुवकुलिन पाशविक मौलिक टुवकुलिन बुलियन फिल्टर टुवकुलिन अल्बुमोज रहित टुवकुलिन	=१००० मिलीग्राम
नवान टुवकुलिन	= १० मि० ग्रा०
पाशविक नवीन टुवकुलिन	= २ मि० ग्रा०
कीटाणुघोल टुवकुलिन पाशविक कीटाणुघोल टुवकुलिन	५ मि० ग्रा०

टुवकुलिन-जनित प्रति क्रियायों की मात्रायें भिन्न २ रोगियों में (अथवा एक ही रोगी में भिन्न२ अवसरों पर) भिन्न होती हैं, अस्तु टुवकुलिन की मात्रा के लिए एक साधारण नियम बना लेना कठिन है। प्रत्येक रोगी के लिए इसकी पृथक् २ मात्रायें निर्धारित की जाती हैं और इसी कार्य के लिए चिकित्सक की पूरी योग्यता की आवश्यकता होती है।

प्रथम मात्रा के चुनाव के समय हमें दो बातों पर ध्यान देना चाहिए।

(१) यह मात्रा ऐसी हो कि प्रतिक्रिया कुछ भी न हो सके।

(२) यह मात्रा इतनी छोटी न हो कि इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़े जिससे रोग-नाशक-शक्ति (Immunity) प्राप्त करने में कठिनता हो।

वास्तविक कठिनाई इसी समय होती है, क्योंकि सभी रोगियों की प्रकृति एक ही नहीं होती और एक ही निर्धारित मात्रा सभी को नहीं दी जा सकती है। निम्नलिखित आदेश इसके चुनाव में सहायक होते हैं।

(१) रोग का आक्रमण-काल। प्रारम्भिक अवस्थाओं में क्षुद्रमात्राओं द्वारा भी भीषण प्रतिक्रियायें हो सकती हैं, तथा जीर्ण अवस्था में यक्ष्मा-विषों के सहन करने की शक्ति कुछ २ स्वयं प्राप्त हो जाती है। अस्तु, इस अवस्था में अधिक मात्रा में भी टुवर्कुलिन सह्य होता है।

(२) व्यायाम का प्रभाव। किसी २ रोगी का तापक्रम थोड़े से व्यायाम द्वारा ही बढ़ जाता है। इसका अर्थ यह है कि रोगी स्वशरीरोद्‌भूत विषों को सहन करने में असमर्थ हैं, ऐसी अवस्था में टुवर्कुलिन की बड़ी मात्रायें नहीं दी जा सकतीं।

मात्राओं की वृद्धि।

इस चिकित्सा का ध्येय होता है टुवर्कुलिन की ऐसी सब से बड़ी मात्रा को ढूंढ़ निकालना जो हानिकारक प्रतिक्रियायें न प्रस्तुत करें। दूसरी तथा अन्य मात्रायें पूर्व में दी गयी मात्राओं के फलाफल पर निर्भर करती हैं, यदि ज्वर, शारीरिक पीड़ा, खांसी इत्यादि लक्षण बढ़ जायं तो ऐसी मात्रा को हानिकारक समझना चाहिए। बहुत सी बातों को ध्यान में रख कर ही टुवर्कुलिन की मात्रा बढ़ाने में अग्रसर होना चाहिए। साधारणतः (यदि भीषण प्रतिक्रिया उपस्थित न हो तब) प्रत्येक मात्रा पूर्व-मात्रा से २० प्रतिशत अधिक हो सकती है, तथा ५० प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकती। यदि प्रतिक्रियायें उपस्थित न हों तो मात्रायें कुछ तीव्र गति से बढ़ाई जा सकती हैं।

मात्राओं के बीच के समय का अन्तर।

यह एक आवश्यक प्रश्न है। टुवर्कुलिन प्रवेश कराने पर प्रतिक्रियायों की प्रायः तीन अवस्थायें होती हैं।

(१) प्रति क्रियायों का प्रादुर्भाव।

(२) प्रतिक्रियायों का कम हो जाना।

(३) रोगी का अपनी पूर्वावस्था पर पहुँच जाना।

इन में द्वितीयावस्था के मध्य में टुवर्कुलिन की मात्रा को दुहराना उचित है, क्योंकि इस समय रोग-क्षमता बनी रहती है तथा टुवर्कुलिन से अधिक हानि की सम्भावना नहीं रहती। प्रथमावस्था में इसका दुहराया जाना बहुत हानिकारक होता है, क्योंकि विष से मुक्त होने के पहले ही शरीर को अधिक विषों का सामना करना पड़ता है।

जिस दिन शरीर में छोटी २ मात्रायें प्रवेश करायी जाती हैं उसके तीसरे दिन इस दूसरी अवस्था का आरम्भ हो जाता है। और यह दो से तीन दिनों तक बनी रह जाती है। अस्तु, यदि प्रतिक्रियायें अधिक नहीं हुई हों, अथवा बहुत कम हुई हों तो दूसरी मात्रा दो दिनों के उपरान्त दी जा सकती है। किन्तु जब बड़ी २ मात्रायें प्रवेश करायी जाती हैं तो इस द्वितीयावस्था का ४ से ६ दिनों के उपरान्त आरम्भ होता है, तथा यह ४ से ६ दिनों तक (कभी २ तो दो सप्ताह तक) बनी रह जाती हैं। इसलिए उस समय कुछ विलम्ब करना ही उचित है और दूसरी मात्रायें प्रायः एक सप्ताह के अन्तर पर दी जाती हैं।

अन्तिम मात्रा।

प्रत्येक रोगियों की एकही मात्रा नहीं हो सकती। यह याद रखना चाहिए कि टुवर्कुलिन यक्ष्मा-नाशक कोई पदार्थ नहीं है अथच रोगी की अवस्था का सुधार उनके अपने तंतुओं की यक्ष्मा के विरुद्ध शक्ति-प्राप्ति पर निर्भर करता है। यह शक्ति सभी

रोगियों को एक सी ही नहीं प्राप्त होती अतएव यह निर्धारित करना व्यर्थ है कि कौन सी मात्रा अन्तिम है बल्कि उचित यह है कि रोगी ने कितनी रोग-क्षमता प्राप्त की है इसी की सदैव विवेचना की जाय।

चिकित्सा कितने दिनों तक की जा सकती है?

यदि रोगी भयावह परिधि से बाहर निकल जायँ शीघ्र ही चिकित्सा बन्द कर देना उचित नहीं है बल्कि इस नवीन अवस्थाको और भी पुष्ट करनेकी चेष्टा होनी चाहिए। अस्तु, चिकित्सा उस समय तक होनी चाहिए जब तक रोग कार्य-निरत (Active) हो, और जब तक लक्षणों का सुधार होता रहे तथा इनके कुछ समय उपरान्त तक। यह अवधि रोगीकी प्रकृति पर निर्भर करती है। चिकित्सा प्रायः छः से आठ मास तक की जाती है किन्तु कभी कभी और अधिक समय लगता है। (क्रमशः)

समालोचना

Life and Experiences of a Bengali Chemist

(एक बंगाली रसायनज्ञ का जीवन चरित्र एवं अनुभव)—ले० आचार्य्य सर प्रफुल्लचन्द्र राय, प्रकाशक—चक्रवर्ती चटर्जी एण्ड कम्पनी लिमिटेड, कलकत्ता, सजिल्द, पृ० सं० ५५७ छपाई कागज आदि अत्युत्तम।

आचार्य्य सर प्रफुल्ल जी ने प्रस्तुत ग्रन्थ में अपने ७० वर्ष के जीवन का इतिहास लिखा है। सर प्रफुल्ल भारत में रसायन के जन्मदाता हैं, अतः उनके जीवन का इतिहास ही भारत में रसायन के विकास का इतिहास है। यही नहीं, अपने सहयोगियों के साथ आप उन प्रमुख व्यक्तियों में से हैं जिन्होंने वर्त्तमान बङ्गाल का निर्माण किया है। वंग प्रदेश के अनेक औद्योगिक कारखानों से प्रफुल्ल जी का सम्बन्ध रहा है। ये कारखाने बंगाल ही नहीं, प्रत्युत समस्त देश की सम्पत्ति हैं। इनका इतिहास भारत का औद्योगिक इतिहास है। कलकत्ता विश्वविद्यालय भारत के समस्त विश्वविद्यालयों का आदर्श है, अतः इस दृष्टि से कलकत्ता विश्वविद्यालय का जीवन अन्य विश्वविद्यालयों के लिये भी महत्व का है। इस विश्वविद्यालय का निर्माण और प्रतिष्ठा का श्रेय भी सर आशुतोष और सर प्रफुल्ल को ही है। इस दृष्टि से भी सर प्रफुल्ल का जीवन उल्लेखनीय है। बंगाल के अन्दर सामाजिक जाग्रति को भी सर प्रफुल्ल द्वारा बड़ा प्रोत्साहन मिला है। स्वदेशी का प्रचार तो आचार्य्य प्रफुल्ल की अद्वितीयनिष्ठा का ज्वलन्त उदाहरण है।

इन सब बातोंसे सर प्रफुल्ल का जीवन चरित्र बड़े ही ऐतिहासिक महत्व का है। इस ग्रन्थ का महत्व इस दृष्टि से और भी अधिक है कि यह सर प्रफुल्ल की अपनी लेखनी से लिखा हुआ है। जिस समय आचार्य्य जी एडिनबरा में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, उस समय उनके हृदय में यह लालसा उत्पन्न हुई थी कि भारतवर्ष भी संसार के वैज्ञानिक भांडार में कुछ भेंट करने योग्य हो जाय। भारत के उज्ज्वल भविष्य का आप स्वप्न देख रहे थे। आचार्य्य जी का कथन है कि उन्हें इस बात का सन्तोष है कि उनके जीवन काल में ही वह स्वप्न पूरा हो गया। रसायन क्षेत्र में उनके व्यक्तित्व से जो प्रोत्साहन मिला है, वह भारत के वैज्ञानिक इतिहास में चिर स्मरणीय रहेगा। जिस कार्य्य का उनके करों द्वारा उद्घाटन हुआ है वह अब आगे उत्साह से बढ़ता ही जावेगा।

प्रस्तुत पुस्तक में दो भाग हैं। पहले भाग के सत्रह अध्यायों में आचार्य्य जी ने अपना वंश विवरण, जन्मस्थान की अवस्था का चित्रण, ग्राम्य शिक्षा, कलकत्ते में शिक्षा-प्राप्ति, यूरोपयात्रा, प्रेसीडेन्सी कालेज का जीवन, बंगाल केमिकल वर्क्स की संस्थापना, अपनी पारदसनोषितकी खोजों का विवरण, हिन्दूरसायन के इतिहास का उल्लेख, भारतीयों को उच्च नौकरियों की प्राप्ति में बाधा, बंगाल में नवजीवन का प्रादुर्भाव, भारत में रासायनिक अन्वेषणों का प्रारम्भ और प्रगति, अपने शिष्यों के कार्यों का उल्लेख, इंडियन केमिकल सोसायटी, यूनिवर्सिटी कालेज आव् सायन्स की स्थापना, दुर्भिक्ष सहायता का मार्मिक विवरण, तथा स्वदेश और चरखा की कथा-आदि का बड़ा ही हृदय ग्राही उल्लेख किया है।

इस पुस्तक के दूसरे भाग में ११ अध्याय हैं। वस्तुतः समस्त पुस्तक का यह भाग बहुत ही महत्व पूर्ण है। इसमें भिन्न भिन्न विषयों के सम्बन्ध में आचार्य प्रफुल्ल ने अपने भावों का समावेश किया है। विश्वविद्यालयों को आधुनिक शिक्षा प्रणाली और उपाधिलालसा के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किये हैं, और इसके सम्बन्ध में सरकार की नीति की भी कड़ी आलोचना की है। इन्हीं अध्यायों में बंगाल के अनेक कारखानों का वृत्तान्त दिया गया है। यही नहीं, सर पी० सी० ने यह भी दिखाया है कि राज्य कर्मचारियों ने किस

कुटिल नीति से भारत के औद्योगिक धन्धों को एक एक करके विनष्ट करने का प्रयत्न किया और किस प्रकार इस देश का समस्त व्यापार और कलाकौशल विदेशियों के हाथ में चला गया। इन अध्यायों में बंगाल के युवकों की भी समुचित भर्त्सना की गई है। सर पी० सी० मारवाड़ियों के विशेष प्रतिद्वन्दी हैं और कलकत्ते में इनका आधिक्य आपको सह्य नहीं है, इस दृष्टि से आप में प्रान्तीयता के भाव यतस्ततः अवश्य ही व्यक्त हो जाते हैं।

पुस्तक के इसी भाग में आपने यह भी दिखाया है कि आप पहले चर्खा के क्यों विरोधी थे, और किन कारणों से आप बादको इसके बड़े परिपोषक हो गये। बंगाल में स्वदेशी के लिये आपसे अधिक किसी ने भी नहीं किया है।

बंगाल की ग्राम्य अवस्था का आपने भली भाँति निरीक्षण किया है, और वहां होने वाले अत्याचारों का भी दिग्दर्शन कराया है। यही नहीं, सामाजिक कुरीतियों की भी बड़ी आलोचना की है। वर्ण व्यवस्था के आप कट्टर विरोधी और अछूतोद्धार के परम भक्त हैं।

इस महान पुरुष का यह जीवन चरित्र प्रत्येक युवक के पढ़ने योग्य है। आपको आधुनिक बंगाल के जन्मदाताओं में से समझना चाहिये। आचार्य जी समस्त भारत की सम्पत्ति हैं और भारतीय के नाते हम आपको श्रद्धांजली भेंट करते हैं। हमें यह देख कर कुछ खेद अवश्य हुआ कि आप अपने को Bengali chemist (वंग-रसायनज्ञ) के रूप में इस पुस्तक में प्रस्तुत कर रहे हैं। इस पुस्तक का नाम यदि Life and Experiences of an Indian Ehemist होता तो हमें अधिक सन्तोष होता। भूमिकामें आपने ऐसा न करनेका जो कारण दिया है इससे हमें सन्तोष नहीं हुआ। फिर भी सर पी० सी० को हम तो भारतीय ही मानेंगे और हमें उनपर गर्व है। आशा है कि जनता उनकी जीवनी से आदर्श ग्रहण करेगी।

—सत्यप्रकाश

छपकर तैयार होगईं

हिन्दीमें बिल्कुल नई पुस्तकें।

१—कार्बनिक रसायन
२—साधारण रसायन

लेखक—श्री सत्यप्रकाश एम० एस-सी०, ये पुस्तकें वही हैं जिन्हें अंगरेज़ी में आर्गेनिक और इनोर्गेनिक कैमिस्ट्री कहते हैं। रसायन शास्त्रके विद्यार्थियोंके लिए ये विशेष काम की हैं। मूल्य प्रत्येक का २॥) मात्र।

३—वैज्ञानिक परिमाण

लेखक—श्री डा० निहालकरण सेठी, डी० एस-सी०, तथा श्री सत्यप्रकाश एम० एस-सी०, यह उसी पुस्तक का हिन्दी रूप है जिसको पढ़ने और पढ़ाने वाले अंगरेज़ीमें Tables of constants के नामसे जानते हैं और रोज़मर्रा काममें लाते हैं। यह पुस्तक संक्षिप्त वैज्ञानिक शब्द कोष का भी काम देगी। मूल्य १॥) मात्र। संक्षिप्त संस्करण ।॥)

४—सर सी० वी० रमन का जीवन चरित्र =)
५—डा० मेघनाद सहा का जीवन चरित्र =)

विज्ञान परिषत्, प्रयाग।

मुद्रक—शारदा प्रसाद खरे, हिन्दी-साहित्य प्रेस, प्रयाग ।

पूर्ण संख्या— २१२

Approved by the Directors of Public Instruction, United Provinces and Central Provinces for use in Schools and Libraries. Reg. No. A. 708.

भाग ३६ VOL. 36.

वृश्चिक, संवत् १९८९

नवम्बर १९३२

संख्या २ No. 2

प्रयागकी विज्ञान परिषत्‌का मुखपत्र

'VIJNANA' THE HINDI ORGAN OF THE VERNACULAR SCIENTIFIC SOCIETY, ALLAHABAD

अवैतनिक सम्पादक

ब्रजराज एम. ए., बी. एस-सी., एल-एल. बी.,

सत्यप्रकाश, डी. एस-सी., एफ. आई. सी. एस

प्रकाशक

वार्षिक मूल्य ३)] विज्ञान परिषत्, प्रयाग [१ प्रतिका मूल्य ।)

विषय-सूची

पौराणिक सृष्टि और विकासवाद

जो विज्ञानपरिषत्के वार्षिक अधिवेशनके अवसर पर

रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०, एफ्० ए० यू० के सभापतित्व में

११ नवम्बर १६३२को पढ़ा गया

लेखक

रामदास गौड़

प्रकाशक

विज्ञान परिषत्, प्रयाग

सं० १९८९ वि०

विषय-सूची

पौराणिक सृष्टि और विकासवाद

(१) उपक्रम

लोकमें यह प्रमाद फैला हुआ है कि विज्ञानका पुराणों इतिहासोंसे कोई सम्बन्ध नहीं। कम लोग जानते हैं कि हिस्टी शब्दका प्रयोग "इतिहास" शब्दसे भी कहीं संकुचित अर्थमें होता है। "इतिह आस" वाक्यसे ही इतिहास शब्द बना हुआ है। इस शब्दमें भूतकालके समस्त इतिवृत्तका समावेश है। परन्तु विज्ञान तो त्रिकाल सत्य घटनाओंकी खोज करता है। उसके अनुसन्धानका प्रसार इतिहासकी सीमाओंको पार करता हुआ अनन्त देश और अनन्त कालकी ओर बड़े वेगसे बढ़ा जा रहा है। सच्चा वैज्ञानिक निरपेक्ष भावसे तुच्छसे तुच्छ लगनेवाली वस्तुका गंभीरतापूर्वक अनुशीलन करता है और सत्यकी बड़ी कड़ी जांच करता है। जो बच्चोंकी परम्परागत कहानियों और लोरियों तक में प्राकृतिक नियमोंका पर्य्यवेक्षण करता है, उसके निकट वह तथोक्त मैथोलोजी, मिथ्या कथाएं, तो कभी अवहेलनीय और उपेक्षणीय नहीं हैं जिनको बड़े बड़े दार्शनिक श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते आये हैं। मैथोलोजी शब्दका प्रयोग ईसाइयोंने यूनानी और रूमी पुराणोंके लिये आरम्भमें किया था। इसमें औरोंकी कथाओंको मिथ्या समझनेवाले तिरस्कारका भाव है। इसी भावसे पुराणोंको भी हिन्दू मैथोलोजी कहा गया। परन्तु वैज्ञानिकका धर्म्म ही अलग है। उसके धर्म्म में तिरस्कार और उपेक्षा नहीं है। पुराण पांडित्यपूर्ण तर्कसंगत और कोष ग्रंथ हैं। उनका तिरस्कार अज्ञानका द्योतक है।

(२) परिभाषा और उपयोगिता

पुराणोंको पंचलक्षण कहा है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणिच।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

सृष्टि, प्रलय, वंश, मन्वन्तर, वंशानुचरित इन पांचोंका वृत्तान्त जिस ग्रंथमें पाया जाय, पुराण कहलाता है। प्रायः सभी पुराणों में यह लक्षण पाये जाते हैं। होली बैबिल और कुरआने मजीदमें भी इन पांचोंका किसी न किसी रूपमें वर्णन पाया जाता है। अतः हम इन दोनों धर्म्मग्रंथोंको भी पुराण ही समझते हैं। इन पुराणोंमें सृष्टि और प्रलयकी कथा तो वैज्ञानिकके लिये बड़ी दिलचस्पीकी चीज है। स्वांटे अरीनिउस (Svante Arrhenius) जैसे परम प्रसिद्ध भौतिक विज्ञानीने बैबिलकी इन कथाओंमें सृष्टिके सिद्धान्तोंकी खोजकी है। परम प्रसिद्ध रासायनिक प्रो० फ्रेडरिक साडी महोदय जो आज अजीव विकासके विषयके आचार्य माने जाते हैं अपने व्याख्यानमें कहते हैं कि आदिम पुरुषके ज्ञानके वृक्षसे फल खानेके बाद नन्दन बनसे गिराये जानेका संभवतः यही अर्थ हो सकता है कि मनुष्य जातिने किसी पूर्व कल्पमें यत्परोनास्ति उन्नति की और उसके उच्चतम शिखरपर पहुँचकर कोई ऐसी भूलकी कि सृष्टिमात्रका अन्त हो गया और विकासके क्रमका प्रकृति माताको फिरसे आरंभ करना पड़ा। पुराणोंकी कथाओंमें अच्छे अच्छे विचारवान उदारचेता वैज्ञानिक पूर्वकल्पोंकी अनेक विस्मृत कथाओंका अनुनाद सुनते हैं। पार्जिटर और स्मिथ जैसे इतिहासके खोजी इन ग्रन्थोंमेंसे प्राचीन इतिवृत्तिकी सामग्री ढूंढ निकालते हैं। जायसवाल जैसे पुरातत्वान्वेषी अनमोल भौगोलिक और ऐतिहासिक तथ्य खोज निकालते हैं। परन्तु हिन्दू धार्मिक साहित्यमें तो पुराणोंका स्थान बड़े महत्वका है। वेदोंके चार उपांगोंमेंसे एक प्रधान उपांग पुराण हैं। वेदोंमें सृष्टि, प्रलय, मन्वन्तर, और वंशोंकी कथाओंकी यत्रतत्र चर्चाएँ हैं। इन्हींका विस्तारके साथ

वर्णन पुराणोंमें आया है। इस प्रकार पुराणोंमें वेदोंकी व्याख्या की गयी है। इसी विचारसे भारी भारी दार्शनिकोंने भी पुराणोंको सदा श्रद्धाकी दृष्टिसे देखा है। भारतके वेदज्ञ विद्वानोंका यह दावा है कि वेदोंमें जो बातें लिखी हैं वह सब विज्ञान-संगत हैं। यदि पुराण सचमुच उनकी व्याख्या हैं तो पौराणिक कथाएं भी विज्ञान-संगत होनी चाहियें। इस बातके अनुसन्धानमें हमें बड़े धैर्य्यसे काम लेना चाहिये। सात द्वीप और सातों महासागरोंका वर्णन देखकर अत्यन्त उतावली से हमें यह न कह बैठना चाहिये कि पुराणमात्र गप्प हैं। उसके कुछ अंश गप्प ही ठहरें तो भी जितने अंश गप्प नहीं है, जिनमें सचाई मालूम होती है उतने अंशोंकी ही खातिर हमें सम्पूर्ण पुराणको गप्प ठहराकर उपेक्षणीय न मान लेना चाहिये। पुराणोंमें भिन्न भिन्न कल्पोंकी कथाएँ हैं। देश काल और वस्तुकी इतनी भिन्नता जितनी पुराणोंकी कथाओंमें है और किसी साहित्यमें हो नहीं सकती, क्योंकि किसी और साहित्यमें इतने विस्तीर्ण देश और कालपर कथाओंका प्रसार हो नहीं सकता। इसीलिए जैसे हम वैज्ञानिक परिमाणोंपर अपने वैज्ञानिक विचार निर्भर करते हैं वैसे ही पौराणिक परिमाण भी पहले हमें समझ लेने चाहियें।

(३) काल परिमाण

व्योम मंडलमें तारोंकी पारस्परिक दूरी इतनी अधिक है कि सीधे सादे मीलोंकी संख्यामें उनका व्यक्त करना प्रायः असंभव है। प्रकाशका वेग एक सेकंडमें एक लाख छियासी हजार मील है। परन्तु ऐसे असंख्य तारे हैं जिनकी रोशनीको हमारे भूमंडलतक आनेमें हजारों बरस लगते हैं। उनकी दूरी मीलोंकी संख्यामें व्यक्त करनेके बदले हम कहते हैं कि वह हजारों प्रकाश वर्षकी दूरीपर हैं। प्रकाशवर्ष वस्तुतः दूरीका परिमाण है। देशका मापक है। कालका नहीं। इसकी इकाई एक प्रकाशवर्ष है जिसका अर्थ है लगभग अट्ठावन खरब मील। सुनने में यह दूरी बहुत ज्यादा लगती है परन्तु अनन्त देशमें जहांतक फोटो अथवा दूरवीक्षण यंत्रकी गति है वहांतक ही यह अंक बहुत छोटा लगने लगता है, फिर देशकी अनन्तताके पैमानेके सामने इसकी क्या गिनती है! इसी तरह भारतीय ज्योतिषने अनन्त कालको नापनेके लिये परिमाण या पैमाना बनाया है। वह इस प्रकार है।

३६० मानव अहोरात्र = १ मानव वर्ष (सावन वर्ष)
४,३२००० मानव वर्ष = १ कलियुग काल परिमाण
२ कलियुग = १ द्वापर
३ कलियुग = १ त्रेता
४ कलियुग = १ सतयुग
१० कलियुग = १ चतुर्युग वा महायुग
१००० चतुर्युग = १ कल्प = १ ब्राह्मदिन
२ कल्प = १ ब्राह्म अहोरात्र
७२० कल्प = १ ब्राह्म वर्ष
७२००० कल्प = १०० ब्राह्मवर्ष = ब्रह्मायु = पर
८००० ब्राह्म वर्ष = १ ब्राह्मयुग
१००० ब्राह्मयुग = १ विष्णुदिन
९००० विष्णुदिन = १ रुद्रदिन = २२३९४८८ × १०¹⁷ मानव वर्ष

रुद्रकी आयु अनन्त है। काल और रुद्र वस्तुतः एक ही हैं। इस प्रकार अनन्त कालकी इकाई एक रुद्र दिन की अवधि मानी गयी है। देश और काल दोनों के नापनेके परिमाण कर्म्म हैं। देशकी लम्बाई प्रकाशकी गतिसे और कालकी लम्बाई सृष्टिके क्रमसे नापना उचित ही है।

(४) सृष्टिका आरंभ

सृष्टिके आरंभकी पहली सीमा कहां माननी चाहिये और फिर कितने काल पूर्व वह आरम्भ हुई यह दोनों प्रश्न पौराणिकों और वैज्ञानिकों दोनोंके सामने आये हैं। पुराणोंने तो सृष्टि चक्रको अनाद्यन्त ही माना है। विज्ञानने विश्वका आरम्भ नीहारिकाओंके विकासमें माना है, तो भी विज्ञान एक एक विश्व को साद्यन्त मानते हुए भी सृष्टिको

तो अनाद्यन्त ही मानता दीखता है। पुराणोंकी तरह विज्ञान यह निश्चयपूर्वक नहीं कहता कि सृष्टि और प्रलय एक ही प्रकार से बारंबार होती रहती है, परन्तु ज्योतिर्विज्ञानकी घटनाओंका पुनरावर्त्तन देखते देखते वह इसी निष्कर्ष पर पहुँच रहा है। इतिहासका दुहराया जाना साधारण इहकालिक घटना चक्रसे फैलकर, अपनी लोकोक्तिके रूपका अपरिमित विस्तार करके, देश और काल दोनोंकी सीमा भेदकर, सृष्टियोंके अनादि और अनन्त इतिहासका एक मूलसूत्र या महावाक्य बन रहा है। "सूर्य्याचन्द्रमसौधाता यथापूर्वमकल्पयत्" इस वैदिक सृष्टिमंत्रमें ही इस सच्ची लोकोक्तिके अजरामर आत्माके दर्शन होते हैं।

विज्ञानके मतसे पहले सृष्टिका अजीव विकास हुआ। उसके बहुत काल पीछे जीवनका आरंभ हुआ है। निर्जीव और सजीव विकास में अबतक कितना काल हमारे जगत्‌में लग चुका है, इस प्रश्नपर बहुत मतभेद है। सबसे पिछला पुष्ट अनुमान प्रोफेसर रेलेका है जिन्होंने ब्रिटिश असोसिएशनकी सभामें सन् १९२१ में कहा था कि अबतककी खोजने पृथ्वीपर जीवनकी सीमाको एक अरब बरसतक बढ़ा दिया है और भूगोलककी उत्पत्ति अबसे कई अरब बरस पहलेकी मानी जायगी। सूर्य्यका इस गोलेसे पहलेका होना तो विज्ञानके निकट एक मानी हुई बात है। फिर लाप्लासकी नीहारिकासे विकासवाली धारणा तो हमारे विश्वकी उत्पत्ति कालको यदि अबसे दस अरब बरस पहले ठहरावे तो हमें कोई आश्चर्य्य न होना चाहिये। युरेनियम सरीखी धातुएं जिनकी आयुका पता लगानेमें विज्ञान समर्थ हुआ है, विश्वके इस सुदीर्घ भूतकालपर सर्गारंभकी गवाही देती हैं।

पुराणोंके आधार पर सृष्टिके आरम्भकालका इतना निश्चित ज्ञान हमारे ज्योतिषियोंको है कि उनके अनुसार सृष्टि को हुए आजके दिनतक सावन वर्ष और दिनोंके परिमाणसे कुल १ अरब ९८ करोड़ ४४ लाख ५५ हजार ९३१ वर्ष और ३८ दिन हो चुके हैं। यह गणना उस समयसे है जबसे सूर्य्योदयास्तवाले दिन होने लगे, अर्थात् पृथ्वी और सूर्य्यकी सृष्टि हो चुकी थी। सूर्य्योदयसे सूर्य्योदयतक एक सावन दिन और ऐसे ३६० दिनोंका एक सावन वर्ष माना जाता है। इसमें दिनकी छोटाई बड़ाईसे कोई प्रयोजन नहीं, चाहे छः घंटोंसे भी कमका अहोरात्र हो, चाहे चौबीससे भी कुछ अधिक का। हां, तीन मास या छः मास वा एक वर्षके अहोरात्रकी इसमें गणना नहीं है। ठीक दिनोंतककी संख्या न मानें तो भी हम मोटी रीतिसे कह सकते हैं कि पुराणोंके मतसे हमारे पार्थिव जगत्‌की सृष्टिके लगभग दो अरब बरस हुए।

पुराणोंमें सृष्टिके आरंभकी बातें जिस तरह वर्णित हैं, जिस तरह बहुत लम्बे कालके विस्तारकी बातें बहुत संकुचित और संकीर्ण कथाओंमें कही गयी हैं, उससे साधारण पाठक उतावलीसे यह समझ बैठता है कि सारी घटनाएं जल्दी जल्दी थोड़ ही कालमें हुई हैं। विचारनेसे जान पड़ेगा कि यह उतावले पाठकका भ्रममात्र है।

(५) पुराणोंके अनुसार सृष्टिक्रम

कुछ थोड़े थोड़ेसे अन्तरके साथ पुराणोंमें सृष्टिविकासका क्रम प्रायः एकसा है। "सात्त्विक राजस और तामस सर्गकी प्रवृत्ति युगपत् अर्थात् एक ही कालमें होती है।" महत्तत्त्व और भिन्न भिन्न तत्त्वोंकी उत्पत्ति प्रधानमें किसी भारी क्षोभ या हलचल पैदा होनेसे एक ही कालमें हो जाती है। फिर महत्तत्वादिकोंसे जलबुदबुदकी तरह यह अंड उत्पन्न हुआ जिसे हम अपना ब्रह्मांड कहते हैं। इसी अंडके भीतर सारा जगत् कालक्रमसे उत्पन्न हुआ। यह अंड चारों ओर आकाशसे व्याप्त है। आकाश अहंकारसे, अहंकार महत्तत्वसे, महत्तत्व प्रधानसे वेष्ठित है। इस ब्रह्मांडका आत्मा ब्रह्मा है। यह एक ब्रह्मांडकी उत्पत्तिका उपक्रम है।

विश्वमें ब्रह्मांड संख्यातीत हैं। हर एक ब्रह्मांडकी उत्पत्ति इसी भांति हुई है, परन्तु अनन्त काल और अनन्त देशके भीतर भिन्न भिन्न समयोंमें।

परन्तु ब्रह्मांडकी उत्पत्तिमें और विश्वके आरंभमें अन्तर है। विश्वके विशाल और अनन्त क्षेत्रमें ब्रह्मांड एक विंदुमात्र है। एक ही विश्वमें अनेक ब्रह्मांड बनते रहते हैं, अपने जीवनके भिन्न भिन्न कार्य्योंको पूरा करते रहते हैं, और नष्ट भी होते रहते हैं। अतः उनकी और विश्वकी सृष्टि युगपत्, एक साथ ही, नहीं हो सकती। यदि हमारे ब्रह्मांडकी सृष्टिके दस अरब बरस बीत चुके हों तो विश्वकी सृष्टिके आरंभका कौन काल था यह सोचना भी कठिन है। इस अपरिमेय और अचिन्त्य कालकी घटनाएं विचित्र रीतिसे पुराणोंमें दी हुई हैं। परन्तु विश्वकी रचनाके सम्बन्धमें पहले हम संक्षेपसे यह समझ लें कि विज्ञान क्या कहता है।

(६) नैहारिकीय धारणा

इस आकाशके अनन्त देशमें फोटोके द्वारा देखनेसे सफेद सफेद ज्योतिर्म्मय बादलोंके टुकड़ेसे जान पड़ते हैं जो इधर उधर बिखरेसे पड़े हैं। अबतक यह लाखों देखे जा चुके हैं और बराबर इनकी संख्या बढ़ती ही जाती है। यह ज्योतिर्म्मय पदार्थ-पुंज दो तरहके देखे जाते हैं, एक तो अरूप और अनियमित आकार वाले, दूसरे नियमसे कुंडल्याकार। इनकी ज्योतिसे अनुमान किया जाता है कि यह किसी अत्यन्त सूक्ष्म वायव्यके अत्यन्त दूरीतक फैले हुए पुंजका दृश्य है जिसमें विद्युत या और किसी कारणसे प्रकाश है अथवा वह स्वयं ज्योति विकीरण करनेवाले द्रव्यके ही बने हुए हैं। इन पदार्थ पुंजोंका नाम "नीहारिका" है। ऐसी ही एक नीहारिका आकाश गंगा भी समझी जाती है, जिसे हम स्वच्छ आकाशमें नित्य देख सकते हैं। इसमें भी सफेद मंद ज्योति वाले नीलिमायुक्त बादलसे ही फैले दीखते हैं। यह बहुत विशाल और बड़े विस्तारसे फैली हुई नीहारिका है। इस बिनायंत्र की दीखने वाली नीहारिकामें और फोटोसे दीखनेवालीमें कई अन्तर दीखते हैं। एक धारासी कुछ वक्र होकर आकाशके एक छोरसे दूसरेतक गयी हुई है, दूसरी तो जरासी एकही जगह सिमटी हुई सी दीखती है। एकमें तारोंके ढेरके ढेर हैं दूसरीमें तारे इतने अधिक संख्यामें नहीं दीखते। परन्तु अनेक विचारवान् ज्योतिर्विद कल्पना करते हैं कि आकाशगंगावाली नीहारिका और अन्य कुंडल्याकार नीहारिकाओंके रूपमें विशेष अन्तर नहीं है। इन्द्रमाता या मृगशिरा-वाली नीहारिकाएं बहुत दूर हैं। यों तो आकाशगंगा वाली नीहारिका हमारे निकट तो नहीं है, वह भी अत्यन्त दूर है परन्तु इन्द्रमाता या मृगशिराकी नीहारिकाओंकी दूरी तो आकाशगङ्गावालीसे अत्यन्त अकाल्पनिक रीतिसे अधिक है। यह कुंडल्याकार नीहारिकाएं असलमें एक एक विश्व समझी जाती हैं, जिनमेंसे हर एकमें अनन्त कोटि ब्रह्मांड हैं। हमारी आकाशगङ्गावाली नीहारिका वह विश्व है जिसमें हमारा ब्रह्मांड है और उसके जैसे बल्कि उससे कई गुना बड़े बड़े अनन्त कोटि ब्रह्मांड हमारे विश्वमें भी हैं जो हमसे बड़ी बड़ी दूरियोंपर हैं, परन्तु हम उन्हें आकाशगङ्गामें फैले हुए तारोंके रूपमें टिमटिमाते देखते हैं। इनमेंसे हर एक ब्रह्मांड से, जिन्हें हम बिलकुल नीहारिकाको श्वेत ज्योतिके भीतर देखते हैं, शायद यह नीहारिकावाली गङ्गा उतनी ही दूर और विचित्र रूपसे फैली हुई दीखती है जितनी दूर उसे हम अपने यहांसे देखते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यद्यपि हम आकाश गङ्गासे इतनी दूरीपर हैं कि उसके लिये लाखों प्रकाशवर्षकी गणना भी थोड़ी है तथापि हम आकाशगङ्गाके भीतर ही हिलोरें ले रहे हैं। हम बड़े वेगसे इस सौर ब्रह्मांडके साथ शायद कृत्तिकाओंकी परिक्रमा करते हुए अनन्त आकाशमें घूम रहे हैं, तो भी हम आकाश गङ्गाके अनन्त देशमें एक छोटेसे विन्दुको छोड़कर कहीं आ जा नहीं रहे हैं। कैसी अद्भुत बात है—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वदन्तिके।

तदन्तरस्य सर्व्वस्य तदु सर्व्वस्यास्य बाह्यतः॥
ईश० ॥५॥

हमको आकाशगङ्गाकी दो धाराएं आकाशमें रातके भिन्न समयोंमें दीखती हैं। विचार करनेसे जान पड़ेगा कि वस्तुतः एक धाराके दो भाग हमें इस तरह दीखते हैं कि मानों एक भारी अजगर विश्वको अपनी कुण्डलीके भीतर लपेटे हुए हो। अनेक ज्योतिर्विद कहते हैं कि यह वस्तुतः एक ही कुण्डल्याकार नीहारिकाके लपेटका दृश्य है जो हम बीचसे देखते हैं। हम लपेटके दोनों भाग देखते हैं परन्तु सारी कुंडली इसलिये नहीं देख सकते कि हम उसीके भीतर हैं और अत्यन्त सूक्ष्म हैं। हम और नीहारिकाएं प्रायः पूरी देख लेते हैं क्योंकि वह हमारे विश्वके बाहर हैं और मानों हम अपने विश्वके भीतरसे झरोखेकी राह देखते हैं। हम जब घरके झरोखेसे देखते हैं, तो बाहरी दूरके मकानोंको तो पूरा देखलते हैं परन्तु पासके मकानोंको बहुत थोड़ा और अपने मकानको तो थोड़ासा भीतर ही देख पाते हैं।
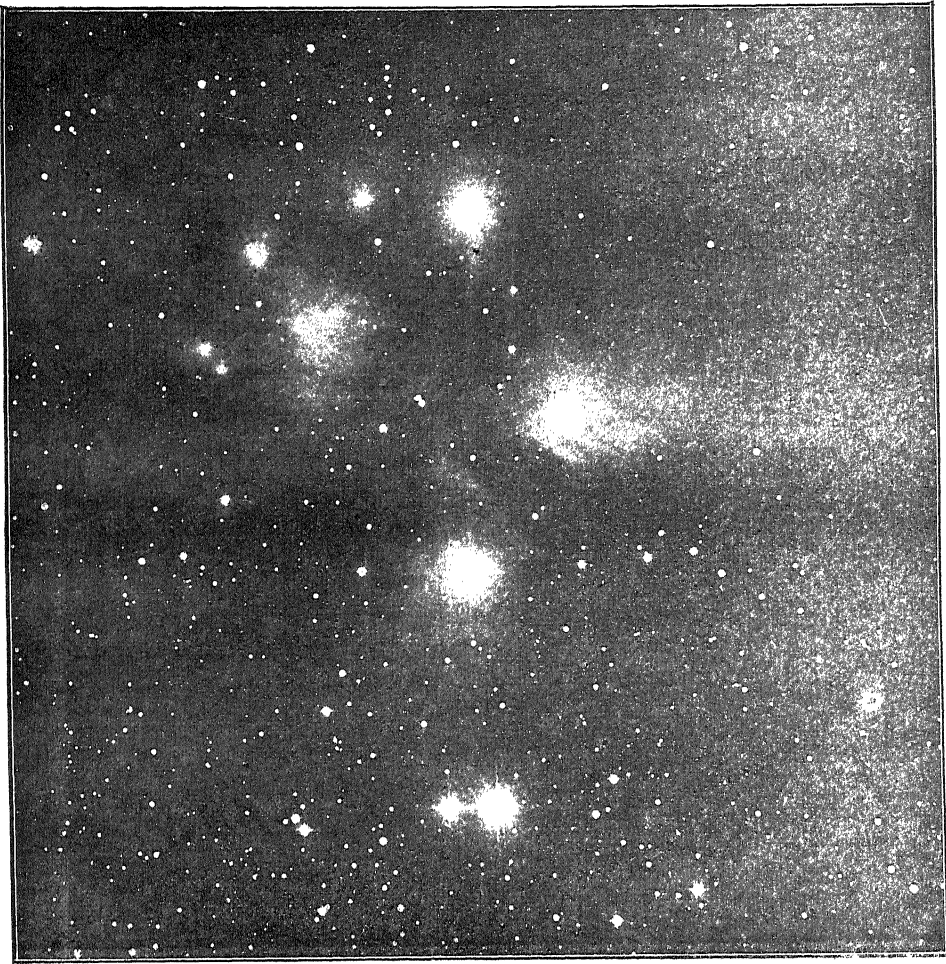
चित्र नं० १ कृत्तिका नीहारिका

अब कुछ ज्योतिर्विदों और भौतिक विज्ञानियोंकी नैहारिकीय सृष्टिकी धारणा क्या है, सो सुनिये।

जिन्हें हम आज ईषत् नीलिमायुक्त श्वेत सूक्ष्म पदार्थपुंजका अरूपप्रसार देखते हैं, अनन्त देशमें यह अपार सागरकी तरह फैली हुई है। उसीमें किसी विशेष प्रकारका महान् क्षोभ वा आन्दोलन उत्पन्न होकर अनेक भ्रमरावर्त्त बनते हैं। इसी आवर्त्तकी नाभिसे शक्तिका संक्षोभ या सञ्चालन होता है। इसी कारण वह श्वेत प्रसार कुंडलीका आकार ग्रहण कर लेता है। जो पहले केवल अनियमित रूपसे इधर उधर पसरे बादलसे दीख रहे थे अब उन्हींमें पदार्थोंका एकत्रीकरण और घनीभवन होता है। इसी घनीभवनवाली क्रियासे ब्रह्मांडके नायक पिंड तथा उसके अन्य अवयव उत्पन्न होते हैं। कभी कभी पूर्वकल्पके मृत पिंड भी इस महान् आन्दोलनमें टकराकर प्रज्वलित हो जाते हैं। इन्हीं क्रियाओंके विविध जोड़तोड़से अनेक ब्रह्मांड बन जाते हैं, और उनकी परिक्रमाका क्षेत्र निर्धारित हो जाता है। निराकार नीहारिका इस क्रियासे एक जीता जागता कुंडल्याकार विश्व बन जाती है जिसके भीतर अनेक ब्रह्मांडोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी लीला निरन्तर होती रहती है। जिस पदार्थको हम यहाँसे ईषत् नीलिमायुक्त श्वेत देखते हैं, उसमें काले पदार्थोंका भी प्रवेश अनेक स्थलोंमें दीखता है। पता नहीं वह क्या है। परन्तु जो सफेदी दीख रही है वह कोई अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है जो दूरीसे देखा जा रहा है और जिसके अत्यन्त दूरतकको तहोंको घनीभूत रूपमें ही हम दूधसा देखते हैं। बहुत संभव है कि हम सभी इस अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थके भीतर मौजूद हों और यह कल्पित ईथरकी नाईं ओतप्रोतभावसे व्याप रहा हो और हम उसे न जान पाये हों। या शायद कोई मौलिक वायव्य ही अत्यन्त सूक्ष्म दशामें हो। जो हो, परंतु यह दूधके समुद्रसा पदार्थ ही शायद अपने सभी तत्त्वों और मौलिक पदार्थोंका मूल है। यही शायद मूलप्रकृति है।

हमने लाप्लासकी धारणाके उस अंशकी चर्चा नहीं की जो अमान्य हैं। जिन अवस्थाओंमें सृष्टिकी यह प्रचंड क्रियाएं होती हैं उनके तापमानके झगड़ेमें पड़ना सुभीतेकी बात नहीं है। इतना ही समझ लेना पर्य्याप्त होगा कि हम शक्तिके अपार, अपरिमेय, अनन्त और अगाध सागरमें हैं जो साधारणतया सो रही है। जब एक परमाणुके भीतर निहित शक्ति मुक्त होने पर महाप्रलय ढा सकती है तब उस अनंत सागरकी शक्तिके आन्दोलन या संक्षोभकी क्या कल्पना हो सकती है जो सो रही है? निराकार नीहारिका महाप्रलयकी गोदमें सोती हुई प्रकृतिपुञ्ज है। कुंडल्याकार नीहारिका सृष्टिमय जीता जागता विश्व है।

(७) विश्वविनिर्म्माणकी पौराणिक कथा

श्रीमद्भागवतके तीसरे स्कन्धके आठवें अध्यायमें सृष्टिका आरंभ संक्षेपसे इस प्रकार कहा गया है। योगनिद्रा ग्रहण करके अपने स्वरूपके अनुभवमें आनन्दयुक्त नारायण शेषशय्यापर सोये तब यह सब विश्व प्रलयसमुद्रके जलमें डूबा हुआ था। सब विश्व को नारायणने अपने शरीरमें इस तरह छिपा लिया था जैसे काठमें अग्नि। जब शयनका एक कल्प बीत गया, तब नारायणने सब लोकोंको अपनेमें लीन देखा। ईश्वरने जब सृष्टिके उपकरण-स्वरूप सूक्ष्म पंचतत्वमय विषयको अपने शरीरसे भिन्न करके दृश्य रूपमें देखना चाहा तब रजोगुणी शक्तिकी प्रेरणासे संक्षोभ उत्पन्न हुआ। इससे नारा नामक क्षीरोपम पदार्थमें शयन करनेवाले नारायणकी नाभिसे एक पद्मकोष उत्पन्न हुआ जो उन्हीं नारायणके शरीरमें निहित पांच तत्वोंके उपादानोंसे बना था। इसमें नारायण ने अंशरूपसे प्रवेश किया और ब्रह्मारूपसे उसी कमलकी कर्णिकामें प्रकट हुए। इस कमलको "सम्पूर्ण गुणप्रकाशक" और "लोकमय" कहा है। ब्रह्माने शून्यमें आंखें फाड़ फाड़कर चारों ओर देखा। इससे चार मुख हो गये। प्रलयकालके पवनके थपेड़ोंसे टकराते हुए क्षीर

सागरकी लहरोंसे वह कमल हिल रहा था। उसपर बैठे ब्रह्माजीको उसका और अपना रहस्य जाननेकी इच्छा हुई। वह कमलसे उतरकर कमल-नाल पकड़कर उसके सहारे मूलकी खोजमें नीचे
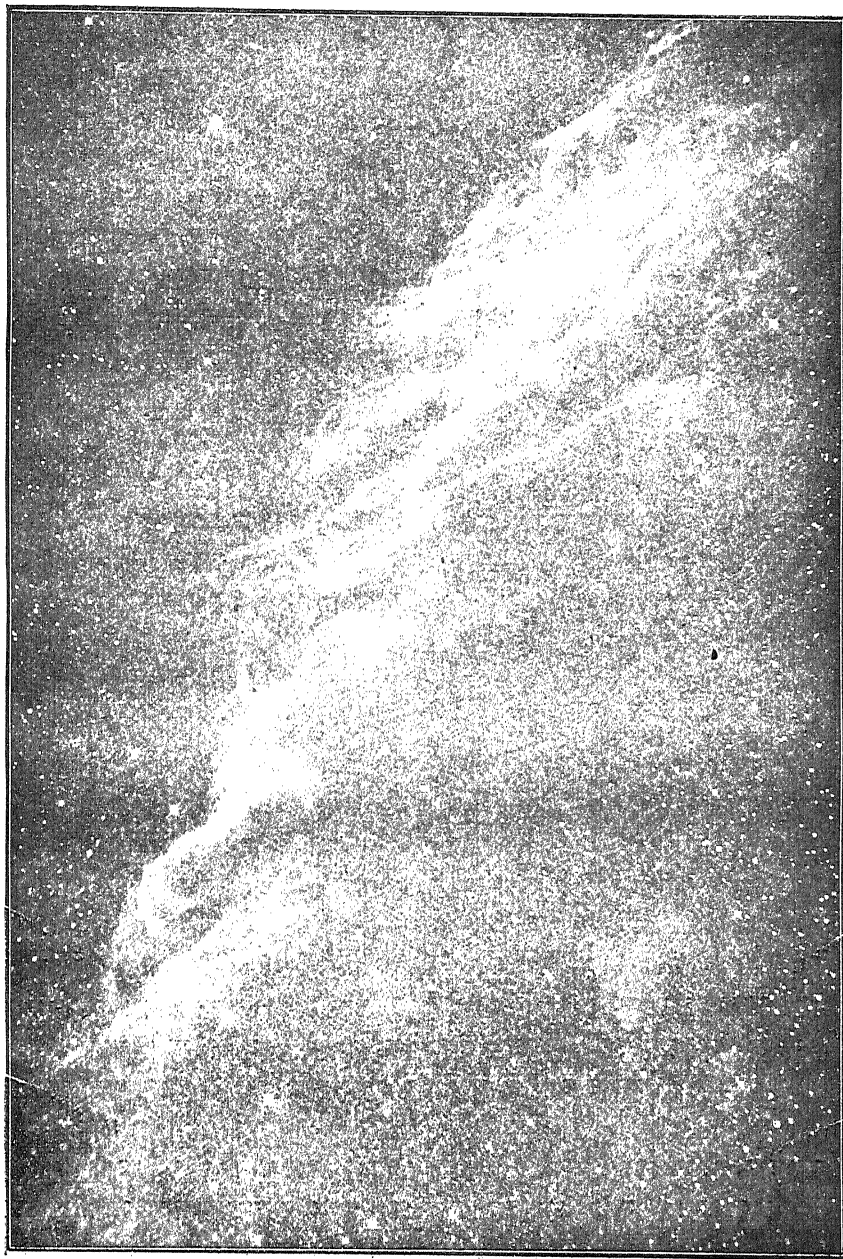
चित्र नं० २ तन्तुमय नीहारिका

बराबर उतरते चले गये परन्तु सौ बरसतक उतरते चले जानेपर भी उसकी जड़का पता न लगा। निराश होकर फिर कमल पर लौट आये और सौ बरसतक योगसाधन किया। अन्तमें उन्हें ध्यानमें दिखाई दिया कि नारायण शेषपर लेटे हुए हैं। उनकी नाभिसे निकले हुए कमलपर ब्रह्मा बैठे हुए हैं। नारायणकी देह का विस्तार विश्वके विस्तारके बराबर है। सुदर्शनादि अस्त्रशस्त्र देवऋषि उनके पास होनेपर भी उन्हें देख और जान नहीं सकते।

वह कमलकोष इतना लम्बा चौड़ा था कि उससे चौदहों भुवनोंकी कल्पना हो सकती थी। ब्रह्मा ने इसी कमलके दलोंसे लोकोंकी कल्पनाकी।

भागवतकारने पाठक या श्रोताको शेषशायी नारायणका कैसा विस्तार बताया है! उससे प्रकट है कि गणितके अङ्कोंसे जो बात व्यक्त नहीं की जा सकती थी उसीको ब्रह्माजीके कमलमूलकी खोजमें सौ बरस लगाना और कमलकोषकी लम्बाई चौड़ाई, नारायणके शरीरका विश्वसम विस्तार आदि कहकर पर्य्याप्त रूपसे समझा दिया है। अब सोचना चाहिये कि इतने विस्तारसे फैले हुए नारायणको नहीं तो शय्याके किसी अंशको तो अवश्य ही इस अनन्त आकाश देशमें हम देख सकेंगे। एक चींटी हाथीके शरीरपर सवार होते हुए भी अपने चारों ओर सिवा काली पहाड़ियों और घाटियोंके कुछ देख नहीं सकती और इन पहाड़ियोंको पार करती हुई भी कभी उसके मनमें यह कल्पना नहीं हो सकती कि हाथी भी मेरी तरह कोई जानदार प्राणी हो सकता है। बहुत सम्भव है कि पौराणिकोंने स्वयं आकाशमें कभी खोज न की हो और जो कथा वह परम्परासे सुनते आये हैं, उसे श्रोताओंके सामने दोहरा दिया हो। श्रोता भी समझते आये कि हमें अपने आकाशमें शेषभगवान-की खोजकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह बात चीरसागर की है जो हमारे इस व्योममंडलसे परेकी बात है। परन्तु मैं तो कहूँगा कि यदि इन्द्रमाता और मृगशिराकी नीहारिकाओंकी झांकी देखकर हम अपने विश्वके झरोखेसे अन्य जागते और सोते विश्वोंके दर्शन करते हैं तो इस पौराणिक कथाकी असलीयतको अपने ही विश्वमें क्यों न खोजें। शेषनाग-को सफेद कहा है। वह दूधके समुद्रमें, नाराके सागरमें पसरे हुए हैं। नीलिमा आभाके श्यामल वर्णके भगवान् नारायण उन शेषजीपर शयन कर रहे हैं। क्या यह संभव नहीं कि हमारी आकाशगंगा उन शेष भगवानका ही एक अंश हो जो विश्वभरमें पसरे हुए हैं? ज्योतिर्विद भी तो कहता है कि यह नीहारिकाएं सांपकी तरह होती हैं और हमारी आकाशगङ्गा भी सर्पकीसी कुण्डलीके आकारकी है। हम बीचमें हैं इसीलिये पूरी कुंडली नहीं देख सकते। फिर हमारा ब्रह्मांड तो कहीं इसी कुंडलीमें है। पौराणिक भी कहता है कि इस ब्रह्मांडको शेषजी धारण किये हुए हैं। फिर दोनोंके कथनोंमें अन्तर ही क्या है? नारायणका श्यामल वर्ण है। इसलिये उनके दर्शन हमें नहीं होते अथवा क्या अचरज है यदि ईषत् नील आभा या कृष्णवर्ण जो नीहारिकाका दीखता है उन्हींके शरीर-की कान्ति हो? अब कमल या ब्रह्माको देखनेकी तो हम आशा नहीं कर सकते, क्योंकि आदिम कालमें ही कमलका विकास विश्वके अनन्त ब्रह्मांडोंमें और ब्रह्माका प्रसार जीवन और चैतन्यके अनन्त सागरमें हो गया। ऐसा ही वर्णन पुराणोंमें सृष्टिके विकासके सम्बन्धमें किया गया है।

इसी तरहकी कथा सभी पुराणोंमें पायी जाती है। क्या यह अत्यन्त कठिन कल्पनाओं वा तथ्योंको समझा देनेकी युक्ति गढ़ी गयी है? अथवा यह वह सत्य है जिसका अत्यन्त अल्प अंश लाप्लास आदिकी कल्पनाओंमें आया है और सम्भवतः भविष्यमें विज्ञानका ज्यों ज्यों विकास हो त्यों त्यों इस परम सत्यके और अंशोंका परदा उघड़ता जाय? अथवा क्या आश्चर्य्य है यदि यह प्राचीन कल्पों और सृष्टियोंकी जगदात्मामें सुरक्षित स्मृतिका अनुनाद हो जो परम्परागत कथोपकथनसे

पुराणोंके रूपमें हम लोगों तक पहुँचा हो ?

(८) पृथ्वी की सृष्टि और विकास

मार्कण्डेय पुराणमें देवी माहात्म्य प्रकरणमें वर्णन है कि ब्रह्माजी जब जगत्की रचनाके सम्बन्धमें कमलपर बैठे तपस्या कर रहे थे उसी समय भगवान नारायणके कानोंके मलसे मधु और कैटभ दो दानव प्रकट हुए जो ब्रह्माको मार डालनेको तैयार हुए। भगवान् नारायणने उनसे पांच हजार वर्षतक युद्ध किया। जब दोनों मारे गये तो उनका शव नारामें मेद रूपसे बहने लगा। इसी मेदसे मेदिनी हुई जो हमारी धरतीका पूर्वरूप है। इसे कथा-रूपसे अलग करके यदि हम यह कहें कि दो तमोमय पिंड उस महाकुंडलीके दो देशोंसे निकलकर एकाएकी उस संक्षोभमें चक्कर लगाने लगे। इस प्रकार पांच सहस्र वर्षोंमें बड़े भयानक टक्करोंसे दोनों प्रज्वलित हो गलकर एक हो गये और उसी नारासागरमें मेदिनी नामक पिंड बन गये। इसमें युद्धका जो लम्बा काल दिया है उसका ठीक परिमाण नहीं मालूम कि वह मानव वर्ष था या दैव परन्तु इतनी भारी अवधि सृष्टिकी इस क्रियाके लिये सुसंगत ही दीखती है। इस कथामें एक बात महत्वकी है। जिस महापिंडसे यह पृथ्वी बनी उसकी रचना इस कथाके अनुसार सूर्य्य एवं अन्य ग्रहोंसे पहलेकी है। ब्रह्माने मानसपुत्र मरीचिको उत्पन्न किया। मरीचके कश्यप और कश्यपके सूर्य्य हुए। रजोगुणी शक्तिने प्रकृतिमें संक्षोभ उत्पन्न करके पहलेपहल जिस पिंडकी रचनाकी वह मरीचि नामका हुआ। उसीके विकासकी तीसरी पीढ़ीसे सूर्य्यका पिंड हुआ। बृहस्पति और शुक्रकी उत्पत्ति स्वतंत्र अंगिरादि पिंडोंसे हुई जान पड़ती है। शनिकी उत्पत्ति सूर्य्यसे ही हुई। बृहस्पतिके उपग्रहसे सोमका संघर्ष होनेसे बुध नामक ग्रहका पिंड बना। मेदिनीके ही कुछ काल पीछे दो टुकड़े हुए। छोटा मङ्गल और बड़ा पृथ्वी हुआ। इस समय पृथ्वीका गोला उसी संघर्ष और संक्षोभके कारण अत्यंत उत्तप्त दशामें होगा। सागरके मथनसे चन्द्रमाके उत्पन्न होनेवाली कथाका यही अर्थ हो सकता है कि धरतीकी दशा उस समय अत्यंत संक्षुब्ध हुई और उससे एक टुकड़ा अलग होकर चन्द्रमा नामक उपग्रह बना। यहां मैंने पुराणकी अनेक कथाओं का सार रूप दे दिया है। विस्तारसे इसी विषयको इतना स्थान देना पड़ता कि और विषय छूट जाते।

वैज्ञानिकोंने अबतक अपनी कल्पना इस विस्तारके साथ नहीं दौड़ायी है कि सभी ग्रहों उपग्रहोंके अलग अलग पिंड बननेके निश्चित क्रम बता सकें। विज्ञान यह नहीं कह सकता कि मङ्गल इसी भूमिका पुत्र है। हां, चन्द्रमाकी नातेदारीमें तो उसे कुछ संदेह नहीं है।

पृथ्वीकी सृष्टि हम तभीसे आरम्भ समझेंगे जबसे उसके पिंडसे उसका चन्द्रमा अलग हुआ। यद्यपि उस समय संभवतः दिनरात थोड़े ही घंटोंमें पूरा हो जाता था तो भी सावन दिन गिननेके काममें कोई रुकावट नहीं हो सकती थी। यद्यपि विज्ञानके अनुसार इसकी गणना करनेवाले तबतक पैदा नहीं हो सकते थे, तथापि एक तो पुराणोंके अनुसार ऐसी दशामें ऋषि देवता आदिके होनेमें कोई कठिनाई न थी और वह लोग गणना भी कर सकते थे, दूसरे उस समयकी गणना पीछेसे मानव सृष्टि हो जानेके बाद भी की जा सकती है। यदि यह गणना इतनी ठीक न मानीजाय कि हम आजतकके दिनोंकी संख्यातक दे सकें, तो भी यह कहनेमें विज्ञानकी दृष्टिसे हमें कोई संकोच न होना चाहिये कि चन्द्रमाके पृथ्वीसे अलग हुए अबसे लगभग दो अरब बरस हुए होंगे। समयके प्रश्नपर पुराण और विज्ञानका मतैक्य ही समझना चाहिये।

विज्ञान और पुराणमें इस सम्बन्धमें थोड़ासा यह मतभेद मालूम होता है कि पुराण कहता है कि पृथ्वी जलमय थी तब चन्द्रमा उससे अलग हुआ। विज्ञान कहता है कि तब तक जल का पृथ्वीपर होना ही असंभव था, क्योंकि उस समय सलिलकी

दशामें चट्टान ही थे। आंच इतनी प्रचंड थी। परन्तु यदि हम सलिल जलका अर्थ द्रव लें और मन्थन इसी द्रव चट्टानोंका समझें तो पुराण और विज्ञानका भेद मिट जाता है।

पृथ्वीका उत्तप्त पिंड होना और उस दशासे धीरे धीरे ठंढा होना, उसका संकुचित होना फिर उल्कापुजोंसे उसके आयतनकी फिरसे वृद्धि यह सब विज्ञान की समीचीन कल्पना है। परन्तु पुराणोंमें कहीं इन बातोंकी चर्चा नहीं दीखती। हां, मधुकैटभके मेदका नाशके ऊपर बहनेका अर्थ यदि प्रचण्ड ताप लिया जाय और समुद्रके मंथनको व्याख्या तरल गलित पार्थिवोंसे की जाय तो हम तापके सम्बन्धमें भी दोनोंका सामंजस्य समझ सकते हैं।

जब पृथ्वी इतनी ठण्ढी हो गयी कि खौलते, फिर गरम जलकी बारम्बारकी वर्षा होने लगी और अधिक ठंढक आनेपर सारा भूतल जलसे ढका हुआ था उस समयकी चर्चा विशेष रूपसे पुराणोंमें पायी जाती है। आदिम मनुष्य मनु और सतरूपा प्रजाकी उत्पत्ति करना चाहते हैं, परन्तु वह देखते हैं कि पृथ्वी तो जलके भीतर है। वह सूखे स्थलके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं। उसपर भगवान् श्वेत वाराह प्रकट होते हैं जो धरतीका उद्धार करके उसे ऊपर लाते हैं। स्थलका आरम्भ होता है। श्वेत वाराहमें वाराहका अर्थ पृथ्वी लें तो पृथ्वीके भीतरी श्वेत अग्नि बड़वानलके द्वारा धरतीके उलटपलट हो जानेसे जलस्थलका बनना बोधगम्य हो जाता है। पृथ्वीके विकासमें यह अवस्था विज्ञानके अनुसार एक अरब बरस पहले रही होगी। परन्तु पुराणोंके अनुसार यह पहले मन्वन्तरके आरम्भकी घटना है, जिसका अर्थ होता है पौने दो अरब बरसोंसे कुछ अधिक।

एक कल्पमें चौदह मन्वन्तर होते हैं। हमारे श्वेत वाराह कल्पमें वर्तमान वैवस्वत मन्वन्तर सातवां है। और वाराहावतारकी कथा जिससे कि इस कल्पका नाम पड़ा है पहले स्वयंभू मन्वन्तरके आरंभकी ही है। क्रमशः स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष इसके बाद बीत चुके हैं।

पुराणोंके अनुसार जीवनका आरंभ पहले ही मन्वन्तरमें हुआ है जब कि जलस्थलका प्रभेद इस भूतलपर हो गया और जीवोंको स्थल पर रहनेकी जगह मिल गयी। विज्ञानके अनुसार पृथ्वी पर जलके सागर बन जानेके ही लगभग जीवनका आरंभ हुआ है और यह समय अबसे लगभग एक अरब बरस पहलेका है। देखनेमें पुराण और विज्ञानका वर्त्तमान अन्तर पचहत्तर करोड़ बरसोंका है, परन्तु हमें इस बातपर बराबर निगाह रखनी चाहिये कि लार्ड केल्विनने जब धरतीके ठंढे होने और सुकड़नेका हिसाब लगाकर उसको केवल दो करोड़ बरसोंका ठहराया था, तब तो पुराण और लार्ड केल्विनके मतोंमें दो अरब बरसोंका अन्तर था। लार्ड केल्विनके पहलेके विज्ञानियोंके अंकोंसे तो पुराणोंका लम्बा काल कविताकी अत्युक्ति मात्र समझा जाता था और हिन्दुओं और चीनियोंके प्राचीनताके दावोंकी हँसी उड़ायी जाती थी। प्रोफेसर रेलेने तो बारह बरस हुए रश्मि-शक्तित्वके (Radic-activity) आधारपर दबते दबते धरतीपर जीवन विकासारंभका काल एक अरब बरस माना है। यह कोई नहीं कह सकता कि एक अरबके बदले दो अरब बरस मानना सर्वथा अवैज्ञानिक कल्पना होगी क्योंकि पृथ्वीमें कुल कितनी आंच देनेवाले पदार्थ होंगे इसकी अटकलमें बहुत मतभेद हो सकता है और विज्ञानी तो सत्यकी खोजमें फूंकफूंककर कदम रखता है और उसकी सदा यही चेष्टा रहती है कि भूल भी हो जाय तो अल्पोक्तिकी ओर, अत्युक्तिकी ओर नहीं। इन्हीं विचारोंसे मैं निःसंकोच कहूँगा कि पचहत्तर करोड़ बरसोंका अन्तर बहुत बड़ा अन्तर नहीं है और पौराणिकों ने यदि अत्युक्ति भी की है तो सत्यके इतने निकट हजारों बरस पहलेसे पहुँचे होनेका श्रेय उनको अवश्य है।

(९) जीवनका विकास

पुराणों में प्रलय तीन प्रकार के बताये हैं। एक तो नित्य निरन्तर जो ह्रास या क्षय होता रहता है, दूसरा नैमित्तिक जिसमें तीनों लोकोंका या इस पृथ्वीका प्रलय हो जाता है और तीसरा जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्मांड और ब्रह्मातकका नाश हो जाता है। इसी तरह सृष्टि भी तीन प्रकारकी हुई। एक नित्य जो निरन्तर जन्म, वा निर्म्माण के रूपमें होती रहती है। दूसरी नैमित्तिक जिसमें पृथ्वीपर फिरसे प्राणियोंकी आबादी बढ़ निकलती है। तीसरी प्राकृतिक जब नये ब्रह्मांडकी सृष्टि होती है। हम पुराणोंकी प्राकृतिक सृष्टिकी चर्चा कर चुके हैं। नैमित्तिक सृष्टि हर एक मन्वन्तरके आरम्भमें हुआ करती है। इस सृष्टिको परिणति वा विकासके ही रूपमें पुराणोंने भी दिखाया है। इन तीनों का समावेश करके परिणाम वा विकासकी दृष्टिसे कुल दस प्रकारकी सृष्टि बतायी गयी है।

पहली महत् तत्त्वकी सृष्टि है। भगवान्‌की परम सत्ता, अथवा यों कहिये कि मूलप्रकृतिकी परम सत्ता एक है, भेद और विविधता रहित है। महत्‌तत्त्वकी सृष्टिमें इसके सत्त्व, रजस् और तमस् यह तीन भेद होते हैं। प्रकृतिकी सोती हुई निश्चेष्ट अकर्म्मण्य अवस्था तमस् वा तमोगुण है। इसे हम विज्ञानकी शब्दावलीमें इनर्शा (Inertia) कह सकते हैं। प्रकृतिकी यही अवस्था प्रलय होनेपर और सृष्टिके पहले बनी रहती है। नारायण सोते हैं, ब्रह्माकी रात होती है। वह सोते हैं यही प्रकृतिकी तमोगुणी अवस्था है। रजोगुण इसी प्रकृतिमें गतिका आविर्भाव है। पहलेपहल जब नाभिसे कमल निकला, गतिका आरम्भ हुआ। उसपर ब्रह्माजीका प्रकट होना नारायणका स्थानपरिवर्त्तन है, गति है, Motion है। ब्रह्माजी रजोगुणी मूर्त्ति हैं। मधुकैटभका प्रकट होना और ब्रह्मासे युद्ध रजोगुणका उग्र विकास है। सत्वगुण शक्तिसाम्य और सामंजस्यकी वृद्धि है। इसे Harmony कह सकते हैं। भगवान् विष्णु सत्वगुणकी मूर्त्ति प्रकट होते हैं। यह मधुकैटभ रूपी गतिकी विषम और असमञ्जस उग्रताका विनाश करते हैं। और ब्रह्माजीको तपस्याका आदेश देते हैं। तपस्यासे शक्ति-संचय होता है। तपस् साधारण भाषामें तो गरमीको कहते हैं। विज्ञान तापको शक्तिका रूपान्तर मानता है। परन्तु प्राचीन परिभाषासे तपस्‌का अर्थ शक्ति और तपस्याका अर्थ शक्ति-सञ्चय ही समझ पड़ता है। विष्णुजी ब्रह्माको तपस्याका आदेश देते हैं। दूसरे शब्दोंमें रजोगुणको सत्वकी सहायता मिलती है। गतिको सामंजस्य और नियमनकी ओर लगाया जाता है। इस प्रकार सृष्टिकी आदिमें एक बारगी तीनों गुण सामंजस्य पूर्वक काम करने लगते हैं। प्रलयमें सत्व और रजस् तमोगुणमें लीन होकर सो जाते हैं।

गति और सामंजस्य रहित वस्तुसत्ता हमारी कल्पनाके बाहरकी वस्तु है। परन्तु पुराणोंके अनुसार प्रलयावस्थामें यही कल्पनातीत दशा रहती है। महत्‌तत्त्वके सर्गसे वस्तुसत्तामें तीनों गुणोंका आविर्भाव हुआ। परन्तु ऐसा न समझना चाहिये कि अब हम वस्तुसत्ताकी स्थितिका ज्ञान रखते हैं। अभी नहीं।

दूसरा सर्ग या सृष्टि है अहंकारकी। महत्तत्त्वकी सृष्टि जैसे वस्तुसत्ताका बीज है उसी तरह अहंकारकी सृष्टि चेतना और जीवनका बीज है। इस सर्गकी अवस्थामें यह बोध होता है कि द्रव्य है और द्रव्योंके अनेक भेद हैं और उनका जाननेवाला चेतन कोई और है और द्रव्य ज्ञेय और जाननेवाला ज्ञाता दोनोंमें सम्बन्ध जोड़नेवाली चीज क्रियाका आरम्भ करनेवाली इन्द्रियोंकी शक्ति उत्पन्न होती है। इस तरह अभी द्रव्य, ज्ञान और क्रियाकी उत्पत्ति हुई है। ज्ञानेन्द्रियां और कर्म्मेंद्रियोंका विभाग अभी नहीं हुआ है। परन्तु अहंकारकी सृष्टिमें चेतनाका बीज मौजूद है, जो खनिजोंसे आरम्भ करके आदिम वनस्पतियोंतक विकास करता है जहां जीवन-क्रिया बड़े वेगसे होने लगती है। परन्तु अहङ्कारकी सृष्टि अभी वस्तुसत्ताकी अत्यन्त सूक्ष्म दशामें है

क्योंकि अभी पञ्चमहाभूतोंकी सृष्टि नहीं हुई है। अभी नाशसे सम्भवतः कुछ ही घनीभवन हुआ है। अभी सम्भवतः विद्युत्कणोंकी अवस्था भी नहीं आयी है। यह सृष्टिकी अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था है।

तीसरा सर्ग पञ्चतन्मात्रा रूप सूक्ष्म भूतोंका है। तीनों गुणोंके भेदसे अहङ्कार तामस राजस और सात्त्विक तीन प्रकारका हुआ। इन्द्रियोंकी शक्ति जो अहङ्कारवाले चेतनासर्गमें उत्पन्न हुई थी अब विविध रूपोंमें उसका विकास हुआ। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पांच रूपोंमें पहले उसकी परिणति हुई। राजस अहङ्कारसे ज्ञानेन्द्रियों और कर्म्मन्द्रियोंके सूक्ष्म रूपोंकी उत्पत्ति हुई। सात्त्विक अहंकारसे मन और कर्म्म और ज्ञानके चलानेवाले देवता उत्पन्न हुए। राजस और सात्त्विक अहङ्कारोंके विकारसे क्रमशः चौथी और पांचवीं सृष्टि हुई। तीसरी चौथी और पांचवीं सृष्टिके संयुक्त विकासक्रममें ही मनसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी हुई। इसे आधुनिक विज्ञानके शब्दोंमें हम कह सकते हैं कि वायव्यसे अग्नि, अग्निसे द्रव, द्रवसे घन पदार्थ उत्पन्न हुआ। यह घनीभवनका रूप पूर्णतया वैज्ञानिक है। इसी पांचवीं सृष्टि तकमें चेतन और जड़ दोनोंका साथ ही साथ विकास हुआ।

छठी सृष्टि अविद्या मायाकी है। यह पंचपर्वा या पांचगांठोंवाली कहलाती है। पहली गांठ है, तम, अंधकार—अपनी असलियतपर परदा पड़ जाना। दूसरी है, मोह अर्थात् अपनी देहको अपना आपा समझ बैठना, अहंबुद्धि। तीसरी है महामोह, अर्थात् विषयभोगसे देहकी वासनाओंको तृप्त करने की इच्छा। तामिस्र चौथी गांठ है भोगेच्छाके प्रतिघातसे उपजे क्रोधादि विकारोंका नाम तामिस्र है। पांचवीं गांठ है अंधतामिस्र, जिससे भोगके साधन शरीरके छूटनेपर समझता है कि मैं मर गया। इस अविद्याका भी खनिजोंसे विकास होते होते मनुष्योंतक उसका पूर्ण उदय होता है। खनिजोंमें तमकी पूर्णता और मोहका उदय है। उद्भिज्जमें तम और मोहकी पूर्णता है, महामोहका उदय है। (तिर्य्यक्) योनिमें तीनोंकी पूर्णता है और तामिस्रका उदय है। मनुष्यमें चारोंकी पूर्णता है और अन्धतामिस्रका उदय है। अविद्याकी सृष्टितक प्राकृतिक सृष्टियां हैं। इसी अविद्या माया से जनित नैसर्गिक बुद्धि होती है। इसके आगेकी चार सृष्टियोंमें विद्यामाया वा अनुभव जनित बुद्धि का विकास होता है जिससे उसे वैकृतिक सृष्टि कहते हैं। अविद्याकी यह पांच गांठें न पड़तीं तो सृष्टि आगे विकास न पाती।

सातवीं सृष्टिसे वैकृतिक सृष्टिका आरंभ होता है। यह स्थावरसृष्टि है। इसमें सभी तरहके उद्भिज्ज सन्निविष्ट हैं जिनके आहारका संचार ऊपरको होता है। इनको स्पर्शका ज्ञान है। इनमें चेतना है, परन्तु सो रही सी दीखती है। इनकी क्रिया अपनी जीवन रक्षातक परिमित है।

अठवां सर्ग तिर्य्यक योनिका है जिसमें दुर्दृश्य कीटादिसे लेकर दानवाकार जल स्थल और आकाशके सभी प्राणी हैं। इनको आज कल परसों आदि कालका एवं अन्यान्य भविष्यत्का ज्ञान नहीं होता। इनकी चेतना स्वप्नावस्थामें होती है। तमोगुणके आधिक्यसे केवल आहार मैथुनादिमें तत्पर रहते हैं। यहांतक बोध या विचारका विकास नहीं हुआ है। सूंघनेकी इंद्रिय तीव्र होती है। नैसर्गिक बुद्धिकी प्रबलता होती है। विवेकका उत्तरोत्तर उदय भी होता है। परन्तु यहां वह केवल अंकुरित होता है।

नवां सर्ग मनुष्य योनिका है जिनमें बुद्धि और विवेकका विकास होता है। आहारका संचार नीचेको होता है। यह कर्म्मनिरत अनन्त रजोगुणी एवं दुःखमें सुख माननेवाले होते हैं।

यह तीन वैकृत सर्ग कहलाते हैं।

दसवां सर्ग प्रकृति और विकृति दोनोंके संयोगसे कौमार सर्ग और केवल विकृतिसे देवसर्ग कहलाता है। कौमार सर्गमें देवमनुष्य दोनोंके भावयुक्त

चित्र नं० ४
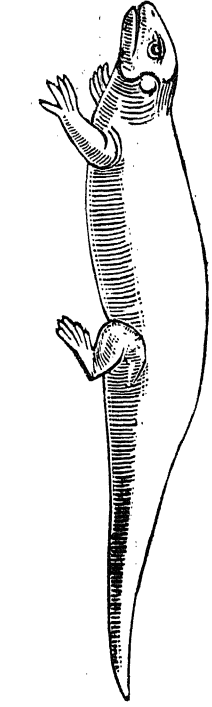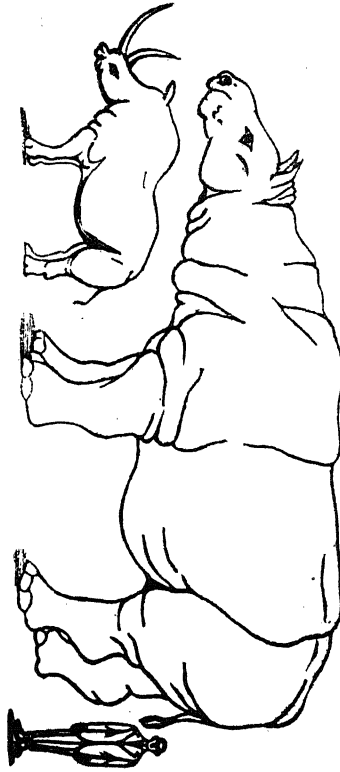
चित्र नं० ८—परमियन व्याल

चित्र नं० ५—प्राचीनकाल के कुछ दानव

चित्र नं० ६—डिनोसौर

ममथ की ठठरी

चित्र नं० ७
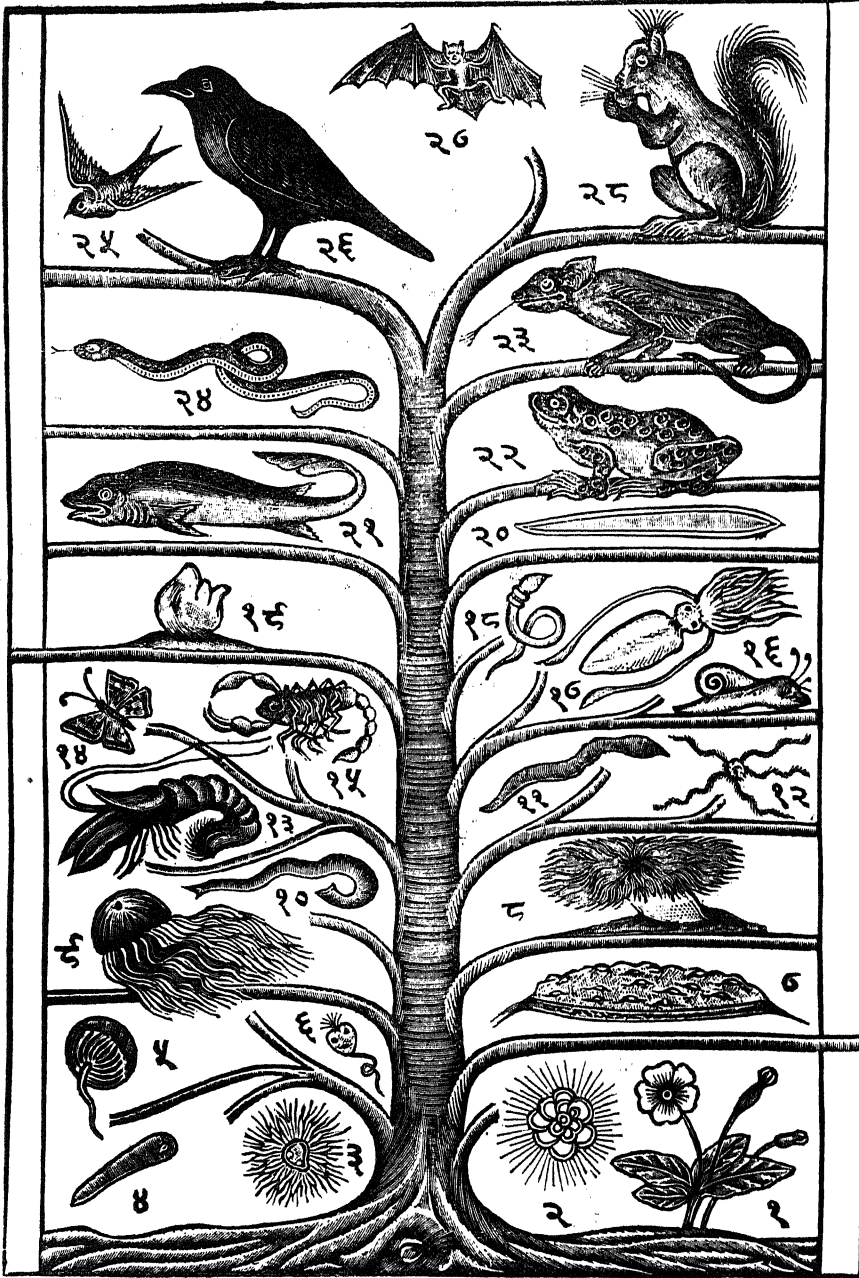
चित्र नं० ९—विकास वृक्ष

(१) पौधा, जो दूसरे विकासवृक्षका प्रतिनिधि है। दोनों वृक्ष एक ही मूलसे निकले हैं। (२-३) खड़िया बनाने वाले जन्तु। (४) पराश्रित संचारी जन्तु। (५) रातको चमकने वाले जन्तु विशेष। (६) घंटाकार जन्तु।

यह सब सूक्ष्म एक सेलवाले जन्तु हैं जो प्राथमिक जीव कहलाते हैं। अनेक सेलवाले जन्तु बहुसेली प्राणी कहलाते हैं (७) असमान स्पंज। (८) पुष्पतिमि। (९) लुआबी मछली। यह दोनों देशक जन्तु हैं। (१०) जोंक। (११) केंचुआ। यह दोनों छल्लेदार शरीर और लालरक्तके रेंगने वाले प्राणी हैं। (१२) तारा-तिमि, चर्म्म कंटक जातिके जल जन्तुओंका नमूना। (१३) झिंगा मछली, कवची वर्गके प्राणियोंका नमूना। (१४) तितली या मकोड़ा वर्ग, या षट्पदोंका नमूना। (१५) बिच्छू, मकड़ जातिका नमूना। (१६) घोंघा। (१७) अष्टपाद। दोनों मृदुकाय जल जन्तुओंके नमूने हैं। (१८) रेंगने वाले कीड़ेके रूपका जन्तु, रीढ़वाले और बेरीढ़ वाले प्राणियोंका मध्यवर्त्ती। रीढ़वाले प्राणियों में (१८) पदविहीन खोलदार जल जन्तु। (२०) ग्रासाकार जन्तु विशेष। (२१) मछली। (२२) मेंढक। उभय जीवी। (२३) गिरगिट एक प्रकार का "सर्प"। (२४) सांप "सर्प" या "व्याल" का एक प्रकार। (२५—२६) अबाबील और बया, चिड़ियोंके प्रकार। (२७) चमगीदड़। (२८) गिलहरी। दोनों पिंडजोंके प्रतिनिधि। इस वृत्तमें १-२-३ आदि क्रमसे धीरे धीरे प्राथमिक प्राणियोंसे पिंडजोंतकका विकास दिखाया गया है।

सनत्कुमारों एवं अन्य ऋषियों की सृष्टि है और देवसर्ग में देव, पितृ, असुर, गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष राक्षस, सिद्ध, चारण, विद्याधर, भूत, प्रेत, पिशाच, किन्नर, किम्पुरुष अश्वमुखकी सृष्टि शामिल है। इनके शरीर सूक्ष्म तत्वोंके बने हुए हैं और मनुष्योंके लिये यह अदृश्य हैं।

इन सर्गोंके वर्णनमें काल परिमाण नहीं दिया गया यद्यपि प्रत्येक सर्ग विकासक्रमसे रखा गया है। विज्ञानका विकासक्रम इससे कई बातोंमें मिलता जुलता है। प्रधान मतभेद यह है कि विज्ञानके निकट पृथ्वीकी उत्तप्तदशामें किसी प्रकारके जीवनका होना असम्भव है। पुराणोंमें उत्तप्त दशासे शान्त शीतल दशाको पहुँचना वर्णित नहीं है। किसी वर्णन विशेषसे धरतीकी उत्तप्त दशा होनेका विरोध भी नहीं है। असुरों और देवताओंकी सृष्टि यद्यपि दूसरी कही गयी है तथापि पांचवीं ही सृष्टिमें ज्ञान और कर्म्मके प्रेरक देवताओंकी उत्पत्ति कही गयी है। साथ ही यह भी विचारणीय है कि नवसर्गोंका वर्णन प्रायः सभी पुराणोंमें दिया गया है परन्तु क्रममें थोड़ा थोड़ा अन्तर है। इस बातमें तो मतैक्य है कि उद्भिज्जोंके बाद मनुष्येतर जल-स्थल गगनचर प्राणी हुए, और तब मनुष्यकी सृष्टि हुई। देवताओंकी सृष्टि प्रायः सबमें वृक्षोंसे पहले दी हुई है। देवताओंके, पितरोंके एवं अन्य देवसर्गवालोंके सूक्ष्मशरीरोंपर भौतिक ताप या शीतका प्रभाव नहीं पड़ता, यह बात उसी तरह मानी जाती है जिस तरह इन अलौकिक प्राणियोंका अस्तित्व माना जाता है। अतः इनके शरीरोंके द्वारा उस समय भी जीवनका अस्तित्व माना जाता है जिस समय वर्त्तमानकालके भौतिक प्राणी इस धरतीपर जीवित नहीं रह सकते थे। विकासवादी वैज्ञानिकोंके निकट ऐसे प्राणियों का अस्तित्व साधारणतया मान्य नहीं है। यदि मान्य हो जाय तो जीवनारंभकी गुत्थी सुलझी हुई समझी जानी चाहिये। यह भी नहीं कहा जा सकता कि जीवनारंभके सम्बन्धमें वैज्ञानिक कल्पनाएं बहुत समीचीन और सर्वमान्य हैं। उनकी काल्पनिकता कुछ अधिक मूल्य नहीं रखती। इस सम्बन्धमें वैज्ञानिक और पौराणिक कल्पनाओंमें केवल तारतम्यका भेद है। प्रकारका प्रभेद नहीं है।

जीवनारंभके झगड़ेको छोड़कर जीवनके विकासका क्रम वैज्ञानिक यों मानता है कि बहुत सूक्ष्म प्राणियोंका आरंभ पहले छिछले जलमें हुआ होगा। फिर विकास पाकर जलीय जीवनमें ही उद्भिज्ज और जलज प्राणियोंमें जीवनका प्रभेद हुआ। उद्भिज्जोंका वंशवृक्ष अलग चला और जन्तुओंका अलग। जन्तुओंका पहला प्रकार बिना रीढ़वालोंका था। धीरे धीरे बेरीढ़वाले प्राणी जल स्थल और उभयचर हुए। फिर बेरीढ़वालों का ह्रास हुआ और रीढ़वालोंका विकास। बड़े बड़े व्यालोंके उदयके साथही स्थलचरों और व्योमचरोंका विभाग हुआ। फिर स्थलचरोंका विकास होते होते मानवोपम

गिबन
श्यामांग
ओरंग
शिपांजी
गोरिल्ला,
श्वेतांग मानव वंश
रक्तांग मानव वंश
पीतांग मानववंश
कृष्णांग मानव वंश
वैवस्वत
चाक्षुष
रैवत
तामस
उत्तम
स्वारोचिष
मन्वन्तर
वर्त्तमान मानवजाति की सम्मिलित शाखा
राम कालीन वानर वंश
राम कालीन मानव वंश
राक्षस वंश
बड़े लंगूरों की शाखा
आदिम श्यामांग
आदिम गिबन
आदिम बड़ा लंगूर, बनमानुस
आदिम-मानव-वंश
बड़े लंगूरों और मनुष्योंका वंश
छोटे लंगूरोंका सम्मिलित वंश
आदियुगका छोटा लंगूर
जम्बू द्वीपीय वानर स्कंध
अमेरिकाके वानरोंका स्कंध
नराकार-सृष्टि-स्कंध
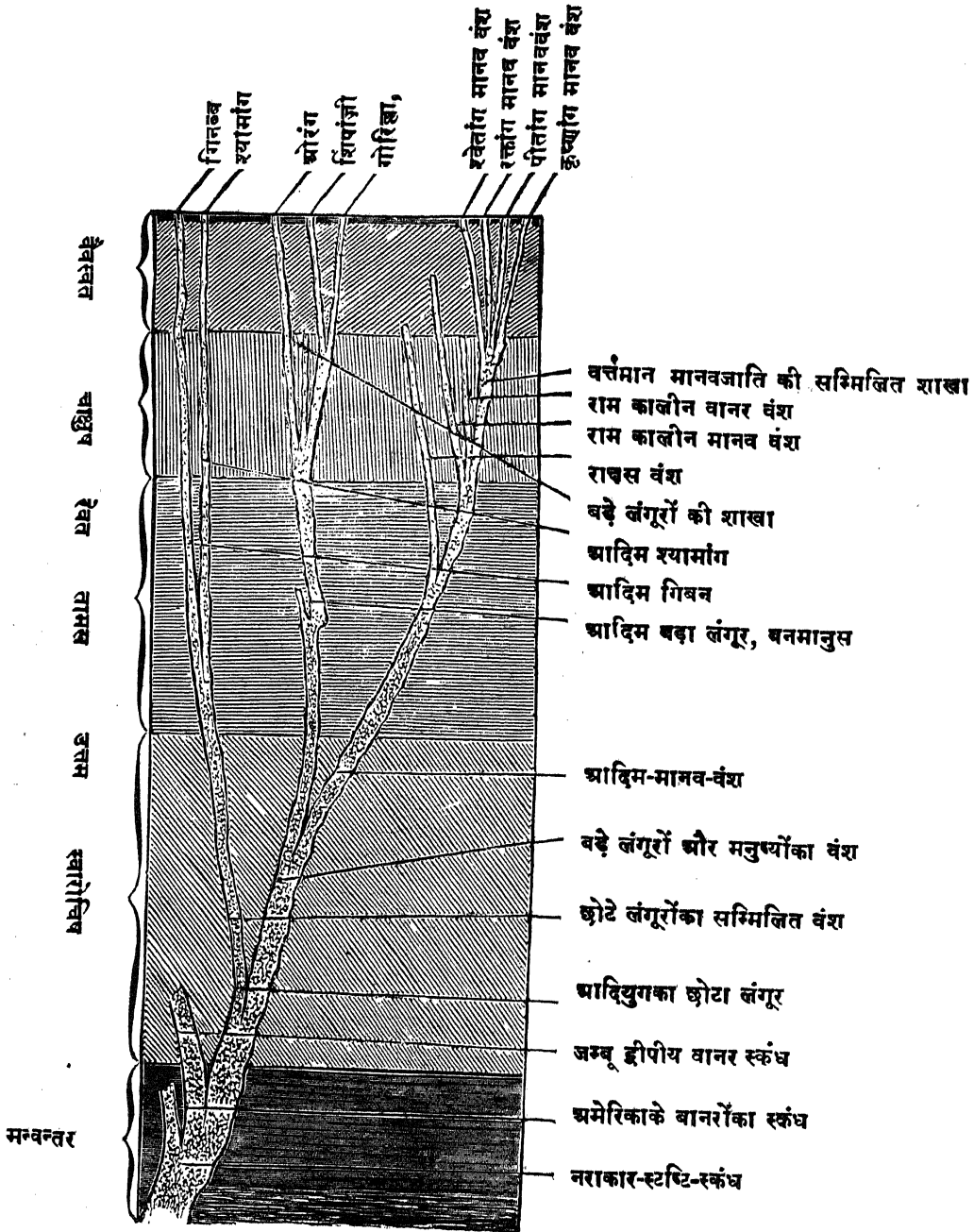
चित्र नं० १०

और मानव प्राणियोंका आरंभ हुआ। इन क्रमोंमें प्रकृति मानों अभ्यास कर रही थी। उसने इन प्राणियोंकी अनेक शाखाओंका विकास करके लोप कर दिया। इस प्रकार मानवोपम और मानव जातियोंकी अनेक शाखाएँ हुई और लुप्त हुई। मानवोपम प्राणियोंमें हन्वस्थि रखनेवाले प्राणियोंकी भी एक शाखा अत्यन्त प्राचीन युगमें विनष्ट हो चुकी है। अब इस समय जो मनुष्य जातियां जगतीतलपर विचर रही हैं, वह चार भिन्न शाखाओंकी समझी जाती हैं, उनमें कुछ लोग वर्णसे, कुछ खोपड़ियों और मुंडकी नापसे और कुछ अन्य लक्षणोंसे उनमें अन्तरका निर्देश करते हैं। पुराणोंमें भी मनुष्योंके श्वेत, लाल, पीले और काले वर्ण बताये गये हैं। इस विचारसे आर्य्य श्वेत ब्राह्मण हैं, लाल इण्डियन अमेरिकाके मूलनिवासी क्षत्रिय हैं, पीले चीनी जापानी आदि मंगोल वैश्य हैं। काले अफ्रिका निवासी हबशी ही शूद्र हैं। मनुकी वर्ण विवेचनासे ऐसा ही निष्कर्ष निकलता है।

ब्रह्माकी दस सृष्टियोंके वर्णनमें पहले उद्भिज्जोंकी सृष्टि है, फिर तिर्य्यकयोनियोंकी और तब मनुष्यकी, यह क्रम केवल संयोगसे नहीं बन गया है। यही क्रम सभी पुराणोंमें दिया हुआ है। योगवासिष्ठके सृष्टिप्रकरणमें तो स्पष्ट वर्णन है कि आदिकालमें पहले नदियों पहाड़ोंका युग था, फिर वृक्षोंका युग हुआ, फिर तिर्य्यक योनिके प्राणियोंका। होली बैबिल और कुराने-मजीदका भी क्रम यही है। बैबिलमें छः सृष्टियोंका वर्णन है, और आरम्भमें परमात्माको नारापर अयन करनेवाला नारायण कहा है। संसारके पुराणोंके वर्णनोंमें इस हदतक एकता यह प्रकट करती है कि यह कथाएँ प्राचीनयुगों वा बीते हुए कल्पोंका अनुनाद हैं। पुराणोंमें तो यह बात स्पष्ट शब्दोंमें दी हुई है कि अमुक कथा अमुक नामके कल्पकी है। उनकी कथाओंका क्रम ही उनके पूर्व कल्पोंके अनुनाद होनेकी गवाही देता है।

जब हम विस्तारपर विचार करते हैं तो थोड़े बहुत क्रमभंग वा क्रमविपर्य्ययके साथ साथ विस्तारमें भी पुराण और विज्ञानका सामंजस्य है। विज्ञान कहता है कि आदियुग बेरीढ़वाले प्राणियोंका था, फिर रीढ़वाले प्राणियोंने उनपर विजय पायी। फिर उभयचरोंका युग आया। उभयचरोंके बाद इस धरतीपर व्यालोंका राज हुआ। साथही पक्षियोंका युग चला। व्यालोंसे बढ़ते बढ़ते मानवोपम प्राणियोंकी नौबत आयी।

यद्यपि विष्णुके प्रसिद्ध दसों अवतारोंकी कथाएँ भिन्न भिन्न कल्पोंकी हैं और उनमें परस्पर आगे पीछेका कोई सम्बन्ध नहीं है, और पुराणोंमें इनके वर्णनक्रममें भी भेद है, तो भी सर्वसाधारण हिन्दुओंमें साधारणतया प्रसिद्ध क्रम वही है जो गोस्वामी जीने रामचरितमानसमें कहा है—

मीन कमठ सूकर नरहरी
बामन परसुराम बपुधरी

शंखासुर जिसे मत्स्य भगवानने मारा बिना रीढ़का प्राणी था। कोई समय था जब बिना रीढ़वाले प्राणियोंकी ऐसी प्रबलता थी कि स्वयं भगवानको उनके विनाशके लिये अवतार लेना पड़ा। परन्तु मछलीका ही रूप धारण करनेमें विशेषता देख पड़ती है। मछली रीढ़वाला प्राणी है। बेरीढ़वाले प्राणियोंके बाद रीढ़वालोंकी प्रबलता स्पष्ट देख पड़ती है। कछुएका रूप इसके बाद आता है। इसकी पीठके सहारे सृष्टिके समुद्रका मंथन हुआ और चन्द्रमा आदि चौदह रत्न निकले। बहुत संभव है कि यह किसी ऐसे युगकी कथा हो जिसमें उभयचारी प्राणियोंकी ऐसी प्रबलता हुई, उनकी सभ्यता इस दरजेको बढ़ी कि सृष्टि मथ सी उठी और चौदह बड़े महत्वकी चीजें उस युगमें पैदा हुई। बाराहका कछुएके बाद होना ठीक ही क्रम है। स्थल प्राणियोंका यह एक मुख्य प्रतिनिधि है। इस समय जगतीतलपर महाविशाल दानव और दैत्योंका प्राबल्य था। उनके विनाशमें बाराह भगवानने पशुओंकी प्रबलता दिखायी और सूअर या बाराह रूपसे आज कलका बनैला सुअर ही समझना हमारी मूर्खता होगी। यह

कोई सिंहादिसे ज्यादा जबर्दस्त, इतिहासके पूर्वका प्राणी (Mastodon) आदिसे भी भयंकर होगा। पुराणोंमें शार्दूलका वर्णन आया है जो सिंहसे भी भयंकर पशु है जिसके पंख भी हैं। इसी कालमें महाविशाल और भयानक व्यालोंकी भी चर्चा है। मैमथ भी एक व्याल है जिसके सामने हमारे समयका हाथी एक बच्चा सा है। व्यालोंके युगके पशु पक्षी विज्ञानके अनुसार कितने लम्बे चौड़े और ऊँचे हुआ करते थे, यह मानी हुई बात है। अस्सी नब्बे फुटकी लम्बाई और ऊँचाई उस समयकी एक मामूली सी बात थी। आज ऐसे प्राणियोंको हम व्याल और दानवके सिवा और क्या कहेंगे? जान पड़ता है कि ऐसे ही जमानेमें हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु जैसे दैत्योंका राज होगा। मनुष्य और सिंह दोनोंके भावोंका एकीकरण नृसिंह भगवान्में होना भी विकासवादकी दृष्टिसे एक विशेष अर्थ रखता है। आज भी अनेक तरहके असमंजस और अयुक्त शरीरोंवाली योजनाएं कभी कभी दिखाई पड़ती हैं। बकरीके मनुष्यका बच्चा हो जाता है। कभी एक प्राणीका सिर दूसरेके धड़पर दिखाई पड़ता है। ऐसी दशामें वैज्ञानिक इसे प्रकृतिकी लीला कहता है और विकासवादी विकासक्रममें प्रकृतिके नये नये प्रयोग और परीक्षाएं देखता है। जिस तरह प्रकृतिके प्रयोगोंमें ऐसे विकराल व्याल भी थे जिनका लोप हो गया है उसी तरह किसी मन्वन्तरमें दैत्यों और दानवोंका मुकाबला करनेवाले नृसिंहका होना असंगत नहीं है।

व्यालों और दानवोंके युगके अन्तमें मानव प्राणियोंका होना भी विज्ञानसे सुसंगत क्रम है। विज्ञान इस बातको मानता है कि इसी भूतलपर मनुष्योंकी कई शाखाएं उत्पन्न हुईं और अपनी सभ्यताके शिखरपर पहुँचकर लुप्त हो गयीं। वामनावतारमें भगवान वामन महादानव बलिसे भूमिका दान मांगते हैं। परन्तु जब नापनेका समय आता है तब अपने छोटेसे शरीरको इतना बढ़ा लेते हैं कि त्रैलोक्य उनके लिये दो ही पगोंमें पूरा नप जाता है और तीसरे पगके लिये दानवका शरीर नाप लेते हैं और उसे पाताल भेज देते हैं। यह जिस कल्प या मन्वन्तरकी कथा है क्या उस मन्वन्तरकी उच्चसे उच्च उन्नतिके इतिहासका यह अनुनाद नहीं हो सकता? पुराणोंमें देवासुर संग्राम ता बड़ी ही परिचित कथा है। भली और बुरी, भौतिक और आध्यात्मिक, दोनों तरहकी प्रकृतियोंके संघर्षसे ही तो जगत्की स्थिति है। क्रिया और प्रतिक्रिया तो प्रकृतिका नियम है और विकासका मार्ग इन्हीं उपायोंसे प्रशस्त होता है। इसी सिलसिलेसे प्रकृतिकी सृष्टि बढ़ती और उच्चताको पहुँचकर फिर नष्ट हो जाती है। यह सृष्टिकी तरंग माला है—

नीचैर्गच्छत्युपरिच दशाचक्र नेमि क्रमेण

दानवोंकी सृष्टिमें हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु अपनी पूरी बाढ़को पहुँचे परन्तु यह देवताओंके विरोधी थे, मारे गये। प्रह्लाद विरोचन और बलि देवताओंके विरोधी न थे परन्तु वह समय दानवोंके ह्रासका आ गया था, और मनुष्योंके उत्थानका। इसीलिये मनुष्य पहले बहुत छोटा था। उसने संभवतः दैत्योंसे ही सब कुछ सीखा और प्रोत्साहन पाया परन्तु वह बहुत शीघ्र ही बढ़ा कि त्रैलोक्यपर उसने अपना प्रभुत्व जमा लिया और अन्तमें उन्हीं दानवोंकी गरदन नापी और उन्हें निकाल बाहर करके अमेरिका भेजवा दिया। संभव है कि इसी कथाका अनुनाद वामनावतारकी कथामें आया हो।

संभवतः वामनावतार ही आदिम मानव शाखाका पता देता है। क्या आश्चर्य है कि यह शाखा समाप्त हो चुकी, और कोई दूसरी शाखा इतनी बढ़ी कि उसने सारी धरतीपर फैलकर अपना प्रभुत्त्व जमाया। हजार बाहुओं वाले सहस्रार्जुनको हम यदि समरशील बलवान मनुष्य जातियोंकी अत्यधिकता मान लें तो परशुरामावतारको भी हम मनुष्योंकी किसी और शाखाकी समुन्नत दशाका द्योतक मान सकते हैं।

रामावतार इन कल्पोंसे वा मन्वन्तरोंसे भिन्न मन्वन्तरमें हुआ होगा। विकासवादकी दृष्टिसे इस

अवतारमें एक बड़े महत्वकी बात देखनेमें आती है। इस अवतारकी कथा औरोंकी अपेक्षा पूरे विस्तारसे दी गयी है। इसमें मनुष्य, बानर और राक्षस तीन जातियोंका संघर्ष है। मानव जातिकी कोई ऐसी शाखा होगी जिसका अब लोप हो गया है, क्योंकि महाभारतके वनपर्वमें रामायणी कथा जो युधिष्ठिरसे कही गयी है उसके ढंगसे पता चलता है कि पांचहजार वर्षों पहले भी रामायणी कथा किसी पूर्वयुगकी कथा मानी जाती थी। उस समयकी राक्षस जातिका तो रामरावणके समरमें ही प्रायः लोप हो गया था। परन्तु वानर जाति भी रामराज्यके अन्तके लगभग लुप्त हो गयी होगी। ऐसी कल्पना करनेका कारण यही दीखता है कि उस तरहके वानर रामावतारके बाद नहीं सुने जाते। यह वानर आजकलकी वानर जातिसे एक दम विलक्षण थे। मनुष्यको छोड़ हन्वस्थि रखनेवाला कोई लंगूर या वानर जातिका प्राणी आज तो नहीं पाया जाता। परन्तु हनुमान्‌जीकी जन्मकथासे पता चलता है कि उनकी जातिके वानरोंको हन्वस्थि भी होती थी। हनुमान् नामका यही अर्थभी है। इनको वानर इसीलिये कहते थे कि रूप और स्वभाव भेदके सिवा और किसी बातमें ये मनुष्यसे कम न थे। रूप और स्वाभाव वानरका था। शाखामृग थे, परन्तु यह घरोंमें रहना जानते थे। कपड़े बनाते और पहनते थे। फलमूलादिके सिवा पक्वान्न भी खाते थे। अग्निका प्रयोग जानते और करते थे। मनुष्यकी बोली बोलते थे। चारों वर्णों और आश्रमोंके धर्मोंका पालन करते थे। जो इनमें अधिक समुन्नत थे वह शास्त्राध्ययन करते थे। राज्य-शासन भी जानते थे फिर यह क्या आज जैसे वानर थे? रामायणी कथापर अनेक विद्वान् यह कह बैठते हैं कि वानर नामके कोई जंगली मनुष्य थे जिनके वंशज तैलंगी तामिल आदि हैं जो आदिद्रविड़ कहलाते हैं। परन्तु वह यह भूल जाते हैं कि जगह जगह वाल्मीकिने शाखामृग (Arboreal animal) कहा है और उनकी पूछोंका भी वर्णन किया है, साथ ही हनुमानजीकी प्राकृत संस्कृत और वैदिकके पूर्ण-पांडित्यकी भी प्रशंसाकी गयी है। हमारे लिये ऐसे वृथाके अनुमानको गुंजाइश नहीं छोड़ी है। वानरोंके सिवा ऋक्षों, जटायु आदि पक्षियों, सुरसा सरीखी व्यालियोंकी भी चर्चा है जो आजकलके जीवनसे नितान्त विलक्षण है।

चित्र नं० ११

जावा में प्राप्त प्राचीन मनुष्य (पिथेकेन्थ्रोपस)

मनुष्योंके वंशवृक्षमें जो विज्ञानने विकासवादके आधारपर बनाया है अनेक लुप्त मानवाकार शाखाएं दिखायी गयी हैं। मेरा अनुमान है कि एक शाखा तो हन्वस्थि रखनेवाले प्राणी होंगे जिनका लोप हो चुका है और दूसरी कोई शाखा जो इसमें दिखायी नहीं गयी है, दैत्यों और मनुष्यों वा ऋषियोंके सांकर्य्य से उत्पन्न हुई जिसका नाम राक्षस पड़ा। यही लोग बहुत बढ़े और अन्तमें इनका विनाश हुआ। इनकी और हन्वस्थिवाले वानरोंकी खोपड़ियां कुछ बड़ी अवश्य बनी होंगी परन्तु शरीरके और अवयव उनसे सुसंगत नहीं बने थे इसीलिये उनका विनाश हो जाना आवश्यक था।

मेरी इस कल्पनापर यह कहा जा सकता है कि इसके लिये आधारस्वरूप कुछ खोपड़ियां या हड्डियां तो नहीं पायी गयीं, फिर अभी इस कल्पनाकी गुंजाइश कहां है? इसके उत्तरमें मैं यह कहूँगा कि पुराण या इतिहास जिनके आधारपर मैं यह कह रहा हूँ, उन गड़े हुए मुरदोंसे कहीं अच्छे जीवित आधार हैं जिन पर मैं अपनी कल्पनाकी शिलाको दृढ़ बैठा सकता हूँ।

रामावतारके बाद कृष्णावतारकी कथापर किसी कल्पनाकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि हम ऐतिहासिक युगोंमें आ जाते हैं।

(१०) इन्द्रियोंका और मनका विकास

मैंने दस पौराणिक सर्गोंकी जो चर्चा की है वह श्रीमद्भागवतके आधारपर है। यह कहा जा चुका है कि तीसरा, चौथा और पांचवां सर्ग क्रमशः तामस, राजस् और सात्त्विक अहङ्कारके विचार या विकासका है। अहङ्कारका अर्थ है "मैं-पन" अर्थात् (Individuality) व्यक्तिका आरम्भ। पहली और दूसरी सृष्टिमें व्यक्ति नहीं है। अव्यक्ति सृष्टि है। "मैं हूँ" इस भावका बाहर प्रकाश तभी होगा जब एक चेतना एक अविभाज्य देहमें व्यक्त होगी। खनिजोंमें यह भाव तुरीयावस्थामें है। उद्भिज्जोंमें यह चेतना सुप्त है क्योंकि एक देहमें होते हुए भी वह विभाज्य है। उन कीड़ों मकोड़ों एवं अमीबा आदि प्राणियोंमें भी सुप्त ही दशामें है। वहां भी शरीर विभाज्य है। ऐसी दशामें अहङ्कार तीनों प्रकारका होते हुए भी अव्यक्त है। परन्तु जहां अधिक विकसित शरीर आया, जहां एक अविभाज्य शरीरमें चेतना आयी, वहां व्यक्तित्वका प्रकाश होने लगा। वहीं व्यक्तिका आरम्भ है। तामस अहङ्कारका विकास शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्धमें हुआ। इसे तीसरी-सृष्टि कहा है। इसका तात्पर्य्य यह है कि प्राणियोंमें, व्यक्तियोंमें, जहां अहङ्कारका प्रकाश हुआ वहां इन पांच विषयोंके रूपमें हुआ। राजस अहँकारके विकाससे ज्ञानेन्द्रियां और कर्म्मेंद्रियां हुईं। सात्विकसे मन बुद्धि, विवेक आदिका विकास हुआ। परन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं कि व्यक्ति-में सभी विषयों और इन्द्रियोंका एक बारगी आविर्भाव हो गया। शरीरके विकासके साथ ही साथ इनका विकास हुआ है। जैसे एक सेलवाले प्राणियोंकी सरलतासे विकास करते करते प्रकृतिने अनेक-सेलवाले प्राणियोंकी विकटताका विकास किया उसी तरह किसी शरीरमें एक इन्द्रियका विकास हुआ तो दूसरे प्रकारके शरीरमें दूसरी इन्द्रिय का। कुछमें दो इन्द्रियोंका विकास हुआ तो किसीमें तीनका। इस तरह शरीरके उत्तरोत्तर विकासके साथ इन्द्रियों और विषयोंका भी विकास हुआ। जैसे खनिजों और उद्भिजोंमें स्पर्शका विकास हुआ, वहां त्वचा या आवरणका अविर्भाव हुआ। ज्यों ज्यों शरीरका विकास हुआ त्यों त्यों ज्ञानेन्द्रियोंका विकास होता गया जो मानव शरीरमें आकर पूर्ण हो गया। इसी तरह कर्म्मेन्द्रियोंका भी विकास हुआ। अविकसित प्राणियोंमें यह इन्द्रियां कम हैं। विकाससे इनमें वृद्धि होते होते मनुष्य प्राणियोंमें इसकी पूर्णता हुई। मन, और बुद्धिका विकास भी इसी प्रकार क्रमशः हुआ।

तीसरी, चौथी और पांचवीं सृष्टिमें हमारे स्थूल जगत्के विषयों, इन्द्रियों और मनके विकाससे पहले सूक्ष्मजगत्के शरीरोंका विकास और उनमें विषयों इन्द्रियों और मनके विकासका दिखाना भी अभिप्रेत है। परन्तु यह आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक विषय हो जायगा, जो विकासवादकी सीमाओंसे सम्प्रति बाहर है। इसलिये और इसलिये भी कि विषयविस्तारके लिये समय नहीं है, मैं उस विषयको यहां छोड़ देता हूँ।

कर्म्मेन्द्रियके विकासमें सबसे पहले भोजनेन्द्रियोंका और उसके साथ ही जननेन्द्रियोंका विकास दिखाई पड़ता है। ब्रह्माकी पहली सृष्टि प्रजापतियोंकी है जो मानसिक है। परन्तु मानसिक सृष्टिमें आगे प्रजाकी उत्पत्तिमें प्रवृत्ति नहीं देखी, इसलिये ब्रह्माने मैथुनी सृष्टिका आरंभ करनेके लिये अपनेको स्त्रीपुरुषमें विभक्त किया और स्वयं गुप्त हो गये। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि उन्होंने भी प्राणियोंमें इस द्विधा रूपका आरंभ या विभाजन किया। उन्होंने मानसिक सृष्टिमें उन्नति न देखी तो मनसके पुत्र कामको उत्पन्न करके जनन क्रियामें सुख उत्पन्न किया जिसमें प्राणियोंको जनन कर्म्ममें प्रवृत्ति हो। यह भी मानसिक सृष्टिका अप्रत्यक्ष प्रकार हुआ। परन्तु सृष्टिकी वृद्धि और रक्षाका उपाय भी करना था। भोजनके

लिये इन्द्रियां और भूख साथ ही साथ उत्पन्न हुईं। यक्षों और राक्षसोंको ज्योंही विधाताने उत्पन्न किया त्योंही यह खाने दौड़े। इनका नामकरण भी इन्हीं प्रसंगोंमें हुआ है। इनमें भोजनेन्द्रियकी भारी प्रबलता थी। कुंभकरण सरीखा विशाल और भारी भूखा प्राणी प्रकृतिकी ऐसी ही लीलाका परिणाम कहा जा सकता है। मलत्यागकी इन्द्रियोंका भी इसी तरह धीरे धीरे विकास हुआ। परन्तु ब्रह्माने देखा कि सृष्टिकी नित्यकी उत्पत्तिकी रक्षाके लिये नित्यका प्रलय होना भी आवश्यक है। इसके लिये सृष्टि संयमकी रक्षाके लिये यमराज वा काल वा मृत्युकी उत्पत्तिकी। आरम्भमें तो "एकोऽहं बहु स्याम्" मैं एक हूँ अनेक हूँगा"के संकल्पके साथ सृष्टि बढ़ी, फिर "ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" वह पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्णसे पूर्ण निकलता है।। पूर्णसे पूर्ण निकाल लेनेपर भी पूर्ण ही बचता है", जीवनकी वृद्धिका यह सूत्र हुआ। अमीबा पूर्ण है। उससे पूर्ण अमीबा निकलता है। पूर्ण अमीबासे पूर्ण निकाल लेनेपर जो अमीबा बचता है वह भी पूर्ण ही है। यहांतक मृत्युकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु यमने सृष्टिका नियम न किया। प्रत्येक दम्पतिका कर्त्तव्य है कि सन्तान या प्रजा उत्पन्न करे और उसे आगेकी सृष्टिके चलानेके योग्य कर दे। इस कर्त्तव्यके पूर्ण कर देनेपर वह प्रजापति धर्म्मसे मुक्त हो गया। कर्म्मके नियम इसी नियमनके लिये बने और इसी कर्म्मकी शृंखलामें पुन् नाम नरकसे रक्षा करनेके लिये पुत्र का होना जरूरी हो गया। जब पुत्र पैदा होता है पितर प्रसन्न होते हैं और वृद्धिकी खुशीमें पितरोंका नान्दीमुख श्राद्ध होता है। इस प्रकार यमराज वा धर्म्मराजका सृष्टिमें बड़ा आवश्यक भाग रहा।

अब विकास विज्ञानके अनुसार कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों एवं मनका विकास संक्षेपमें सुनिये।

शरीरका आरम्भ विकट समस्या है। अभीतक विकासवाद उसके आरम्भका पता नहीं लगा सका है। परन्तु शरीरका आरम्भ हो जानेपर जीवनका आरम्भ हो जाता है और जीवन की किसी अवस्थामें यह नहीं कहा जा सकता कि इस स्थितिके पूर्व मनस्का या चेतनका अभाव है। सर जगदीश बोस तो जीवनोचित प्रतिक्रिया धातुओंतकमें पाते हैं और यह जानी और मानी हुई बात है कि प्लाटिनम सरीखी धातु विषसे स्तब्ध हो जाती है। उद्भिज्जोंमें तो निश्चय ही चेतनाका, मनका, स्पष्ट भाव है। ऐसा अनुमान होता है कि उद्भिज्ज सोचता है, उसमें गोचरता है, और इच्छाशक्ति भी है। बिना ज्ञान और कर्म्मकी इन्द्रियोंके यह बातें हो नहीं सकतीं। इसलिये इन्द्रियोंका विकास इसके पहलेसे आरम्भ हो चुका है। ज्यों ज्यों जीवनके विकासकी ऊपरकी सीढ़ियोंपर हम चढ़ते हैं त्यों त्यों मनका विकास होता जाता है। उसका आरम्भ जांच और भूलसे लाभ उठानेमें देखा जाता है। इस क्रियाके बारम्बार होते रहनेसे उत्तरोत्तर विकास (Reflex actions) वा प्रतिक्रियाओंमें देखा जाता है और अपनी परिस्थितिमें अथवा परिस्थितिके परिवर्त्तनकी दशामें प्राणीका तदनुकूल जीवन बना लेना उसका फल है। इन क्रियाओंमें नैसर्गिक बुद्धि एवं विवेकशीला सम्बुद्धि दोनों काम करती हैं। दोनोंका विकास साथ ही साथ चलता है और मानवजीवनमें अपनी पराकाष्ठाको पहुँचता है। मनुष्येतर प्राणी भी अनुभव और विचारसे काम लेते हैं इस बातके बहुत प्रचुर प्रमाण पाये गये हैं। इन प्राणियोंको आहार ग्रहणकी दृष्टिसे तिर्य्यक् योनिका कहा गया है, परन्तु प्राणिमात्रमें मनोविकास भी तिर्य्यक रेखामें चलता है। मनोविकासभी दो रूपोंमें चलता है एक तो चेतन बुद्धि या संबुद्धिका विकास, दूसरे जड़ बुद्धि या सहज बुद्धिका विकास। जीवित प्राणी एक तो अपनी ओरसे उद्योग करता है हिलता डोलता है आगे बढ़ता है, अपने मार्गमें आई हुई रुकावटोंकी जांच करता है, चूक जाता है, अपनी चूककी जांच करता है, उससे भूलसे सीख लेता है, इस प्रकार अनेक चूकोंसे सीख

कर समझदारीका बरताव करता है और अन्तमें विवेकशील बन जाता है, यह चेतन बुद्धि या सम्बुद्धि-के विकासका क्रम है। दूसरे अपनी परिस्थितिसे लाचार होकर उसे कुछ करना पड़ता है। इसमें यदि सफलता न हुई तो परिस्थिति अपनी प्रतिक्रियाओंसे उसे लाचार करके बारंबार किसी प्रकारकी चेष्टा कराती ही है जिसमें जीवनकी रक्षा होती रहे। इन क्रियाओं प्रतिक्रियाओंसे किसी एक निश्चित दिशामें गति करते रहने बढ़नेकी प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है सारी गति विधि परिस्थितिके अनुरूप और अनुकूल बन जाती है। एक विशेष प्रकारकी क्रियाओंका सिलसिला बंध जाता है जो बिना सोचे बिचारे बान या स्वभाव बन जाता है। अन्तमें इस स्वभावको एक ओरसे तो विवेक प्रेरित करता है और दूसरी ओरसे प्रत्यगात्मा। यह नैसर्गिक बुद्धिके अन्तिम विकासका रूप है। यह द्विविध विकास अत्यन्त सूक्ष्म आदिम प्राणियोंके जीवनसे आरंभ होता है। और मनुष्योंपर आकर समाप्त होता है। इसे ऊपरके चित्रमें एक तिर्य्यक रेखामें व्यक्त किया गया है। इस तिर्य्यक रेखाका ऊपरी भाग विवेक और निचला सहज बुद्धि प्रकट करता है।
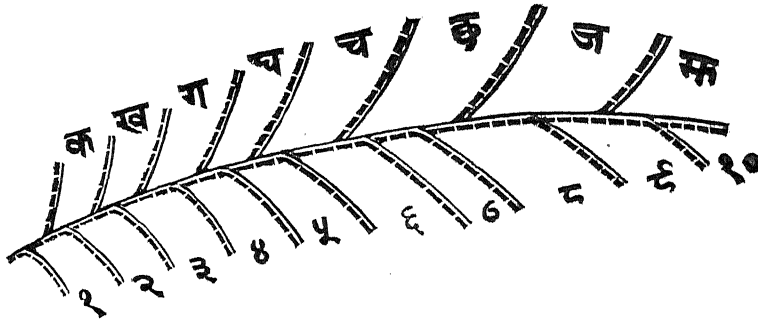
चित्र नं० १२

क—उद्योग
ख—साधारण जांच
ग—जांच और चूककी विधि
घ—बेसमझीकी जांच
च—जांचसे सीख
छ—प्रसंगसे सीख
ज—समझदारीका बरताव
झ—विवेक शीलता
१—परिस्थितिसे प्रति क्रिया
२—बाह्यप्रदर्शित प्रतिक्रिया
३—सरलप्रतिक्रियात्मिका क्रियाएँ
४—मिश्रित प्रतिक्रियात्मिका क्रियाएँ
५—आभिमुख्य
६—बाह्यप्रदर्शित अनुक्रियाएँ
७—सरल निसर्ग
८—शृंखलाबद्ध निसर्ग
९—विवेकप्रेरित नैसर्गिक क्रियाएं
१०—प्रत्यगात्माकी अन्तः प्रेरणा

इन्द्रियोंके विकासमें पहले मैथुनीसृष्टिका ही रूप देखनेमें आता है। जीवनके आरम्भकालमें तो विभाजनादिसे जननक्रिया होती थी परन्तु इस तरहकी प्रजावृद्धि सुभीतेकी न थी। इसीलिये जननेन्द्रियोंका विकास आरम्भमें ही हुआ दीखता है। साथ ही शरीरक्षयके कारण अन्तमें मृत्यु भी आवश्यक हो गयी। जहां विभाजनसे वृद्धि होती थी, वहां मरणका क्या काम था। इनके सिवा ज्ञान, इच्छा और अनुभवकी इन्द्रियोंका विकास तो मनके साथ ही उत्तरोत्तर हुआ है। शरीरके विकासमें पहले जब गतिकी अधिकता न थी देह प्रायः चक्राकार या गोल होती थी।

फिर भोजनादिकी आवश्यकतासे गतिके बढ़ जाने के कारण एक विशेष दिशामें शरीरकी बाढ़ हो चली। सभी शरीर गोलसे लम्बोतरे हो चले फिर आवश्यकतानुसार टांगोंकी रचना हुई। मछलियोंके पूँछ और पर और पक्षियोंके भी पूँछ और पङ्ख हुए। इस प्रकार गतिकी इन्द्रियां बनीं। यह क्रम विकासवादके अनुसार है। परन्तु यहां विज्ञान यह नहीं बताता कि भोजनादिकी इच्छा क्यों हुई। पुराण इसका कारण देता है छठी अविद्याकी सृष्टि जिससे भोगेच्छा प्रबल हुई। इस प्रकार पुराणोंके क्रमसे आधुनिक विकासवादका ऐसा मेल है कि जान पड़ता है कि मानों विकासवादके किसी प्राचीन रूपका पुराणोंमें अस्पष्ट अनुवाद है।

(११) पुराणोंके अलौकिक शरीर और जीवन

नारायणके शरीरका जैसा वर्णन है, वैसा ही मार्कंडेयजीका प्रलयका दृश्य दिखानेवाली कथामें भी हैं परन्तु कुछ थोड़ा सा अन्तर है। प्रलयके महा समुद्रमें बटके पत्तेके ऊपर एक नवजात शिशु सो रहा है। नाल और खेड़ी भी है। यह नाभि पद्मका प्रत्यक्ष सूक्ष्म रूप है। यह रूप प्रत्येक बालककी उत्पत्तिमें देखा जाता है। परन्तु नारायणका शरीर जो विश्वमें प्रसरित है इतना विशाल है कि ब्रह्मा भी उसे देख नहीं सकते। इसीलिए ब्रह्माजीको भी ध्यान-में ही वह शरीर दिखाया जाता है। बैबिलमें भी यह लिखा हुआ है कि भगवानने मनुष्यका रूप अपने ही अनुरूप बनाया। यदि भगवानका यही रूप है तो आज भी मनुष्य ठीक उसी अनुरूप बना करता है। नारायणका वह विशाल विराट शरीर किस पदार्थका बना हुआ है यह कहा नहीं जा सकता। यद्यपि वैज्ञानिक इस बात का निश्चय कर चुका है कि जीवनके लक्षण धातुओं और उद्भिज्जोंमें भी मौजूद हैं। कोई पदार्थ ऐसा नहीं हैं जिसमें जीवन या चेतना किसी न किसी रूपमें रह न सके, जीवनका आरम्भ नीचेकी उन अन्तिम सीढ़ियोंसे होता है जिनपरसे स्थूल पदार्थमात्रका आरम्भ होता है, परन्तु वह अभीतक इतनी दूर तक जानेमें हिचकता है। ऐसा जान पड़ता है कि सर जगदीश बोसकी खोजों-के न्याय्य परिणामतक पहुंचनेमें वैज्ञानिक संसार-को अभी काफ़ी देर है। पुराणोंमें तो ऐसे शरीरोंकी चर्चा है जो शरीरधारीकी इच्छाके अनुसार अत्यधिक फैलकर बड़े हो सकते हैं और चाहें तो सुकड़कर अत्यन्त छोटे हो जा सकते हैं। अत्यन्त सङ्कोच और प्रसार वायव्योंके गुण हैं। जब धातुओं-तकके शरीर हो सकते हैं तब वायव्योंके भी कल्पना-में आ सकते हैं। हां, इतनी बात अवश्य है कि खनिजोंके शरीरमें व्यक्तित्वका प्रकाश नहीं हैं। इसी तरह व्यक्तित्वहीन वायव्य शरीरकी कल्पना चाहे हो भी परन्तु अभी तो व्यक्त वायव्य शरीर विकासवादी वैज्ञानिककी कल्पनामें नहीं आता—हाँ, आध्यात्मिक विज्ञान इसकी केवल कल्पना ही नहीं करता वरन् ऐसे पराभौतिक शरीरधारियोंकी अनेक परीक्षाएं कर चुका है और अध्यात्मविज्ञान की एक नयी शाखा ही बन गयी है। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि पुराणोंमें शरीर और मनसके विकासमें जो सूक्ष्म शरीरवालोंका वर्णन है वह उस समय अवश्य विकासवादके अनकूल पड़ जायगा जब पराभौतिक जीवन भी विकासवादके परिशीलनका विषय बन जायगा। उस दशामें भूलोकके सिवा, जो कि हमारा स्थूल संसार है, भुवर्लोक, स्वर्लोकतक विकास सम्बन्धी विचारके अन्तर्गत हो जायँगे। सर आलिवर लाजके रेमण्ड नामक ग्रन्थसे कुछ यह पता चलता है कि आध्यात्मिक खोजियोंने कुछ ऐसे लोकोंका पता लगाया है जो भुवः और स्वर्लोकके पौराणिक वर्णनोंसे मेल खाते हैं।

(१२) मन्वन्तर और प्रलयकी कथाएं

पुराणोंके अनुसार कल्पों और युगोंकी चर्चा हम कर चुके हैं। यह भी कह चुके हैं कि एक एक कल्प चौदह चौदह मन्वन्तरोंमें बँटा है। इस तरह हर एक मन्वन्तर कुछ ऊपर इकहत्तर चतुर्युगियोंका

होता है। हम वैवस्वत नामके सातवें मन्वन्तरकी अट्ठाईसवीं चतुर्युगीमें हैं। जब नित्यके संकल्पमें हम देशकालका निर्देश करते हैं तब हम अपने कलियुगको अट्ठाईसवाँ कहते हैं। कल्पके आरम्भसे हम चारसौ छप्पनवें कलियुगमें हैं। पुराणोंका ऐसा मत जान पड़ता है कि हर मन्वन्तरसे मनुष्यों-की एक नयी योनि चलती है। इसी तरह सभी प्राणियोंकी नयी योनियोंका आरम्भ होता है। यह भी पता लगता है कि हर मन्वन्तरके अन्तमें प्रलय भी होता है। इस तरह वर्त्तमान मन्वन्तरतक छः प्रलय हो चुके हैं। प्रत्येक दो प्रलयोंके बीचका काल ३० करोड़ बरसोंके लगभगका होता है। इसलिये पुराणोंके अनुसार वर्त्तमान जीवनकी सृष्टि पौने बारह करोड़ बरसों पहले हुई है। इस प्रलय और सृष्टिमें और ब्रह्माकी कल्पादिकी सृष्टिमें अन्तर है। वर्त्तमान वैवस्वत मन्वन्तरकी सृष्टिके पहलेवाले प्रलयकी कथा ही मत्स्यावतारकी कथा है। राजा सत्यव्रत तपस्या करते हैं। नदीकी एक बड़ी मछली छोटीको सताती है। छोटी राजाकी शरण आती है। राजा उसे कमंडलुमें डाल लेता है। वह बढ़ती जाती है और राजा कमंडलुसे घट, घटसे तालाब, तालाब-से नदी, नदीसे समुद्रतक ले जाता है। समुद्रमें विशालकाय मछली अपना रहस्य प्रकट करती है। वह भगवान् स्वयं हैं राजासे कहते हैं कि शीघ्र प्रलय होगा जब जल धरतीको डुबा लेगा तब तुम्हारे पास पृथ्वी नाव के रूप में आवेगी। तुम सप्तर्षियोंको और संसार के सभी प्राणियों का एक एक जोड़ा लेकर सवार होना। फिर मैं प्रकट हूँगा तो धरतीको मेरे सींगसे बांध देना। मैं सुरक्षित रखूंगा। तुम्हीं वैवस्वत मनु होगे और सप्तर्षियों और साथके प्राणियोंसे आगेकी सृष्टि रचोगे। ऐसा ही हुआ। राजा सत्यव्रत ही वैवस्वत मनु हुए। जैसी कथा वैवस्वत "मनुः" की कही गयी है लगभग उसी तरह-की कथा बैबिलमें नूह वाली भी है। मनुः और नूः मिलते हुए शब्द हैं। इसी तरहकी कथा यूनानियों के पुराणमें डयूकालियनकी भी है। विकासवादी भी प्रलयकी कथा कहते हैं। परन्तु उनका प्रलय जलका नहीं है। हिम प्रलय है। यह बड़े कुतूहलकी बात है कि प्रालेय संस्कृतमें हिमको ही कहते हैं क्योंकि शायद हिम ही प्रलयका पदार्थ है। वैज्ञानिक तो केवल तीन हिमप्रलयोंकी चर्चा करता है। हर हिमप्रलयके बाद पहलेकी बची खुची प्राणिसृष्टिसे दूसरीबार फिर उसी तरहकी प्राणि-सृष्टि होती है। हां, प्रत्येक प्रलयके पीछे किसीका तो ह्रास होता है और किसीकी वृद्धि, कोई प्राणी एकदम बढ़ जाता है, उसकी सभ्यता औरोंको दबा कर उभरती है, और किसी उन्नतिकी चरमसीमाको पहुँचे हुए प्राणीका लोप हो जाता है।

प्रोफेसर रेलेने रश्मिशक्तित्वके विचारसे जीवन-का भूतलपर आरंभ एक अरब बरस पहले माना है। मन्वन्तरोंकी परिभाषामें यही बात हम यों कह सकते हैं कि रेलेके अनुसार भूतलपर जीवनारंभ वर्त्तमान श्वेत वाराहकल्पके तीसरे उत्तम मन्वन्तरके सत्रहव त्रेतायुगमें हुआ।

इसी प्रकार वैज्ञानिकोंके अन्तरोंका अनुमित काल पुराणोंके अन्तरोंके दिये हुए कालोंका लगभग आधा सा ही पड़ता है।

विकासवादियोंके भी महायुग और मन्वन्तर हैं जिसे अंग्रेजीमें एज कहते हैं उसे हम कल्पांश कहेंगे। एराको मन्वन्तर और पीरियड को विकासान्तर कहेंगे। मन्वन्तर कहनेका एक विशेष प्रयोजन है। पुराणोंमें सृष्टिके विकासमें मनसके विकासको ही मुख्यता दी है और उसके विकासका अन्तिम परि-णाम है मनन-शील मनुष्य आजकलका विकासवादी भी मनसके ही विकासको प्रधानता देता है, परन्तु शरीरके विकासका इतने विस्तारसे परिशीलन हुआ है और हो रहा है कि एराके विभागोंके नाम शरीर-स्थ जीवनके विभागोंसे रखे गये हैं। मेरी रायमें इस तरहका नामकरण समीचीन नहीं है। विकास-की प्रधानता मनसकी है, इसीलिये मन्वन्तर ही कहना ठीक है। अब वैज्ञानिक कालक्रम सुनिये।

पहले तो इस ब्रह्मांडको रचना, धरतीका ठंढा होना,

वैज्ञानिक मन्वन्तर

प्रारम्भिक कल्पांश—ब्रह्मांड, पृथ्वी और वायु जल-थल बने।

पहला मन्वन्तर—धरती पर जीवानारम्भ, काई, शैवाल, बेरीढ़के प्राणी शंखादि।

प्रलय ?

दूसरा मन्वन्तर—सागरीय जीवन—रीढ़वाले प्राणी स्थलचर, उभयचर छोटे। रेंगनेवाले जीव। कीड़े मकोड़े घास।

प्रलय ?

तीसरा मन्वन्तर—व्याल, महाव्याल, शार्दूल, महापक्षी, महावनस्पति, फूलवाले पौधे, प्राचीन पिंडज।

प्रलय ?

चौथा मन्वन्तर—विकसित पिंडज, विकसित पौधे, पक्षी, आदिम मनुष्य।

प्रलय ?

पांचवां मन्वन्तर—वर्त्तमान मानवी सभ्यता, अबसे पांच लाख बरससे लेकर अस्सी लाख बरसतक (पिछले महायुगके सतयुगके आरम्भतक)

वायु मंडल और जलमंडलका निर्माण, महाद्वीपों और महासागरोंके स्थलका निर्माण, इतना काम तो आरम्भिक कल्पांशमें हुआ। फिर पहले मन्वन्तरमें धरती पर जीवनका आरम्भ हुआ और बेरीढ़के प्राणी हुए और बढ़ चले। दूसरे मन्वन्तरमें समुद्र बस गया और आदिम मछलियां पैदा हुईं, फिर छोटे और सूक्ष्म स्थलचर उत्पन्न हुए, फिर उभयचरोंकी बारी आयी, फिर कीड़े मकोड़े और पेटके बल रेंगनेवाले प्राणियोंका आरम्भ हुआ और बढ़े। तीसरे मन्वन्तरमें महाव्यालोंकी उत्पत्ति हुई फिर शार्दूलों और पक्षियोंका काल आया इसीके बाद बड़े कीड़े मकोड़े, फूल देने वाले पौधे, और प्राचीन युगके पिंडज उत्पन्न हुए और बढ़े। चौथे मन्वन्तरमें अधिक विकासवाले पिंडज पैदा हुए और बढ़े। इसीके पीछे मनुष्यकी पैदाइश हुई और उसका विकास हुआ इस आदिम मनुष्यका प्रायः प्रलयमें अन्त हो गया और पांचवें अर्थात् वर्त्तमान मन्वन्तरके आरम्भमें जो अन्तिम प्रलयके बाद हुआ फिरसे मानवी सभ्यताका आरम्भ हुआ जो अबतक चल रही है। विकासवादीको पहले मन्वन्तरके बाद वाले प्रलयका पता नहीं है। उसके सिवा तीन प्रलयोंका पता लगता है और अन्तिम प्रलयका तो निश्चय ही है। मत्स्यपुराणवाला प्रलय भी अन्तिम ही है और वैज्ञानिक प्रलय से उससे इतना भारी सामंजस्य है कि पुराण पौने बारह करोड़ बरस पहले उसका काल बताता है और विज्ञान तेरह करोड़, दूसरे यह कि पुराण जलप्रलय कहता है और विज्ञान हिम प्रलय परन्तु हिम प्रलयमें हिमकी प्रधानता मात्र है। जलका अभाव नहीं कहा जाता। परन्तु यही दोनों बातें मेलवाली हों सो नहीं है। आगेका सृष्टि-क्रमभी मिलता है। जिस ढंगसे विज्ञान स्वयं अपना विकास करता आया है उससे हमें तो आशा होती है कि पौराणिक और वैज्ञानिक वर्णनोंका रहा सहा अन्तर भी मिट जायगा और दोनोंके मन्वन्तर भी मिल ही जायँगे।

१३—उपसंहार

पुराण हिन्दू धर्म्मके विश्वकोष हैं, कथा और प्रश्नोत्तरके रूपमें हैं। यह किसी विशेष विषयको वर्णन करनेके लिये नहीं बने हैं। इनमें वह कथाएं हैं जो परम्परासे लोग सुनते आये हैं। कथा प्रसंगसे दुनियां भरके विषयोंकी चर्चा है। एक एक पुराण एक एक युनिवर्सिटी सरीखे हैं। अग्निपुराण भी अठारहोंमें से एक है। मेरी जानमें हिन्दू साहित्यका कोई प्रामाणिक विषय इसके अठारह हजार श्लोकोंसे छूट नहीं पाया है। ऐसी दशामें यह सहज ही समझा जा सकता है कि किसी विषयका विस्तारसे प्रतिपादन पुराणोंमें नहीं हो सकता। फिर भी बीजरूपसे अथवा संक्षेप या सार रूपसे सभी विषय मिलते हैं। कोई यहां इस पुराणमें एक रूपमें वर्णित है तो वहां दूसरेमें किसी और रूपसे। किसीके एक अंशका

वस्तार एकमें है तो दूसरे अंशका विस्तार किसी और पुराणमें है। किसी सिलसिलेसे हो तो साधारण पढ़नेवालेको सुभीता हो। इसीलिये सृष्टि और प्रलयका वर्णन यदि अनुशीलन करना हो तो सभी पुराण पढ़िये और केवल हिन्दू पुराण नहीं। अन्य जातियोंके भी पुराण पढ़िये। यह विचित्र बात दीखती है कि संसारके सभी पुराण सृष्टि और प्रलयकी कथा जरूर कहते हैं, परन्तु बात असल यह है कि जैसे जन्मसे पूर्व और मरणके बाद क्या होता है यह जाननेका कुतूहल मनुष्यमें स्वाभाविक है उसी तरह जगत्की सृष्टि और प्रलयकी कथा जाननेकी भी मनुष्यमें उत्सुकता रहती है। आधुनिक विकासवाद स्वयं इसी उत्सुकताका फल है। विज्ञानके परिशीलनकी विधि अत्यन्त विकसित और समुन्नत होनेके कारण विकासवाद उन तथ्योंका सच्चा अनुमान करनेमें समर्थ हो रहा है जो इतिहासके विद्वानोंके मस्तिष्क और ज्ञानके बाहरकी चीजें हैं। परन्तु जहाँ विकासवादसे पुरानी सुनी सुनायी कथाओंका समर्थन होता है वहाँ यह अवश्य अनुमान करना पड़ता है कि इन कथाओंमें कोरी कपोलकल्पना नहीं है। साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि अनेक मुखोंसे इन कथाओंकी यात्राके कारण इनके सच्चे और मौलिक रूपमें बहुत कुछ परिवर्त्तन हो गया होगा। इनके मूलरूपों और प्रकृत तथ्योंका पता लगानेके लिये और कथाओंके वास्तविक रूपोंको समझनेके लिये आस्तिकतापूर्वक भी आधुनिक विज्ञानकी सहायता लेनी पड़ेगी। पुराने फैशनके पंडित जो पच्छाँहको अपनी विद्यासे ही चोरी कर ले जानेका दोषी ठहराते हैं विज्ञानकी नितान्त अनभिज्ञतासे इन ज्ञान कोषोंका ठीक मूल्य नहीं आंक सकते और नये फैशनके युनिवर्सिटीके विद्वान् पुराणोंको गपोड़ा और कपोल कल्पना समझकर उनकी ओर फूटी आंखों भी देखनेकी जरूरत नहीं समझते। परन्तु दोनों ही गलतीपर हैं। आजकलके सच्चे वैज्ञानिककी प्रवृत्ति तो यह है कि वह एक मिट्टीके ढेलेको भी अनुशीलन और गौरवकी दृष्टिसे देखता है और उसमें विज्ञानके बड़े अगम, दुर्गम और दुरूह सिद्धान्तोंको उसी तरह छिपा पाता है जिस तरह उपनिषत् का ऋषि एक बीजके भीतर जहां शिष्यगण कुछ नहीं देखते थे,एक हरा भरा फलोंसे लदा विशाल वृक्ष देखता था।

इसलिये पुराणोंके अनुशीलनके लिये मैं वैज्ञानिकोंका ध्यान विनय पूर्वक आकृष्ट करता हूं। अकेले सृष्टिवादको जांचने समझनेके लिए रसायन विज्ञान, भौतिक विज्ञान, जीव विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, प्राणि विज्ञान, शरीर विज्ञान, ज्यौतिष आदि आधुनिक विज्ञानोंके विशेषज्ञ होनेकी आवश्यकता है। देशकाल और वस्तुकी विचित्र कथाएं हैं जिनका यथार्थ तत्व शायद ऐंस्टैन के सापेक्षवादसे ही जाना जा सके। मैंने विज्ञानका भी अत्यल्प अध्ययन किया है और पुराणोंको भी थोड़ा ही देखा है। जीवन में गुरुसे रहस्योंकी बातें पढ़ने और विद्वानोंके साथ बैठकर विचार करनेका अवसर नहीं मिला है। मैंने अपने जैसे तैसे विचारोंकी भी आज आप लोगोंके समक्ष एक बाह्यरेखा ही रखी है और इस बाह्य रेखाको ही दिखानेमें आप सबको थका डाला है। इस नीरस विषयको विद्वानोंके सामने रखनेका प्रयोजन यही है कि पुराणोंका वैज्ञानिक दृष्टिसे आप लोग अनुशीलन करें और उसका फल मेरे जैसे अल्पज्ञोंकी मनस्तुष्टिके लिये दें। आपने जो इतने मनोयोग और धैर्य्यसे सुना है इसके लिये मैं आप लोगोंका कृतज्ञ हूं और इतनी देरतक बैठालनेके लिये क्षमा प्रार्थी हूं।

विज्ञान परिषद् का वार्षिक अधिवेशन

विज्ञान परिषद् का वार्षिक अधिवेशन शुक्रवार ११ नवम्बर सन् १९३२ को ३ बजे सायंकाल राय बहादुर लाला सीताराम B. A. M. R. A. S. के सभापतित्व में प्रयाग विश्वविद्यालय के फिजिक्स लेक्चर थिएटर में हुआ। मंत्री ने निम्नलिखित वार्षिक विवरण पढ़ा।

वार्षिक रिपोर्ट

"श्रीमान् सभापति महोदय,

विज्ञान परिषद के स्थापित हुए आज लगभग १८ वर्ष हुए हैं। पहले ५ वर्षों में पुस्तकें भी निकलीं और विज्ञानका निकालनाभी आरंभ किया गया। इसके बाद वार्षिक रिपोर्टमें तो आये वर्ष हम लोगोंके काम का इतना वृत्तान्त नहीं रहता है जैसा कि हमारी कठिनाइयों का वर्णन रहता है। आये वर्ष कठिनाइयां बढ़ती ही जाती हैं। यदि पुस्तकों का प्रकाशन बन्द करें तो करें क्या? परिषद् की स्थिति से जनता को क्या लाभ? यदि प्रकाशन करें तो कैसे करें? आये साल आमदनी कम ही होती जाती है!

इस वर्ष के आय-व्यय के ब्यौरे से ज्ञात होगा कि पुस्तकों की बिक्री से अब भी आमदनी कुछ बुरी नहीं होती परन्तु और अन्य मदों में आमदनी घटती जाती है और अब पुस्तकों से आमदनी कैसे होगी जब पुस्तकें छपवाई नहीं जावेंगी। विज्ञान प्रवेशिका भाग १ और २ जो अच्छी संख्या में प्रत्येक वर्ष बिक जाया करती है अब बिलकुल नहीं है। ताप कई वर्ष से नहीं था इसलिए ज्यों त्यों कर के उसको पिछले साल छपवाया गया।

धनाभाव के कारण ही तो विज्ञान का आकार कम करना पड़ा। अब छः फर्मके बदले ४ ही फर्मका निकाला जाता है। यह सच है कि लिखनेवालों की भी कमी रहती है, और हमारे सम्पादक श्री सत्यप्रकाशजी को जिनके प्रयत्नों से विज्ञान जीवित चला जाता है सदैव शिकायत रहती है कि लेख नहीं मिलते, परन्तु मेरा अनुमान है कि यदि परिषद् कुछ रुपया पत्रिकाओं पर खर्च कर सकती और कुछ लेखकोंको पुरस्कार के रूप में दे सकती तो शायद लेखों की कमी न रहती परन्तु ऐसा करना परिषद की आर्थिक स्थिति को देखते हुए संभव नहीं।

इनही कठिनाइयों के कारण कौन्सिल ऐसा विचार कर रही है कि विज्ञान के प्रकाशन का काम किसी प्रकाशक को दे दिया जावे। यदि ऐसा प्रबन्ध हो जावे तो विज्ञान निकालने में जो घाटा होता है उससे छुटकारा हो जावे और जो रुपया आज कल घाटे के रूप में जा रहा है, किसी अन्य काम में लगाया जा सके।

हम गवर्नमेण्ट के बड़े कृतज्ञ हैं कि जिनकी सालाना सहायता से हमारा काम थोड़ा बहुत बराबर चला जाता है। हमने कई बार सहायता बढ़ानेके लिए प्रार्थना की परन्तु वहां से यही उत्तर मिला कि जब रुपया होगा प्रार्थना पर विचार किया जावेगा। उनके यहां भी धन का अभाव ही है।

अब तक जैसे तैसे काम चलाया गया और आशा है कि चलाया जावेगा परन्तु जो सज्जन यह चाहते हों कि काम अधिक किया जावे उनसे प्रार्थना है कि किसी प्रकार तो हमारी सहायता करें।"

× × ×

तत्पश्चात् श्रीरामदास गौड़ M. A. ने पौराणिक सृष्टि और विकासवाद पर व्याख्यान दिया जो इसी अंक में छापा जाता है।

आय निम्नलिखित रही

ग्राहकों से चन्दा	२१९॥-)
सभ्यों से चन्दा	३०५॥)
पुस्तकों की बिक्री	१६८॥)५
गवर्नमेंट से	६००)
विज्ञापन से	३०)
फुटकर आय	१२॥=)६
	१३३६।=)११

खर्च निम्नलिखित रहा

टिकट	८७॥।-)
तन्खाह क्लर्क	८८=)
विज्ञान की छपाई	९४२॥-)९
रिप्रिंट	३१।=)
कागज	१६३॥।=)६
ब्लाक बनवाई	१६॥।)६
जिल्द बँधाई	११।=)
फुटकर व्यय	१९॥।-)३
	१३५४।=)६

निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत हुए—

वार्षिक विवरण स्वीकार किया जावे और अगले साल के लिए निम्नलिखित पदाधिकारी चुने जावें।

यह अधिवेशन पं० वंशलाल पांड़े के लिए कृतज्ञता प्रगट करता है कि जिन्होंने परिषद् के हिसाबों की जाँच की है।

आगामी वर्ष के पदाधिकारी

सभापति

डाक्टर नीलरत्नधर डी. एस-सी. प्रयाग विश्व-विद्यालय

उप सभापति

डाक्टर शिखिभूषण दत्त० डी० एस-सी० प्रयाग विश्वविद्यलाय

प्रधानमंत्री

प्रो० सालिगराम भार्गव एम० एस-सी० प्रयाग विश्वविद्यालय

मंत्री

प्रो० ब्रजराज एम० ए०, बी० एस-सी०, एल-एल० बी०, कायस्थ पाठशाला कालेज इलाहाबाद

कोषाध्यक्ष

डाक्टर सत्यप्रकाश डी० एस-सी०, दयानिवास, प्रयाग

स्थानीय सदस्य

(१) डाक्टर श्रीरञ्जन एम० एस-सी०, पी० एच० डी० प्रयाग विश्वविद्यालय

(२) पण्डित कन्हैयालाल भार्गव रईस इलाहाबाद

(३) डाक्टर एच० आर० मेहरा पी-एच-डी० प्रयाग विश्वविद्यालय

(४) प्रो० गोपाल स्वरूप भार्गव एम० एस० सी० कायस्थ पाठशाला कालेज प्रयाग

अन्य-स्थानीय सदस्य

(१) डाक्टर एन० के० सेठी डी० एस-सी० आगरा

(२) बाबू महाबीर प्रसाद श्रीवास्तव बी० एस-सी० एल० टी० विशारद बलिया

(३) प्रोफेसर रामदास गौड एम० ए० बनारस

(४) प्रोफेसर पी० एस० वर्मा एम० ए०, बी० एस-सी०, एफ० सी० एस० हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस

(५) प्रिंस्पल हीरालाल खन्ना, एम० एस-सी० कानपुर

समालोचना

दरिद्रनारायण का विजयांक वार्षिक मूल्य २) इस अंक का मूल्य ।।) पता—प्रबन्धक दरिद्रनारायण कालाकांकर अवध ।

श्रीयुत वचनेशके सम्पादकत्वमें दरिद्रनारायण नामका एक सचित्र मासिक पत्र प्रकाशित होता है। इस अंकमें पहला लेख महात्मा गान्धी का ईश्वरास्तित्व विषय पर बड़ा ही महत्वपूर्ण है और बड़े बड़े विद्वानोंके राष्ट्रीय दृष्टिमें रामायण, रामदलके बानर कौन थे, तम्बाकू, ग्राम्य संघटन, गाय, "तमसोमा ज्योतिर्गमय" आदि लेख बड़े ही रोचक और प्रभावशाली हैं। मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, सुमित्रानन्दन पंत, सोहनलाल द्विवेदी इत्यादि कवियोंकी कविताएँ हैं तथा एक दर्जनसे अधिक चित्र हैं। इस विजयांकके देखनेसे प्रतीत होता है कि यह एक समयोपयोगी और सर्वोपयोगी मासिक पत्र है। आशा है, इसका खूब प्रचार होगा।

—कृष्णानन्द

मुद्रक—शारदा प्रसाद खरे, हिन्दी-साहित्य प्रेस, प्रयाग।

पूर्ण संख्या— २१३

Approved by the Directors of Public Instruction, United Provinces and Central Provinces for use in Schools and Libraries. Reg. No. A. 708.

भाग ३६ VOL. 36.

धन, संवत् १९८९

दिसम्बर १९३२

संख्या ३ No. 3

प्रयागकी विज्ञान परिषत्‌का मुखपत्र

'VIJNANA' THE HINDI ORGAN OF THE VERNACULAR SCIENTIFIC SOCIETY, ALLAHABAD.

अवैतनिक सम्पादक

ब्रजराज एम. ए., बी. एस-सी., एल-एल. बी.,

सत्यप्रकाश, डी. एस-सी., एफ. आई. सी. एस.

प्रकाशक

वार्षिक मूल्य ३)] विज्ञान परिषत्, प्रयाग [१ प्रतिका मूल्य ।)

विषय-सूची

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥ तै० उ० ।३।५॥

भाग ३६ | वृश्चिक, संवत् १९८९ | संख्या २

प्रकाश की उपयोगिता

(गतांक से आगे)

[लेखक—श्री वा० वि० भागवत, एम० एस-सी०]

खनिज पदार्थों को पहचानना:—कुछ खनिज पदार्थों पर पराकासनी किरणों का असर नहीं होता, लेकिन कुछ में चमक और कुछ में दमक दिखाई पड़ती है। इस तरह से हम एक खनिज को दूसरे से अलग कर सकते हैं तथा यदि कोई नया खनिज पदार्थ मिला हुआ हो तो उसका अस्तित्व भी मालूम कर सकते हैं। कुन्भाइट खनिज का अन्वेषण इसी प्रकार से यानी पराकासनी प्रकाश की सहायता से हुआ। बहुत से खनिज पदार्थ जो मालुम थे पराकासनी प्रकाशसे न तो दमक और न चमक बतलाते थे। किन्तु जब इन को प्रकाशित किया तब चमक दिखाई पड़ी। तुरन्त एक नये खनिज का अस्तित्व मालुम हुआ और उसका अन्वेषण कुन्भ वैज्ञानिक ने किया। इसी लिये उसको कुन्भाइट नाम प्राप्त हुआ।

हीरा अच्छा है या खराब यानी कौनसा हीरा अधिक मूल्य का है यह भी पराकासनी प्रकाशकी सहायता से मालूम होता है। इस प्रकाश के साथ हीरे दमक बतलाते हैं। जिस हीरे से अधिक दमक पायी जाती है वह मूल्यवान् समझा जाता है। यदि दो या अधिक खनिज आपस में मिले हुये हों तो हम इसी प्रकाश से अलग कर सकते हैं। आज कल इसी विधि को व्यवहार में लाया गया है। पहिले खनिज को पीस डालते हैं और बाद में इसको पराकासनी प्रकाश से प्रकाशित करते हैं। एक विभाग चमक बतलाता है और दूसरे पर कुछ असर नहीं होता और अब यह जानकर एक खनिज को दूसरे से अलग कर देते हैं। इन सब विचारों से यह स्पष्ट है कि पराकासनी किरणों को

हम खनिज पहचानने के लिये कार्य में ला सकते हैं। और इस विधि को व्यवहार में लाने के लिये काफी क्षेत्र है।

चमकदार पेंटों की सहायता से हम रोशनी भी कर सकेंगे। यदि पेंटों में दमकदार गन्धिद मिला दिये जायं और फिर इन पेटों से पृष्ठभाग पोता जाय तो इसपृष्ठ भाग पर पराकासनी प्रकाश गिरने के बाद वह स्वयमेव प्रकाश बाहर फेंकेगा यानी दमक बतलायेगा। लेकिन यह विधि हम कहां तक व्यवहार में ला सकेंगे इसमें अभी सन्देह है।

न सूखने वाले तेलों का प्रकाशनः—सब तेल पराकासनी किरणों से सूखते हैं ऐसा नहीं है। न सूखने वाले तेलों को प्रकाशित करने से उनकी गन्दी बास नष्ट होती है तथा उनका स्वाद भी अच्छा लगता है। प्रकाश से तेलों का रंग भी नष्ट होकर वे सफेद दीखते हैं। इस कार्य के लिये सूर्य प्रकाशसे पराकासनी प्रकाश अधिक उपयुक्त है। एलिस ने यह देखा कि इस प्रकाशसे कुछ कुछ तेलोंका संघट्टभवन होता है और उनका अणुभार बढ़ता है।

तेलों का उदजनीकरण (hydrogenation) उदजनीकरण क्रिया में पराकासनी किरणोंका भी उपयोग हो सकता है। वाल्टर ने उदजनीकरण करते वक्त तेल को फैलाकर और उत्प्रेरक के साथ मिलाकर पराकासनी प्रकाश से प्रकाशित किया। यदि उदजनीकरण तेलों में अनुदजनी करण तेल मिलाया हुआ हो तो उसको हम पहचान सकते हैं। यदि अनुदजनीकरण तेलों को पराकासनी किरणों से प्रकाशित किया जाय तो उनका संघट्टभवन होता है, किन्तु उदजनीकरण तेलों में कुछ भी फरक नहीं होता। कुस्टीस कहता है कि, ओलिकाम्ल के उदजनीकरण पर पराकासनी प्रकाश का कुछ भी असर नहीं होता।

पेट्रोलियन तेल और रेज़िनः—पेट्रोलियम तेल यन्त्रों को लगानेके काम में आते हैं। उनमें असंपृक्त यौगिक होने से वे चिपक जाते हैं। ऐसे तेलों को पराकासनी प्रकाशमें रखने से उनमें सुधार होता है, क्योंकि असंपृक्त तेल जो कि, उनमें होते हैं उनका पराकासनी प्रकाशसे संघट्टभवन होता है। ग्रे ने इस प्रकार के तेलों को ५०° से १२०° डिग्री तक के तापक्रम पर रखा और उसमेंसे हवा का प्रवाह शुरू किया। बादमें उसने उनको पराकासनी किरणों में रखा। इस प्रकार से फीसदी ७५ विभाग का परिवर्तन हुआ। ज्यादातर उदकर्बन यौगिकों में ही परिवर्तन हुआ। गटापर्चा कंपनी अपना पेट्रोलियम तेल इसी प्रकार से बनाती है। पहिले तेल को उत्प्रेरक के साथ मिलाकर उसको फव्वारेके स्वरूप में एक कमरे में छोड़ते हैं और इस कमरे को पराकासनी किरणों से प्रकाशित किया जाता है।

रेज़िन का रङ्ग नष्ट करने के लिये पराकासनी किरणों को कार्य में लाते हैं तथा अस्फाल्ट शील की घुलनशीलता भी इस प्रकाशन से हम कम कर सकते हैं। पेंट तथा वार्निश लगाते वक्त पहिले उनको तेलमें घोलेना पड़ता है। राह्म ने तेल की जगह एक अन्य चीज बतलायी है कि जिसमें पेंट या वार्निश घुल सकते हैं। संघट्टभवन पाया हुवा अक्रिलिकाम्लका मद्यलवण लेकर उसको सिरकोन या अन्य घोलकमें मिलाते हैं। बाद में उसको पराकासनी प्रकाशसे प्रकाशित करते हैं। इस प्रकाशनसे वह मद्यलवण पारदर्शक हो जाता है तथा बिलकुल रङ्गहीन भी होजाता है और घोलक में घुल जाता है। अब हम इस घोल को तेलोंकी जगह पेंट या वार्निश घोलने के लिये कार्यमें ला सकते हैं।

रबरः—रबर को गरम करके उसमें गन्धक मिलानेकी क्रियाको वलकेनायजेशन कहते हैं। यह क्रिया हम पराकासनी प्रकाशसे भी कर सकते हैं यह बात १९०९ में विक्टर हेन्रीने बतलायी। इस वलकेनायजेशनके वास्ते रबरको बानजावीन या वनीन (xylene) में घोलते हैं, और इसी घोल में गन्धक भी मिलाया हुआ रहता है। बाद में इस घोल को धातु के पत्रों पर फैला कर

बाद में पराकासनी किरणों से प्रकाशित करते हैं। थोड़ी ही देर में रबर का वलकनायजेशन हो जाता है। वलकेनायजेशन के साथ इस प्रकार से रबर का असंघट्टभवन भी होता है, ऐसा भी देखा गया है। ऐसा समझा गया है कि, जब हवा नहीं रहती यानी सब हवा को निकाल देते हैं तब पराकासनी किरणोंसे गन्धकका गन्धकाजीवोन (Thiozone) मे परिवर्तन होता है तथा कुछ ओषोन भी पैदा होता है। और इन ओषोन और गन्धकाजीवोन से फिर रबर का वलकनायजेशन होता है। पराकासनी किरणोंसे रबर का प्रकाशोषदीकरण होता है। इसीलिये गुब्बारा बनाते वक्त बाहर से द्विदारील अमिनो दारील कुमारिन लगाते हैं, जिससे पराकासनी प्रकाश का शोषण हो जाता है और गुब्बारे की रबर पर कुछ असर नहीं होता। काजल को भी इसी कार्य में ला सकते हैं। क्योंकि पराकासनी प्रकाश उसमें से बिना शोषित हुये जा नहीं सकता।

कागज तथा कपड़ों पर पराकासनी प्रकाश का असर

यदि पराकासनी प्रकाश को नोट पेपर पर या रङ्गहीन सूत पर गिरने दिया जाय तो उसका दृश्य प्रकाश में परिवर्तन होता है। इस अनुभव को हम कागज का स्वरूप तथा भिन्न भिन्न जाल के सूतों का स्वरूप पहचानने के काम में ला सकते हैं। जब कागज पर जिलेटिन केसीन या अन्य प्रोटीन पदार्थ लगाते हैं तब पांशुज या सैन्धक द्विरागेत लगाने के बाद पराकासनी किरणों से प्रकाशित करने से प्रोटीन नहीं घुलता। इस तरह से कागज मजबूत तो होता ही है किन्तु अब इस कागज के अन्दर पानी भी नहीं आ सकता।

यदि बिना साफ किये हुये कपड़े लिये जाँय तो उन पर पराकासनी प्रकाश का इतना असर नहीं पड़ता, जितना घुले हुवे तथा रंगहीन और सफेद कपड़ों पर होता है। गाढ़े कपड़े के या खद्दर के कपड़े के पृष्ठ भाग पर ही पराकासनी किरण का शोषण हो जाता है और इसी लिये अन्दर के भाग पर कुछ असर नहीं होता। लेकिन बिलकुल साफ दीखने वाले कपड़ों के अन्दर भी पराकासनी प्रकाश जा पहुँचता है और उनको जल्द नष्ट करता है। कपास के कपड़ों से रेशम के कपड़ों पर सब से ज्यादा असर होता है तथा कंबल पर या ऊन के कपड़ों पर प्रकाश का बहुत ही कम असर होता है। कृत्रिम रेशम पर प्रकाश का इतना परिणाम नहीं होता जितना कपास के कपड़ों पर होता है। रेशम और कृत्रिम रेशम पर २००० अंसे नीचे की किरणोंका अधिकतर परिणाम होता है। यह देखागया है कि ऊनके कपड़े पराकासनी किरणों से या सूर्य प्रकाश से कमजोर नहीं होते। प्रकाश से कपड़ों का ओषदी करण होता है और इसी लिये वे प्रकाशन के बाद कमजोर होते हैं ऐसा समझा जाता है। इस ओषदीकरणके लिये हवा या ओषजन की जरूरत है।

यदि ऊनको कुनोन घोलसे धोया जाय तो इसका रङ्ग बैंजनीसा मालुम होता है। ऊन को पहिले पराकासनी प्रकाशसे प्रकाशित करो और फिर कुनोनके घोल से धोवो। अब ऊन का रङ्ग पीला मालूम होता है। इन दोनों प्रयोगों में जो भिन्नता है, उसकी सहायता से ऊन पर प्रकाश चित्र खींचे जाने की तरकीब निकाली गयी है। पार्चमेंट को प्रकाशित करने से चमक दिखाई पड़ती है लेकिन अन्य तरह का लिखा हुआ वैसाही काला मालूम होता है। इस तरह से चमक प्रकाश लेखन पुराने हस्तलिखित लेख पहचानने के काम में लाते हैं। जब हम पुराने फटे हुये वसीयत नामे प्रकाशलेखन से या रोञ्जन किरणों से पहचान नहीं सकते तब पराकासनी किरणोंका ही आश्रय लेना पड़ता है। ऐसे पुराने वसीयत नामों को गरम करके उस पर पराकासनी किरणों को नोषोसो द्विदारील नीलिन् छन्ने से जाने के बाद, गिरने देते हैं। जब वसीयतों परके अक्षर दमक बतलाते हैं और उनकी सहायता से हम उन अक्षरों को जान सकते हैं। यदि चित्रोंमे कुछ झुठाई हो तो वहभी इसी तरह मालूम कर सकते हैं। पुराने चित्रोंकी ज्यादा कीमत

होती है यह जान कर लोग पेंट या रङ्ग इस तरह से लगाते हैं कि तसवीर पुरानी मालूम हो। लेकिन यह पेंटींग कैनवस पर होती है। यदि तसवीर पुरानी हो तो कैनवसभी पुराना होता है। इसी लिये तसवीरके कैनवस को पराकासनी प्रकाश से प्रकाशित करके उसकी दमक से पुराना है या नया यह पहचान सकते हैं। इस तरहसे चित्रमें कुछ झुठाई हो तो मालुम हो जाती है।

प्रकाशनैलिनी करण:—टोल्विनके नैलिनी-करण से बानजील हरिद, बानजाल हरिद और बान-जोत्रिहरिद बनाते वक्त प्रकाशका उपयोग बहुत दिनों से किया जाता है। तथा इन हरिद यौगिकों के सलिली-करण से बानजाविकाम्ल, बानजावमद्यानार्द्र और बानजावमद्य तैयार करते वक्त भी प्रकाश की जरूरत है। क्लोरोफार्म तथा कर्बनचतुहरिद बनाते वक्त भी दारेन का नैलिनी करण करना पड़ता है और यह क्रिया प्रकाश से और भी सुलभतासे हो सकती है। नोषछिद्रोज (नायट्रो सेल्यूलोज)के वास्ते केलीलमद्यकी जरूरत रहती है, किन्तु जब अमेरिकामें मद्यपान का प्रतिबंध हो गया,और युद्धकेकारण केलीलमद्य मिलना कठिन हुआ तब किसी अन्य प्रकारसे उसके बनानेकी चिन्ता हुई। नवनीतेन, पंचेन,षष्ठेन आदिका नैलिनी करण करके उससे भिन्न भिन्नमद्य तैयार करने की कोशिशकी गयी और इस तरह केलील मद्य भी बनाना चाहे। इन खोजों से यह बात मालूम हुई कि नैलिनीकरणमें प्रकाश की उपयोगिता बहुत है।

मोट और बेडफोर्डने यह जानने का यत्न किया कि प्रकाशका भिन्न भिन्न लवणजन तथा उनके यौगिकों पर क्या परिणाम होता है। प्लविन और उसके यौगिकों पर प्रकाशका कुछ भी असर नहीं होता है। रजतम्के सब लवण प्रकाशसे उत्तेजना पाते हैं किन्तु रजत प्लविद इसका अपवाद है। गन्धक प्लविद पर भी प्रकाशका कुछ असर नहीं होता किन्तु गन्धकोषिद तथा गन्धकउदौषिद पर पराकासनी प्रकाशका तुरन्त परिणाम होता है। खटिक प्लविद पर तो पराकासनी प्रकाशका कुछ भी असर नहीं होता। पराकासनी प्रकाश उससे बिना शोषित होते हुये बाहर निकल आता है। यदि प्लविद्का र वा लिया जाय तो१२५० अं से बड़े किरण प्लविद यवन के द्वारा शो-षित नहीं होते यह देखा गया है। यानी यदि किसी भी प्लविद्का प्रकाशसे विश्लेषण होता हो तो परा-कासनी किरण प्लविद्के ऋणयवनोंके द्वारा शोषित होनी चाहिये। पर प्रकाशका शोषण होते हुये भी विश्लेषण होना ही चाहिये ऐसा नहीं है। प्लविन से अन्य लवणजनों पर प्रकाशका असर तुरन्त होता है और लवणोंका विश्लेषण प्रकाशमें अंधेरेसे अधिक पाया जाता है। हरिन् पर नीला, बैंजनी और पराकासनी प्रकाशका असर होता है और उसका शोषण चित्र पराकासनी किरण चित्रमें ही अधिक है। ३३८० अं प्रकाशका सब से अधिक शोषण होता है। रजत हरिद पर पराकासनी प्रकाशका परिणाम रजत अरुणिदसे अधिक होता है। किन्तु उद अरुणिकाम्ल का विश्लेषण, हरिकाम्लसे जल्द होता है। नैलिनका शोषण चित्र लंबी लहरोंमें हरिन और अरुणिनसे अधिक होने के कारण उसका विश्लेषण इन लम्बी लहरों से होता है। उद नैलिकाम्लका विश्लेषण इसी कारण नीले तथा बैंजनी किरणोंसे भी होता है। किन्तु केवल प्रकाश शोषणसे ही उदजनलवणोंका विश्लेषण किस तरह से होता है यह कहना मुश्किल है। प्रकाश शोषणसे लवणजन अणु परमाणुमें विभाजित होकर या उत्तेजित होकर प्रक्रिया होती है।

बेडफोर्ड तथा मोट की दारेनके हरिदीकरणकी पद्धति यहाँ दी जाती है:—यदि विद्युत्चापसे गैसों को प्रकाशित किया जाय तो दारेन का सात आयतन हरिन के एक आयतनसे संयुक्त होजाता है। प्रक्रियाकी गति पैदा होने वाले उदहरिकाम्लसे कम होजाती है। इसीलिये हरिन को पानीपर इकट्ठा करके फिर पानी में हरिनको जाने देते हैं। जो उदहरिकाम्ल अब तैयार होता है वह पानीमें घुल जाता है और प्रक्रिया की गति वही रहती है। जब यह प्रक्रिया होने दी और एक घन्टे में ३० घनफुट दारेन कार्य में लाया गया

तो उससे निम्न यौगिक पाये गये। दारीलिनहरिद, क्लोरोफार्म, कर्बनचतुर्हरिद, हरोज्वलेन । मोट और बेडफोर्ड ने यह देखा कि इस हरिनीकरण में पराकासनी किरणों की कुछ जरूरत नहीं है। टामकिन्सने कोलगैस (coal gas) का हरिनीकरण प्रकाशसे किया है। लीजर और जीफर के विचार से पराकासनी किरणोंसे दारेन और हरिन् को प्रकाशित करने के बाद दारील हरिद पाते हैं। संपृक्त उदकर्बन (hydrocarbons) के हरिनी करण के लिये ब्लैकने उत्प्रेरक तथा प्रकाश का भी उपयोग किया है। इस पद्धतिसे बानजावीन, टाल्वीन गेसोलिन, पेट्रोलियम आदिका हरिनीकरण होता है। इस पद्धतिमें वुल्फ्राम दीपसे ही कार्य लिया जाता है। यदि प्रक्रिया को एक बार पराकासनी किरणों से शुरू कर दिया जाय तो फिर वह दृश्य प्रकाश में भी चलती रहती है। ओकीमाका और साकाइने हरिनीकरणके लिये एक कमरा बनाया है, जिसकी एक बाजू काट्जकी बनी है। जीब्स और जीजर, ओलीवीअर, बेनराथ और हर्टेल, ली ब्लैंक और अन्ड्रीख आदिने भी इस प्रकाश हरिनीकरणके बारेमें काम किया है किन्तु इन सबोंके कार्यका उल्लेख यहां करना कठिन है।

प्रकाशकी उपयोगिता के बारेमें रसायन और औद्योगिक विभागके अध्यक्ष जे. ए. रीवेलने अप्रेल १९३० में यह कहा था:—

"With the development of x-rays and ultra-violet rays, another scientific instrument had been placed at the disposal of industry. X-rays were used in the manufacture of patent leather, the object being to toughen the varnish medium so that it formed a hard bright surface that would remain pliable. The application of this medium was being extended to artists' colours.

"A large number of organic and inorganic substances by absorption of ultra-violet light exhibited characteristic fluorescent colours, which property was made the basis of simple and rapid method for testing and identifying baterials. In the rubber industry ultra-violet rays might be used for checking the purity of zinc oxide, lithopone, oils, accelerators, etc-and for the detection of errors in mixing due to mistakes in the incorporation of the ingredients. Changes such as these produced by natural and artificial oxidation and ageing could also be detected rapidly, and systematically followed. In certain cases this method of analysis was useful where ordinary methods failed, as for example, in the detection of the addition of refined olive oil, soya bean oil, and other adulterants to the natural olive oil."

कार्बनिक रसायन का विस्तार भाग २

कार्बनिक रसायन का सैद्धान्तिक आन्दोलन

[लेखक श्री आत्माराम जी एम० एस-सी०]

पिछले भाग में यह बतलाया जा चुका है कि कार्बनिक यौगिकों के बनने का श्रेय मुख्य रूप से एक जीव सम्बन्धी शक्ति को जिसका नाम (Vitalis force) था दिया जाता था। इस सिद्धान्तके गलत होने का प्रमाण सब से पहिले फ्रेडरिक वोलर ने जिसका वृत्तान्त पिछले भाग में बतलाया जा चुका है मूत्रिया के संश्लेषण से दिया था परन्तु उस समय के हठी वैज्ञानिकों ने इस प्रमाण के विरुद्ध सैकड़ों अनहोनी बातें खड़ी कर दीं परन्तु इसके कुछ समय पश्चात् विश्व विख्यात फ्रांसीसी रसायनज्ञ मारसेला

बरथेलो ने (सिरकीलिन) का शुद्ध उदजन और कर्बन से संश्लेषण करके इस ग़लत सिद्धान्त की नीव जड़ से ही उखाड़ डाली । बस इस समय से यह माना जाने लगा कि कार्बनिक यौगिक भी अकार्बनिक यौगिकों की भांति प्रयोगशाला में बिना किसी जीव शक्ति की सहायता के बन सकते हैं। जिस समय का यह वृत्तान्त है उस समय रसायन का प्रमुख नेता बरज़ेल्यूस का लोहा रसायनिक संसार में माना जाता था। पाठकों को स्मरण होगा कि बरजेल्यूस ने ही सब से पहिले रसायनिक यौगिक की उत्पत्ति का कारण बतलाया। बरज़ेल्यूस को सर्वदा "क्यों" का उत्तर देने को बड़ी लालसा रहती थी। इसी कारण उसने अपने अमूल्य समयका अधिक भाग इस गवेषणा को सुलझाने में दिया। उसका कथन था कि प्रत्येक यौगिक में दो प्रकार की विद्युत होती है अर्थात् धनात्मक और ऋणात्मक। उसका पूरा सिद्धान्त पहिले ही भली प्रकार समझा दिया गया है और इसलिये यहां इतना ही कहना आवश्यक है। जब कि बरजेल्यूस ने अपने इस सिद्धान्त का कार्बनिक यौगिकों में प्रयोग करना आरम्भ किया तो अधिक सफलता प्राप्त न हुई। इस सिद्धान्त को सबसे बड़ा धक्का एक फ्रांसीसी नवयुवक अर्थात् डूमा के महत्वपूर्ण अनुसन्धान से लगा। इस अनुसन्धान से यह सिद्ध हो गया कि हरिन् जो कि बरजेल्यूस के अनुसार ऋणात्मक है उदजन को सिरकाम्ल जैसे पदार्थ में से हटा सकती है अर्थात सिरकाम्ल से हरो-सिरकाम्ल बन सकता है। यह बात बरज़ेल्यूस के सिद्धान्त के बिल्कुल विरुद्ध थी इसलिये बरजेल्यूस ने इसकी घोर समालोचना की और डूमा की एक न मानी। डूमा ने भी कार्बनिक रसायनके सैद्धान्तिक क्षेत्र में काफ़ी भाग लिया। उसके नाम पर अब तक Ethyl theory (ज्वलील सिद्धान्त) प्रसिद्ध है। डूमा ही के समय में उसके देश के निवासी दो व्यक्ति ऐसे उत्पन्न हुये कि जिनका नाम सर्वदा के लिये स्वर्ण अक्षरों में लिखा जाने योग्य है। कार्बनिक रसायन को सैद्धान्तिक उलझन से निकालने में जो भाग इन्होंने लिया वह शायद केक्यूले के अतिरिक्त और किसी ने नहीं लिया। इनका नाम था गरहर्ड और लोरें। परन्तु साथ ही साथ जितना अत्याचार इन दोनों पर उस समय के बड़े बड़े रसायनज्ञों ने किया उसका भी अनुमान लगाना कोई हंसी खेल नहीं है। फ्रांस में प्रत्येक वैज्ञानिक का पैरिस में कार्य्य करना एक गर्व की बात समझी जाती है। इसी कारण इन दोनों ने यह चाहा कि वहां चलकर कार्य करें परन्तु क्योंकि यह दोनों वैज्ञानिक समस्याओं में डूमा के विरुद्ध रहते थे इस कारण डूमा ने इन्हें कभी पैरिस में न घुसने दिया क्योंकि उस समय फ्रांस में उसका लोहा तप रहा था। परन्तु तब भी बेचारे दोनों रसायनदेवी की पूजा में तत्पर लगे रहे। इस छोटी सी भूमिका के पश्चात् डूमा, गरहर्ड, लोरें इत्यादि के जो इस समय के मुख्य रसायनज्ञ हैं अनुसन्धान दिये जायेंगे।

ज़ां बतिस्त आँद्रे डूमा
१८००—१८८४

डूमा का जन्म १८०० ई० में १४ जुलाई को ऐलेस में हुआ। १४ वर्ष की आयु होने पर एक अत्तार की दूकान पर नौकर हो गया परन्तु वहां अधिक समय न रहा। क्योंकि डूमा को केवल अपना समय इस प्रकार ही नहीं बिताना था बलिक उसके हृदय में वैज्ञानिक खोज की लालसा भरी हुई थी। डूमा एक दिवस पैदल ही जनेवा को जहां पर डेवला राइव जैसे महान पुरुष अध्यापक थे चलदिया। वहां पर ले रोयर की प्रयोग शाला में डूमा ने इतना उत्तम और महत्व पूर्ण कार्य किया कि वैज्ञानिक जगत् में उसकी धूम मच गई। यहां तक कि बरजेल्यूस ने भी उसके इस कार्य की अपनी वार्षिक रिपोर्ट में बड़ी प्रशंसा की और जिस समय अलेकजेन्डर वान हमबोल्ट जगत यात्रा से जनेवा में होकर जा रहा था तो इसने डूमा से भेंट की और उससे प्रसन्न होकर पेरिस चले आने का प्रस्ताव किया। बिल्ली के भागों छीका टूट पड़ा। डूमा तो यह चाहता ही थी कि कोई अच्छी प्रयोग शाला कार्य

करने को मिले तुरन्त पेरिस को प्रस्थान किया और १८२३ में फ्रांसकी राजधानी में अपना कार्य आरम्भ कर दिया। डूमा का सर्व प्रथम कार्य जिससे कि उसकी इतनी प्रशंसा हुई रक्त इत्यादि पर था इस कार्य के कारण डूमा को अब तक एक उच्च कोटिका प्रयोगिक रसायनज्ञ माना जाता है।

डूमा का सब से उच्च कोटि का प्रयोगिक कार्य जलके भारात्मक विश्लेषण पर हुआ। इसमें डूमा ने स्पष्ट रूप से दिखा दिया कि जल में उदजन और ओषजन का भार १:८ के अनुपात में होता है। इस कार्यको उस समय की प्रयोगिक चातुरी का मुख्य उदाहरण कह सकते हैं।

कार्बनिक यौगिकों में नोषजन की मात्रा निकालने का मुख्य श्रेय डूमा को ही है। अथवा उसने ही सर्व प्रथम इस कार्य को किया और उसकी रीति अब तक भिन्न भिन्न प्रयोगशालाओं में प्रचलित है। डूमा ने इसी के साथ २ वाष्पीय पदार्थों का वाष्प घनत्व निकालने की एक सुगम और ठीक रीति निकाली। डूमा के समय में तत्वों के मेल के प्रश्न पर वैज्ञानिकों की दृष्टि बड़े ज़ोर से आकर्षित होगई थी। और सब से गूढ़ प्रश्न तो यह था कि किस तत्व का कितना भार दूसरे से मिलता है इस प्रश्न का उत्तर सब से पहिले बरज़ेल्यूस के अनुसन्धानों से मिला।

बरज़ेल्यूस के ही समय में डूमा ने जो उस समय नवयुवक ही था, तत्वों के आपेक्षिकघनत्व पर एक महत्व पूर्ण लेख प्रकाशित किया। उसमें उसने प्रत्येक द्रवपदार्थ के वाष्प घनत्व दिये और साथ २ उससे पिछले कार्य की अशुद्धियां बतलाईं। उसको यह बात और सूझी कि जब कभी हम लोग अणु की बात चीत करते हैं उसमें सर्वदा भौतिक इकाई की ही झलक रहती है। ओषजन की एक मात्रा और उदजन की दो मात्राओं से भाप (जल) की एक मात्रा बन जाती है। इस बात का समझाने के लिये प्रत्येक तत्व का आपेक्षिक घनत्व निकालना आवश्यक था। इस प्रकार नैलिनका आपेक्षिकभार १२५.५ (उ=१) निकला जो बरज़ेल्यूस के परमाणु भार (१२३.२) से लग भग मिलता था।

फिर डूमा ने स्फुर और संक्षीणम् के आपेक्षिक भार निकालने आरम्भ किये क्योंकि वह पहिले ही इन तत्वों के हरिद और उदिद के आपेक्षिक घनत्व निकाल चुका था। उदाहरणतः स्फुर हरिद का आपेक्षिक घनत्व ४.८७५ (वायु= १) है और यह भी विदित था कि हरिन् के तीन और स्फुर के एक आयतन से स्फुर हरिद के दो आयतन बनते हैं परन्तु हरिन का आपेक्षिक घनत्व है २.४५। हरिन के तीन आयतन का भार स्फुर हरिदके दो आयतनोंमें घटा कर स्फुरके दो आयतनोंका रहेगा अर्थात्

$$२ \times ४.८७५ — ३ \times २.४५ = २.४$$

अर्थात् २.४ स्फुरके एक आयतनका भार हुआ या यूं कहिये कि उदजन् इकाईके अनुसार स्फुरके एक आयतनका भार ३१.६८ हुआ जो बरज़ेल्यूसके फल से (३१.३४) से बिल्कुल मिलता है। इसी प्रकार गैलम् और वंगमके भार निकाले। डूमाका यह कार्य्य बड़ा ही महत्व पूर्ण है क्योंकि बरज़ेल्यूसके बाद डूमा ने हो परमाणु भार निकालने की चेष्टा की। बरज़ेल्यूस और डूमा पारदम्के परमाणु भार पर एक दूसरे से विरुद्ध थे परन्तु तब भी बरज़ेल्यूस ने डूमाके इस कार्य्य की बड़ी ही प्रशंसा की।

पिछले भागमें यह बतलाया जा चुका है कि वोलर और लीबिग ने कार्बनिक यौगिकोंका बनना समझानेके लिये बानजावील सिद्धान्त निकाला था परन्तु बरज़ेल्यूस ने डूमा पर अधिक ज़ोर नहीं दिया इसके साथ ही साथ १८२८ में डूमा ने एक प्रस्ताव किया कि लग भग सब कार्बनिक यौगिकों का बनना बड़ी सरलतासे समझाया जा सकता है यदि वह सब ज्वलीलिन के युक्त यौगिक मान लिये जायें डूमा ने समझाया कि ज्वलील हरिद और ज्वलक इत्यादि की भांति के यौगिक निम्नलिखित रूप से समझाये जा सकते हैं।

	वर्तमान सूत्र	डूमा का सूत्र
ज्वलील हरिद	क$_२$ उ$_५$ ह	क$_२$ उ$_४$ + उ ह
ज्वलील मद्य	क$_२$ उ$_५$ ओ उ	क$_२$ उ$_४$ + उ$_२$ ओ
ज्वलक	(क$_२$ उ$_५$) ओ	२ (क$_२$ उ$_४$) + उ$_२$ ओ
ज्वलील सिरकेत	कउ$_३$ क ओ$_२$ ओ क$_२$ उ$_५$	२(क$_२$ उ$_४$) + क$_४$ उ$_६$ ओ$_३$ + उ$_२$ ओ
ज्वलील गन्धकाम्ल	क$_२$ उ$_५$ ग ओ$_४$ उ	क$_२$ ओ$_४$ + ग ओ$_३$ + उ$_२$ ओ

यद्यपि आजकल हमको यह सूत्र विचित्र दिखाई पड़ेंगे परन्तु वास्तव में इन सब की सहायता से ज्वलक और ज्वलीलिनका ज्वलील मद्यके अनार्द्रीकरणसे बनना बड़ी सुगमतासे सिद्ध हो जाता है। दूसरे अमोनिया और ज्वलीलिन की समता बरज़ेल्यूस और डेवीने पहिले ही जना दी थी। परन्तु डूमाके इस नये सिद्धान्तसे इस बात की सम्भावना और भी बढ़ गई जैसा कि नीचे लिखे हुये सूत्रों से विदित होगा।

अमोनियम हरिद नो उ$_३$ + उह

ज्वलील हरिद क$_२$ उ$_४$ + उह

अमोनियम सिरकेत २ (नो उ$_३$) + क$_४$ उ$_६$ ओ$_३$ + उ$_२$ ओ

ज्वलील सिरकेत २ (क$_२$ उ$_४$) + क$_४$ उ$_६$ ओ$_३$ + उ$_२$ ओ।

डूमा इस समानता पर इतना प्रसन्न और दृढ़ था कि उसने ज्वलीलिन को एक सच्ची क्षारिक वस्तु बताना प्रारम्भ कर दिया और कहा यदि गैस पानीमें घुलजाये तो अवश्य ही इससे लाल लिटमसके साथ नीला रंग उत्पन्न होगा। डूमाके इस प्रस्तावको ज्वलिन सिद्धान्त (Etherin theory) कहते हैं।

हाफमैनका कथन है कि एक बार डूमा फ्रांसके बड़े बड़े रईसोंके उत्सवमें निमंत्रित था। यकायक मोमबत्तियोंके जलनेसे वहां पर कुछ ऐसी वायु पैदा हो गई जिससे कि उदार रईसोंके कोमल गले घुटने लगे (उस समय बिजली इत्यादि का नाम भी न था।) इसका कारण किसीको भी न सूझा और सब ने इस कारण का पता लगानेके लिये डूमासे अनुरोध किया। बस यहीं से डूमाके सब से महत्वपूर्ण अनुसन्धान आरम्भ हुये जिससे उनका नाम एक दम वैज्ञानिक जगतमें प्रसिद्ध हो गया। डूमा ने बतलाया कि यह धुंआ और कुछ नहीं था बल्कि उदहरिकाम्लके बादल मोमबत्तियोंके जलनेसे बन गये थे क्योंकि जिस मोमसे बत्तियें बनी थीं उसका नीरंगीकरण (Bleaching) हरिन् द्वारा किया गया था और इसप्रकार कुछ हरिन् मोममें मिलगई जिसके कारण उसके जलने पर उदहरिकाम्लके बादल उठ पड़े। इस बात को समझाने पर डूमा की रुचि कार्बनिक यौगिकोंके स्थापन की ओर आकर्षित हुई। सर्वप्रथम उसने सिरकाम्लके उदजन परमाणुओंका हरिन्से स्थापन करना आरम्भ कर दिया। यह तो जानते थे कि स्फुरहरिद द्वारा एक उदजन परमाणु इस अम्लमें से हटाया जा सकता है परन्तु और उदजन परमाणु इस प्रकार नहीं हटाये जा सकते परन्तु डूमा ने हरिन्के प्रभावसे एक एक कर के तीनों उदजन परमाणु हरिन् से स्थापित कर दिये। यह कार्य्य बड़े ही महत्त्वका हुआ और बरज़ेल्यूसके अनुसार उदजन धनात्मक है और हरिन् ऋणात्मक है इसलिये यह एक दूसरे को स्थापित नहीं कर सकते। परन्तु प्रयोगिक प्रमाण के सामने सिद्धान्त की कुछ नहीं चलती इसलिये डूमाके अनुसन्धान को सब ने सराहा। सब से महत्व की बात तो यह है कि साधारण सिरकाम्ल और त्रिहरिसिरकाम्लमें कुछ अधिक भेद नहीं।

इस प्रयोगका डूमा पर इतना प्रभाव पड़ा कि वह प्रत्येक कार्बनिक यौगिकमें स्थापन की चेष्टा करने लगा। सन् १८३६ ई० में डूमासे पहले एक दूसरे फ्रांसीसी नवयुवक लोरें ने जिसका वृत्तान्त आगे दिया जायगा एक दूसरा सिद्धान्त दिया जिसका नाम "केन्द्र सिद्धान्त" है इस सिद्धान्त की लीबिग और बरज़ेल्यूस ने घोर निन्दा की परन्तु डूमा इस विषयमें चुप रहा क्योंकि उसके विचार भी कुछ कुछ लोरेंसे मिलते थे। १८३९ ई० में उसने अपना दूसरा सिद्धान्त रक्खा जिसे "रूप सिद्धान्त (type theory) कहते

हैं इस सिद्धान्त का मुख्य प्रयोगिक प्रमाण यह था कि त्रिहरिसिरकाम्ल और सिरकाम्ल को क्षार के साथ स्रवण करने से पृथक् पृथक् दारेन और हरिद्रिन बनती हैं। इस प्रकार उसने दो रूप माने एक रसायनिकरूप और दूसरा यांत्रिक रूप। रसायनिक रूप तो वह है जिसमें एक ही प्रकार की वस्तुयें हों जैसे हरिद्रिन् और नैलिद्रिन इत्यादि और यांत्रिक रूपमें समानता केवल नाम मात्र ही को थी। उदाहरणतः

दारेन	...	...	क$_2$ उ$_2$ उ$_6$
पिपीलिकाम्ल	...	...	क$_2$ उ$_2$ ओ$_3$
हरिद्रिन	...	...	क$_2$ उ$_2$ ह$_6$
कर्बनहरिद	...	...	क$_2$ ह$_2$ ह$_6$

लीविग के साथ डूमा ने भिन्न भिन्न नीम्बूऐत पर भी अच्छा काय्य किए और १८३० ई० में काष्ठामिद का अन्वेषण भी इसी व्यक्तिके परिश्रमका फल है।

वैज्ञानिक कार्य्योंके अतिरिक्त डूमाका बहुत कुछ अमूल्य समय जनताके उपयोगी कार्य्योंमें भी व्यतीत हुआ। उसने सबसे आवश्यक और स्मरणीय कार्य्य फ्रांसमें सार्वजनिक प्रयोगशालायें खोलकर किया था। पाठकोंको याद होगा कि इस कार्य्यमें सबका अगुवा लीबिग था जिसने डूमासे भी पहिले जर्मनीमें ऐसी प्रयोगशालायें खोली थीं और वास्तवमें खेद की बात है कि फ्रांस जैसे देशमें जहां कि रसायनका जन्म हुआ १८३२ तक कोई ऐसी प्रयोगशाला नहीं खुली थी। इन प्रयोगशालाओंमें केवल अन्वेषण ही करने वाले रक्खे जाते थे, और विद्यार्थियों को पढ़ानेमें समय नहीं नष्ट करना पड़ता था।

डूमा कुछ दिनों तक फ्रांसीसी सरकारका विद्या-मंत्री भी रहा और साथ साथ बहुत कुछ समय जनता के स्वास्थ और आरोग्यता सम्बन्धी कार्य्यों में लगाता रहा, यहां तक कि १८४८ ई० के पश्चात इन सब कार्य्यों का प्रभाव उसके अन्वेषणिक कार्य्य पर इतना पड़ा कि वह १८४८ ई० के पश्चात् बहुत ही कम कार्य्य कर सका।

डूमाके कार्य्यों को भलीभांति पहिचानना सरल कार्य्य नहीं है। उसने अपने परिश्रमसे कार्बनिक रसायन को लीबिग और वोलर की भांति बहुत कुछ आगे बढ़ाया। वास्तवमें वह लीबिग या बरजेल्यूस से कम न था। इन दोनों से उसका सर्वदा विरोध रहता था क्योंकि इन लोगों के अनुसन्धानों और सिद्धान्तों को डूमा के कार्य्यों से बड़ा धक्का लगा। डूमा लीबिग से अच्छा प्रयोगिक माना जाता है और इसमें कुछ संदेह भी नहीं है। उस समय की लग भग सभी वैज्ञानिकसभायें उसको अपना सदस्य चुनने में गर्व और गौरव समझती थीं। वास्तवमें उसको लीबिग और वोलर की भांति कार्बनिक रसायनका निर्माता कहा जा सकता है। १८८४ ई० में ८४ वर्ष की आयु में इस वैज्ञानिक वीर ने कैंज (Cannes) के स्थान पर सर्वदा के लिये इस संसार से गमन किया।

अगस्टे लोरें

(१८०७—१८५३)

लोरेंका जन्म १४ नवम्बर सन् १८०७ को लैंग्रेस के पास ला फ़ोली (फ्रांस) में हुआ था। यद्यपि उसके पिता की इच्छा अपने पुत्र को व्यापार कराने की थी क्योंकि वह स्वयं मदिराका व्यापारी था। परन्तु लोरें की इधर रुचि न देखकर परम और दयालु पिता ने उसको पैरिस की विख्यात खनिज पाठशाला (School of Mines) में भेज दिया। इसके दो वर्ष पश्चात् सेवरीज़ की यंत्रशालामें रसायनज्ञके पद पर नियुक्त किया गया। परन्तु यहां लोरें की रुचि कब लग सकती थी उसको तो आरम्भसे ही रसायन में अनुसन्धान करने की इच्छा हो चुकी थी। इस कारण वह शीघ्र ही इस पदको त्याग कर पैरिस चला गया और वहाँ स्वयं कुछ विद्यार्थियोंको पढ़ाकर रुपया कमाने लगा। परन्तु विद्याके मतवालेको रुपये से क्या प्रयोजन। बस यह भी छोड़कर निशि दिन कार्य्य करना आरम्भ किया। इसी प्रकार बेचारा लोरें बार बार रुपया कमाता और इस तुच्छ धनसे अपनी प्रयोगशाला खोलकर कार्य्य करता। वह वास्तवमें एक उदाहरण है एक ऐसे वीरका जो सब दुःखोंके होते हुये भी अपनी मनोकामनाके लिये उसपर दृढ़

रहते हैं। यदि चाहता तो लोरें अपना जीवन इससे कहीं भले प्रकार व्यतीत कर सकता था। परन्तु उसके मनको कभी भी संतोष न होता। १८३७ में उसने "कार्बनिक संयोग" पर एक महत्वपूर्ण लेख लिख कर पैरिस अकेडेमीको प्रदान किया जिस पर उसको अकेडेमी की ओर से डाक्टर की उपाधि मिली। इसके एक वर्ष पश्चात् अर्थात् १८३८ में लोरें बोरडो विश्वविद्यालयमें रसायनाचार्य्यके पद पर नियुक्त किया गया। यह पहिले ही बताया जा चुका है कि फ्रांसमें प्रत्येक बड़ा वैज्ञानिक पैरिसमें कार्य्य करने या आचार्य्य होने पर गौरव करता है। लोरें के मस्तिष्कमें भी यह बात सर्वदा जमी रही परन्तु जैसा कि आगे विदित होगा लोरें के विचार डूमा से कभी न मिलते थे और इन दोनोंमें द्वेष रहता था। डूमा फ्रांसमें विद्या मंत्री था और उसने कभी लोरें को पैरिस विश्वविद्यालयमें न आने दिया। अन्त में १८४८ ई० में लोरेंको सरकारी टकसालके अध्यक्षके पद पर नियुक्त किया गया और यहां पर उसने अपने मित्र गरहड के साथ कार्बनिक रसायनके लिये बहुतसे कार्य्य किये।

यद्यपि स्थापन शब्द के साथ अधिकतर डूमा का नाम ही वर्णन किया जाता है परन्तु साथ ही साथ एक दूसरे व्यक्ति का नाम जिसने इस क्रिया के आधार पर कार्बनिकसंयोग का दूसरा सिद्धान्त दिया नहीं भूल जाना चाहिये। लोंरे ने १८३४ ई० में नप्थलिन पर हरिन्के प्रभावका अध्ययन किया और बतलाया कि दो प्रकार के पदार्थ बनते हैं जो एक दूसरे से भिन्न हैं। लोरें का विचार था कि स्वभाव में यह अन्तर यौगिकों की आणविक रचना पर निर्भर है।

प्रथम प्रकार के $\text{क}_{१०}\text{उ}_{८} \xrightarrow{\text{ह}_{२}} \text{क}_{१०}\text{उ}_{७}\text{ह}$
$\xrightarrow{\text{ह}_{२}} \text{क}_{१०}\text{उ}_{६}\text{ह}_{२}$ अन्त में $\text{क}_{१०}\text{ह}_{८}$

द्वितीय प्रकार के $\text{क}_{१०}\text{उ}_{८} \xrightarrow{\text{ह}_{२}} \text{क}_{१०}\text{उ}_{६}\text{ह}_{२}$
$\xrightarrow{\text{ह}_{२}} \text{क}_{१०}\text{उ}_{४}\text{ह}_{४} \longrightarrow \text{क}_{१०}\text{उ}_{२}\text{ह}_{६}$

इसके पश्चात् उसने ज्वलोल मद्य इत्यादि के स्थापन पदार्थों की ($\text{क}_{४}\text{उ}_{८}$) मूल से उत्पत्ति सिद्ध की। १८३७ ई० में लोरें ने डाक्टर की उपाधि के लिए एक लेख लिखा जिसमें उसने स्थापन क्रिया और उससे उपयोग पर अपने विचार विशेष रूप में प्रगट किये। नप्थलिन समूह ($\text{क}_{१०}\text{उ}_{८}$) एक केन्द्र है और इसी प्रकार ज्वलीलिन ($\text{क}_{२}\text{उ}_{४}$)। इन मुख्य केन्द्रोंमें उदजन, लवणजन, ओषजनके योग (addition) से भिन्न भिन्न यौगिक बन सकते हैं इस प्रकार ज्वलीलिन को केन्द्र मान कर और

$\text{क}_{४}\text{उ}_{८}\text{उ}_{४}$	(Hyper hydride)	अपर उदिद
$\text{क}_{४}\text{उ}_{८}\text{ह}_{४}$	(Hyper halide)	हरिद
$\text{क}_{४}\text{उ}_{८}\text{ओ}_{२}$	(Aldehyde)	मद्यानर्द्र
$\text{क}_{४}\text{उ}_{८}\text{ओ}_{४}$	(acid)	अम्ल

इन में से प्रत्येक केन्द्र के उदजन परमाणु को हरिन् इत्यादि से स्थापित कर सकते हैं। इस के पढ़ने से विदित होता है कि लोरें के इस सिद्धान्त से कार्बनिक रसायन की कितनी उलझन सुलझ गई और स्थापन क्रिया के पूरे महत्व का पता चलता है। यह बात ठीक है कि इस सिद्धान्तको उस समय बहुत कम वैज्ञानिकों ने अपनाया विशेषकर ग्मेलिन (Gmelin) ने अपनी पुस्तक में इसका पूरे तौर से समर्थन किया और इसी के आधार पर लगभग सब प्रक्रियाएँ समझाईं। परन्तु लीबिग और बरजेल्यूस ने पूरी निर्दयता से इसकी घोर निन्दा की और इसी कारण इनको कम मान मिला जिस प्रकार लीबिग के नाम से वोलर का नाम अलग करना कठिन है उसी प्रकार लोरें से गरहड का नाम नहीं पृथक् किया जा सकता जैसे कि वर्ज ने कहा है "The great figure of Gerhardt must not be separated from that of Laurent; their work was collective, their talents complementary, their influence reciprocal. Equally potent in the vigour and

profoundity of their conceptions the one (Laurent) exhibited unparalleled skill in the art of experiment, while the other shone pre eminent through his method, the extra-ordinary oppositeness of his views, and, above all, the compelling clearness of his exposition."

इस कारण दोनों के कार्यों का वर्णन साथ साथ किया जायगा जैसा कि लीबिग और वोलर का वृत्तान्त देते समय किया गया था।

चार्ल्स फ्रेडरिक गरहर्ड

(१८१६—१८५६)

गरहर्ड का जन्म १८१६ ई० में स्ट्रासबर्गमें हुआ। लोरें की भाँति वह भी एक व्यापारी का लड़का था, इस कारण उसके पिता ने बचपन में ही उसे लाइपज़िग व्यापारी का कारबार सीखने भेज दिया परंतु गरहर्ड को तो प्रारम्भ से ही विज्ञान की धुन लगी हुई थी इसलिये उसने अपने पितासे इसके लिये अनुरोध किया परन्तु कोई बस न चल सका। अन्तको १९ वर्ष की आयु में घर छोड़ भागा और सेना में भर्ती हो गया परन्तु इस जीवन से दुःखित होकर अपने जर्मन मित्र लीबिग से कुछ आर्थिक सहायता पाकर सेना को छोड़ दिया और गीसेन में १८ मास लीबिग के पास कार्य्य करता रहा। तत्पश्चात् १८४१ ई० में मोन्टपेलियर विश्वविद्यालयमें रसायनाध्यापक नियुक्त हुआ। परन्तु गरहर्ड का अनार्द्रिद का अन्वेषण और उसकी पुस्तक (Traite de chimie organique.) का ऐसा प्रभाव पड़ा कि १८५५ ई० में वह स्ट्रासबर्ग विश्वविद्यालय में रसायन का मुख्य अध्यापक नियुक्त किया गया। परन्तु कहां! बेचारे गरहर्ड के लिये तो मृत्यु के यम दूत न्योता दे चुके थे। १ वर्ष इस पद को शोभा देकर १८५६ ई० में गरहर्ड का स्वर्गवास हुआ। अणु, परमाणु और तुल्यांकों पर सबसे अधिक कार्य्य कार्बनिक रसायन के ही विस्तार से हुआ क्योंकि अकार्बनिक क्षेत्र में तो लगभग प्रत्येक यौगिक बरज़ेल्यूस के सिद्धान्त के अनुसार प्रदर्शित किया जा सकता था परन्तु कार्बनिक यौगिकों में अधिक उलझन पड़ती थी। सब से बड़ी समस्या तो परमाणु-भार की थी कि किस प्रकार इनकी संख्या नियुक्त कर दी जाय क्योंकि यदि कर्बनके लिये चाहे तो १२ या ६ या तीन कुछ ही मान लिया जाय कोई बात नहीं परन्तु प्रति दिन इतने कार्बनिक यौगिक तैय्यार होने लगे कि इन सबके समझानेके लिये किसी मुख्य आदर्श (Standard) के कायम करनेकी आवश्यकता दिन दिन बढ़ने ही लगी और सबसे पहिले इस बात की ओर लोरें ने विचार प्रगट किये, परन्तु कौन मानने वाला था!

सन् १८४० ई० में रसायनिक नामकरण (Notation) बड़ी गड़बड़ दशामें थे और उस समय तक कार्बनिक यौगिक प्राकृति प्राप्तिस्थानों के अनुसार भिन्न भिन्न भागों में रक्खे जाते थे। पाठकों ने देखा होगा कि सिरकिक अनार्दिद के सूत्रसे सिरकाम्ल को दिखाया जाता था अर्थात् क$_४$ उ$_६$ ओ$_३$ और ज्वलील मद्य तथा ज्वलक को क$_४$ उ$_{१०}$ ओ, उ$_२$ ओ और क$_४$ उ$_{१०}$ ओ से जनाया जाता था। इसी प्रकार उस समयमें तुल्यांक (Equivalent) का किसी को ध्यान भी न था। यदि बहुक्षारिक (Polybasic) स्वभाव जनाना होता था तो सूत्र को उसी संख्या से गुणा कर देते थे जैसे लीबिग ने इमलिकाम्ल का द्विक्षारिक स्वभाव दिखाने के लिये उसके सूत्र का दुगुना कर दिया था। इसी प्रकार बहुतसे कार्बनिक यौगिकों के सूत्रोंको चारसे गुणा किया जाता था और इसको "चार आयतन सिद्धान्त" कहा जाता था क्योंकि प्रत्येक वस्तुका सूत्र भार वायव्य अवस्था में उतना ही आयतन घेरता है जितना कि उदजन की चार संख्यायें (units)। डूमाके वाष्प घनत्त्व द्वारा बहुत से यौगिकों के सूत्र इसी आधार पर लिखे गए थे परन्तु कुछ ऐसे यौगिकों के लिये जो इतने ऊँचे तापक्रम पर विश्लेषित हो जाते हैं उलझन

पड़ती थी जैसे स्फुर पंचहरिद, अमोनियम हरिद इत्यादि। परन्तु कुछ ऐसे यौगिक थे जिनके लिये दो आयतन सिद्धान्त प्रचलित था जैसे उदजन गंधिद, कर्बन द्विओषिद इत्यादि। इन बातों से उस समय की गड़बड़ का पता चलता है। इस प्रकार प्रत्येक अविष्कारक की इच्छा पर निर्भर था कि चाहे वह कर्बन का परमाणु भार ६ ले या १२ या २४ या जो मन चाहे।

बरज़ेल्यूस अपने फ़ारमूलों पर एक लकीर खींच देता था जिसका अर्थ द्विपरमाणु था परन्तु इसमें भी बहुत सी सन्देह जनक बातें उत्पन्न हुईं।

गरहर्ड ने इन सब फ़ारमूलों को एक मुख्य आधार पर रखना चाहा। पहिले तो उसने चार आयतन सिद्धान्त को अपनाया परन्तु सिरकाम्ल के समझाने में कुछ उलझन पड़ी परन्तु इनके कुछ ही पश्चात् लोरें और गरहर्ड ने सब कार्बनिक यौगिकों के सूत्रों को दो से भाग देकर एक बड़े ही महत्व की बात विदित की कि प्रत्येक का भजनफल पूरी पूरी संख्या है। इस कारण उन्होंने द्विआयतन सिद्धान्त को अधिक ठीक समझा इस प्रकार परमाणु भार निकालने से बहुत सी संख्याएं अवेगाड्रो सिद्धान्त के आधार पर निकाली हुई संख्याओं से मिल गईं। यद्यपि उसी समय रेनो ने यौगिकों के आपेक्षिक ताप पर कुछ प्रयोगिक फल प्रकाशित किये जो गरहर्ड और लोरें के कार्य को और दृढ़ कर देते परन्तु बेचारे दोनों कार्बनिक रसायनज्ञ होनेके कारण इस का अधिक लाभ न उठा सके। इससे पता चलता है कि यह दोनों व्यक्ति अणु, परमाणु और तुल्यांक का ठीक ठीक महत्व और अर्थ जानने के कितने समीप पहुँच चुके थे। जैसा कि उन्होंने अपने १८४२ ई० के लेख में लिखा है "परमाणु, अणु, तुल्यांक पर्य्याय शब्द हैं।"

तुल्यांक शब्द के नाम से ही उस समय डर लगता था परन्तु रिक्टर ने इसी शब्द का प्रयोग वर्तमान विचारों के अनुसार करने की चेष्टा की और उसमें काफ़ी सफलता भी प्राप्त हुई। रिक्टर के अनुसार तुल्यांक की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में दी गई है "तुल्यांक किसी तत्व का वह भार है जो किसी रसायनिक प्रक्रिया में दूसरे तत्व को ठीक ठीक हटा सके।" बोलेस्टनने इसकी परिभाषा दूसरे शब्दों में दी—"तत्व का साधारण से साधारण भार जो रसायनिक प्रक्रियामें भाग ले।" इस प्रकार इन दोनों परिभाषाओं के अनुसार बहुत से वैज्ञानिक सब अम्लों और क्षारों को एक-क्षारिक या एकाम्लिक समझने लगे परन्तु लीबिग और ग्रेहम के कार्य्य से इस भ्रम का पता लगा। इस समय परमाणु और तुल्यांक के विचार में बड़ी गड़बड़ हुई और कुछ लोग तो इन दोनों में कुछ भी अन्तर न समझते थे परन्तु लोरें ने १८४६ ई० में परमाणु और तुल्यांक के अन्तर पर महत्व पूर्ण लेख प्रकाशित किया। जिसमें उसने दिखाया कि किसी वस्तु का तुल्यांक विशेष रसायनिक क्रिया पर निर्भर है और आणविक परिमाण (Magniitude) का कारण वाष्प घनत्व है। इससे यह बात सिद्ध हुई कि उदजन, ओषजन इत्यादि गैसों के अणुओं में दो परमाणु होने चाहियें। यद्यपि इन विचारोंकी वर्तमान विचारों से तुलना की जाये तो उनमें कोई भेद दृष्टिगोचर नहीं होता परन्तु इन सुन्दर विचारों तक का उस समय किसी पर भी प्रभाव न पड़ा।

द्विपरमाणविक गैसों के विचार को गरहर्ड ने बहुत पसन्द किया क्योंकि इसके अनुसार स्थापन समझाना बहुत सरल हो जाता था।

$$उ_2 + ह = उह + उ$$

इस प्रकार उसने रसायनिक प्रक्रिया का एक बड़ा अच्छा सिद्धान्त दिया—"जब दो वस्तुयें मिलती हैं तो विशेषकर एक साधारण अकार्बनिक वस्तु बनती है और शेष दोनों मूल मिल जाने पर नया यौगिक बन जाता है।"

$$क_6 उ_6 + उओ नो ओ_2$$
$$= उ_2 ओ + क_6 उ_5 — नो ओ_2$$

शेष-सिद्धान्त (Theory of residue) का मुख्य आधार ऊपर दिये हुये समीकरण से

ज्ञात होता है अर्थात् मूल और शेष में गरहर्ड के अनुसार भेद है यद्यपि बहुत से उसमें कोई अन्तर न मानते थे। परन्तु गरहर्ड इसके बिल्कुल विरुद्ध था उसका कथन था कि मूल के समान शेष में कोई विद्युत संबन्धी स्वभाव नहीं है और न व किसी अणु में स्वतंत्र रह सकते हैं। साथ ही साथ उनका प्रयोग-शाला में बनाना भी संभव नहीं है। इन सब विचारों के पढ़ने से विदित होता है कि इन युगुल मूर्त्तियों ने हमारे कार्बनिक रसायन के विचारों को कितना आगे बढ़ा दिया और सच पूछिये तो उनके और वर्तमान विचारों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

गरहर्ड ने अम्लों की क्षारिक दशा पर भी काफ़ी अच्छे विचार प्रगट किये। उसका कथन था कि केवल अम्लिक लवण बनाना ही किसी अम्ल को द्विक्षा-रिक सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि संभव है कि शून्य लवण अम्ल के अणु को चिपटा ले। बल्कि यदि कोई अम्ल अम्लिक सम्मेल या आमिद बना सके तो वह अवश्य ही बहुक्षारिक होगा।

कार्बनिक योगिकों को भिन्न भिन्न भागों में बांटने का गरहर्ड को स्वाभाविक शौक़ था। इस कारण उसने तीन प्रकारके नाम बनाये समश्रेणिक (Homologous), भिन्न श्रेणिक (Heterologous) और समश्रेणिक (isologous). स: श्रेणी का विचार तो शीले (Scheele) ने ही दिया था परन्तु डूमा ने भी इस का प्रयोग किया था। समश्रेणिक यौगिकों से गरहर्ड का अभिप्राय बानजाविकाम्ल और सिरकाम्ल जैसे पदार्थों से था जिनमें कउ २ के अतिरिक्त और भी भेद हों और भिन्न श्रेणीमें ऐसे पदार्थ थे जैसे ज्वलील मद्य और सिरकाम्ल जिनमें सब भेद हों परन्तु उत्पत्ति मूलक (Genetic) विचार से मिलते जुलते हों।

पाठकोंको विलयमसन और वूर्जके कार्य्य पढ़नेसे पता लगेगा कि किस प्रकार अमिन और ज्वलकके अन्वेषणसे गरहर्ड और लोरेंके सिद्धान्त की पुष्टि हुई। इसका पूरा वृत्तान्त आगे दिया जायगा। अम्ल अनार्द्रिदोंके अन्वेषणका श्रेय भी गरहर्ड को ही है।

इन दोनों व्यक्तियोंके कार्य्य को पढ़ने से पाठकों को स्वयं ही पता लग जायगा कि वर्तमान कार्बनिक रसायन इन दोनों की कितनी ऋणी है पर उस समय इन विचारों को सुनकर सराहना तो दूर उल्टी हँसी उड़ाई जाती थी। एक समय जब कि गरहर्ड एक बड़ा लिफ़ाफ़ा लिये जा रहा था तो एक सहकारीने पूछा, इसमें क्या है। गरहर्डने हंस कर उत्तर दिया "भविष्य रसायन" और वास्तवमें यह बात ठीक हुई। उस लिफ़ाफ़ेमें इस सिद्धान्तके ऊपर लेख था जो कि ऊपर दिया गया है। इन दोनों का जीवन अपने विचारों को फैलाने और उन्हें उच्च स्थान दिलानेमें ही व्यतीत हो गया। वास्तवमें उस समयके पाखंडी विचारोंसे जो जो बाधाएं इनके कार्य्योंमें पड़ीं उनका अनुमान पाठक स्वयं ही लगा सकते हैं पर इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि सत्य की सर्वदा जीत होती है।

भारतवर्षमें वनस्पति विज्ञानका कार्य्य

[अनु० डा० सत्यप्रकाश, डी० एस०-सी०]

गत वर्ष बंगलौर में इण्डियन सायंस कांग्रेस का उन्नीसवां अधिवेशन हुआ था। उसमें वनस्पति-विज्ञान विभाग के अध्यक्ष पञ्जाब विश्वविद्यालय लाहौर के अध्यापक डा० हर प्रसाद जी चौधरी थे। उन्होंने अपने संभाषण का विषय 'भारत में वनस्पति विज्ञान' रखा था। उक्त भाषण के आधार पर यहां इस विषय का उल्लेख किया जावेगा।

कोई २५०० वर्ष से अधिक समय हुआ होगा, जब कि तक्षशिला के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में जीवक नाम का एक छात्र अध्ययन करता था। जब पढ़ चुका तो उसके अध्यापक भिक्षु आत्रेय ने उससे कहा कि तक्षशिला के चारो ओर चार योजन की दूरी तक जितने पौधे आवें उनका विवरण सङ्कलित करो। भिक्षु आत्रेय ने स्वयं भी प्राकृतिक विज्ञान

सम्बन्धी कई ग्रन्थ लिखे थे। और यह भी स्पष्ट है कि उनके पूर्व भी वनस्पतिओंका अध्ययन दो विभागों में किया जाता था, एक तो ओषधि में प्रयुक्त होने वाली वनस्पतियाँ, और दूसरी कृषि में प्रयुक्त होने वाली। भिक्षु आत्रेय के अतिरिक्त एक और आत्रेय (अत्रि का पुत्र) हुआ है। उसके शिष्य अग्निवेश यातुकर्ण, भेल, और हरित, और इसके अतिरिक्त चरक, धन्वन्तरि, और सुश्रुत एवं नागार्जुन इन व्यक्तियों ने ओषधि-सम्बन्धी वनस्पतियों के अध्ययन में समुचित प्रसिद्धि प्राप्त की है। इन ओषधियों के अध्ययनसे मानवजाति का जितना उपकार हुआ है, वह किसी से छिपा नहीं है। आचार्य्य प्रफुल्ल राय के मतानुसार आयुर्वेदिक काल के सर्वोत्कृष्ट व्यक्ति चरक और सुश्रुत ही हैं, पर इन लोगों से कई सहस्र वर्ष पूर्व ही ओषधियों की परीक्षा का कार्य्य आरम्भ होगया था,—यह बात दूसरी है कि वह इतने नियमित वैज्ञानिक ढङ्ग पर न हुआ हो जितना सुश्रुत और चरकके समय में। इन ओषधियों का उल्लेख वेदों में, विशेषतः ऋग् और अथर्वमें भी, पाया जाता है। कृषि सम्बन्धी वनस्पतियोंका विधान भी ऋग् के मंत्रों में मिलता है। भारतवर्ष कृषि की दृष्टि से प्राचीन समय में संसार भर में सर्वोत्कृष्ट माना जाता था। अग्निपुराणमें जिसे ज्ञान का विश्व-कोष समझना चाहिये, एक अध्याय वृक्षायुर्वेद पर है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और वाराहमिहिर की बृहत् संहिता में भी वृक्षायुर्वेद सम्बन्धी अध्याय आते हैं। इन सब के विवरणोंको देखने से पता चलता है कि उस समय के भारतीयों ने बीजका सङ्कलन एवं निर्वाचन, पौधों के विकास-क्रम की विशेष अवस्थाएँ, भूमि की परीक्षा, खाद आदिका विधान, जलवायु, परिस्थिति का प्रभाव, और यही नहीं, स्वास्थ्य और आरोग्य पर पौधों और वृक्षोंका प्रभाव आदि विषयों का विस्तृत अध्ययन कर लिया था। कृषि विभाग के कर्मचारियों और अध्यक्षों में क्या गुण होने चाहिये इसका भी वर्णन मिलता है। वृक्षायुर्वेद का विधान उपर्युक्तग्रन्थों में तो मिलता ही है, इनके अतिरिक्त कश्यप, पाराशर और सारस्वत के कृषि तन्त्र ग्रन्थोंके भी कुछ अंश प्राप्य हैं। इन सब से पता चलता है कि कृषि विज्ञान के अनेक अङ्गों में भारतवासियों ने कितनी उन्नति कर ली थी। भेषज विद्या के अन्तर्गत पौधों के जीवन के विशेष अध्ययन के साथ साथ उनके रोगनिवारक गुणोंका भी विवेचन—धन्वन्तरि निघण्टु-किया जाता था। दो सहस्र वर्ष पूर्व की इस उन्नति को देखकर हमें आश्चर्य्य-चकित रह जाना पड़ता है। हावर्ड ने १९२६ में बम्बईके सायन्स कांग्रेस में चावल के समान अर्ध-जलीय पौधों को उगाने की देशीविधि की बड़ी ही प्रशंसा की है। भिन्न भिन्न स्थानों में जलवायु का ध्यान रखते हुए जो विधियाँ प्रचलित हैं, वे सर्वथा सराहनीय हैं।

राक्सबर्ग के अनुसार पश्चिमी संसारने भारतवर्ष से ही फ़सलका अदल बदल करना सीखा। भारतीयों को जलवायु और अन्तरिक्ष-परिस्थितियों का अच्छा ज्ञान था और इनका इन्होंने कृषि में विशेष उपयोग किया है। फ़सलमें इनका सदा ध्यान रखा जाता है। ब्रजेन्द्र नाथ सील ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ-पोजिटिव सायंसेज आव् दी एन्शण्ट हिन्दूज—में यह भी दिखाया है कि भारतीय वर्षा नापने के लिये आज-कलके समान ही यंत्रों का व्यवहार करते थे। इस प्राचीन समयमें भी अन्तरिक्ष-विद्याके अध्ययन की उपयोगिता मानी जाती थी।

प्राचीन भारतवासियों ने वनस्पतियों के शरीर-विज्ञान का भी अध्ययन किया है। उन्होंने बीज, पौधोंका भोजन, श्वास-प्रश्वासक्रम, विकास, वृद्धि, जीर्णता, ह्रास, मृत्यु, सम्मूर्छना, लैंगिक प्रक्रियायें और प्रजनन आदि का भी निरीक्षण किया। अनेक स्थलों पर इनके विचार सुसङ्गत प्रतीत होते हैं,—पर कहीं कहीं इन्होंने दार्शनिक कल्पनाओं का ही व्यवहार किया है। इन स्थलों पर इनके विचार असंगत भी होगये हैं। इनको कठिनाई इस बात की थी कि पौधों का निरीक्षण करनेके लिये इनके पास अणुवीक्षण यंत्र नहीं थे। इस लिये इन्हें छोटे

कोष्ठोंके विस्तृत परिज्ञान से वञ्चित रहना पड़ा। पृथ्वी-पुराण के किरणावली अध्याय में उदयन ने वृक्षोंमें जीवन, मृत्यु, निद्रा, जागृति, रोग, गर्भका प्रभाव, अनुकूल परिस्थिति की ओर रुचि और प्रतिकूल की ओर अरुचि, का वर्णन किया है। गुणरत्न में निद्रा और जागृतिसे सम्बन्ध रखने वाली अनेक-गतियों और प्रक्रियाओं का विधान दिया है। शंकर मिश्रके उपस्कार और सद्दर्शन समुच्चयके गुणरत्नके भाष्यमें पौधोंके व्रणोंके प्राकृतिक उपचार का उल्लेख है।

प्राचीन समयमें उद्यान-विद्या (हार्टीकेल्चर) तो बहुत ही उन्नत थी। पौधोंके उगाने की आधुनिक सम्पूर्ण विधियां उस समय ज्ञात थीं। फल और बीजोंसे तो पेड़ उगते ही थे (बीजरोह) मूलज स्कन्दज, स्कन्धे रोपानीय, अग्रबीज, पर्णयोनि, का भी उल्लेख है। इनका उल्लेख ऋक्, अथर्व, मनु, अर्थशास्त्र, बृहत्संहिता, बुद्धघोष आदिमें पाया जाता है।

प्राचीनवासियोंनेपरिस्थिति विज्ञान(ecology)का भी अध्ययन किया था। चरक (८०० वर्ष ई०से० पू०) ने भूमि को उसकी उर्वरता और जलवायुके प्रभावके अनुसार कई भागोंमें विभाजित किया है, और प्रत्येक भागमेंउगने वाले पौधों का उल्लेख किया है। चरकने यह भी निरीक्षण कर लिया था कि कौन सी भूमि किस पौधेके लिये मुख्यतया उपयुक्त है।

इन पौधोंके नामकरणके सम्बन्धमें प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता सर विलियम जोन्स का कहना था कि यदि लिनेयस को संस्कृत विद्या का परिज्ञान होता तो वह आधुनिक वनस्पति विज्ञान इन नामों का ही व्यवहार करता।

पौधों का भारतीय वर्गीकरण तीन सिद्धान्तोंके आधार पर आश्रित था (१) वनस्पतिक (उद्भिद्) (२) ओषधि सम्बन्धी (विरेचनादि) और (३) भोजन सम्बन्धी (अन्नपानादि)।

निम्न जातियों के पौधों का उनको अवश्य परिज्ञान न था, पर वे फंफूदी या छत्रकों (mushroom) से परिचित थे। इनका अध्ययन भोजनकी दृष्टिसे ही होता था। फफूंदीका क्या उपयोग था, इसका कुछ विधान नहीं पाया जाता है। छत्रकों को सुश्रुतमें १२वें समूह (उद्भिद) में रखा गया है जो कि पृथ्वी के पृष्ठतलके नीचे से ऊपर को अंकुरित होते हैं। जन्मभूमिके अनुसार इन छत्रकोंके गुण बताये गये हैं। उदाहरणतः, पलाल (पयाल या तिनका-विशेष) में उत्पन्न छत्रक स्वाद और पाचन की दृष्टिसे मीठा, पर खुश्की पैदा करने वाला होता है। यह त्रिदोष कफ, पित्त और वात-को मारने वाला है। करीष अर्थात् गोबरमें उत्पन्न होने वाले छत्रक खानेके बाद तीक्ष्ण लगते हैं। ये वात को बढ़ाते और आग फूँकने वाले होते हैं। भावप्रकाशमें इन छत्रकों को संस्वेदज बताया गया है, और श्वेत छत्रकों को ही तरकारीके उपयोग का माना गया है, और शेष सबों को विषैला।

फंफूदीविज्ञान (mycology) और वनस्पतिक रोग विज्ञानके विशेषज्ञों को यह जान कर हर्ष होगा कि प्राचीन भारतीय न केवल वनस्पतिके रोगोंसे ही परिचित थे, प्रत्युत वे रोग निवारण भी जानते थे। अणुवीक्षण यन्त्र न होनेके कारण वे रोगोत्पादक कीटाणुओंसे तो परिचित न थे, पर रोगी पौधोंके लक्षणों का उन्होंने भली प्रकार निरीक्षण किया था, और इन लक्षणों के आधार पर ही उपचार किया जाता था। यह बात हम सभी जानते हैं कि भिन्न भिन्न कारणोंसे उत्पन्न हुए पृथक् पृथक् रोगोंके भी बाह्यलक्षण एक ही हो सकते हैं। अतः उन्होंने रोगों को दूर करनेकी सामान्य विधियाँ निकालीं। षड्दर्शन समुच्चयके भाष्यमें गुणरत्न का कहना है कि जिस प्रकार मानव शरीरमें पांडुरोग, जलोदर, अंगुली-नाक आदिके विकार उत्पन्न हो सकते हैं, उसी प्रकार पौधोंमें भी रोग होते हैं। जैसे ओषधि आदि उपचार करनेसे मनुष्योंके क्षत-व्रण, ठीक हो जाते अथवा विकार दूर होते हैं, उसी प्रकार वृक्षायुर्वेदमें वर्णित विधियोंसे पौधोंके रोग भी दूर होते हैं। वाराहमिहिरने रोगी पौधोंके लक्षण इस प्रकार दिये हैं:—जब पौधा बीमार पड़ता है, तो पत्ते पीले पड़ जाते हैं,

कलियाँ क्षीण हो जाती हैं, डालें सूखने लगती हैं, और रस-स्राव होने लगता है। कश्यप का कहना है कि जिन पौधोंके पत्ते पीले हों, जिनके फल न निकलते हों अथवा जिनके पत्ते अधिक शीत, अधिक गर्मी या अधिक वर्षाके कारण अथवा दूसरे पेड़ों की जड़ोंके जकड़ने के कारण सूख गये हों उन्हें रोगी मानना चाहिये और इनका उपचार करना उचित है।

रोगोंके उपचारके लिये रोग-निवारक और रोग रक्षक दोनों प्रकारके उपाय बताये गये हैं। अग्निपुराण में फल देने वाले पौधोंके बन्ध्यात्व को दूर करने का नुसखा दिया हुआ है। इन नुसखों से पता चलता है कि दवाओंके रूपमें नोषजनक पदार्थ, स्फुरेत यौगिक, और कीटाणुके मिश्रण दिये जाते थे।

हमारे पूर्वजों का विश्वास था कि पशु और मनुष्य की उत्पत्तिसे पूर्व वृक्षों का जन्म हुआ है। उद्दालक और याज्ञवल्क्यके लेखोंसे यह स्पष्ट है। बुद्धने विकासका जो क्रम बताया है उसमें बहुत कुछ सत्यता है। सूर्य, चन्द्र, तारे और ग्रहों की उत्पत्ति उत्तप्त पिंडसे बतानेके पश्चात् उनका कथन है कि यह पिंड उत्तरोत्तर और अधिक ठंढा होता जाता है। रसमय पृथ्वी जब कठोर हो जाती है, तो इससे गन्ध और मिठास निकल जाता है पर इसी समय पहले निम्नश्रेणी की और फिर उच्चतर श्रेणी की वनस्पतियों का विकास होता है। अन्तमें स्वर्गीय पूर्वजों की आत्मायें सूर्य या चन्द्र लोकसे अवतरित होती हैं।

यह उल्लेखनीय बात है कि डार्विन और वाइज़मेन के दो सहस्रसे अधिक वर्ष पूर्व भारतीय जीववेत्ताओं ने विकासके क्रम का अध्ययन कर लिया था। वंश परम्परा के नियम उन्हें ज्ञात थे। चरक और उससे पूर्व ब्राह्मण ग्रन्थोंमें सन्तानमें पैतृक गुणों का समावेश होना लिखा हुआ है।

अब तक यहां इस बात का उल्लेख किया गया है। कि हमारे पूर्वजों ने आज से सहस्र वर्ष से अधिक पूर्व वनस्पति विज्ञान में कितनी उन्नति करली थी। ईसा से १००० वर्ष पूर्व से १२०० ई० तक भारत की सभ्यता था प्रौढ़काल था। ईसा से चार शताब्दी पूर्व कृषि का कार्य राज्य के हाथ में चला गया था। चन्द्रगुप्त कालीन मेगास्थनीज उस समय की कृषि-अवस्था की बड़ी ही प्रशंसा करता है, और उसने यह भी लिखा है कि उसके समय में कृषकों की कितनी अधिक प्रतिष्ठा थी, और कृषि व्यवसाय का कितना गौरव था। युद्ध के समय में भी कृषकगण निर्विघ्न अपना काम करते रहते थे और उन्हें कोई नहीं छेडता था। अन्य देशों में तो युद्धके अवसर पर शत्रु लोग कृषि को तहस-नहस करने का प्रयत्न करते हैं, और फसल उजाड़ देते हैं, पर भारतीयों के आचार का आदर्श कहीं ऊँचा था। खेती करने वाले किसान पड़ोस में युद्ध होते हुए भी निर्विघ्न और निश्चिन्त खेती का काम करते रहते थे। युद्ध तो सैनिकों में ही सीमित रहता था। शेष प्रजा पर शत्रु कभी आक्रमण नहीं करते थे। शत्रु कभी उनके गांव या नगर में न तो आग लगाते थे और न पेड़ ही काटते थे। ये सब ऐसी बाते हैं जिन्हें आजकाल की सभ्यता कदाचित् कल्पना ही माने। पर ये सब कल्पनायें हमारे लिये वास्तविकता थीं। कृषि को प्रोत्साहन देना सम्राट अशोक न केवल राजकीय कर्तव्य ही समझता था, प्रत्युत इसे आचार का अंग भी समझता था। पर बौद्ध कालके पश्चात् भारत में विदेशियों के आक्रमण आरंभ हो गये और भारत पराधीनता के साथ साथ अवनत होने लगा—कलाकौशल, विज्ञान और व्यवसाय सभी का ह्रास हुआ। कृषकों में राज्य ने प्रोत्साहन देना बन्द कर दिया, और प्रजा का यह वैयक्तिक कार्य बन गया। अपढ़ और अनभिज्ञ जनता के हाथ में इसकी अवनति आरम्भ हुई। बौद्धकाल के अन्त से १००० वर्ष तक अन्धकारमय परिस्थिति रही। इस समय वनस्पति-विज्ञान पर किसी ने ध्यान न दिया, और इस समय का कोई विशेष ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं होता है। अन्य विश्वास और परम्परागत विचारों के आधार पर ही काम चलाया जाने लगा।

आधुनिक वनस्पति विज्ञान का प्रवेश भारत में १८वीं और १९वीं शताब्दी में हुआ। इसका कारण

पाश्चात्य संसर्ग था। पाश्चात्योंमें पुर्तगाल वाले सबसे पहले इस देश में आये, पर उन्होंने वनस्पनि विज्ञान के लिये कुछ अधिक न किया। ब्लैटर की सूची में सबसे पहला उल्लेख एकोस्टा (Acosta) के लेख का मिलता है जो १५७८ में लिखा गया था। इसमें ओषधि-वनस्पतियों की चर्चा थी। पर भारतीय वनस्पति विज्ञान का सबसे पहला साहित्य हेनरी वान रीड (Rheede) का मानना चाहिये—यह मलाबार का गवर्नर था। सन् १६७६ में एक ब्राह्मण की सहायता से इसने अनेक पौधों का संकलन किया। इन्हें कोचिन भेजा गया और वहां इनको पहचाना गया और इन्हें लेटिन नाम दिये गये। एम्सटर्डम से १६८६-१७०३ में होर्टस मालाबारिकस नाम से १२ जिल्दों में ७९४ चित्रों से युक्त प्रकाशित किया गये। इसमें दिये गये उल्लेख को लिनेयस ने भी ठीक माना है।

१८वीं शताब्दी के मध्य तक वनस्पति विज्ञान सम्बन्धी जितना साहित्य उत्पन्न हुआ उसमें फूल देने वाले पौधों का ही अधिकतर विवरण है। इस साहित्य के उत्पन्न करने वालों में रम्फ (Rumph), प्लंकेट (Plunkett) और जान बरमन (Burman) का नाम उल्लेखनीय है। यह सब साहित्य एकनामिक (uninomial) रीतिका अनुसरण करता है। भारत में द्वि-नामिक रीति लिनेयस के शिष्य कोनिग (Koenig) ने प्रचलितकी। कोनिग भारतवर्ष में १७६८ में आया। इस समय से सन् १८४८ में सर जासफ हूकर, (Hooker) के आने तक कोनिग के प्रदर्शित मार्ग पर ही काम किया गया। हूकर ने वनस्पति-विज्ञान को एक नया रूप दिया।

जान गिराड कोनिग ने ट्रांकेबार (मद्रास से १५० मील दक्षिण) में एक सभा स्थापित की जिसका नाम था 'The United Brothers' (सहयोगी बान्धव) इस संस्था का उद्देश्य वनस्पति-अध्ययन को प्रोत्साहन देना था। हेन (Heyne), राटलर (Rottler), क्लाइन (Klein), फलेमिंग, एण्डरसन, बेरी, जान, राक्स बर्ग, बुकानन, और सर विलियम जोन्स इसके सदस्य थे। ये एक दूसरे के सहयोग से वनस्पतियों की परीक्षा करते थे, और कुछ नमूने परीक्षा के लिये यूरोप भी भेजते थे। इनका विवरण रेट्ज (Retz), रौथ (Roth), श्रेडर, विलडेनो, वाहल (Vahl) और स्मिथ ने दिया है। फ्रांसीसी वनस्पतिवेत्ता सौनेरेट (Sonnerat) आदि पांडिचेरी से अपने नमूने फ्रांस भेजते थे, इनका विवरण लैमार्क और पायरेट (Poiret) ने दिया है।

वनस्पति विज्ञान की भारतीय-प्रगति के इतिहास में सब से अधिक उल्लेखनीय बात सन् १७८७ में कलकत्ते में रायल बोटानिक गार्डन का संस्थापन होना है। इसका समस्त श्रेय बंगाल के गवर्नर के सैनिक मंत्री लेफिटिनंट कर्नल राबर्ट कीड (Kyd) को है। कीड महोदय को वनस्पति विज्ञान से बड़ा ही स्नेह था। कलकत्ते का यह उपवन भावी वनस्पतिवेत्ताओं का केन्द्र बन गया। वनस्पति विज्ञान का कार्य शीघ्रता से चलने लगा और भारत के बहुतसे प्रसिद्ध वनस्पतिज्ञोंका कार्य्यक्षेत्र यही गार्डन रहा। वनस्पतिवेत्ताओंको एशियाटिक सोसायटी आफ् बङ्गालका भी कृतज्ञ होना चाहिये। इस संस्था के संस्थापक सर विलियम जोन्स न केवल पुरातत्त्ववेत्ता ही थे प्रत्युत वनस्पतिज्ञ भी थे। वे वनस्पति विज्ञान को प्रकृतिका परम मनोरम रूप मानते थे। लगभग १०० वर्ष तक भारतीय वैज्ञानिकोंके लेख छपने का माध्यम एशियाटिक सोसायिटी-बङ्गाल का जर्नल ही रहा जिसका इस कार्य्यके लिये पृथक भाग प्रकाशित हुआ करता था।

सन् १७९३ में कीड की मृत्यु होगई। इसके उपरान्त विलियम राक्सबर्ग (Roxburgh) कलकत्ता-गार्डनका अध्यक्ष नियुक्त हुआ। यह पहला व्यक्ति था जिसने भारतीय पौधोंको फ्लोरा (पुष्प गुण के अनुसार) केरूपमें क्रमित किया। उसके पश्चात् सन् १८१५ में कोपनहेगनके नेथेनियल वालिक (Wallich) अध्यक्ष हुए जिन्होंने ३० वर्ष कार्य्य किया। डा० वालिक पहले पहल सेरामपुरके डेनिश-राज्य में वैद्य के रूप में आये थे। जब अँग्रेजों ने सेरामपुर पर क़ब्जा

कर लिया तो आप क़ैद कर लिये गये। पर डा० वालिक की वनस्पतिक ख्याति ने अँग्रेज़ी सरकार को मुक्त कर देने के लिये विवश किया और वे कलकत्ता-उपवन के अध्यक्ष बना दिये गये। वालिकने वनस्पतियों का एक बृहत् संकलन किया जिसे वह अपने साथ लन्दन ले गये। इन पौधों का और इनसे पूर्व हेन, राटलर, बुकनन आदि द्वारा भेजे गये पौधों का डि-कैण्डोल, कुन्थ, लिंडले, माइसनर, वान एसेनबेक, वान मेरियस और बेन्थम ने नामकरण किया। वालिक के समय में राबर्ट वाइट (Wight) दक्षिणी भारतमें वनस्पतिकार्य्य संलग्नता से कर रहा था। पेरिस संग्रहालय के अनुरोध पर फ्रांसीसीवेत्ता विक्टर जेक्वेमाण्ट (१८२३-३२) भी समस्त भारत में वनस्पतिसंग्रह के लिये परिभ्रमण कर रहा था। जेक्वेमाण्टका बम्बई के प्राणान्त होगया और उसके संग्रह की परीक्षा केम्बेसेडेस और डिकेज्ने ने की।

टामसन (Thompson) नामक व्यक्ति ने पञ्जाब और संयुक्त प्रान्त की वनस्पतियों की परीक्षा की।

सन् १८२० में सहारनपुर के एक नवाबी बाग़ पर ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अधिकार जमाया। यह बाग़ भी आगे चलकर वनस्पतिविज्ञान के अध्ययन का एक अच्छा केन्द्र बन गया। यहां १९ वीं शताब्दी के मध्य तक कार्य्य करने वाले व्यक्तियों में गोवन, रायले, फाल्कोनर और जेमसन का नाम उल्लेखनीय है। इस समय तक पश्चिमी भारत में ग्रेहम, ला, निम्मो, गिबसन, स्टाक्स, और डेलज़ेल ने कार्य्य किया, उत्तरी भारत में हार्डविक, मैडन, एजवर्थ, लैन्स, और विके ने; आसाममें जेनकिन्स, मास्टर्स, मैक, साइमन्स और ओलढम ने तथा विण्टर बाटम ने कमाऊँ, गढ़वाल और सरहद्दी तिब्बत में।

सन् १८४८ में सर जोसेफ हूकर भारतमें आये। उन्होंने डाक्टर थामसके सहयोगमें सिक्किमके फ्लोराके अध्ययनमें अपना समस्त समय लगाया। बेकर, सर थिसेलटन-डायर, बेनेट, एण्डरसन, एजवर्थ, हीर्न, लौसन, मास्टर्स, स्टाफ और गैम्ब्ले की सहायता से इन्होंने बृटिश भारतका फ्लोरा १८७२ से १८९७ के बीचमें प्रकाशित किया। हूकरके आनेके समयसे क्लार्क और एण्डरसन ने भी अच्छा काम किया। कुर्ज़ ने बर्नेस, मेसन और सर हेनरी कौलेटके सहयोग से बर्माके जंगलोंके फ्लोराका अध्ययन किया। सन् १८६७ में एटकीसन ने पञ्जाब के पौधों की सूची प्रकाशित की। भारतीय जंगल विभागके स्टीवर्ट, बेड्डोम,, सर ब्रण्डिस, टेलबोट और गैम्ब्ले ने भारतीय वनस्पतियों पर अच्छा कार्य किया। अन्य उल्लेखनीय व्यक्ति जिन्होंने १९वीं शताब्दी के अन्त तक काम किया ये हैं—लेस, हायनिग, हेन्स, मेकडोनल, एलिस, ओलिवर, उपेन्द्रनाथ कञ्जीलाल, और बोर्डि-लोन। इस समय मद्रासमें नोटोन, पेर्रोटेट, मेट्ज़, होहेनेकर, श्मिड्ट, बिडी और लासन ने काम किया। बम्बई प्रेसिडेन्सीमें पूनामें उसी समय वनस्पति-संग्रहालय खोला गया जिसका श्रेय कुक, वुड्रो, रानाडे और लिस्बोआ को है। सन् १८९० में बोटानिकल सर्वे की संस्थापना हुई, इसके द्वारा कलकत्ता, सहारन-पुर, मद्रास और पूनाके सभी केन्द्र एक सूत्रमें बांध दिये गये। रिकार्ड आव् बोटानिकल सर्वे और एनल्स आव रायल बोटानिक गार्डन, कलकत्ता प्रकाशित होने लगे।

वनस्पतिक अर्थशास्त्र पर भी कुछ काम आरम्भ हुआ। सन् १८८३ में गवर्नमेंट ने रिपोर्टर आव् इकोनोमिक प्राडेक्टस् आव् गवर्नमेंट आव् इण्डिया' का एक पद स्थापित किया। इस पद पर डा० जार्जवाट (Watt) की नियुक्ति हुई. इन्होंने साम्पत्तिक पदार्थोंका कोष ('Dictionary of economic products') तैयार किया जिसमें वनस्पतिक पदार्थों के अतिरिक्त पाशविक और खनिज पदार्थों का भी संग्रह दिया हुआ है।

वनस्पतिवेत्ताओं के पुरुषार्थसे भारतमें चायका व्यवसाय आरम्भ हुआ। सन् १८२६ में डेविड स्काट (Scott) ने यह बताया कि आसामके जंगलोंमें चाय बहुत होती है। गवर्नमेंट ने १८३५ में वालिक, ग्रीफिथ

और मेक-क्लीलैण्ड को आसाम की चायका निरीक्षण करने के लिये नियुक्त किया, इन लोगों के उत्साह से चायका व्यवसाय आरम्भ हो गया। सिंकोना के सम्बन्धमें भी वनस्पतिज्ञों ने सहायता दी। रायल, फालकोनर, थामसन, और एण्डरसन के अनुरोध पर सरकारका ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। सर क्लेमेण्ट मारखम (Markham) और हूकर (Hooker) के प्रयत्न से १८६१ और १८६८ के बीच में औषधोपयोगी सिंकोना प्रचलित की गई।

भारत में रबर के प्रचार का इतिहास भी मनोरंजक है, सन् १८७६ में एच० ए० विक्खम (Wickham) अमेज़न के मोहाने से बिना ब्रेज़िल-सरकार की आज्ञा के चतुराई से हेविया के बहुत से बीज चुरा लाये, और क्यू पर आकर इन्होंने ये बीज सर जोसफ हूकर को दे दिये, इन्हें क्यू (Kew) के ओर्चिड-गृहों में उगाया गया और वहां से फिर भारत, लङ्का और सिंगापुर को भेजा गया।

वनस्पति वेत्ताओं ने जङ्गल के विभाग में भी भारतीय सरकार की सहायता की है। आरंभ में इसकी आयोजना में गिबसन, डालज़ेल, क्लेघार्न, एण्डरसन, स्टीवर्ट, और ब्राण्डिस सरीखे वनस्पतिज्ञों ने सहायता दी थी।

क्रिप्टोगैमिक वनस्पतिविज्ञान में ग्रीफिथ क्लार्क, होप, और बैड्डोम ने ही १९ वीं शताब्दी के अन्त तक काम किया। इस ओर उल्लेखनीय काम कम हुआ बार्कले और कनिंघम ने फंफूदी और पौधों के रोगों से इसके संबन्ध पर अच्छा कार्य्य किया।

१९ वीं शताब्दी के अन्त तक जितना इस क्षेत्र में कार्य्य हुआ है उसका ही उल्लेख यहां किया गया है।

विकासवाद

(अनु० विकास प्रिय)

(८)

विकासवाद की पुष्टि विशेषतः भग्नावशेषोंसे होती है। भग्नावशेषविद्या वह विज्ञान है जो इसपृथ्वी की अनेक चट्टानोंमें पाये जाने वाली वनस्पतियों एवं पशुओंके अस्थिपिंजरादि अवशेषोंकी समीक्षा करता है। इस विद्या का विशेष महत्व है क्योंकि इसके द्वारा उन सब पशुओं या वनस्पतियों का भी ज्ञान हो जाता है जो चाहे इस समय तो धरातल पर न पायी जाती हों पर किसी न किसी युगमें अवश्य विद्यमान थीं। इनके द्वारा विकास-क्रम को शृंखला पूरी करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। यदि विकासवादमें कुछ भी सत्यता है, तो भग्नावशेष विद्यासे इसकी विशेष पुष्टि होनी चाहिये, और इसके सम्बन्ध में इससे अनेक निर्भ्रान्त साक्षियाँ प्राप्त होनी चाहिये। और यदि विकासवादमें असत्यता है तो यह बात भी भग्नावशेषविद्यासे स्पष्ट हो जानी चाहिये।

यहाँ यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि इस विज्ञानमें भी बहुत सी असुविधायें और आपज्जनक बातें हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। अतः इनके प्रति भी सावधानी रखनी चाहिये। इस सम्बन्धमें निम्न बातें विचारणीय हैं।

(१) पशुओं और वनस्पतियों की बहुत सी ऐसी जातियाँ हैं जिनके भग्नावशेषों का सुरक्षित रहना असम्भव है। बहुत सी तो इतनी दुष्प्राप्य हैं, अथवा इतने कालान्तर की हैं, कि उनके अवशेषोंसे कुछ विशेष काम नहीं लिया जा सकता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि विकासवादके क्रमको निश्चित करनेके लिये जिनके अवशेषोंसे सहायता ली जा सकती थी, वे बहुधा ऐसे हैं जिनके अवशेषोंके सुरक्षित रहने की संभावना ही नहीं है। किसी अवशेषके सुरक्षित रहने की सम्भावना तभी हो सकती है जब कि उक्त प्राणीके जीवनकालमें उस प्रकारके बहुतसे प्राणी विद्यमान हों क्योंकि जब लाखों होंगे तो कहीं कालान्तर तीन चार सुरक्षित रहजावेंगे। बहुतसे प्राणियों की संख्या तो बहुत ही कम थी, और इसीलिये उनके अवशेष मिलना दुर्लभ हो जाता है और विकास का क्रम अधूरा रह जाता है।

(२) प्राणियोंके शरीरके दृढ़ अंग जैसे हड्डी, दांत, घोंघा, सीपी आदि ही तो अवशेष रूपमें रह जाते हैं

और शेष रक्त मांसादि तो लुप्त हो ही जाता है। कभी कभी इस प्रकार पाये हुए अस्थिपिंजरके आधार पर प्राणीके व्यवस्थित शरीर की कल्पना करना बड़ा ही कठिन हो जाता है, और इसमें कभी कभी भ्रान्ति की भी सम्भावना रह जाती है, अतः इस सम्बन्धमें भी किसी निश्चय पर पहुँचनेसे पूर्व बड़ी सावधानी की आवश्यकता है।

(३) डार्विनने अपने 'ओरिजिन आव् स्पैसीज़' ग्रन्थमें एक विशेष अध्याय 'भूगर्भ साक्षियोंकी अपूर्णता' के सम्बन्धमें दिया है, जिसमें इस बातका उल्लेख किया गया है कि भग्नावशेष बड़े ही अनियमित रूपमें सुरक्षित रह पाये हैं, और इन अवशेषों के बीचमें युगों का अन्तर पड़ जाता है। उसका कथन है कि "मैं भूगर्भस्थ लेखों को संसार का अधूरा और अतिभिन्न लिपियोंमें लिखा हुआ इतिहास मानता हूँ; इस इतिहास का अन्तिम भाग ही तो इस समय हमें प्राप्त है, और वह भी दो या तीन देशों का ही। इस भाग का भी एक छोटा सा अध्याय ही इस समय सुरक्षित रह पाया है—, यही नहीं प्रत्येक पृष्ठ की कुछ पंक्तियाँ ही पढ़ने योग्य यत्र-तत्र बच सकी हैं, हर एक अध्याय में धीरे धीरे भाषा बदल गई है। इस प्रकार इन समाधिस्थ अस्थि पिंजरों द्वारा लिखे गये लेखों से इतिहास का पता लगाना बड़ा ही कठिन हो जाता है।"

चट्टानों पर अङ्कित यह लेख कितना अधूरा पाया जाता है इसका एक उदाहरण यहां दिया जाता है। यह कनेक्टीकट घाटी की घनी चट्टानों का है। ये चट्टानें हडसन नदी से आरम्भ होकर न्यूजेरसी, पेनसिलवेनिया, और मेरीलेंड होती हुई वर्जीनियां में समाप्त होती हैं। इनका उद्भव भूगर्भवेत्ता ट्रायसिक काल में बताते हैं। इन चट्टानों का जन्म समुद्र में नहीं प्रत्युत थल भाग और स्वच्छ पानी में हुआ था। इनमें भग्नावशेषों का अभाव पाया जाता है, और दुस्तर प्रयत्न करने पर भी इन लम्बी चट्टानों में जीवन का कोई चिह्न भी प्राप्त होना कठिन है। पश्चिमी मेसाचुसेट्स आदि कई स्थानों में बहुत से विस्तृत दलदल थे जिनके पृष्ठतल पर उत्तरी अमरीका के तत्कालीन भिन्न भिन्न प्रकारके उरगों (रेप्टाइलों) के अनेक पदचिह्न अब तक सुरक्षित हैं। कुछ पदचिह्न तो इतने छोटे हैं जितने के चिड़ियाके पैरोंके होते हैं और कुछ भीमकाय पशुओं के १८-१८ इञ्च लम्बे हैं। इन सब को देखने से पता चलता है कि उस समय यहाँ अनेक जातियों के पशु रहते होंगे। यह सब होते हुए भी पेनसेलवेनियाँ से लेकर मेसाचुसेट्स तक के विस्तृत स्थल में केवल दो या तीन हड्डियाँ ही पायी गई हैं। इमारतों के बनाने का पत्थर इन चट्टानों से काटकाट कर बहुत उपयोग में लाया जाता है। ऐसी अवस्था में भग्नावशेषों का अभाव और भी प्रत्यक्ष है। इस उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा कि यद्यपि पशुओं के पदचिह्न इस बात के परिचायक हैं कि अनेक जाति के पशु यहाँ विद्यमान थे, पर इस कालचक्र में उनके अस्थिपिंजर आदि भग्नावशेष कुछ भी सुरक्षित न रह सके। लेखों की अव्यवस्थाका यह बहुत ही अच्छा उदाहरण है। अतः इन पदचिह्नों के होते हुए भी उन पशुओं का विस्तृत विवरण जानना असम्भव होगया है।

पर इतनी कठिनाइयाँ होते हुए भी डार्विन के बाद से अबतक अनेक नये भूगर्भ स्थलों की परीक्षा की जा चुकी है, और इन परीक्षाओं ने जीवन शृंखला की अनेक लुप्त कड़ियों को पूरा कर दिया है। भूमि के प्राचीन इतिहास का वह युग जिसके जीवनके सम्बन्धमें हमें सब से अधिक ज्ञात है, कैम्ब्रियन कालका है। पर अन्यकालों की अपेक्षा इस कालके भग्नावशेष बहुत ही कम पाये जाते हैं। इस काल की बनी हुई विस्तृत चट्टानें बिलकुल ही ऊजड़ है। इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता था कि कैम्ब्रियन काल सम्बन्धी हमारा ज्ञान अधूरा और अनिश्चित है। कुछ वर्ष पूर्व स्मिथसोनियन इन्सटीट्यूशन के मंत्री डा० सी० डी० वालकौट ने कनाडा की चट्टानों में कैम्ब्रियन काल का बहुत ही सुन्दर भग्नावशेष पाया। यह बहुत ही

अच्छी तरह से सुरक्षित रह पाया है और इसने अनेक सन्देहजनक स्थलों पर बड़ा ही उपयोगी प्रकाश डाला है। यह स्पष्ट हो गया है कि कैम्ब्रियन सागरोंमें अनेक जातिके असंख्य जीवधारी विद्यमान थे, पर कुछ ही स्थल ऐसे थे जहाँ ये कोमल पशु सुरक्षित रह सकें। यह कहना कठिन है कि जिन जिन बातों के सम्बन्ध में इस समय भूगर्भ लेख अधूरा है, उन पर आगे की खोजें कितना प्रकाश डालेंगी, पर आश्चर्य इस बात का न होना चाहिये कि भूगर्भ स्थलों में इतना अधूरा लेखा क्यों पाया जाता है, प्रत्युत आश्चर्य तो इस बात का है कि इतना भी कैसे सुरक्षित रह पाया है। इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि भग्नावशेष सम्बन्धी खोजों से विकास के क्रमकी बड़ी ही सुन्दर पुष्टि होती है—क्योंकि जीवन के इतिहास के कुछ अध्याय इनमें बड़ी ही चातुरी से अंकित हैं। यह भी प्रकृति की आश्चर्यजनक एव कौतूहल प्रद लीला है।

भग्नावशेषों के आधार पर जीवन का इतिहास किस प्रकार निश्चित किया जा सकता है, इस विषय पर विस्तार से कहने का यहां अवकाश नहीं है। कुछ लोगों को यह सुनकर विस्मय होगा कि जो अस्थिपिंजर किसी चट्टान के १००० फुट नीचे पाया गया है, वह उस पशुका होगा जो समुद्र का निवासी था और जिसकी हड्डियां समुद्रकी तलैटीमें समाधिस्थ हो गईं। पर बात ऐसी ही है और इसका कारण भी बहुत ही स्पष्ट है। यह बात भी आपको मान लेनी चाहिये कि एकके ऊपर एक जिस क्रमसे चट्टानों में भग्नावशेष पाये जाते हैं, वह क्रम उनके जीवनके युगों का भी परिचायक है। नीचे की चट्टान का भग्नावशेष सबसे प्राचीन कालका होगा और ऊपर की चट्टान वाला उसकी अपेक्षा नवीन काल वाला। विकासवाद की पुष्टि के लिये यह कपोल कल्पना नहीं की गई है, प्रत्युत इस सिद्धान्तको तो डार्विन की क्रान्तिकारी पुस्तक के प्रकाशित होने से पूर्व भी माना जाता था। इसके विस्तृत वर्णन के लिये पाठकों को भूगर्भ-विज्ञान की किसी उत्तम पुस्तक का अवश्य अवलोकन करना चाहिये।

भौगर्भिक साक्षियों का अध्ययन करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि भूगर्भ वेत्ताओं ने काल को किस प्रकार विभाजित किया है। नीचे की सारिणीमें यह दिखाया गया है। सबसे आधुनिक काल पहले दिया गया है, और प्राचीनतम काल नीचे।

मन्वन्तर	काल	खंड
सेनोजोइक या आधुनिक मन्वतर	चतुर्थ काल	आधुनिक खंड
		प्लाइस्टोसीन खंड
	तृतीयकाल	प्लायोसीन खंड
		मायोसीन खंड
		ओलिगोसीन खंड
		एओसीन खंड
		पेलिओसीन खंड
मेसोजोइक या माध्यमिकमन्वन्तर	क्रीटेशस काल	
	जूरेसिक काल	
	ट्रायेसिक काल	

पेलीज़ोइक या पुरातन मन्वन्तर	परमियन काल कार्बोनिफेरस काल डोवेनियन काल सिलूरियन काल ओर्डोवीसियन काल कैम्ब्रियन काल

पूर्व-कैम्ब्रियन या अतीत मन्वन्तर

इस सारिणी में अनावश्यक होनेके कारण मेसोज़ोइक और पेलीज़ोइक मन्वन्तरों के खंडों को छोड़ दिया गया है। भूगर्भ चट्टानों में जो भग्नावशेष पाये जाते हैं, उनके निरीक्षण से यह पता चलता है कि सृष्टिके आदि से आजतक विकास का क्रम उन्नति की ओर होता आया है, कभी यह विकास अधिक प्रगति से हुआ है और कभी यह धीमी प्रगति से। इसको देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि सृष्टि कर्त्ता की दृष्टि में विकास की एक नियमित और निश्चित आयोजना विद्यमान थी और वह इस आयोजना के अनुसार सृष्टि करता गया और फलतः आधुनिक वनस्पति और पशुओं का जन्म हुआ।

आजकल सेनोज़ोइक मन्वन्तर है जिसमें हम लोग विद्यमान हैं। इसमें थलीय वनस्पतियों की विशेषता है, जिनमें मुख्यतः फूल देने वाले पौधे हैं जैसे पेड़ झाड़ी, जिनमें अन्य जड़ी बूटियाँ सम्मिलित हैं, इनके अतिरिक्त खजूरके से वृक्ष और घासभी हैं। शंकुपत्रक (कोनीफेरस) जिन्हें 'सतत-हरित' समझना चाहिये, देवदार, फ़र, इत्यादि भी पुष्पद पौधे ही हैं, पर कुछ निम्न श्रेणीके पुष्प रहित पौधोंमें आजकल केवल फर्न, काई और लिचेन ही बाहुल्य से मिलते है; इनमें फफूंदी, और अणुवीक्षणीय पौधोंका उल्लेख छोड़ दिया गया है, क्योंकि उनका इतिहास अधिकांशतः अज्ञात ही है। इस समय पाये जाने वाले कुछ पौधों का महत्व इस बात से विशेष है कि वे प्राचीन पौधों के अवशेष हैं, और उनकी कुछ याद दिलाते हैं। ये पौधे इस समय तो कम पाये जाते हैं पर एक समय था जब कि पृथ्वी इनसे भरी हुई थी। इनमें एक का नाम साइकाड (Cycads) है जो इस समय केवल उष्ण प्रदेशों में उपलब्ध होते हैं, और अपुष्पद पौधों में लायकोपोड और अश्वपुच्छ (हार्सटेल) प्राचीन वनस्पति के अवशेष हैं।

पशुओं में आजकल स्तन चौपायों की बहुतायत है। द्विपदी पक्षियों और उरगों की संख्या बहुत ही कम है। इनकी पांच ही जातियां पाई जाती हैं। लिज़ार्ड, सांप, टर्टल, मगर, और न्यूजीलैंड का एक विशेष लिज़ार्ड। आजकल पाई जाने वाली मछलियों में अधिकांशतः अस्थिमय मछलियां (टेलिओस्ट) हैं, और बाकी शार्क जाति की हैं। इनके अतिरिक्त मीठे जल में दो ऐसी मछलियों की जातियां भी पाई जाती हैं जिनका संबन्ध अति प्राचीन है, एक तो गेनोइड और दूसरी दक्षिणी गोलार्ध की फुफ्फुस मछली (लंग-फ़िश)। आजकल के बेरीढ़ी प्राणियों का पर्यावलोकन करना बहुत कठिन है, केवल कुछ मुख्य जातियों का नामोल्लेख ही किया जा सकता है। इनमें बहुत से तो उच्चश्रेणी के कीट हैं, बीटल (कोलियोप्टेरा) माथ, तितली (लेपिडोप्टेरा), चींटी, मछली, ततीते (हीमेनोप्टेरा) मक्खियां (डिप्टेरा)। समुद्री जीवों में क्रस्टेशियन, मोलस्क, स्टार फिश, सी-अर्चिन आदि पाये जाते हैं।

इस उल्लेखसे इस बात का साधारण पता चल जायगा कि आधुनिक सीनीज़ोइक कालके प्राणियों और वनस्पतियों की क्या अवस्था है। इस कालमें बहुतसे खंड हैं, और प्रत्येक खंड की कुछ न कुछ विशेषता रही हैं। उत्तरोत्तर खंडोंमें विकास का क्रम बहुत ही उन्नत होता आया है। परिस्थितियोंके अनुकूल होने पर तो इस विकास क्रमके विवरण तो बहुत ही स्पष्ट और विस्तार से मिलते हैं। प्रत्येक काल या खंडके अन्तर्गत भी उतने ही स्पष्ट भेदक लक्षण पाये जाते हैं जितने कि दो काल या दो खंडोंके बीचमें।

माध्यमिक या मेसोज़ोइक मन्वतन्रके अन्तिम कालकी वनस्पतिक अवस्था बिल्कुल वैसी ही थी जैसी कि सीनोज़ोइक की (क्रीटेशसखंडमें अधिक वनस्पतिक विप्लव हुआ) पर माध्यमिक कालके पौधोंमें

कोनीफेरस (शंकाकार), और साइकाड की विशेषता थी। साइकाड तो समस्त भूमंडलमें फैले हुए थे, यहाँ तक कि एराटार्टिक (दक्षिणी) महाद्वीपमें भी। इस समय आधुनिक काल की अपेक्षा पक्षी तो अधिकतर दुर्लभ ही थे, और जो थे भी, वे भी आदिम-पक्षी थे। सस्तन प्राणियों का भी लगभग अभाव था, इस समयके प्राणी निम्न श्रेणीके छोटे जन्तु थे। पर हाँ उरग या व्यालों की संख्या बहुत अधिक थी। इसी लिये माध्यमिक काल को बहुधा "व्यालकाल" या उरग-काल कहा जाता है। ये व्याल न केवल भूमि पर ही थे, प्रत्युत जलके अन्दर और हवामें ऊपर भी उड़ते थे। ये बड़े ही भीमकाय थे, इनके समान लम्बे चौड़े पशु संसारमें बहुत कम हुए हैं। आधुनिक और माध्यमिक कालमें एक भेद और है। आज कल पांचवर्गके व्याल पाये जाते हैं पर माध्यमिक कालमें तो इनके २० के लगभग वर्ग पाये जाते थे। आजकलकी वनस्पतियोंके समान अस्थिमय मछलियों का भी विकास क्रीटेशस कालमें हुआ। इस कालके पूर्व मत्स्य जातिमें केवल गेनोइड और शार्कका समावेश था, माध्यमिक कालके बेरीढ़ी प्राणी अधिकांशतः आजकल के से ही थे। पर उनके कुछ विशेष समूह थे। आज कल की अपेक्षा माध्यमिक कालमें मौलुस्काके अन्तर्गत बाइल्वा और गैस्ट्रोपोड कम पाये जाते थे, और एमोजाइट नामक सुन्दर घोंघे विशेष और बहुत मिलते थे। इन पौधों की परीक्षा से भी विकास क्रम पर उपयोगी प्रकाश पड़ता है। विचित्र बेलेमनाइट तो माध्यमिक काल हीमें पाई जाती थीं।

जीवनके इतिहासमें इतना घोर विप्लव कभी नहीं हुआ जितना कि अतीत (पैलीजोइक) और माध्यमिक (मेसोज़ोइक) कालके बीचमें। यदि कोई प्रकृतिवेत्ता किसी प्रकार अतीत कालमें पहुँच जाय तो उसे एक बिलकुल ही अज्ञात और अपरिचित संसार दिखाई पड़ेगा। उसे अजीब तरहके पशु और अजीब तरह की वनस्पतियाँ मिलेंगी। थल भागमें होने वाली वनस्पतियोंमें उसे विशालकाय, पेड़ोंसे मिलते जुलते पुष्परहित क्रिप्टोगम, विशेषतः लाइको-पौड, और अश्वपुच्छक, और तरह तरहके फ़र्न मिलेंगे। फूल देने वाले पौधे कठिनतासे दिखाई पड़ेंगे। कुछ साइकाड और कोर्नफर्ससे मिलते जुलते ही प्राप्त होंगे। पर आज कल जैसे पौधे, पशु और पक्षियों का तो दिखाई पड़ना भी कठिन होगा। अतीतकालके जो अवशेष मिले हैं, वे समुद्री बेरीढ़ी प्राणियोंके हैं। समुद्रमें बेरीढ़ी प्राणी बहुतायतसे बसे हुए थे; उनकी आज कलके बेरीढ़ी प्राणियों से तुलना तो अवश्य की जा सकती है, पर वे आदिम अवस्थाके ही थे। मुख्यतया बेरीढ़ी प्राणियोंकी अतीत जातियाँ तो इस समय लुप्त या क्षीण ही हो गई हैं, जो जातियां इस समय कम पाई जाती हैं, वे अतीत कालमें अधिक विस्तारसे दृष्टिगत होती थीं। उदाहरणतः मोलस्क तो आजकल की अपेक्षा कम थे, पर ब्रेकिओपोड और सी-लिली अधिक थे। पैलीजोइकमें ट्रिलोबाइट तो बहुत पाये जाते थे, पर क्रस्टेशियामें ये विलुप्त हो गये। इस अतीत कालमें छोटे छोटे कीट भी बहुत थे, पर ये आज कल की अपेक्षा अधिक भिन्न थे।

अतीत कालके प्राप्त भग्नावशेषों की संख्या सहस्रों है, और प्रति दिन अन्वेषण को प्रगतिके साथ साथ यह संख्या बढ़ती ही जाती है। इन अवशेषों का विस्तृत विवरण देना या आलोचना करना यहां संभव नहीं है। यहां केवल कुछ मुख्य बातों का ही निर्देश किया जावेगा। इनसे पता चल जायगा कि हम जीवन के इतिहास का लेखा किस प्रकार इन अतीत कालीन प्रस्तरों पर पढ़ सकते हैं। विकास क्रमके अन्दर जो सौन्दर्य निहित है उसकी हम एक छोटी सी झांकी ले सकेंगे। जीवन की यह कहानी करोड़ों वर्ष पुरानी है, उत्तरोत्तर कालमें इनमें परिवर्तन हुए हैं, कुछ जीवन तो लुप्त भी हो गये हैं, कुछ नये भी दृष्टिगत हुए हैं। इन सब का प्रमाण चट्टानों के अन्दर छिपे हुए भग्नावशेषों द्वारा किस प्रकार होता है, इसका कुछ दिग्दर्शन कराया जावेगा।

(क्रमशः)

लोहे की खोज

लेखक—श्री जोखू पाण्डेय

रात-दिन लोहे-लक्कड़ में रहते रहते लोहेके सिवा और कोई बात नहीं सूझती ! कारखानेकी तुमुल-ध्वनि, इञ्जनों तथा भोपुओं के सिंह-नाद के कारण कानों में दूसरे प्रकार के शब्द आने ही नहीं पाते ! जगत् की वर्तमान सभ्यता, राजनीति तथा धर्मनीति सब लोहे का लोहा मानकर सिर झुकाये खड़े हैं—जिसमें देखो उसी में लोहे की प्रधानता देख पड़ती है। कभी कभी मन में विचार उठता है कि यदि इस धरा-धाम पर लोहा न होता तो आज कैसी अवस्था होती, अथवा जिस दिन भूगर्भ लोह पत्थर-रहित हो जायगा, उस दिन इस संसार की क्या गति होगी। क्या वही दिन महा-प्रलय का दिन होगा ! भारतीय पुरानी सभ्यता की डींग मारनेवाली आर्य-सन्तान आज लोहे के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानती ! इस भारतवर्ष के हृदय पर हिन्दुओं ने राज्य किया, मुसलमानों ने धर्म के नाम पर खून की नदियां बहाईं। भारत की आर्थिक उन्नति के लिए उन लोगों ने क्या किया ? कहते हैं कि उस समय देश बहुत ही समृद्धशाली था। हो सकता है, क्योंकि उस समय लोगों की आवश्यकतायें बहुत कम थीं। पर उन लोगों ने अपनी भावी सन्तान के लिए क्या किया ? मैं तो कहूंगा कि कुछ भी नहीं। अति प्राचीन पुस्तकों (देशी-विदेशी) से तो पता लगता है कि लोहे तथा अन्य अनेक प्रकार के शिल्प-वाणिज्यों में भारतवासी बड़े चतुर थे। इसके अनेक प्रमाण भी वर्तमान हैं। बात सत्य है, पर ऐसी दुरवस्था हुई क्यों ?

जहाँ जहाँ लोहे की खानें हैं, वहाँ वहाँ के लोहार लोहे के पत्थर को गला कर लोहा बनाते हैं और अच्छी जाति का लोहा बनाते हैं, पर उनकी बनाने की विधि बहुत ही हृदय-स्पर्शी है। जैसे सैकड़ों वर्ष पहले बनाते थे, वैसे ही आज भी बना रहे हैं। उसमें कुछ भी उन्नति नहीं की, वरन अवनति ही हुई है। इसका दोष किसके सिर है ? इस देश के धनिकों के सिर। देश के धनिकों को इन सब बातों से कुछ मतलब ही नहीं।

कर्महीन बनकर अपने पूर्वजों की सुकीर्त्तियों पर डींग मारते मारते हम अधोगति को जा रहे हैं। हमें कोई भी अधिकार नहीं है कि हम अपने पूर्वजों की कीर्त्ति पर अपने को बड़ा समझें। अभी समय है, यदि चेत जायँ तो सम्भव है कि अवस्था सुधर जाय। मैं तो कहूँगा कि हमारे सामने सुअवसर हाथ जोड़े खड़ा है, हमें आवाहन कर रहा है, पर हम अपनी मूर्खता, अविद्या के कारण, उसकी आवाज़ को नहीं सुन पाते। इसलिए हम अवनति के दलदल में फँसे हुए हैं और बराबर धँसते जा रहे हैं।

अँगरेज़ी शासन के दूषण के राग अलापनेवाले हज़ारों की संख्या में मिलेंगे, पर हमें यह मानना ही पड़ेगा कि इसी शासन के बदौलत इस देश में अनेक प्रकार के शिल्प-वाणिज्यों की वैज्ञानिक रीति से उन्नति हो रही है। १९ वीं शताब्दी के शेष में सरकार ने लोहे के पत्थर आदि खनिजों की खोज के लिए कई एक भूतत्त्वज्ञों को नियुक्त किया था। उस समय लोहे के पत्थर की खोज होने लगी, कहीं कहीं छोटे-मोटे कारखाने भी खुले। परन्तु नाना प्रकार की विघ्न-बाधाओं के कारण वे शीघ्र ही मर-मिट गये। तो भी अनुसन्धान का कार्य जारी रहा। उस समय सरकार ने एक नामी जर्मन भूतत्वज्ञ मिस्टर रिटर वान श्वार्ज़ (Mr. Ritter von Schwarz) को मध्य-प्रदेश के लोहे की खानों को भली भांति देखने के लिए नियुक्त किया था।

युवावस्था से ही स्वर्गीय श्रीयुत जमशेदजी नसरवानजी ताता के हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ था कि भारतवर्ष को लोहे और इस्पात के एक आधुनिक ढङ्ग के बड़े कारखाने से सम्पन्न करना चाहिए। वे इसके सोच-विचार में रहने लगे। सन् १८८२ में नागपुर में उन्हें उक्त जर्मन भूतत्वज्ञ की चांदा-जिले की लोहे की खानों के सम्बन्ध में

एक 'रिपोर्ट' पढ़नेको मिली । बस, उनके उत्साह-रूपी अग्निमें इस रिपोर्टने घी का काम किया। जमशेदजी ने स्वयं जाकर मध्यप्रदेशके उन स्थानों को देखा, जहां जहां लोहे और कोयले की खानों का वर्णन उक्त रिपोर्ट में किया गया था और वहां से कोयले और लोहे के पत्थरों के नमूने अमरीका और जर्मनी को परीक्षा के लिए भेजे । सब कुछ हुआ, परन्तु उस समय खानों के सम्बन्ध का सरकारी क़ानून बहुत बाधक था। कहते हैं कि इसके संबंध में ताता तत्कालीन भारतमंत्री से अनेक बार मिले और इस कानून को रद कराने के लिए उनसे आग्रह किया। सन् १८९९ में जब लार्ड कर्ज़न वाइसराय होकर भारत आये तब इस कानून को रद किया। लार्ड कर्ज़न ने ऐसा क़ानून बनवाया जो खानों के अन्वेषण के अनुकूल था । ठीक उसी समय जमशेदजी ताता योरप तथा अमरीका के लोहे के कारखानों का ध्यानपूर्वक निरीक्षण तथा मनन कर रहे थे। अन्त में वे संयुक्त राज्यों के पिट्सबर्ग गये और वहां उनकी भेंट एक ऐसे सज्जन से हुई जिनकी उन्हें आवश्यकता थी । ये महाशय थे जुलियन केनेडी साहलिन कम्पनी के अध्यक्ष तथा पृथ्वी पर एक प्रसिद्ध भूतत्त्वज्ञ मिस्टर जुलियन केनेडी। इसके पहले जमशेदजी ताता ने इँग्लैंड, जर्मनी तथा अमरीकाके नामी नामी कारख़ानोंको देखा था तथा लोहेके कारख़ानोंके सम्बन्धके इञ्जीनियरों से भेंटकी थी । ताता ने अपना विचार मिस्टर केनेडी के सामने प्रकट किया। मिस्टर केनेडी ने कहा कि कुछ भी राय देनेके पहिले उन खानों का वैज्ञानिक रीति से अन्वेषण करना उचित है, सामग्री तथा स्थानीय अवस्था की भी जांच होनी चाहिए। उन्होंने तातासे कहा कि आप न्यूयार्कके प्रसिद्ध भूतत्त्वज्ञ मिस्टर सी० पी० पेरिन से इस कार्य को करावें। जमशेदजी को तो लगन लगी थी ही । वे शीघ्र ही मिस्टर पेरिन के पास गये तथा उनको इस कार्य के लिए नियुक्त किया । परन्तु उस समय मिस्टर पेरिन नहीं आ सकते थे, इसलिए अपने सहकारी मिस्टर सी० एम० वेल्ड को भेजा । मिस्टर वेल्ड शीघ्र ही भारतवर्षके लिए रवाना हुए और जमशेदजी इँग्लेंड गये। वहां से वे जर्मनी गये। अन्वेषण-कार्य मिस्टर शापुरजी सकलतवाला की देख-रेख में हो रहा था। जमशेदजी भी अस्वस्थता के कारण भारत लौट आये। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र सर दोराबजी ताता से इस लोहे के कारबार में हाथ बँटाने का अनुरोध किया। सर दोराबजी ने अपने पूज्य पिता की आज्ञा स्वीकार की। उस समय से लेकर अपने मृत्युकाल तक वे सदा इस लोहे के कारखाने से विशेष प्रेम रखते रहे। बड़े शोक की बात है कि गत ३ जून को जर्मनी में ७३ वर्ष की उम्र में उनकी मृत्यु हो गई।

अपने पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर सर दोराब जी सन् १९०३ के अप्रेल महीने में मिस्टर वेल्ड और मिस्टर सकलतवाला से मिले। खानों की जांच होने लगी। उनको ऐसे ऐसे जङ्गलों में घूमना पड़ता था जो रेलवे स्टेशन से या किसी अच्छे गांव से बहुत ही दूर होते थे। उन्हें भोजन तथा जल तक प्राप्त करने में बड़ी असुविधा होती थी। खाने-पीने का सामान सदा अपने साथ रखना पड़ता था। चाय सोडावाटर में बनानी पड़ती थी। अप्रेल और मई के महीनों की प्रचण्ड गर्मी भी उन्हें कम नहीं सताती थी।

सभ्य संसार से अति दूर बाघ-भालू तथा हाथी आदि हिंसक जन्तुओं से पूर्ण जङ्गलों में सप्ताहों के सप्ताह बिताने पड़ते थे जङ्गलों में रास्ते नहीं थे। जङ्गल काटकर रास्ते बनाने पड़ते थे। इसके लिए १०-२० मज़दूर उनकी बैल-गाड़ियों के साथ आगे आगे चलते थे। कभी कभी हाथियों की सवारी करनी पड़ती थी। जङ्गली गांवों की किसी झोपड़ी में भी वृक्षों के नीचे या बैल-गाड़ियों में ही रातें बितानी पड़ती थीं। जहाँ जहाँ मिस्टर वेल्ड गये, बहुत ही योग्यता तथा सावधानी के साथ जाँच की। अनेक स्थानों को देखने के पश्चात् मिस्टर वेल्ड धाली और राजहारा के पहाड़ों को देखने गये।

जब वे उस पहाड़ के एक गाँव में पहुँचे तब देखा कि वहाँ के निवासी छोटी छोटी भट्ठियों में लोहा गला रहे हैं। उन्होंने लोगों से पूछा कि तुम्हें लोहा कहां से मिला। उन लोगों ने मिस्टर वेल्ड की पार्टी को तीन हज़ार फुट ऊँचे एक पहाड़ पर ले जाकर कहा कि हम यहीं से लोहा ले जाकर गलाते हैं। जब मिस्टर वेल्ड उस पहाड़ पर चढ़े और देखा कि वे धातु पर चल रहे हैं और उनके पांवों के नीचे से धातु की आवाज़ आरही है तब वे बड़े चकित हुए और चट बोल उठे कि बस, अब शुद्ध लोहे का पहाड़ मिल गया। कहते हैं कि लोहे के इतिहास में ऐसा अनुसन्धान कभी नहीं हुआ था। उस पहाड़ के समीप में ही एक और पहाड़भी लोहेसे भरा हुआ मिला। उन लोगों ने सरकार से अन्वेषण-कार्य के लिए लाइसेन्स लेकर पूर्ण रीति से उन पहाड़ों को जांचा। वहां उन्हें बहुत ही अच्छी जाति का तथा बहुत बड़े परिमाण में लोहे का पत्थर मिला। कहते हैं कि ऐसा लोहा दुनिया में कहीं भी नहीं है। जब मिस्टर सी० पी० पेरिन ने धाली और राजहारा के पहाड़ों को देखा तब उन्होंने यह घोषित किया कि संसार के धातु-सम्बन्धी आश्चर्यों में एक यह भी है।

मध्य-प्रदेश में भी कोयले की खानें हैं, पर परीक्षा करने से विदित हुआ कि केवल झरिया का कोयला ही 'कोक' (कोयले को जलाकर उसमेंका कुछ कार्बन निकाल देने पर जो जला हुआ कोयला रहता है उसे कोक कहते हैं) बनाने के उपयुक्त है। लगभग ८-१० मन झरिया कोयला और धाली और राजहारा के पहाड़ों का लोहे का पत्थर परीक्षार्थ अमेरिका और जर्मनी भेजा गया। परीक्षा का फल बहुत ही सन्तोष-दायक और उत्साह वर्द्धक निकला।

अब जल का प्रश्न उपस्थित हुआ। क्योंकि जो बड़े बड़े भट्ठे बननेवाले थे उनको ठंडा करने के लिए लगातार तथा बहुत अधिक परिमाण में जल की आवश्कता थी मध्य प्रदेश की नदियों की जांच की गई। अन्त में मिस्टर वेल्ड ने यह निश्चय किया कि कारखाना मध्य-प्रदेश के बाहर ही बनाने में सुभीता है। इसके लिए सम्भलपुर के समीप महानदी के किनारे पद्मपुर नामक ग्राम चुना गया। इसी समय मिस्टर पेरिन पूर्व-अन्वेषण की जांच करने तथा अपनी अन्तिम राय देने को अमरीका से आये। दुर्भाग्यवश उसी समय स्वनाम-धन्य कर्मवीर जमशेदजी ताता सन् १९०४ की १९ वीं मई को इस कार्य को अधूरा ही छोड़कर स्वर्गवासी हुए। परन्तु अपने सुपुत्रों में एक ऐसी लगन छोड़ गये कि इन लोगों ने अपने पिता के विचारों को कार्य में परिणत कर उनकी आत्मा को परमशान्ति प्रदान की। ये लोग अपने पिता के विचार को पूर्ण करने के लिये अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित नहीं हुए, बरन दृढ़ता-पूर्वक आगे ही बढ़ते गये।

इसी समय मिस्टर पी० एन० बोस ने ताता-कंपनी को पत्र लिखा कि मैं सरकारी कार्य से अवसर ग्रहण कर मयूरभंज-राज्य में कार्य कर रहा हूं। मिस्टर बोस ने द्रुगजिले में लोहे की खोज की थी और उस पर एक रिपोर्ट प्रकाशित की थी, अतएव ये ताता-कम्पनी के परिचित थे। मिस्टर बोस ने महाराज की राय से यह भी लिखा कि लोहे की एक बहुत अच्छी खान मिली है। कम्पनी इसे देखने के लिए अपना प्रतिनिधि भेजे। यह पत्र पाते ही इन लोगों ने यह निश्चय किया कि मयूरभंज की खान को बिना विलम्ब शीघ्र देखना चाहिए। महाराज के यहाँ से पत्र पर पत्र आने लगे। मेसर्स दोराबजी ताता, पेरिन, वेल्ड और सकलतवाला मयूरभञ्ज गये। मिस्टर बोस ने इन लोगों का बड़े प्रेम और श्रद्धा के साथ स्वागत किया। दोनों दलों में कुछ बातचीत होने के पश्चात् मिस्टर वेल्ड ने अन्वेषण-कार्य आरम्भ कर दिया। दोराबजी किसी कार्यवश कलकत्ते चले गये। मिस्टर बोस शेष सज्जनों को लोहे की खान दिखाने ले चले। इन लोगों को वहां पालकी से जाना पड़ा था। इन्हें रास्ते में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, अनेक असुविधायें उठानी पड़ीं जैसे जैसे ये लोग आगे

बढ़ते जाते थे, लोहारों को भद्दे हथियारों से काम करते देख देखकर उन्हें यह विश्वास होता था कि निश्चय यहां लोहे की खान है। शीघ्र ही उनकी आशा फलवती हुई। तीन हज़ार फूट ऊँचे गुरमाही-सिनी पहाड़ को उन लोगों ने अच्छे लौह-पत्थर से भरा हुआ पाया। जो यद्यपि धाली राजहारा पहाड़ों के ऐसा बड़ा था, तथापि लौह-पत्थर उतना अच्छा नहीं था। परन्तु उसकी स्थिति बहुत अच्छी थी। और यह बात भी थी कि पृथ्वी पर इतने लौह-पत्थर पड़े थे कि उन्हें एकत्र करने में कुछ भी खर्च नहीं था, साधारण मज़दूर भी इकट्ठा कर सकते थे। लौह-पत्थर भी बहुत ही अधिक परिमाण में पाया गया और निकालनेमें भी कम ख़र्च देखा गया। धाली-राजहारा से मयूरभंज (गुरमाहीसिनी) में अधिक सुभीता भी था। वह कलकत्ते के बन्दरगाह के समीप था। ताता-कम्पनी ने यह सोचा कि बहुत जल्दी एक बहुत बड़े परिमाण में कच्चा लोहा विदेशों में भेजा जा सकेगा, रेलवे का खर्च भी बहुत कम था। बस, सम्भलपुर की स्कीम स्थगित की गई और धाली-राजहारा भविष्य के लिए सुरक्षित रखा गया। ताता-कम्पनी ने मयूरभंज के महाराज के साथ शर्तें ठीक कीं। महाराज ने बहुत अच्छी तरह से व्यवहार किया।

अन्त में गुरमाहीसिनी पहाड़ लौह-पत्थर के लिए चुना गया। परन्तु इस पहाड़ के कोयले की खानों तथा जलाशयों से दूर होने के कारण यह निश्चय हुआ कि कारखाना कहीं ऐसी जगह में बनाया जाय जहां इन तीनों बातों की सुविधा हो। मिस्टर पेरिन तथा मिस्टर वेल्ड ने सिनी नामक स्थान को पसन्द किया। सिनी बी० एन० रेलवे का एक जंकशन है, और वर्त्तमान कारखाने से १७-१८ मील पश्चिम है। यह निश्चय हुआ की यहां लौह-पत्थर, कोयला, चूना-पत्थर बहुत ही कम ख़र्च में लाया जा सकेगा और मज़दूर भी प्रचुर परिमाण में मिलेंगे। रेलवे-कम्पनी ने भी कम भाड़े पर माल ढोने का वचन दिया। सरकार ने भी कुछ विशेष शर्तों पर दस वर्ष तक प्रतिवर्ष २० हजार टन माल ख़रीदने का वादा किया। अन्त में ताता-कम्पनी ने सन् १९०७ में "दि ताता आयरन एण्ड स्टील कम्पनी लिमिटेड" के नाम से बम्बई में कम्पनी रजिस्टर करवाई। प्रथम पूँजी दो करोड़ एकतीस लाख रुपयों की तय हुई और यह धन इँग्लेंड से लेने का विचार हुआ परन्तु वहाँ सफलता नहीं प्राप्त हुई और वे लोग भारत लौट आये। यहां एक अपील भारतीय धनिकों के नाम निकाली गई और देश-वासियों से इस महत्कार्य में हाथ बँटाने का अनु-रोध किया गया। फलस्वरूप भारत में यह धन मिल गया। साहलिन कम्पनी के मेसर्स जुलियन ककेडी को कारख़ाना बनाने का भार सौंपा गया। कम्पनी के इञ्जिनियर मिस्टर साहलिन भारत आये। उनको सिनी का स्थान उचित नहीं जँचा, इसलिए उन्होंने साकची (वर्तमान जमशेदपुर) को पसन्द किया, क्योंकि सिनी में जल एकत्र करने के लिए १४ लाख रुपये का ख़र्च था और साकची के खड़खाई और सुवर्णरेखा नदियों के सङ्गम पर होने के कारण जल की दिक़्क़त नहीं थी। दूसरा एक और भी कारण था। सिनी में उतनी अधिक भूमि नहीं मिल सकती थी और यहाँ यथेष्ट भूमि मिल सकती थी। रेलवे स्टेशन कालीमाटी (अब तातानगर) भी केवल २½ मील की दूरी पर है। अतएव साकची प्लेटो पर पहली खूटी सन् १९०८ की २८ फरवरी को गाड़ी गई यह स्थान समुद्रतल से ५३५ फ़ुट ऊँचा है। यह प्लेटो कारख़ाने की नींव के वास्ते बहुत ही उत्तम और सस्ता समझा गया। आस-पास का दृश्य बहुत ही रमणीय था कारख़ाने से उत्तर दो मील की दूरी पर सुवर्णरेखा नदी बहती है, और ५-६ मील की दूरी पर ३, २०० फ़ुट ऊँचा दलमा पहाड़ है। कार-ख़ाने की जगह बराबर की गई, कहीं कहीं पहाड़ियों को तोड़ना पड़ा तो कहीं भारी भारी गड्ढों को भरना पड़ा। मकान और सड़कें बनाने

की सामग्रियाँ एकत्र की गईं। अफ़सरों तथा कर्मचारियों के रहने के लिए अस्थायी बँगले बनाये गये। शहर का नकशा ठीक किया गया। साकची रेल-पथ-द्वारा कालीमाटी स्टेशन से जोड़ा गया। वाटरवर्क्स बनाया गया सुवर्णरेखा एक बाँध-द्वारा बाँधी गई और पानी के पम्प करने की व्यवस्था की गई। नदी के धरातल से कारख़ाना १४० फुट ऊँचा है। कारख़ाने के पास एक वृहत तालाब बनाया गया। आज-कल दो बड़े बड़े तालाब हैं, जिनका क्षेत्रफल १५० एकड़ है। इन तालाबों की गहराई कहीं कहीं ६७ फुट तक है और इनमें पाँच अरब गेलन पानी अँटता है। नदी से जल ४८ इञ्च व्यास के नल से इन तालाबों में आता है। एक दूसरे नल से जल फ़िल्टर-प्लाण्ट में जाता है और वहाँ शुद्ध कर शहर में लोगों के व्यवहार के लिए भेजा जाता है। कारख़ाने के भट्टों और बेलनों को ठण्ढा रखने के लिए उन पर बराबर जल देना पड़ता है। ऐसा करने से जल गर्म हो जाता है और एक पतले नाले के द्वारा नये तालाब में लाकर ठण्ढा किया जाता है और वहाँ से फिर पुराने तालाब में पम्प किया जाता है। इस नल में ६०० फौवारे लगे हुए हैं, जिनसे जल बहुत ही शीघ्र ठण्ढा होकर तालाब में गिरता है। इस प्रकार एक ही जल बार बार व्यवहृत होता है। यदि नदी कुछ दिनों के लिए सूख भी जाय तो जल के लिए कोई कठिनता नहीं होगी।

प्रथम काम सन् १९०८ में आरम्भ हुआ, परन्तु कारखाने की नींव सन् १९०९ के मई महीने में पड़ी पहला लोहा सन् १९११ के २ दिसम्बर को बना था। आज तो इस स्थान की अवस्था ही दूसरी है। २४-२५ वर्ष पूर्व जो स्थान घोर जङ्गल था, आज वही लक्ष्मी का क्रीड़ा-स्थल बना हुआ है। इस कारख़ाने की बदौलत लाखों परिवारों का भरण-पोषण होता है। जमशेदपुर आज भूमण्डल पर एक प्रधान स्थान गिना जाता है। कहते हैं कि इस अनुसन्धान-कार्य में ताता के प्रायः सात लाख रुपये ख़र्च हुए थे। जब सर दोराबजी ताता तथा मिस्टर सकलतवाला जङ्गली गाँवों में जाते थे तब वहाँ के ग्रामीणों में दुअन्नी, चौवन्नी, पैसे तथा चावल इस उद्देश्य से लुटाते थे कि ये लोग भयभीत न हों और जब हमारे कर्मचारी काम करने यहां आवें तब इनसे सहायता मिले। जमशेद जी ताता सन् १९०४ में स्वर्गवासी हुए और उनके दोनों पुत्र (सर दोराबजी ताता तथा सर रतनजी ताता) भी स्वर्गवासी हो गये हैं। आज इन के वंश का कोई नहीं रहा, परन्तु ताता का यश चिर दिन तक अमर रहेगा। सर दोराबजी अपनी मृत्यु के कुछ दिन पहले तीन करोड़ २७ लाख रुपये की सम्पत्ति परोपकार के लिए दान कर गये हैं आज भारतवर्ष में ऐसे ही श्रीमानों की आवश्यकता है, ज़मीन में धन गाड़कर रखनेवालों की नहीं।*

—सरस्वती से

समालोचना

योगीश्वर कृष्ण

ले॰ श्री चमूपति एम. ए., प्रकाशक, मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी। पृ॰ सं॰ ३६४। मूल्य २॥) । सजिल्द, छपाई, काग़ज़ अत्युत्तम।

शाहपुरा के राजकुमार उम्मेदसिंह जी प्रदत्त निधिद्वारा स्थापित सूर्य्यकुमारी ग्रन्थावली की यह पहली पुस्तक है।

'ऊढ गुरु भार' सम्बोधनसे श्रीकृष्ण का यह जीवन चरित्र आरम्भ किया गया है। कृष्ण को राजा नहीं, पर राजनिर्माताके रूपमें इस पुस्तकमें प्रस्तुत किया गया है। योगेश्वर कृष्णमें योग शब्दकी भावना योगः कर्मसु कौशलम् की है। कृष्ण के विख्यात सर्वजनीन जीवनके कारण ही उन्हें 'योगेश्वर' की उपाधि दी गई है। यह योग आध्यात्मिक योगसे पृथक् है।

---

* इस लेख के लिखने में मि॰ एफ़॰ आर॰ हैरिस की लिखी "जमशेदजी नसरवानजी ताता" नामक अँगरेज़ी पुस्तक से सहायता ली गई है। —लेखक।

योग्य लेखक ने इस ग्रन्थ की रचना महाभारत और केवल महाभारत के आधार पर की है। महाभारताश्रित सबसे पहली जीवनी बंकिम बाबू का "कृष्ण चरित्र" थी। कृष्णका जन्म वृष्णिकुलमें आज से ५ सहस्र वर्ष पूर्व हुआ बताया गया है। कृत्तिका आदि नक्षत्र-विवरणोंके आधार पर यह समय निश्चित किया गया है। लेखकके मतानुसार वासुदेवके कारावास की कथा, और बन्दीगृहमें कृष्ण की जन्मोत्पत्ति, और नन्द की पुत्री महामाया से परिवर्तन आदि की कथायें महाभारतमें पाई ही नहीं जातीं, अतः कल्पित हैं। पूतना एक स्त्री थी जिसका दूध पीते ही बच्चे मरजाते थे, उसके स्तनोंमें पस था। कृष्ण ने स्तन मुँह में न दिया और उसे हाथों से लेकर भींच दिया, और रसस्राव के कारण पूतना मरगई। शकट की कथा, और शकुनिवध की भी चमत्कारिकताको स्वाभाविकतामें परिणत किया गया है। पागल बैल और बनैले घोड़ेके बधका भी पराक्रम पूर्ण उल्लेख किया गया है—यह हुई हयसुर, वृषासुर और इसीप्रकार बृकासुर की गाथायें। कृषियज्ञके स्थानमें गोपूजन की प्रथा भी कृष्ण ने चलाई। वृन्दावनमें जब वर्षा हुई, तो गोवर्धनका आश्रय लिया गया। इस बार कृष्ण ने बड़ी सार्वजनिक सेवा की और सबके स्नेह-पात्र बन गये।

कृष्ण मथुरामें संघ की स्थापना करना चाहते थे; और कंस के इसमें बाधक समझते थे अतः उसका बध किया गया। इस पुस्तकमें लेखक ने कृष्ण की राजनीतिज्ञताका स्थान स्थान पर उल्लेख किया है, और प्रत्येक कार्य्यमें चातुरी प्रदर्शित की है। प्रस्तुत ग्रंथमें युधिष्ठिरका राजसूय वर्णन, कृष्ण की बसीठी, अभिमन्यु की वीरता, महाभारतके युद्ध की आचारनीति, अश्वमेध या साम्राज्य स्थापन आदि का विवरण उल्लेखनीय है। देश विदेशके बाल-गोपाल वाला सूक्ष्म अध्याय भी उपयोगी है।

कृष्ण के मानव जीवनका महाभारतके आधार पर विवरण संकलित करके लेखक ने बड़ा ही उपकार किया है। कृष्णको सभी ने भिन्न भिन्न रूपोंमें देखा है पर बुद्धिमानोंको यह पौरुषेय रूप भी कम रुचिकर नहीं प्रतीत होगा। राजनीतिज्ञोंके लिये तो यह विशेष महत्वका है। लेखकको बधाई।

भाषामें कहीं कहीं पंजाबी पुट है। तब भी लेखन शैली सजीव है।

—सत्यप्रकाश

रसयोगसागरीयाक्षेपोत्तराणि

ले० श्री वै० पं० हरिप्रपन्न जी श्री भास्कर ओषधालय, पो० नं० ४, बम्बई।

श्री हरिप्रपन्न जी ने रसयोगसागर नामक ग्रन्थ का सम्पादन करके हिन्दी जगत् और वैद्यसमाज दोनों की ही सेवा की है। जहाँ छोटे छोटे ग्रन्थों पर अनेक आलोचनायें और प्रत्यालोचनायें प्रकाशित होती रहती हैं, वहाँ इस बड़े ग्रंथ पर कुछ व्यक्तियों ने आक्षेप करने की कृपा की तो अस्वाभाविक ही क्या हैं! श्री पं० हरिदत्त शास्त्री, राजवैद्य जीवराम, कालीदास और पं० शालग्राम शास्त्री जी ने भिन्न भिन्न पत्रिकाओंमें रसयोगसागर की कुछ आलोचनाकी थी। इन आलोचनाओं का प्रत्युत्तर हरिप्रपन्न जी ने बड़े ६४ पृष्ठों में प्रकाशित किया है। उत्तर योग्यता और युक्ति पूर्वक दिया गया है, यद्यपि आक्षेपक और उत्तरदाता दोनों की ही भाषायें अधिक संयत होतीं तो बहुत अच्छा होता। हमारी दृष्टिमें रसयोगसागर बहुत ही अच्छा ग्रंथ है, और इस प्रकार के आक्षेपों से उसके महत्व में कोई कमी नहीं आती है। प्रत्युत्तर की भी कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। ऐसे स्थलों में मौन रहना ही अच्छा होता है।

वैदिक विज्ञान—सम्पादक प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालङ्कार। वार्षिक मूल्य ४) एक अंक का मूल्य ।=) प्रकाशक—आर्य साहित्य मंडल लिमिटेड अजमेर।

यह आर्यसाहित्य मंडल लि० अजमेर का मुखपत्र है। इसका उद्देश्य है वेद और वेदानुकूल आर्य ग्रन्थों के तत्वों पर विचार और अनुसन्धान करके वैदिक सिद्धान्त और वैदिक सभ्यता का प्रचार

करना । इसके प्रथम वर्ष का चौथा अङ्क हमारे सामने है। इसमें वेदोपदेश, वेदार्थ और वेद की अन्तः साक्षी, स्कम्भ सूक्त, सामवेद का स्वाध्याय, शतपथ ब्राह्मण व्याख्या, भक्त और उपास्य, वैदिक वर्ष गणना इत्यादि लेख विद्वत्तापूर्ण और मनन करने योग्य हैं। इसमें कई हिन्दी कविताएँ भी हैं। वैदिक विज्ञान मासिकपत्र आर्यसमाज के लिए विशेष आदरणीय और उपयोगी है। आर्यसमाजियों को इसका ग्राहक बनकर लाभ उठाना चाहिए।

मनोरंजन—वार्षिक मूल्य २) एक अङ्कका =)

पता—व्यवस्थापक मनोरञ्जक हरद्वार।

यह कहानियों का मासिकपत्र रामचन्द्र शर्मा और कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर के सम्पादकत्व में प्रकाशित होता है इसकी कहानियां अच्छी और शिक्षाप्रद हैं। इससे लोगोंका मनोरञ्जन अवश्य होगा।

यक्ष्मा

(गतांक से आगे)

[ले०—डा० कमलाप्रसाद जी, एम० बी०]

चिकित्सा-भंग

यदि किसी विशेष कारण-वश चिकित्सा कुछ दिन के लिए बन्द हो गई हो, तो इससे कोई बहुत बड़ी क्षति नहीं पहुँचती किन्तु टुवर्कुलिन द्वारा उत्पन्न चेतना कुछ नष्ट हो जाती है और ऐसी अवस्था में मात्राओं को कुछ कम कर देना आवश्यक है।

टुवर्कुलिन-चिकित्सा किन रोगियों के लिए उपयुक्त है? रोगी का चुनाव दो बातों पर विशेष कर निर्भर करता है—

(क) रोगी के दैनिक जीवन,व्यवसाय प्रकृति, शिक्षा और साधारण स्वास्थ्य,

(ख) रोग की प्रकृति एवं अवस्था।

यदि रोगी का निरन्तर देख भाल करते रहना सम्भव न हो अथवा रोगी चिकित्सक के आदेशोंकी भली भांति नहीं समझ सकते हों तो इस रीति से चिकित्सा करना व्यर्थ होगा। वास्तवमें इस दरिद्र देशकी अवस्था बहुत अंशोंमें इस चिकित्साके विपरीत है—अशिक्षित रोगी अपना ताप-क्रम तक लेनेमें असमर्थ हैं, उनसे अधिक सहयोग की आशा कहां तक की जा सकती है।

रोगीको यह समझ लेना चाहिए कि चिकित्सा प्रधानतः उसी पर निर्भर करती है। प्रतिक्रियाओंके विषयमें उसे पूरा ज्ञान करा देना उचित है और यदि प्रतिक्रियायें या अन्य कोई लक्षण उपस्थित हों तो, यह आवश्यक है कि रोगी उन्हें व्यक्त कर सके। ज्यों ही रोगी उपस्थित हो त्यों ही चिकित्सा आरम्भ कर देना कदापि उचित नहीं है, कुछ दिनों तक उसे निश्चेष्ट रख कर उसके ताप क्रम, नाड़ी की गति, इत्यादि का यथोचित ज्ञान प्राप्त कर लेना (चिकित्सा के लिए) उचित है।

किस प्रकारके रोगी इस चिकित्साके उपयुक्त हैं, यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है। अधिकांश विशेषज्ञ इस चिकित्सा को केवल लसीका ग्रन्थियोंके यक्ष्मा (गण्ड माला इत्यादि) तक ही सीमित रखते हैं। महामति पौरेंजर तथा अन्य कई लेखकों ने स्वर-नल यक्ष्मामें टुवर्कुलिन व्यवहारकी अनुमति दी है, तथा कुछ लोग निम्न लिखित अवस्थाओं में इसके व्यवहार करनेका साहस करते हैं।

(१) फुफ्फुस-यक्ष्मा रोगियों में—

(क) प्रारम्भिक अवस्थाओंमें जिनमें आक्रमण बहुत कम हुआ हो अथच यक्ष्माके अतिरिक्त अन्य कीटाणुओं का आक्रमण नहीं हो, ज्वर नहीं आता हो (वा लगभग ऐसा ही हो) तथा नाड़ीकी गति ९० प्रति मिनटसे अधिक नहीं हो। ऐसी अवस्थामें यह प्रश्न होता है कि रोगी तो साधारण चिकित्साओं से ही रोग-मुक्त हो सकता है। तब टुवर्कुलिन जैसे

❀ इस देशकी अन्य संस्थाओंका तो मुझे खबर नहीं है, किन्तु मद्रास प्रान्त के एक विशाल स्वास्थ्यालय (आरोग्यावरम् मदना पल्ली) इसी नियम का अनुसरण होता है।

एक भयावह औषधिके प्रयोग की आवश्यकता ही क्या है ? उत्तर यह है इसमें संदेह नहीं कि टुवर्कु-लिन के बिना भी रोगी का स्वास्थ्य सुधर जाता है, किन्तु ज्यों ही वह अपने व्यवसायमें लग जायगा त्यों ही यक्ष्मा केन्द्र अपना प्राबल्य दिखा सकते हैं। इसी को रोकनेके लिए इन प्रारम्भिक अवस्थाओंमें टुवर्कु-लिन की आवश्यकता होती है। यह रोगी की क्षमता को बढ़ा कर साधारण जीवन-यापन करनेमें उसकी सहायता करता है।

(ख) ज्वर-रहित यक्ष्मा में।

टुवर्कुलिन ऐसे रोगियोंको बहुत लाभ प्रद होता है जिनका रोग कुछ तो दब गया हो पर एक दम नष्ट नहीं हो गया हो, अर्थात् ज्वर बन्द हो गया हो किन्तु खांसी तथा बलगम का निकलना बन्द नहीं हुआ हो। यदि अन्य उपायों द्वारा भी यह अवस्था उपस्थित हो गई हो तथा इससे अधिक लाभ की आशा नहीं की जा सकती हो तो टुवर्कुलिन-चिकित्सा बहुत उप-युक्त होगी।

(ग) टुवर्कुलिन उन रोगियोंके लिए भी लाभ-प्रद है, जिनकी उन्नति अन्य उपायों द्वारा उपर्युक्त अवस्था तक पहुँच गई हो तथा लाभ की सीमा परि-मित हो गई हो, उदाहरण स्वरूप ऐसे रोगी जिनका ज्वर बन्द हो गया हो किन्तु बलगम में यक्ष्मा कीटाणु निकलते हों अर्थात् जिनके फुफ्फुसमें एक अंध-व्रण (Sinus) रह गया हो जिसके (व्रण के) खुले मुखसे बलगम के साथ साथ यक्ष्मा कीटाणु बाहर निकल रहे हों

(२) अन्य अवयवों के यक्ष्मा में—

(क) मूत्रेन्द्रिय एवं जननेद्रिय के यक्ष्मा में

(ख) स्वर-नल-यक्ष्मा में। फुफ्फुस-यक्ष्मा के वर्त्तमान रहते हुए भी कभी २ टुवर्कुलिन का प्रयोग लाभ-प्रद होता है।

(ग) लसीका ग्रन्थियों के यक्ष्मा में। ये ग्रन्थियां छोटी हो जाती हैं, अथवा कभी २ लुप्त हो जाती हैं।

(घ) अस्थि एवं संधि-यक्ष्मा में। विशेष कर बालक रोगियोंमें टुवर्कुलिन बहुत लाभ पहुँचाता है।

टुवर्कुलिन किन २ अवस्थाओं में अनुपयुक्त है ? इसका उत्तर निम्न लिखित बातों पर निर्भर करता है—

(१) रोग की प्रकृति—

(क) रोग की अवस्था। नितान्त प्रारम्भिक अवस्थाओं में इसका व्यवहार अनुचित है।

(ख) रोग का विस्तार। यदि रोग तीव्र गति से बढ़ता जाय तो भी इसका व्यवहार अनुचित है।

(ग) रोग की शक्ति।

१—यदि रोगी का साधारण स्वास्थ्य अच्छा नहीं हो तो इसका व्यवहार अनुचित है, क्योंकि शारीरिक तंतु इसके प्रवेश कराये जाने पर प्रति-विष प्रस्तुत करने में असमर्थ होंगे। ऐसी अवस्था में पहले रोगी के साधारण स्वास्थ्य को सुधार लेना—विश्राम, इत्यादि द्वारा—उचित है और तब टुवर्कुलिन दिया जा सकता है।

(टुवर्कुलिन प्रवेश कराने पर यदि ज्वर न आवे किन्तु रोगी का तोल घटता जाय, तो इसकी मात्रा को कम कर देना अथवा कुछ समय के लिए इसे बन्द कर देना उचित है।)

२—ज्वर। यदि ज्वर का वेग अधिक हो तो टुवर्कुलिन का व्यवहार निन्द्य होगा।

३—नाड़ी की गति यदि प्रति मिनट १२ वा इससे अधिक हो तो यह अनुमान किया जाता है कि शरीर बहुत ही विषाक्त है, और इस अवस्थामें टुवर्कुलिन का व्यवहार अच्छा नहीं होगा।

४—भीषण रक्त-क्षरण टुवर्कुलिन चिकित्सा का प्रतिरोधक है।

(२) अन्य कारण।

(क) सहगामी अवस्थायें। स्त्रियों के रजो-निर्गम के समय टुवर्कुलिन का व्यवहार अनुचित है किन्तु गर्भावस्था इस चिकित्सा का प्रतिरोधक नहीं है।

(ख) यक्ष्मा के साथ २ अन्य रोगों की उपस्थिति।

५—ऐसे हृदय रोग जिनमें हृदय अपनी क्षति

पूर्ति करने में असमर्थ हो (Failing Compensation of the heart)। पाँव फूलना इसका एक प्रधान लक्षण है) । २—वृक्क-प्रदाह । मूत्र में अल्ब्युमिन आना) । इस अवस्था में टुवर्कुलिन का व्यवहार अनुचित है ।

(ग) बाह्य कारण टुवर्कुलिन उन रोगियों को देना उचित नहीं जिनकी देख रेख का पूरा प्रबन्ध नहीं हो सकता है ।

टुवर्कुलिन के सम्बन्ध में यह कह देना आवश्यक है कि यक्ष्मा की व्यायाम-चिकित्सा भी इसी के आधारी-भूत है । अस्तु ऐसी अवस्था में जहां टुवर्कुलिन देना उचित भी हो किन्तु चिकित्सक को कुछ भयावह जान पड़े तो अच्छा होगा कि टुवर्कुलिन का व्यवहार नहीं कर इस दूसरी रीतिसे ही काम लें ।

[टुवर्कुलिन के व्यवहार के सम्बन्ध में मैने D. D. V. Gnanamuthu B. A. M. B. B. S. Superintendent Itki Sanatiorum को पत्र लिखा था । आपने अपने पत्र नम्बर ६९१ ता: २४-६-३२ द्वारा इसका उत्तर दिया है । इस पत्र का सारांश यह है:—

टुवर्कुलिन निम्न लिखित अवस्थाओं में दिया जा सकता है:—

(१) लसीका ग्रन्थियों का यक्ष्मा ।

(२) परि विस्तृत कला का यक्ष्मा ।

(३) अस्थि, वृक्क इत्यादि का यक्ष्मा, यदि फुफ्फुस अक्षत हो ।

(४) कतिपय फुफ्फुस-यक्ष्मा की अवस्थाओं में (सम्भवत: सौत्रिक तंतुओं की वृद्धि के लिए) कीटाणु-घोल-टुवर्कुलिन सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। इसे ½ % कार्बोलिकाम्ल युक्त लवण घोल द्वारा हल्का कर शरीर में प्रवेश कराया जाता है ।

मात्रायें इस प्रकार दी जाती है:—

मात्रा १—०'००००००१ स. ग्रा.
२—०'०००००१५ " "
३—० ००००००२ " "
४—०'००००० ३ " "
५—०'००००० ५ " "
६—०'००००० ७ " "
७—०'००००० ९ " "
८—०'००००० १ " "
९—०'०००० १५ " "
१०—०'०००० २ " "
११—०'०००० ३ " "
१२—०'०००० ५ " "
१३—०'०००० ७ " "
१४—०'०००० ९ " "

यदि प्रतिक्रिया न हो तो सप्ताह में दो मात्रायेंदी जा सकती हैं ।

———

वैज्ञानिक पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका भाग १—ले० प्रो० रामदास गौड़, एम. ए., तथा प्रो० सालिग्राम, एम.एस-सी. ।)

२—मिफताह-उल-फ़नून—(वि० प्र० भाग १ का उर्दू भाषान्तर) अनु० प्रो० सैयद मोहम्मद अली नामी, एम. ए. ... ... ।)

३—ताप—ले० प्रो० प्रेमवल्लभ जोषी, एम. ए. तथा श्री विश्वम्भरनाथ श्रीवास्तव ... ॥=)

४—हरारत—(तापका उर्दू भाषान्तर) अनु० प्रो० मेहदी हुसेन नासिरी, एम. ए. ... ।)

५—विज्ञान प्रवेशिका भाग २—ले० अध्यापक महावीर प्रसाद, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद १)

६—मनोरंजक रसायन—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम. एस-सी. । १॥)

७—सूर्य सिद्धान्त विज्ञान भाष्य—ले० श्री० महावीर प्रसाद श्रीवास्तव, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद

मध्यमाधिकार ... ... ॥=)

स्पष्टाधिकार ... ... ।॥)

त्रिप्रश्नाधिकार ... ... १॥)

चन्द्रग्रहणाधिकारसे ग्रहयुत्यधिकार तक १॥)

उदयास्ताधिकारसे भूगोलाध्याय तक ॥)

८—पशुपक्षियोंका शृङ्गार रहस्य—ले० अ० सालिग्राम वर्मा, एम.ए., बी. एस-सी. ... -)

९—ज़ीनत वहश व तयर—अनु० प्रो० मेहदी-हुसैन नासिरी, एम. ए. ... ... -)

१०—केला—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली -)

११—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली ।)

१२—गुरुदेवके साथ यात्रा—ले० अध्या० महावीर प्रसाद, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद ।-)

१३—शिक्षितोंका स्वास्थ्य व्यतिक्रम—ले० स्वर्गीय पं० गोपाल नारायण सेन सिंह, बी.ए., एल.टी. ।)

१४—चुम्बक—ले० प्रो० सालिग्राम भार्गव, एम. एस-सी. ... ... ।=)

१५—क्षयरोग—ले० डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा, बी. एस. सी, एम-बी. बी. एस ... -)

१६—दियासलाई और फ़ास्फ़ोरस—ले० प्रो० रामदास गौड़, एम. ए. ... ... -)

१७—कृत्रिम काष्ठ—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली =)

१८—आलू—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली ... ।)

१९—फसल के शत्रु—ले० श्री० शङ्करराव जोषी ।=)

२०—ज्वर निदान और शुश्रूषा—ले० डा० बी० के० मित्र, एल. एम. एस. ... ।)

२१—कपास और भारतवर्ष—ले० पं० तेज शङ्कर कोचक, बी. ए., एस-सी. ... -)

२२—मनुष्यका आहार—ले० श्री० गोपीनाथ गुप्त वैद्य ... ... १)

२३—वर्षा और वनस्पति—ले० शङ्कर राव जोषी ।)

२४—सुन्दरी मनोरमाकी करुण कथा—अनु० श्री नवनिद्धिराय, एम. ए. ... ... -)॥

२५—वैज्ञानिक परिमाण—ले० डा० निहाल करण सेठी, डी. एस. सी. तथा श्री सत्य-प्रकाश, एम. एस-सी० ... ... १॥)

२६—कार्बनिक रसायन—ले० श्री० सत्य-प्रकाश एम-एस-सी० ... ... २॥)

२७—साधारण रसायन—ले० श्री० सत्यप्रकाश एम० एस-सी० ... ... २॥)

२८—वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द, प्रथम भाग—ले० श्री० सत्यप्रकाश, एम० एस-सी० ... ॥)

२९—बीज ज्यामिति या भुजयुग्म रेखा गणित—ले० श्री० सत्यप्रकाश, एम० एस-सी० ... १।)

३०—सर चन्द्रशेखर वेङ्कट रमन—ले० श्री० युधिष्ठिर भार्गव एम० एस-सी० ... =)

३१—समीकरण मीमांसा प्रथम भाग ... १॥)

३२—समीकरण मीमांसा दूसरा भाग—ले० स्वर्गीय श्री पं० सुधाकर द्विवेदी ... ॥=)

३३—केदार बद्रीयात्रा ... ।)

पता—मंत्री विज्ञान परिषत्, प्रयाग।

मुद्रक—शारदा प्रसाद खरे, हिन्दी-साहित्य प्रेस, प्रयाग।

पूर्ण संख्या— २१३

Approved by the Directors of Public Instruction, United Provinces and Central Provinces for use in Schools and Libraries. Reg. No. A. 708.

भाग ३६ VOL. 36.

मकर, संवत् १६८६

जनवरी १६३३

संख्या ४ No. 4

प्रयागकी विज्ञान परिषत्‌का मुखपत्र

'VIJNANA' THE HINDI ORGAN OF THE VERNACULAR SCIENTIFIC SOCIETY, ALLAHABAD.

अवैतनिक सम्पादक

ब्रजराज एम. ए., बी. एस-सी., एल-एल. बी.,

सत्यप्रकाश, डी. एस-सी., एफ. आई. सी. एस.

प्रकाशक

वार्षिक मूल्य ३)] विज्ञान परिषत्, प्रयाग [१ प्रतिका मूल्य ।)

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ

१—वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द

[Hindi Scientific Terminology]

प्रथम भाग

इसमें शरीर विज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, भौतिक विज्ञान, और रसायन शास्त्र (भौतिक, कार्बनिक और अकार्बनिक) के पारिभाषिक शब्दों का संग्रह है।

—सम्पादक—सत्यप्रकाश, एम० एस-सी० मूल्य ॥)

२—बीज ज्यामिति

[Conic Section]

ले० सत्यप्रकाश, एम० एस-सी०

सरलरेखा, वृत्त, परवलय, दीर्घवृत्त और अतिपरवलय का विवरण। मूल्य १॥)

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥ तै० उ० ।३।५॥

भाग ३६ | मकर, संवत् १९८९ | संख्या ४

धर्म और विज्ञान

[ले० डा० सत्यप्रकाश, डी० एस- सी०]

जिस समय से यूरोपमें विकासवाद का प्राबल्य हुआ, उस समयसे ही धर्म और विज्ञानका विशेष संघर्ष भी आरम्भ हुआ। गेलिलियो और उससे पूर्व भी धर्माधिकारियोंकी ओरसे वैज्ञानिकोंके ऊपर अनधिकार अत्याचार किये गये थे। प्रत्येक सम्प्रदाय के धार्मिक ग्रन्थ में सृष्टि रचना की प्रहेलिका के समाधान के लिये कोई न कोई कल्पना अवश्य दीगई है। जहाँ उस ग्रन्थ में दिये गये अन्य आचार और अध्यात्म सम्बन्धी नियम उस धर्म के जिज्ञासु के लिये अनिवार्य्यतः मान्य हैं, वहाँ सृष्टि रचना संबन्धी विचारों में भी विश्वास रखना उतनाही आवश्यक माना जाता है। वैज्ञानिक स्वतः शब्द प्रमाण में विश्वास नहीं रखता है, और इस दृष्टिसे उसे अपने सिद्धान्तों का स्वयं विकास करना पड़ता है। इसका प्रभाव यह होता है कि धार्मिकों के सिद्धान्तों में जहाँ दृढ़ता और स्थिरता होती है, वहाँ इन वैज्ञानिक वैकासिक सिद्धान्तों में सतत-परिवर्तन होते रहते हैं। ये परिवर्तन और परिवर्धन ही वैज्ञानिक शैली की विशेषता हैं, चाहें ये गुण हों या दोष। वास्तविक सत्य से तो सम्भवतः दोनों ही—धार्मिक और वैज्ञानिक--बराबर ही दूर हैं। धार्मिकों में सत्यनिष्ठा या श्रद्धा है और वैज्ञानिकों में सत्य-जिज्ञासा है। हमारे विचार में तो विज्ञान का क्षेत्र सत्य के अन्वेषण के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करना है और उस उपलब्ध-सत्य में, चाहें वह परम सत्य हो या सापेक्ष सत्य हो, निष्ठा उत्पन्न करना धर्म का कार्य है। इस दृष्टि से दोनों का क्षेत्र पृथक् होते हुए भी दोनों एक दूसरे के सहकारी हैं।

धर्म और विज्ञान के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत करने का यहाँ हमारा अधिक अभिप्राय नहीं है। गतवर्ष क्रिश्चियन एविडेन्स सोसायटी की ओर से रायल सोसायटी लंडन के दो सौ के लगभग फैलों के पास से धर्म और विज्ञान सम्बन्धी ६ प्रहेलिकाओं के उत्तर प्राप्त किये गये थे। इन उत्तरों

का सम्पादन सी० एल० ड्राब्रिज (C. L. Drawbridge) एम० ए० ने किया है जिसका पुस्तक रूप प्रकाशन अर्नेस्ट बेन लिमिटेड (Ernest Benn Ltd.), लंडन द्वारा हुआ है। यह 'दी रेलिजन आव साइंटिस्ट्स' नामक पुस्तक १६० पृष्ठ की है जिसका मूल्य २ शि० ६ पैन्स है। इस पुस्तक के आधार पर इस लेख में कुछ विचार प्रस्तुत किये जावेंगे।

बृटिश साम्राज्य के अन्दर लंडन की रायल सोसायटी वैज्ञानिकों की सबसे बड़ी संस्था मानी जाती है, और इसका फैलो या सदस्य होना बड़ा गर्व समझा जाता है। जो देश बृटिश साम्राज्य में नहीं हैं उनके भी कुछ अग्रगण्य वैज्ञानिकों को इस सोसायटी ने अपना 'फौरेन फैलो' नियुक्त किया है। पर तब भी संसार के बहुत से ऐसे प्रमुख वैज्ञानिक विद्यमान हैं जिनका इस रायल सोसायटी से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है और न जो इस सोसायटी का सदस्य होना कोई सम्मान ही समझते हैं। फिर भी रायल सोसायटी को वैज्ञानिकों की सबसे बड़ी सुव्यवस्थित संस्था कहा जा सकता है और इन वैज्ञानिकों द्वारा दिये गये उत्तर वर्त्तमान वैज्ञानिक प्रवृत्ति का कुछ चित्रण अवश्य कर सकते हैं।

इन वैज्ञानिकों के सम्मुख निम्न ६ प्रश्न रखे गये थे—

१ ला प्रश्न—Do you credit the existence of a spiritual domain ?

२ रा प्रश्न—Is man, in some degree, responsible for his acts of choice ?

३ रा प्रश्न—Is it your opinion that belief in evolution is compatible with belief in a creator ?

४ था प्रश्न—Does natural science negative the idea of a personal god as taught by Jesus Christ ?

५ वाँ प्रश्न—Do you believe that the personalities of men and women exist after death of their bodies ?

६ ठा प्रश्न—Do you think that the recent remarkable developments in scientific thought are favourable to religious beliefs ?

यदि किसी आर्य्य-संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाली संस्था द्वारा ये प्रश्न रक्खे जाते तो सम्भवतः इनका स्वरूप कुछ भिन्न होता। पहला प्रश्न आत्मवाद से सम्बन्ध रखता है। दूसरे प्रश्न में कर्मफल वाद की झलक है, तीसरे प्रश्न में सृष्टि-रचना और विकास वाद की ओर संकेत है। चौथे प्रश्न में आस्तिकता है। पांचवें प्रश्न में आवागमन की प्रतिच्छाया है और अन्तिम प्रश्न में ज्ञान और धर्म का सम्बन्ध निहित है।

इस वैज्ञानिक युग में विशेषज्ञता एक विशेष चीज़ है। बड़े से बड़ा प्रखर-बुद्धि वैज्ञानिक अपने विषय के संकुचित क्षेत्र में तो आप्त माना जा सकता है, पर वह अन्य क्षेत्र में उसी प्रकार अज्ञानी है जिस प्रकार संसार का कोई भी सामान्य व्यक्ति। अतः यदि व्यक्तिगत रूप से किसी पुरुष विशेष को यदि धर्म या दर्शन से प्रेम न रहा हो तो वह उपर्युक्त ६ प्रश्नों में से किसी का भी उत्तर देने की चेष्टा न करेगा। उपर्युक्त प्रश्न न तो भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत हैं, न गणित, रसायन, वनस्पति, भूगर्भ, जीव-विज्ञान, आरोग्य शास्त्र, मानव शास्त्र आदि किसी के भी अन्तर्गत।

वैज्ञानिकों का दृष्टिकोण

क्या उपर्युक्त प्रश्न वैज्ञानिकों से करना उचित है? क्या वे इन प्रश्नों का उत्तर देंगे? इस प्रकार का सन्देह उत्पन्न होना बहुत ही स्वाभाविक था। जब इस प्रकार की आयोजना रायल सोसायटी के एक फैलो ने सुनी तो उसने ६ पृष्ठ का एक खर्रा लिख भेजा कि इस प्रकारके प्रश्नोंसे कोई लाभ नहीं है। यह आयोजना कभी सफल नहीं हो

सकती है क्योंकि एक प्रतिशत फैलो भी उत्तर न भेजेंगे। अंग्रेज अपने विचारों को प्रकट करनेमें बड़े ही सतर्क रहते हैं, अतः जब कि उनकी सम्मतियाँ जनतामें प्रकाशित भी की जावेंगी, तो वे कभी इन वृहत् प्रहेलिकाओंका उत्तर न देंगे। ये विचार एक कट्टर ईसाई फैलोके थे।

पर यह आयोजना इतनी असफल न रही क्योंकि २०० फैलों ने यथाशक्ति कुछ न कुछ उत्तर दिया ही। बहुत सोंने तो 'मैं नहीं जानता' इन तीन शब्दोंमें ही ६ हों प्रश्नोंका उत्तर दे डाला। जो फैलो धार्मिक क्षेत्र में विख्यात थे उन्होंने भी उत्तर न दिया। कुछ ने कहा कि ये प्रश्न उनके लिये बहुत ही कठिन हैं। कुछ लोगों ने कहा कि जब तक प्रश्नोंके अन्तर्गत आये हुए शब्दों की निश्चित परिभाषा न कर दी जाय तब तक उत्तर दिया ही नहीं जासकता है। एक ने कहा कि तैल और पानी (अर्थात् धर्म और विज्ञान) मिलानेसे क्या लाभ! एक ने कहा कि सत्य का निश्चय इस प्रकारके प्रश्नों पर सम्मतियाँ लेने से कभी नहीं हो सकता है। कुछ ने कहा कि ये प्रश्न उनके क्षेत्रसे बाहर हैं। एक ने कहा कि गत् ६० वर्षों से मैंने कभी ऐसे प्रश्नों पर विचार नहीं किया। एकने कहा कि विश्वास और अनुभवमें भेद है, और विज्ञानका सम्बन्ध केवल अनुभवसे है। एक धातु-विद् ने कहा कि 'मुझे इन प्रश्नोंके क़बूतरखानेमें अपने विचार सीमित करनेसे क्षमा किया जाय।' एक महोदय ने तो यह कह दिया कि वे रायल सोसाइटीके फैलो इसलिए नहीं निर्वाचित हुए हैं कि इस प्रकारके प्रश्नों का उत्तर देते फिरें।

बहुत से व्यक्तियों ने शब्दों की परिभाषाओंके अभावके कारण उत्तर देनेमें असमर्थता बताई। इस पुस्तकके सम्पादकका कहना है कि परिभाषायें न देनेके तीन कारण थे—

१—परिभाषायें देनेसे प्रश्नोंका एक लम्बा पोथा बन जाता जिन्हें इतने बड़े वैज्ञानिकों को पढ़नेका भी समय न मिलता।

२—परिभाषायें न देनेसे इतना लाभ हुआ कि हमें यह पता चलगया कि बहुत से वैज्ञानिक इन शब्दोंका क्या अभिप्राय लेते हैं।

३—परिभाषायें देनेसे विचारोंका क्षेत्र संकीर्ण हो जाता है, हम इसे विस्तृत ही रखना चाहते थे।

अब एक एक प्रश्नका हम उल्लेख करेंगे और जो उत्तर प्राप्त हुए हैं उनका दिग्दर्शन कराया जायगा।

अध्यात्म क्षेत्र का अस्तित्व

पहले प्रश्नका अनुवाद यह होगा—क्या आप अध्यात्म क्षेत्रका अस्तित्व मानना उचित समझते हैं? संसारमें दो विभाग हैं, एक आत्म और दूसरा अनात्म। अनात्म अथवा भौतिक जगत् तो वैज्ञानिकों का मीमांसनीय विषय है ही। अब प्रश्न यह है कि क्या इस संसारमें सभी पदार्थ भौतिक हैं अथवा कुछ अभौतिक या आत्म भी हैं।

१३४ फैलों ने तो हाँ और न में इस प्रश्नका उत्तर दे दिया। कुछ ने credit, spiritual, और domain शब्दों की परिभाषा चाही। कुछ ने कहा कि उन्हें अध्यात्म क्षेत्र की आशा तो अवश्य है पर निश्चय नहीं। कुछ ने कहा कि ज्ञान अनुभवसे उत्पन्न होता है, और अनुभव मानसिक या चैतन्य है, न कि भौतिक। एक ने कहा कि मैं स्वयं ही आध्यात्मिक क्षेत्र हूँ।

इस प्रश्न पर १३ फैलो ने निषेधात्मक उत्तर दिये। ६६ व्यक्तियों ने या तो उत्तर ही न दिये या ऐसे अनिश्चित जिन्हें न विधिमें ही माना जा सकता है और न निषेधमें ही। १२१ व्यक्तियों ने विध्यात्मक उत्तर दिये। इस प्रकार अध्यात्ममें विश्वास करने वालों की संख्या न मानने वालों की अपेक्षा दस गुनी थी।

१३ व्यक्ति जो अध्यात्ममें विश्वास नहीं रखते हैं निम्न हैं। ई. जे. कोहेन, लोवाट इवान्स (शरीरवेत्ता), एवरशेड (मटियरोलोजिस्ट), ग्रीगोरी (भूगर्भवेत्ता), हार्डी (गणितज्ञ), हेरान-एलन (जीववेत्ता), जोन्स (ज्योतिषी), कैसर, मैरिक, (जीववेत्ता), मरे (चिकित्सक), पैवलोव, रिड्ले (वनस्पतिज्ञ), स्विनबर्न (वैद्य)।

स्विनबर्नका तो कहना है कि जैसे परी, राक्षस, या जादू शब्द निरर्थक हैं, उसी प्रकार अध्यात्म शब्द भी। प्रौफैसर साडी ने कहा कि मेरा विचार है कि 'मैं' अध्यात्म सत्ता है। रायलसोसायटीके कुछ सदस्यों ने अध्यात्म शब्दसे भूत-प्रेतवादका (Spiritualism) अर्थ लेलिया। प्रो० विनोग्राडस्की का कथन है—"'पार्थिव शरीरसे पृथक् कहीं भी आत्मा की स्वतः विद्यमानताका कोई भी विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिल सका है।"

एक वनस्पतिवेत्ताका कहना है—"केवल जड़वाद के आधार पर विश्व की व्याख्या करना मेरी समझमें सम्भव नहीं है।"

प्रोफेसर वाटसन ने कहा कि 'मानव क्रियाके बहुत से ऐसे स्पष्ट क्षेत्र हैं जिन्हें वैज्ञानिक साधनों द्वारा नहीं समझा जासकता है।' प्रिन्सपल रिचार्डसन (भौतिकज्ञ) ने कहा—'क्या तुम यह आशा करते हो कि हमारे समस्त अनुभवोंका स्पष्टीकरण रसायन और भौतिक विज्ञान द्वारा हो सकेगा। ऐसा कभी नहीं हो सकता है। हमारे अनुभवों का क्षेत्र इन विज्ञानोंके क्षेत्र से कहीं अधिक परिविस्तृत है।"

एक भौतिक-विद् का कहना है—'आजकल के भौतिकज्ञ पूर्ववर्त्ती जड़वादी भौतिकज्ञों की अपेक्षा अधिक उदार हैं, उन्हें हक्सले के समान जीववेत्ताओं के इस विचार से बिलकुल सहानुभूति नहीं है कि "परमाणु, उनकी स्थिति और गति ज्ञात होने पर ही समस्त इतिहास पूर्व-निश्चित हो सकता है।'

प्रोफेसर हालडेन का तो कहना है कि मैं तो अध्यात्मक्षेत्र के अतिरिक्त और किसी क्षेत्र का विचार ही नहीं कर सकता। सर एडिंगटन का भी कहना है कि 'हम परिस्थिति-उत्पन्न अनुभवोंको भौतिकज्ञों के यन्त्रों या गणितज्ञों की मापों द्वारा नहीं नाप सकते हैं।'

मानव उत्तरदायित्व

क्या मनुष्य कुछ अंशों में अपने कर्त्तव्य (या कर्मों) के लिए उत्तरदायी है?

इस प्रश्न का सम्बन्ध कर्म-फलसे अथवा आचार अनाचार से है। सदाचार क्या है—यह प्रश्न समाज में, राज्यों में, घरों और परिवारों में, सभी जगह उपयोगी है। आचार और अनाचार की व्यवस्था का आदर्श क्या हो? इस सम्बन्ध में भी बड़ा मत भेद है। धर्म का इस प्रश्न से सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में बरमिंघम के बिशप ने, जो रायलसोसाइटी का सदस्य है, कहा था—"हाँ, मैं जानता हूँ कि बहुत से व्यक्ति ईसाई प्रचारकों की आचार निष्ठा की हँसी उड़ाते हैं, पर यदि उनके साथ अन्याय और क्रूरता को जाय तो वे भी हमारे ही समान इसका विरोध करेंगे। वस्तुतः हम पवित्रता और सत्यता की उपेक्षा कर ही नहीं सकते हैं।"

क्या हम कार्य करने में स्वतंत्र हैं, क्या हमें इन स्वतंत्रतः किये गये कर्मों का उत्तरदायी होना है? अन्तरात्मा के शब्दों का कर्मों में क्या स्थान है? यदि हमारे सभी कर्म अन्तरात्मा द्वारा प्रेरित हैं तो फिर उत्तरदायित्व न होने के कारण आचार अनाचार का प्रश्न ही मिट जाता है। विचार स्वातंत्र्य तो वर्त्तमान वैज्ञानिक युग का मूलमंत्र है, और जहां स्वतंत्रता है वहां उत्तरदायित्व भी है।

ऊपर किये गये प्रश्न के १८० हां और न में सीधे उत्तर आये। १७३ हां में और ७ निषेधात्मक। बीस व्यक्तियों के उत्तर या तो जटिल थे, या इन्होंने उत्तर दिये ही नहीं। निषेधात्मक उत्तरों में निम्न ६ व्यक्तियों ने अपने नाम प्रकाशित करने की अनुमति दी—बेली (भूगर्भवेत्ता), ई. जे. कोहेन, फ्रैंकलैण्ड (रसायनज्ञ), हार्डी (गणितज्ञ), किप्पिंग (रसायनज्ञ) और वाकर (मेटियरोलोजिस्ट)।

अर्ल रसेल को 'उत्तरदायी' शब्द का अभिप्राय ही समझ में न आया। बेली ने कहा कि 'मनुष्य परिस्थिति द्वारा स्वयं झंकृत होकर कार्य करने लगता है।' एक गणितज्ञ कहता है कि 'मनुष्य आन्तरिक स्वभाव और बाह्यप्रभाव से प्रेरित होकर कार्य्य करता है आन्तरिक स्वभाव पैतृक है और बाह्य

परिस्थिति जनक, अतः मनुष्य उत्तरदायी नहीं है।' प्रोफेसर बोर्डे (Bordet) का कहना है कि 'मनुष्य के कर्म शारीरिक गठन और अङ्गों की सुव्यवस्था पर निर्भर रहते हैं।" गणितज्ञ मोर्डेल का कथन यह है कि 'मनुष्य अपनी सत्ता को कल्पना के आधार पर कार्य्य करता है और समाज के लिए भी सुविधा इसी बात में है कि वह इसकी सत्ता को माने। पर वस्तुतः सैद्धान्तिक रूप से उसका अस्तित्व ही नहीं है।' इस प्रकार व्यावहारिक और पारमार्थिक भेद मार्डेल ने किये।

कर्नल क्रिस्टोफर्स ने इस प्रश्नके सम्बन्धमें निम्न सम्मति प्रदान की—"मुझे तो यह केवल एक दार्शनिक उलझन प्रतीत होती है। इसकी तो परिभाषा करना आवश्यक है। यदि उत्तरदायित्व से तात्पर्य यह है कि मनुष्य इस प्रकार के कर्म करने में स्वतन्त्र है जिनका आदिकारण परिस्थिति आदि (जिनमें पैतृक प्रभाव और कालप्रभाव भी सम्मिलित हैं) में ढूँढ न निकाला जा सके, तो मैं यह नहीं मानता कि वह उत्तरदायी है। पर मुझे यह प्रश्न केवल एक दार्शनिक कौतूहल मालूम होता है, और यह प्रश्न उतना ही निरर्थक है जितना कि यह जानना कि मुर्गी पहले थी या अंडा। इसका तो उत्तर यही है कि दोनों साथ ही साथ प्रादुर्भूत हुए जब कि विकास के क्रम में मुर्गी मुर्गी बन गई।"

सर जेम्स क्रिक्टन ब्राउन ने कहा—'हाँ! मनुष्य तो आत्मसत्ता है, और स्वस्थ मस्तिष्क की अवस्था में वह अपने निर्वाचित कर्मों के प्रति अवश्य उत्तरदायी है।'

सर जेम्स जीन्स ने अपने विस्तृत उत्तर में यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि 'पहले तो लोग इस बात पर विश्वास भी करने लगे थे कि मनुष्य-निर्मित यंत्रों द्वारा जीवन भी उत्पन्न किया जा सकता है। ऐसा कहा जाता था कि न्यूटन, बाक, माइकेलएञ्जीलो आदि महापुरुषों के मस्तिष्क और छापेखाने की मशीनों में अधिक अन्तर नहीं है। जीवन का अर्थ यह है कि बाह्यपरिस्थितियों की कितनी अनुभूति किस को उपलब्ध हो सकती है। इन्हीं परिस्थितियों के प्रभाव में मशीनें भी कार्य्य करती हैं और मनुष्य भी, अतः 'स्वतंत्र-इच्छा' का प्रश्नही नहीं आता। हां मनुष्य, मोहन और सोहन, भिन्न इसलिये हैं कि वे अलग परिस्थितियों में पले हैं, अतः एक कैसे रह सकते थे। ये उन्नीसवीं शताब्दीके विचार थे पर बीसवीं शताब्दीके आरम्भ से ही इन विचारोंमें घोर परिवर्तन होगया। न्यूटन, बाक आदि के मस्तिष्क और हृदयों को यांत्रिक विधियों से बनाने की बात तो दूर रही, बीसवीं शताब्दी के विज्ञान-वेत्ताओं को यह विश्वास होगया है कि ऐसी भी कोई मशीन नहीं बनाई जा सकती है जिससे सर्वांशतः बत्ती का प्रकाश, या सेब का पतन भी दुहराया जा सके। प्लांक के क्वांटम सिद्धान्त का पहले तो उपहास किया गया पर आज यह भौतिक विज्ञान की आधार शिला हो रहा है। इससे स्पष्ट हो गया है कि अब विज्ञान के यांत्रिक युग की समाप्ति है और एक नया युग आरम्भ होने वाला है।" (स्वतन्त्रानुवाद)

सर आर्थर एडिंगटन ने अपनी पुस्तक 'सायंस और रेलिजन' में यह स्पष्ट घोषित कर दिया है कि हमें अब कर्मप्रेरिता अन्तरात्मिक शक्ति में अविश्वास न करना चाहिये। हमारे मस्तिष्क में बाह्यजगत् का ही केवल चित्र अंकित नहीं होता है, प्रत्युत हमारे कर्म, उनके अन्दर निहित उद्देश्य, और उसकी प्राप्ति के लिए चेष्टायें सभी विश्वसनीय हैं। अतः अपने कर्मों का उत्तरदायित्व हमारे ऊपर है। (पृ० ३२६)

सृष्टिरचना और विकास

इस सृष्टिरचना के दो भाग हैं, एक तो भौतिक और दूसरा प्राणी,! प्राणियों में वनस्पति और पशु दोनों हो सम्मिलित हैं। यह सृष्टिरचना कैसे हुई? इसका उत्तर दो प्रकार से दिया जाता है, एक तो यह कि सृष्टि के आरम्भ में एक ज्ञान-शक्ति-और उद्देश्य युक्त शक्ति विद्यमान थी जिसे ब्रह्म या ईश्वर कहा

जा सकता है। इसने नियमित आयोजना के अनुसार विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिये सृष्टि की रचना की। आस्तिक भी यह मानते हैं कि जादू के समान एक-दो-तीन करके यह सृष्टि अकस्मात क्षण भर में उत्पन्न नहीं कर दी गई। वे इसकी उत्पत्ति का एक विशेष क्रम भी बताते हैं।

सृष्टिरचना की दूसरी व्याख्या विकासवादियों की है। वे किसी आदि नियन्ता में विश्वास आवश्यक नहीं मानते। वे कहते हैं कि परिस्थिति, आवश्यकता, और संघर्ष के नियमों के अनुसार यह सृष्टि निम्न श्रेणी से उच्च श्रेणी की ओर विकसित होती गई है। भौतिक सृष्टि का भी इसी प्रकार विकास हुआ है और प्राणियों का भी इसी प्रकार।

'दी रेलिजन आव् साइण्टिस्ट्स' पुस्तक के सम्पादक ने इस तीसरे प्रश्न का आशय इस प्रकार समझाया है:—प्रश्न तो यह था—"क्या आपके विचार में विकासवाद और सृष्टिकर्त्ता में साथ साथ विश्वास रखा जा सकता है?" इसका तात्पर्य्य निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जावेगा।

१—एक कवि का कहना है कि शेक्सपियर ने हेमलेट पात्र के चरित्र और हेमलेट नामक नाटक की रचना की।

२—दूसरा आलोचक कहता है कि हेमलेट की रचना बेकन ने की न कि शेक्सपियर ने।

३—एक मनोविज्ञान वेत्ता कहता है कि उक्त नाटक और उसके सब पात्र शनैः शनैः विकसित, उन्नत, व्यक्त और उत्पन्न हुए।

४—एक व्यवहारिक व्यक्ति इन तीनों से यह पूछता है कि "यदि सं० ३ वाले का कहना ठीक है कि हेमलेटके पात्र और हेमलेट नाटक दोनों ही विकास-क्रम द्वारा व्यक्त हुए, तो क्या इससे यह मान लिया जाय कि हेमलेट का रचयिता न शेक्सपियर था और न बेकन।

इस प्रश्न का हां और नहीं में उत्तर दिया जा सकता है, पर 'रचना' और 'रचयिता' शब्दों का क्या अभिप्राय है, यह विवादास्पद विषय है।

विकास का क्या अर्थ है, इसके विषय में भी भ्रान्तियाँ फैल रही हैं। सामान्य जनतामें इस शब्द का बहुधा प्रयोग उस अर्थमें नहीं होता है जिसमें वैज्ञानिक लेते हैं। विकास को बहुत से निमित्त कारण का पर्याय समझने लगते हैं। वे कहते हैं कि विकास ने अमुक अमुक की रचना कर दी। यहाँ विकास निमित्त कारण या कर्त्ता कारक में है। इसी वाक्य को इस प्रकार भी रखा जा सकता है अमुक अमुक की रचना विकास द्वारा की गई, यहाँ रचना का कर्त्ता अदृष्ट है, विकास केवल करण है जो कि किसी क्रम का सूचक है। यदि विकासवाद का अभिप्राय इस दूसरे वाक्य द्वारा व्यक्त किया जाय तो सृष्टिकर्त्ता का अस्तित्व मानते हुए भी विकासवाद स्वीकार किया जा सकता है और विकासवादी भी आस्तिक हो सकते हैं। धार्मिक व्यक्तियों का अधिकांशतः यह विश्वास है कि विकास सृष्टिरचना का मूल कारण नहीं है, प्रत्युत यह भी एक कार्य है जिसका मूल कारण परमात्मा है।

रायल सोसायटी के सदस्यों में से १४२ ने इस उपर्युक्त प्रश्न के 'हाँ' में उत्तर दिये अर्थात् उनके विचार में विकासवाद और सृष्टिकर्त्ता दोनों में साथ साथ विश्वास रखा जा सकता है, ६ ने निषेधात्मक उत्तर भेजे। शेष ५२ व्यक्तियों में से कुछ ने या तो इस प्रश्न के उत्तर ही न दिये या केवल अस्पष्ट भाव प्रकट किये।

एक व्यक्ति ने तो यह कहा कि यह प्रश्न अप्रासंगिक है, और दूसरे व्यक्ति को रचयिता और विकासवाद में कोई सम्बन्ध ही दृष्टिगत न हुआ। एक व्यक्ति ने 'रचयिता' और 'विकास' शब्दों की परिभाषायें पूछीं। एक ने कहा कि विकास और रचयिता में सामान्यतः कोई विरोध नहीं है, पर जब इन दोनों शब्दों से कभी कभी विशिष्ट भाव और अभिप्राय ले लिया जाता है, तभी दोनों में विरोध पड़ जाता है।

अस्तु, विकासवाद और आस्तिकता को सहयोगी या अविरोधी मानने वालों की संख्या न मानने वालों

की अपेक्षा २३ और १ के अनुपात में थी। ६ व्यक्ति जो विरोधी थे निम्न हैं: —

१ ई० जे० कोहेन ४ एच० जी० कैसर
२ जी० एच० हार्डी ५ जे० बी० पैरों
३ ई० हेरन-एलेन ६ एच० एन० रिड्लें

प्रोफेसर हार्डी ने निषेध करते हुए भी यह कहा —"तर्क के आधार पर यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि किसी अमुक समयके अमुक क्षण में कोई एक सृष्टि रचयिता विद्यमान् था, जिसने सृष्टि रच दी, और बाद को इसे 'विकसित' होने के लिये छोड़ दी, पर मैं इस प्रकार की ऊटपटाँग कल्पना में विश्वास नहीं करता।"

देववादी (Deist) इस प्रकार का विश्वास करते हैं कि किसी ने एक बार सृष्टि बना दी और फिर यह अपने आप चल पड़ी। पर आस्तिक लोग उस रचयिता की आवश्यकता न केवल आरम्भमें ही समझते हैं, प्रत्युत उसके उपरान्त भी निरन्तर। इनके विश्वासानुसार यदि हर एक वस्तुको विकसित ही माना जाय तो यह विकास स्वयं कार्य्य है जिसका कारण परमात्मा है।

लैंगेविन महोदय का कहना है कि "सृष्टि-निर्माता की भावना में सभ्यता का इतना आरम्भिक और शैशव विचार घुसा हुआ है, कि इस प्रश्न पर ठीक ठीक विचार नहीं किया जा सकता है।"

बेली का कथन है कि "दोनों अविरोधी तो हो सकते हैं, पर सृष्टि रचयिता के अस्तित्व के सम्बन्ध में स्पष्ट साक्षी का तो मुझे अभाव ही मालूम होता है।"

प्रो० हाइम का कहना है कि 'विकास की पुष्टि तो अनुभूत प्रमाणों द्वारा होती है पर हम रचयिता के बारे में तो कुछ नहीं जान सकते।'

प्रो० मेघनाद सहा:—"विकासवाद का जो अर्थ लिया जा रहा है उसमें तो मुझे विश्वास नहीं है। मैं 'काल-परिवर्तन' में (Time Changes) विश्वास करता हूँ, सृष्टि रचयिता की कल्पना हमें 'काल-परिवर्तनों' के समझने में सहायक नहीं होती!"

प्रो० मोर्डेल:—"यदि कोई सृष्टि रचयिता में विश्वास रखता है तो मैं यह नहीं समझ सकता कि विकासवाद इस विश्वास में विरोधी क्यों है।"

प्रो० मैकब्राइड:—"इस विश्व के परोक्ष में कोई एक शक्ति अवश्य होनी चाहिये क्योंकि मनुष्य की बुद्धि इस विश्व में से आविर्भूत हुई है, और इसकी सहायता से ही हम कुछ जान सकते हैं। यह शक्ति बुद्धिमान् होनी चाहिये अर्थात् इसमें ज्ञान और इच्छा होनी चाहिये।"

एक रसायनज्ञ ने कहा:—'यदि रचयिता का अर्थ ऐसे एक साकार व्यक्ति से है जिसका चित्रण बाइबल के सृष्टि-अध्याय में किया गया है, तो सच-मुच मैं नहीं मानता। पर हाँ यदि निराकार किसी ऐसी शक्ति से तात्पर्य्य है जिससे समस्त विश्व और नियम प्रादुर्भूत हुए तो इस रचयिता और विकास के अविरोधी मानने में कोई आपत्ति नहीं है, प्रत्युत ठीक ही होगा।"

स्विनबर्न का कहना है—"यदि 'रचयिता' का अर्थ किसी प्रकार के वैभव सम्पन्न परम पुरुष का है तो मैं नहीं मानता।"

टिज़ार्ड:—"हाँ, यदि कोई रचयिता है तो इसका कोई कारण नहीं है कि उसकी सृष्टि विकास-द्वारा क्यों न उन्नत हो।"

डा० मास्टरमेन:—"हाँ, विकासवाद के लिये रच-यिता आवश्यक है।"

प्रो० वाइन्स:—"हाँ, विकास का आरम्भ अवश्य होना चाहिये इस आरम्भ में आवश्यकीय शक्ति का स्रोत अनिवार्य्य है।"

एक जीववेत्ता कहते हैं:—"यह स्पष्ट है कि कोई भी सतर्क विकासवादी नास्तिक नहीं हो सकता है, पर मैंने अपना यह परम सिद्धान्त बना लिया है कि धार्मिक सिद्धांतों में हस्ताक्षेप न करूँ।"

प्रो० सी० सी० फार (भौतिकज्ञ): "दोनों प्रकार का विकास भौतिक और अभौतिक (प्राणियों का विकास और सृष्टि के ग्रह-उपग्रहों का विकास) सृष्टि के विशिष्ट रचना के प्रश्न को इतने पीछे परोक्ष

में फैंक देता है जहाँ हमें कुछ भी स्पष्ट दृष्टिगत नहीं हो पाता है, कुछ धुंधला सा प्रकाश ही प्रतीत होता है। मैं अवश्य कहूँगा कि बाइबिल के सृष्टि अध्याय में जिस सृष्टि रचना का विवरण दिया हुआ है उसकी संगति तो विकासवाद से नहीं लगाई जा सकती है, पर यदि यह माना जाय कि इस विश्व के परोक्ष में कोई अदृष्ट नियामक वशीकारक सत्ता विद्यमान् है, जिसे अन्य उपयुक्त शब्दों के अभाव में चाहे ब्रह्म या सृष्टि रचयिता कह लिया जाय, तो इस विश्वास और विकासवाद में कोई विरोध नहीं है।"

क्रिक्टन ब्राऊनः—"विकास का अर्थ है सतत या निरन्तर ईश्वरीय प्रादुर्भाव, और परिवर्त्तन का अर्थ है दिव्य दृश्य।"

ह्लासकेटः—"हाँ, विकास को गूढ़ दृष्टि से देखने से पता चलेगा कि इसके अन्दर रचयिता का उच्चतम आदर्श निहित है।"

इन सब वैज्ञानिकों के विचारों से एक बात स्पष्ट है कि गत शताब्दी के संसार में और आजकल के में बहुत ही अन्तर हो गया है। विकास वादी इस जगत् के परोक्ष में जिस शक्तिशाली निहित शक्ति का आभास पा रहे हैं, वह उनकी दृष्टि में केवल सृष्टि की आयोजिका है। धार्मिक इस शक्ति में कर्त्तत्व के अतिरिक्त सृष्टि रचना के प्रयोजन को दृष्टिमें रखते हुए उसको ज्ञान, दया, न्याय और आनन्दसे भी परिपूर्ण मानते हैं।

इधर धार्मिक व्यक्तियों ने भी विकासवाद का विरोध छोड़ दिया है। विकासवादी स्वयं अपने विकासवाद को कुछ संदेह की दृष्टि से देखने लगे हैं। फलतः अब प्रश्न केवल इतना ही है कि क्या आस्तिक भी विकासवादी हो सकता है अथवा विकासवादी भी सच्चा आस्तिक हो सकता है। इस समय अधिकांश वैज्ञानिकों की सम्मति इसी ओर है कि आस्तिकता और विकासमें विरोध नहीं है। यही नहीं, विश्व प्रहेलिकाओंके मूल समाधान के लिये किसी न किसी प्रकार की आस्तिकता आवश्यकीय ही है।

पौरुषेय ईश्वर

चौथा प्रश्न रायल सोसायटी के सदस्यों के सम्मुख जो रखा गया वह यह था:—'क्या प्राकृतिक विज्ञान ईसा के बताये हुए ईश्वर के पौरुषेय स्वरूप का निषेध करता है ?' इस पुस्तक के सम्पादक का कहना है कि हमने यह नहीं पूछा कि क्या विज्ञान ईश्वर के पुरुष (Person) होने का निषेध करता है प्रत्युत प्रश्न उसके पौरुषेय (Personal) होने का था। पौरुषेय की परिभाषा क्या है और ईसामसीह ने ईसा का क्या स्वरूप बताया है यह भी उन वैज्ञानिकों को नहीं बताया गया। अतः वैज्ञानिकों को इस प्रश्न के उत्तर देने में स्वभावतः कठिनता हुई। ईसाइयों की दृष्टिसे यह प्रश्न बहुत ही महत्व का था क्योंकि बिना पौरुषेय ईश्वर में विश्वास रखे हुए ईसाई होने का कोई अर्थ ही नहीं है। पौरुषेय ईश्वर का तात्पर्य ऐसे ईश्वर से है जिसमें चेतनता और आत्मीयता हो, जिसमें ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य, सत्य और न्याय हो। जिसमें चेतनता नहीं है, जिसमें इच्छा या ईक्षण ही नहीं है, जिसमें भावुकता और प्रेम नहीं है, जो सत्यासत्य या धर्माधर्म में भेद नहीं कर सकता है वह ईसाइयों का ईश्वर नहीं हो सकता है। यदि पौरुषेय का केवल इतना ही तात्पर्य है और यदि इस कल्पनामें ईश्वर के साकार होने की भावना नहीं है तो ईसाइयों के अतिरिक्त अन्य धर्मावलम्बी भी ईश्वर के इस स्वरूप को स्वीकार कर सकते हैं और इसलिये यह प्रश्न उनके लिये भी उतने ही महत्व का है जितना कि ईसाइयों के लिये।

यहाँ इतना ध्यान रखना चाहिये कि अधिकांशतः ही नहीं सर्वांशतः यूरोपीय वैज्ञानिक चाहें अपने को कट्टर ईसाई न कहें, पर हैं तो वे ईसाई ही अथवा ईसाइयों के वातावरण से प्रभावित होते हैं, अतः उनके सामने ईश्वर का वही स्वरूप आ सकता है जिसे ईसा ने प्रचरित किया था।

उक्त प्रश्न के उत्तर में २६ व्यक्तियों ने निषेधात्मक उत्तर दिये। १०३ ने कहा कि प्राकृतिक विज्ञान ईश्वर के पौरुषेय होने का निषेध नहीं करता है। ७१

व्यक्तियों के अस्पष्ट उत्तर थे जिनसे न निषेध ही समझा जा सकता था और न विधि ही ।

निषेध करने वालों में से पच्चीस ये हैं:—बेली, बार्जर, बोर्ड, कोहेन, इवान्स, एवरशेड, फार, फ्रैंकलैंड, ग्रेगोरी, हार्डी, हेरोन-एलन, कैसर, लैंगेविन, मैकलिओड, मैरिक, मिडलमिस, मरे, पैवलोव, पैराँ, प्लांक, रिडले, रसल, स्टाफ, स्विनबर्न, और टोमलिन्सन ।

ब्राउन, हेविट, और डानन सदृश व्यक्तिओं ने यह कहा है कि विज्ञान का इस प्रकार के धार्मिक प्रश्नों से कोई सम्बन्ध नहीं है अतः वह ईश्वर के पौरुषेय होने का निषेध भी भला कैसे कर सकता है । बार्जर का कहना था कि 'हाँ, कम से कम करामाती ईश्वर का तो विज्ञान अवश्य विरोध करता है ।'

इस सम्बन्ध में वैज्ञानिकों के कुछ विचार यहाँ दिये जाते हैं ।

मिडेलमिस—"हाँ, ईसा द्वारा निर्दिष्ट पौरुषेय स्वरूप बिलकुल बच्चों का सा खेलवाड़ है ।"

मोरडेल "ईश्वर का पौरुषेय होना नितान्त असंभव है ।"

फ्रैंकलैंड—"विश्व के परोक्ष में स्थित सर्वशक्तिवान् और सदाचारयुक्त शक्ति की भावना न केवल विज्ञान से असंगत ही है प्रत्युत इस विश्व के सम्पूर्ण नियमों और दृश्यों को जिनके द्वारा हम ज्ञान और अनुभव की प्राप्ति करते हैं, अविश्वसनीय, बुद्धि-या तर्क-विहीन और पक्षपात युक्त भी बना देती है ।"

क्रिस्टोफर्स—"पौरुषेय ईश्वर का जो सामान्य भाव लिया जाता है वह मेरे लिये तो कल्पनातीत है ।"

फार—"ईसा ने जिस पौरुषेय ईश्वर का निर्देश किया है वह वैज्ञानिकों के विचारसे सर्वथा भिन्न है ! ईसा और ईसाइयों ने विश्व के परोक्ष में स्थित शक्ति को अनावश्यकीय मूर्खता पूर्ण महत्ता दे रखी है ।"

कोहेन—"ईश्वर में मनुष्यों के से गुण मानना विज्ञान नहीं स्वीकार कर सकता है ।"

ये तो उन लोगों के विचार हुए जो समझते हैं कि विज्ञान पौरुषेय ईश्वर के अस्तित्व का निषेध करता है । जो वैज्ञानिक ऐसा नहीं समझते हैं उनके भी कुछ विचार दे देना असंगत न होगा ।

एक जीववेत्ता का कथन है कि 'प्राकृतिक विज्ञान उन वस्तुओं का विवरण देता है जो नापी, गिनी और विभाजित की जा सकती हैं । अतः उपर्युक्त प्रकार के प्रश्न का विधि या निषेध किसी में उत्तर देना इसके क्षेत्र से बाहर है ।' डा० मास्टरमेन का भी ऐसा ही कहना है कि विज्ञान का विश्वास से कोई सम्बन्ध नहीं है अतः ऐसे प्रश्न इससे नहीं किये जा सकते हैं । मेलोर महोदय भी यही कहते हैं कि 'विज्ञान का क्षेत्र बिलकुल ही भिन्न है, अतः जहाँ तक मैं समझता हूं, विज्ञान इसके पक्ष या विपक्षमें कुछ भी नहीं कह सकता है ।' कर्नलजान स्टिफेन्सन प्रो० डानन, और प्रो० वीन के भी ऐसे ही विचार हैं ।

फ्रांस के प्रो० विनोग्रेड्स्की ने कहा कि "मैं नहीं समझता कि भौतिक विश्व का ज्ञान आत्म-संसार के ज्ञान पर प्रभाव डालसकता है ।' प्रो० बाथर का कथन है कि 'मैं समझता हूँ कि विज्ञान को इसके पक्ष और विपक्ष में कुछ भी नहीं कहना है ।'

प्रो० टिलयार्ड के निम्न शब्द भी मनोरञ्जक हैं:—"जीववेत्ता इस प्रकृति में आचार-उपयोगिता (Moral value) की उसी प्रकार कोई साक्षी नहीं पाते हैं जिस प्रकार भौतिक वेत्ता इस ब्रह्मांड में । आचार का विचार तो सापेक्ष है न कि निरपेक्ष, और विकास के क्रम में बहुत पीछे मनुष्य ने इसकी कल्पना की है । ईश्वर की कल्पना तो मनुष्य के मस्तिष्क की और भी विशिष्ट उपज है । पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वर है ही नहीं । इसका केवल इतना ही तात्पर्य है कि ज्यों ज्यों मनुष्य के विचार अधिक स्पष्ट होने लगे, सर्व ज्योतिर्मय पिता के प्रकाश को कुछ धुंधली आभा हमारे पास पहुँचने लगी । सत्य के निकट पहुँचने और ईसाई मत के केवल कल्पनाश्रित मन्तव्यों से दूर हटने के लिये अभी विज्ञान को अन्वेषण करते रहना है ।"

बहुत से वैज्ञानिकों को पौरुषेय' शब्द का तात्पर्य समझ में नहीं आया। सर गिलबर्ट वाकर ने कहा कि 'इस प्रश्न का उत्तर 'पौरुषेय' के अर्थ पर निर्भर करता है।' जे० बी० कोहन का कथन यह था—"मैं समझता हूँ कि निषेध करता है यदि पौरुषेय ईश्वर में मनुष्यों के गुण माने जायं। मैं यह सोच भी नहीं सकता कि यह विश्व किसी ऐसी सत्ता से बनाया गया होगा जिसके विषय में हम कुछ भी धारणा कर सकते हैं। पौरुषेय ईश्वर की भावना तो असभ्य या निम्न श्रेणीके समाजको ही सन्तुष्ट कर सकती है। प्रकृति की संकीर्णता अन्वेषण द्वारा ज्यों ज्यों अधिक प्रतीत होती जारही है, त्यों त्यों उस नियामक शक्तिमें और भी अधिक विश्वास होता जा रहा है, और उसके प्रति विनय-भाव भी बढ़ता जा रहा है।"

डा० इम्स ने कहा—"मेरी सम्मति में विज्ञान हमें दृश्य जगत् के परोक्ष में एक महान-शक्ति के अस्तित्व का निर्देश करता है। इस शक्ति को कुछ ईश्वर कहते हैं; और कुछ प्रकृति या स्वभाव (नेचर)। विज्ञान ऐसे पौरुषेय ईश्वरकी जिसका स्वरूप लगभग मनुष्यका सा हो पुष्टि नहीं कर सकता है।"

डा० इंगोल्ड का विचार है कि 'साकारिकता के भाव से तो विज्ञान ईश्वर के पौरुषेय मानने का निषेध करता है, पर यदि पौरुषेय का अर्थ 'एकत्व' हो तो निषेध नहीं करता। पर ईश्वर का साकार स्वरूप ईसा के समय में भी और कुछ हद तक आज कल भी सामान्य मनुष्यों को समझाने की दृष्टि से उपयोगी अवश्य था।'

रौब का कथन है कि "मैं यह नहीं मानता कि ईश्वर के संबन्ध में मानव-विचार कभी पूर्ण भी हो सकते हैं। एक असीमित सत्ता को सीमाबद्ध करने का प्रयास व्यर्थ है।"

प्रिन्सपल रिचार्डसन का उत्तर बहुत स्पष्ट है- "मैं उत्तर को दो भागों में विभाजित करता हूँ-(१) विज्ञान ऐसे ईश्वर का निषेध करता है जो सीधे ही अचेतन जगत् पर क्रिया करता हो। उदाहरणत: वर्षा के लिये प्रार्थनायें करना अन्ध-विश्वास जनक है और इस प्रथा को उड़ा देना चाहिये। लेकिन (२) मानव आत्मा का परमात्मा से दैव संपर्क होनेके विषयमें साधु-योगी या सन्तों के अनुभव की अपेक्षा विज्ञान का अनुभव कुछ भी नहीं के बराबर है।"

मृत्यु के पश्चात्

पांचवां प्रश्न जो वैज्ञानिकों के सन्मुख प्रस्तुत किया गया था यह था—"क्या आप को विश्वास है कि शारीरिक मृत्यु के पश्चात् मनुष्य और स्त्रियों के व्यक्तित्वका अस्तित्व रहता है।" इसमें सन्देह नहीं कि वैज्ञानिक अपने को उन्हीं अनुभवों तक सीमित रखता है जिनका ज्ञान वह प्रयोगशाला में प्राप्त करता है। मृत्यु के पश्चात् आत्मा का क्या होता है, इसके सम्बन्ध में उसके प्रयोग कुछ भी प्रकाश नहीं डालते हैं।

ईसाइयों का साधारणत: तो यह विचार है कि क़ब्र में दफन करने के उपरान्त भी आत्मा वहीं रहती है, और क़यामत के दिन ये रूहें उठती हैं और उनका न्याय किया जाता है। कर्म और विश्वासों के अनुसार कुछ को अनन्तकाल के लिये स्वर्ग और किन्हीं को अनन्त काल के लिये नरक प्राप्त होता है। आर्य्य संस्कृति में मृत्यु के पश्चात् फिर जन्म होता है, और जन्म के पश्चात् फिर मृत्यु। यह प्रवाह तब तक चलता रहता है जब तक कि परम मुक्त न होजाय। मनुष्य और स्त्रियों की आत्मायें सभी प्रकार की योनियों में आती जाती रहती हैं। इस सिद्धान्त का नाम पुनर्जन्म या आवागमन है।

जब उपर्युक्त प्रश्न किया गया तो ४७ व्यक्तियों ने तो कहा कि मृत्यु के पश्चात् भी आत्मा के अस्तित्वमें उन्हें विश्वास है। ४१ ने इसका निषेध किया है। ११२ व्यक्तियों ने इस प्रश्न पर अनिश्चित या अस्पष्ट उत्तर दिये।

निषेधात्मक उत्तर वालों में २६ के नाम ये हैं:—एड्रियन, बेली, बोर्ड, ब्राउन, चैपमन, क्रिस्टोफर्स, कोहेन, इवान्स, ग्रीगोरी, हार्डी, हेरन-एलन, जोन्स,

कैसर, लैंगेविन, लिटलवुड, मैकलिओड, मैरिक, मोरडेल, पैवलोव, पैरां, प्राउडमन, रसल, सौडी, स्टिफेन्सन, स्विनबर्न और विनोग्राडस्की।

बहुतसों ने तो हाँ और न में ही उत्तर दे दिया था, पर कुछ ने आलोचनात्मक उत्तर भी भेजे। क्रिस्टोफर्स ने कहा—"नहीं! मृत्यु के पश्चात् अस्तित्व के सम्बन्ध में न केवल साक्षियों का अभाव ही है, प्रत्युत सम्भावना भी इसके प्रतिकूल ही है। अस्तित्व की भावना में अनौचित्य और विरोध है, और इससे मनुष्य को इसके अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं हो सकता कि वह अपने व्यक्तित्व की आवश्यकता से अधिक महत्ता समझ बैठे।"

प्रो० ब्राऊन—"नहीं। मेरी समझ में ही नहीं आता है कि मृत्यु के पश्चात् अस्तित्व क्यों कर संभव हो सकता है—कमसे कम जहाँ तक वर्तमान अनुभव का संबन्ध है, मुझे अभी तक इसका कोई निश्चयात्मक प्रमाण नहीं मिला है।"

विनोग्राडस्की—"मुझे दुःख है कि मुझे कोई ऐसी साक्षी नहीं मिल रही है जिसपर ऐसी आशा बांधी जासके।"

एवर शेड—"मैं समझता हूँ कि यह असभव है।"

एड्रियन—"नहीं, पर मैं यही समझता हूँ कि ऐसा होना असम्भव है।"

विल्स—"मेरी समझमें विज्ञान ने इस पर अभी तक कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है।"

मेघनाद सहा—"अभी तक मुझे इस विचारके पक्षमें कोई भी निश्चित साक्षी नहीं मिली है।"

लेविस रिचार्डसन—"मैं तो कहूँगा कि यह समस्या 'असिद्ध' है। मेरी इच्छा यह है कि लोग 'Jerusalem the Golden' वाला गीत जिसे १३वीं शताब्दीमें बर्नार्ड आव् क्लूनी ने बनाया था, गाना छोड़ दें। यह तो एक अन्धकल्पना है। परलोकके विचार की अपेक्षा इहलोक—या इस जगत्का अधिक विचार रखाजाय। जब ऐसा होगा तभी लोग प्रजनन सम्बन्धी प्रश्नों पर अधिक गम्भीरतासे विचार कर सकेंगे।"

इञ्जिनियर-अन्वेषणके एक अध्यक्ष:—"मुझे आशा है कि वे मृत्युके बाद भी रहते हैं। अभी मेरी प्यारी हृदयेश्वरीका देहान्त हुआ है और क्या ही अच्छा होता कि उससे मेरी भेंट हो सकती। पर अफ़सोस!"

प्रो० फार—"मैं उन चीज़ोंमें विश्वास करता हूँ जिनकी सत्यताके लिये मुझे समुचित साक्षी मिलजाती है। बाइबिलमें दी हुई साक्षीको मैं केवल दूसरे दर्जे की मानता हूँ, क्योंकि यह बहुत पुरानी होगई है और इसमें सम्भवतः ऐतिहासिक अविश्वास भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त मृत्युके उपरान्त व्यक्तित्वके अस्तित्व के सम्बन्धमें कुछ अन्य भी प्रमाण मिल रहे हैं पर ये भी दूसरे दर्जेके हैं। मैं केवल यह कह सकता हूँ कि यह समस्त विश्व इतना विस्मयकारक है कि इसमें अनन्त जीवन होना असम्भव नहीं है और साइकिकल रिसर्च सोसायटीने इसके सम्बन्धमें बहुत से जोरदार प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं। पर इस समय मुझे इनसे सन्तुष्टि नहीं होती है। यह प्रश्न इतने महत्वका है कि जब तक कोई निर्भ्रान्त प्रमाण न मिले तब तक कुछ भी निश्चय न करना चाहिये। जिसमें थोड़ा सा भी सन्देह हो उस साक्षी को तिरस्कृत कर देना चाहिये। अतः इस विषयमें मैं सन्देह-वादी ही रहना उचित समझता हूँ, और कुछ भी सम्मति न देते हुए इतना ही कहे देता हूँ कि मृत्युके पश्चात् अस्तित्व रहना असम्भव नहीं है।"

प्रो० हालडेन—"मृत्यु के पश्चात् आत्माओंका पृथक् पृथक् अस्तित्व नहीं रहता है, वे सब ईश्वर के साथ 'एक' होकर रहती हैं।"

प्रो० इंगोल्ड—"मृत्युके पश्चात् अस्तित्व तो रहता है पर पृथक् व्यक्तित्व भी रहता है इसमें सन्देह है। मैंने इस पर कभी विचार नहीं किया है।"

डा० मार्शल—"दूसरे प्रकार के अस्तित्व में काल की अपेक्षा नहीं होती है। बाइबिल में भी कई स्थलों पर काल की असत्यता का उल्लेख है, और प्राचीन और आधुनिक अनेक दार्शनिक भी काल को

मिथ्या समझते हैं। मेरा भी ऐसा ही विचार है। काल तो हमारे इस सांसारिक जीवन में व्यवहार-मात्र है। इस दृष्टि से इस जीवन के 'पश्चात्' का प्रश्न ही अनुचित होगा क्योंकि 'पश्चात्' शब्द का व्यवहार ही तब हो सकता है जब काल को सत्य माना जाय। 'अनन्त जीवन' काल की अपेक्षा नहीं रखता है।"

आलसंड—" 'व्यक्तित्व' के स्थान में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग करना उचित है, इसमें अध्यात्मिक भाव है। निस्सन्देह मैं मृत्यु के पश्चात् भी इसके अस्तित्व में विश्वास रखता हूँ।"

सर राबर्ट हैडफील्ड—"यदि हम सब का इस जीवन में ही अन्त होना है तो इसे प्रकृति की शक्ति का व्यर्थ अपव्यय मानना चाहिये। पर यह असम्भव है।"

इसमें सन्देह नहीं कि इस जीवन के पश्चात् हमारा अस्तित्व अवश्य रहेगा, हम तो एक अभौतिक आत्मिक सत्ता हैं। हम सभी को यह अनुभव होता है कि हम शरीर से पृथक् और कुछ हैं, अतः शरीर की मृत्यु का अर्थ हमारी मृत्यु नहीं हो सकता है। अधिकांश वैज्ञानिक भी इसको मानने लगे हैं। पर उपर्युक्त वैज्ञानिकों की साक्षियों में पुनर्जन्म का उल्लेख नहीं पाया जाता है। कदाचित् उनके सम्मुख यह सिद्धांत आया ही नहीं है।

आधुनिक वैज्ञानिक युग

विज्ञान के सिद्धांतों में अस्थिरता है, आज जो बात ठीक समझी जा रही है, वह दस वर्ष में ही पुरानी पड़ जायगी। एक सिद्धांत का स्थान दूसरे परिशोधित सिद्धांत ले लेंगे। वैज्ञानिक युग की प्रवृत्ति में भी यही बात है, उन्नीसवीं शताब्दी का गर्वयुक्त युग अब समाप्त हो गया है। जब से आइन्स्टाइन और उसीके से विचार रखने वाले अन्य वैज्ञानिकों ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं तब से विज्ञान की भौतिकता बहुत कुछ मिट गई है।

६ ठा प्रश्न जो वैज्ञानिकों के सम्मुख रखा गया वह यह था—"क्या आपका ऐसा विचार है कि आधुनिक युग में उन्नत उत्कृष्ट वैज्ञानिक विचार धार्मिक विश्वास में सहायक हो सकते हैं?"

इस प्रश्न के २७ व्यक्तियों ने निषेधात्मक और ७४ ने पक्ष में उत्तर दिये। ९९ व्यक्तियों के अस्पष्ट उत्तर थे जिन्हें हाँ या न कुछ भी नहीं समझा जा सकता था।

निषेधात्मक उत्तर देने वालों में १९ के नाम ये हैं:—बेली, बाजेर, बोर्डेट, चैपमन, कोहेन, हार्डी, हेरन-एलन, कैसर, लैंगेविन, लिटिलवुड, मोरडेल, पैवलोव, पैरॉं, प्राउडमन, रिडले, रसल, सौडी, स्विनबर्न और वाटसन।

कुछ व्यक्तियों की सम्मतियाँ यहाँ दी जाती हैं।

मैलोर—"मैं दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं देखता, मैं धर्म-विज्ञान-संघर्ष की समस्या को ही नहीं मानता।"

सबातिये—"धर्म और विज्ञान दोनों का अलग अलग क्षेत्र है। किसी को एक दूसरे में बाधा नहीं डालनी चाहिये।"

ली-चैटलियर—"न सहायक न विरोधी।"

डा० रैयड्ल—"धार्मिक विश्वास का क्या तात्पर्य्य है, इस पर इस प्रश्न का उत्तर निर्भर है। कुछ तो इससे अवश्य घबड़ा उठते हैं। पर दोनों साथ साथ चल अवश्य सकते हैं। मुझे तो यह मालूम होता है कि ज्यों ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है हमें यह विश्वास होता जाता है कि इन धार्मिक विश्वासों का मूल-प्रचारक-मस्तिष्क कितना भोंडा था, और कुछ धार्मिक विश्वासों में तो बहुत से बड़े ही औंधे भाव सम्मिलित हो गये हैं।"

सर गिलबर्ट वाकर—"नहीं। बाइबिल में उल्लिखित सृष्टि रचना, और धार्मिक विश्वासों के तो विरोधी अवश्य हैं—पर धर्म के नहीं।"

डा० रौब—"मैं तो यह समझता हूँ कि आधुनिक वैज्ञानिक विचारों ने वैज्ञानिकों और धार्मिक उपदेशकों दोनों को उनकी अज्ञानता का परिचय करा दिया है।"

डा० फार—"मैं यह अवश्य मानता हूँ कि आधुनिक वैज्ञानिक विचार धर्म के अवश्य परिपोषक हैं, पर उस संकीर्ण और संकुचित धर्म के नहीं, जिनका कि गिरजाघरों में प्रचार किया जाता है। वैज्ञानिकों की दृष्टि में सत्य ही परम पवित्र वस्तु है, और वे मानते हैं कि सत्य की सिद्धि के लिये प्रमाण होना चाहिये। इस प्रमाण को निष्पक्षता से निर्भय होकर तर्क की कसौटी पर चढ़ाना चाहिये। अतः ये किसी साम्प्रदायिकता में सीमित रहना कभी न चाहेंगे पर ये व्यर्थ इनका विरोध भी न करेंगे। यह सृष्टि इतनी विचित्र है कि बहुत संभव है कि अनेक बातें जिनका अभी अनुसन्धान नहीं हुआ है, सत्य ही हों। सत्य की जिज्ञासा ही उनका लक्ष्य है और यही प्रत्येक उपयुक्त धर्म का भी उद्देश्य होना चाहिये।"

ग्लेब एनरेप—"हाँ। कम से कम विरोधी नहीं हैं। विज्ञान सत्य की खोज करना चाहता है। धर्म के अनुसार ब्रह्म सत्य है। अतः कोई कारण नहीं है कि दोनों की उन्नति साथसाथ न हो सके।"

प्रो० एलबर्ट हाइम—"धार्मिक विश्वास को सत्य अवश्य मानना चाहिये। विज्ञान की उन्नति से हम सत्य के अधिक निकट पहुँच सकेंगे। अतः विज्ञान भावी धर्म का सहायक होगा। साधारण धार्मिक विश्वास में विनम्रता का अभाव है, और इसके निषेध करने में भी विनम्रता का अभाव है। मानव-आत्मा को इतने में सन्तुष्ट हो जाना चाहिये कि वे अन्तिम निरपेक्ष समस्याओं को समझने में सर्वथा असमर्थ हैं।"

डा० फ्रीथ—"हाँ। विज्ञान आज अधिक उदार होता जा रहा है।"

प्रो० चैटोक्—"हां। आप कल के वैज्ञानिक विचारों ने पुराने जड़वादके विचारों को हिला दिया है।"

डा० मैकोले—"हाँ। क्योंकि आधुनिक विचार विश्व की भौतिकता में सन्देह उत्पन्न करा रहे हैं।"

सर एलफ्रेड ईविंग—"हाँ। इन विचारों ने विचारवान जनता को मनवा दिया है कि पुराने जड़वाद के सिद्धान्त कितने निरर्थक थे। पुराने वैज्ञानिकों में जो गर्वीली कट्टरता पायी जाती थी वह तो अब मर गई है।"

डा० ओटो स्टाफ—"आधुनिक वैज्ञानिक उन्नति का जहांतक जड़वाद के विरोध से संबन्ध है, वहांतक यह धार्मिक विश्वासों की सहायक है।"

इसी प्रकार के विचार आलमंड, गोल्डसब्राओ, हैरिसन, मास्टरमन, स्टील आदि ने भी प्रकट किये हैं।

इन पृष्ठों में हमने वैज्ञानिकों के कुछ विचार प्रस्तुत किये हैं। यहाँ उनके वचनों के स्वतंन्त्र अनुवाद या भावानुवाद ही दिये गये हैं।

कार्बनिक रसायन का विस्तार (भाग ३)

द्वितीय-रूप सिद्धान्त से वर्तमान "संयोग शक्ति सिद्धान्त" में परिवर्त्तन—विलयमसन, वूर्ज, फ्रैंकलैंड, कोल्बे, केक्यूले इत्यादि।

[लेखक श्री आत्माराम एम. एस-सी.]

पिछले कुछ पृष्ठों में डूमा का वृत्तान्त देते समय उस के रूप सिद्धान्त का भी वर्णन किया गया है। परन्तु डूमा का यह सिद्धान्त अधिक समय तक दृढ़ न रह सका और इसके पश्चात गरहर्ड इत्यादि ने भिन्न भिन्न रूपों में कार्बनिक यौगिकों की उत्पत्ति दर्शाई। गरहर्ड के शेष सिद्धान्त के विषय में पहिले ही कहा जा चुका है। परन्तु कुछ दिनों पश्चात् उसको अपने विचारों में परिवर्तन करने की आवश्यकता पड़ने लगी और इस दूसरे सिद्धान्त का नाम गरहर्ड ने द्वितीयरूप सिद्धान्त रक्खा। पाठकों को भले प्रकार विदित है कि गरहर्ड और लोरें के अनुसन्धान और सिद्धान्त बरज़ेल्यूस के युगल सिद्धान्त (Dualistic The-

ory) बिल्कुल विरुद्ध थे। साथ ही साथ उस समय के अनुसन्धानों से बरज़ेल्यूस के विचारों पर लोगों को संदेह होने लगा। उदाहरणतः सिरकाम्ल के उदजन परमाणुओं का हरिन् से स्थापन अर्थात् एकहरि, द्विहरि और त्रिहरिसिरकाम्लकी उत्पत्ति। १८४८ ई० में बरज़ेल्यूस की मृत्यु के पश्चात दो तीन ऐसे महत्व पूर्ण अनुसन्धान हुये जिनसे कि गरहर्ड और लोरें के विचारों को बहुत कुछ सहायता मिली जैसे विलयमसन का ज्वलक पर, वूर्ज और हाफ़मैन का अमिनों पर। विलयमसन का मुख्य कार्य्य ज्वलक पर ही हुआ, और कोई विशेष कार्य्य वर्णन योग्य नहीं है इस लिये उसका कार्य्य रूप सिद्धान्त के साथ वर्णन करके उसकी जीवनी के विषय में अलग कुछ कहा जायगा।

विलयमसन ने १८५० ई० में ज्वलक पर अपना कार्य्य आरम्भ किया और इससे ऐसे महत्व पूर्ण फल मिले जिनके लिये गरहर्ड वर्षों से खोज कर रहा था। भाग्यवश उसी समय हाफ़मैन ने अमोनिया पर मद्यील हरिदोंके प्रभावसे स्थापित अमोनिया तैयार किये थे, इसी विचार को लेते हुये विलयमसन ने मद्यीलनैलिदों के प्रभावसे पांशुज मद्येत से स्थापित मद्यों के बनाने की आशा की, परन्तु स्थापित मद्य के बजाय उसको ज्वलक प्राप्त हुई। परन्तु इस आश्चर्य्यजनक बात के महत्व को जानने में विलयमसन को देर न लगी और तुरन्त जान लिया कि इस प्रयोगके आधार पर रसायन की बड़ी बड़ी उलझनें समझानी सहल हो जायेंगी। इस समय बहुत से रसायनज्ञ मद्य को ($\text{क}_{४}\ \text{उ}_{६}$ ओ, उ ओ) की भांति, मद्येत को ($\text{क}_{४}\ \text{उ}_{५}$ ओ, पां उ) और ज्वलक को ($\text{क}_{४}\ \text{उ}_{६}$ ओ) की भांति (क = ६; ओ = ८) के आधार पर लिखते थे। पर गरहर्ड और लोरें इन यौगिकों को सर्वदा जल के स्थापित पदार्थों की भांति लिखने पर ज़ोर देते थे और वास्तव में यह था भी ठीक, जैसे:

$$\left.\begin{matrix}\text{उ}\\ \text{उ}\end{matrix}\right\}\text{ओ}\quad \left.\begin{matrix}\text{क}_{२}\ \text{उ}_{५}\\ \text{उ}\end{matrix}\right\}\text{ओ},\quad \left.\begin{matrix}\text{क}_{२}\ \text{उ}_{५}\\ \text{पां}\end{matrix}\right\}\text{ओ},\quad \left.\begin{matrix}\text{क}_{२}\ \text{उ}_{५}\\ \text{क}_{२}\ \text{उ}_{५}\end{matrix}\right\}\text{ओ}$$
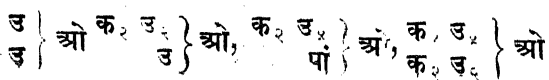
विलयमसन को तुरन्त ही अपने प्रयोग का महत्त्व ऊपर लिखे फ़ारमूलों की जांच करने में जान पड़ा और निम्न लिखित रूप में उसने मद्यील नैलिद और मद्येत से ज्वलक की उत्पत्ति इस प्रकार प्रदर्शित की:—

$$\left.\begin{matrix}\text{क}_{२}\ \text{उ}_{५}\\ \text{पां}\end{matrix}\right\}\text{ओ} + \text{क}_{२}\ \text{उ}_{५}\ \text{नै} = \text{पां नै} + \left.\begin{matrix}\text{क}_{२}\ \text{उ}_{५}\\ \text{क}_{२}\ \text{उ}_{५}\end{matrix}\right\}\text{ओ}$$
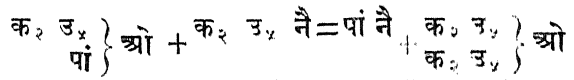
परन्तु किसी ने कहा है "सीधी उँगलियां से घी नहीं निकलता" और वैसा ही हुआ। पुराने सिद्धान्त के अनुयायियों ने विलयमसन के प्रयोग को निम्न लिखित रूपमें समझाने की चेष्टा की और कुछ थोड़े दिनों तक फिर चैन सा पड़ गया। उनका कथन था कि पांशुज मद्येत पहिले ज्वलक और पांशुज ओषिद में विभाजित हो जाता है और ओषिद फिर नैलिद के प्रभाव से ज्वलक का दूसरा अणु उत्पन्न करती है:—

१. $\text{क}_{४}\ \text{उ}_{५}$ ओ, पां ओ = पां ओ + $\text{क}_{४}\ \text{उ}_{५}$ ओ

२. $\text{क}_{४}\ \text{उ}_{५}$ नै + पां ओ = पां नै + $\text{क}_{४}\ \text{उ}_{५}$ ओ.
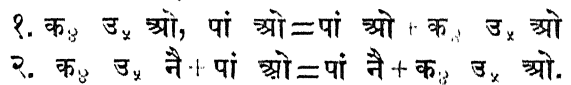
परन्तु आप जानते हैं कि जब लड़ाई छिड़ जाती है तो बिना अन्त हुये नहीं रहती कोई न कोई विजयी होता ही है परन्तु अन्त भी सीधे ही से नहीं होता। इसी प्रकार विलयमसन ने जो कि इस प्रयोग के पश्चात् गरहर्ड के मतका अनुयायी हो गया था इस बात को जांचने की एक और रीति निकाली। यदि विरुद्ध मत वालों का कथन ठीक है तो उनके अनुसार पांशुज मद्येतसे मद्यिल नैलिदके प्रभाव के बजाय दारील नैलिद के प्रभाव से मद्यील और दारील ज्वलक बराबर संख्या में बननी चाहिये और यदि गरहर्ड और लोरेंके विचार ठीक हैं तो मिश्रित ज्वलक बननी चाहिए। प्रयोग करने पर गरहर्ड और लोरेंकी ही जय हुई।

$$\left.\begin{matrix}\text{क}_{२}\ \text{उ}_{५}\\ \text{पां}\end{matrix}\right\}\text{ओ} + \text{क उ}_{३}\ \text{नै} = \text{पां नै} + \left.\begin{matrix}\text{क उ}_{३}\\ \text{क}_{२}\ \text{उ}_{५}\end{matrix}\right\}\text{ओ}$$
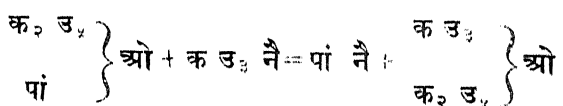
यद्यपि गरहर्ड और लोरें ने सहस्रों यौगिकों का गूढ़ अध्ययन किया था परंतु उनके सिद्धान्तोंका वैज्ञा-

निकों पर अधिक प्रभाव न पड़ा क्योंकि सर्वदा कोई न कोई दूसरा मत देकर वह लोग उनके विचारों को अपनाने में आनाकानी करते थे परन्तु विलयमसन के इस अनुसन्धान के पश्चात किसी को चूं करने का भी अवसर न रह सका क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के सामने केवल बातों से काम नहीं चल सकता। इसके पश्चात् उसने और ज्वलकों के साथ भी ऐसे ही प्रयोग किये और स्पष्ट रूप से दिखा दिया कि केवल ज्वलक ही नहीं बल्कि मद्य, अम्ल सम्मेल इत्यादि सब यौगिकों का रूप जल के ही समान है। इन विचारों का केवल कार्बनिक रसायन में ही नहीं बल्कि अकार्बनिक क्षेत्र में भी उसने प्रयोग किया और बहुत से बहुक्षारिक अम्लों को भी जल के समान दर्शाया जैसे गन्धकाम्ल, स्फुरिकाम्ल इत्यादि

ग ओ$_२$ } ओ$_२$ स्फु ओ } ओ
उ$_२$ }   उ$_२$ }
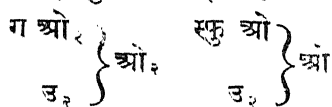
१८५४ में बरथेलो ने यह दिखा कर कि मद्य और मधुरिन में वही संबंध है जो नोषिकाम्ल और स्फुरिकाम्ल में और इसी विचार के आधार पर वुर्ज़ ने मधुओल का अन्वेषण किया।

विलयमसन के इस कार्य्य का गरहर्ड पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा और तुरन्त ही उसने भिन्न भिन्न कार्बनिक सम्मेलों पर अम्लिक हरिदों का प्रभाव विदित किया अर्थात् उनके मिलने से अनार्द्रिद प्राप्त किये।

गरहर्ड का यह कार्य्य उसके प्रयोगिक कार्य्यों में सब से उत्तम माना जाता है। अब उसने जल और अमोनिया रूपों के अतिरिक्त उदजन (उ उ और उदहरिकाम्ल (उ ह) भी मान लिये जिनसे उदकर्बन, मद्यील तथा अम्लिक हरिद और बहुतसे कार्बनिक सम्मेलों की उत्पत्ति भले प्रकार समझाई जा सकी।

उ }   उ क$_४$ उ$_९$ }   क उ$_३$ }   क$_२$ उ$_३$ ओ }
उ }   उ क$_४$ उ$_९$ }   ह }   ह }
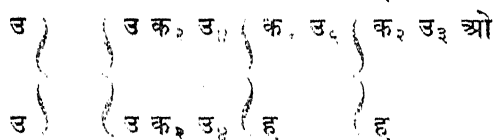
उदजन नवनीतेन (उदकर्बन) मद्यीलहरिद सिरकिक हरिद

इस प्रकार द्वितीय रूप सिद्धान्तकी उत्पत्ति हुई। पाठक देखेंगे कि यह सिद्धान्त और सिद्धान्तों से कहीं गूढ़ और ठीक और लगभग संयोग शक्ति सिद्धान्त ही है क्योंकि इसमें और संयोग शक्ति सिद्धान्त में कोई मुख्य भेद नहीं। यद्यपि लीबिगने गरहर्ड के सिद्धान्तों की घोर निन्दा की थी परन्तु इस सिद्धान्त को लीबिग ने भी सराहा और गरहर्ड की प्रशंसाकी और बहुत से रसायनज्ञ इस सिद्धान्त को मानने लगे क्योंकि इसकी सहायता से लगभग सभी कार्बनिक यौगिकों की उत्पत्ति पहिले वर्णन किये हुये रूपों के आधार पर समझाई जा सकती थी। गरहर्ड ने इस सिद्धान्त का अपनी पुस्तक, कार्बनिक रसायन में (Traite de Chemie Organique) समर्थन किया पर तब भी बहुत सूक्ष्म रूप में ही इनका वर्णन किया, इस डर से कि कहीं उसकी पुस्तक को लोग पसंद न करें और उसकी निन्दा हो। द्वितीय रूप सिद्धान्त के इतिहास को पढ़ने से पता लग जायेगा कि विलयमसन ने कितने महत्व का कार्य्य केवल अपने एक ही अनुसन्धान से किया क्योंकि उसी के प्रयोग के आधार पर सब कार्बनिक यौगिकों की उत्पत्ति समझाने वाला सिद्धान्त बना और इस प्रकार कार्बनिक रसायन का एक सब से बड़ा रहस्य सुलझाया गया।

विलयमसन का जन्म १ मई १८२४को वैण्डस्वर्थ में हुआ उसकी प्रारम्भिक शिक्षा अधिकतर निजी रूप में हुई। इसके पश्चात् विलयमसन हाइडेलबुर्ग विश्वविद्यालय में वैद्यक पढ़ने के लिये भेजा गया परन्तु यहां पर ग्मेलिन के व्याख्यानों का उस पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि अस्वस्थ होने पर भी प्रयोगशाला के कार्य्य में जुट गया और अन्त में अपने पिता की आज्ञा भी वैद्य होने के बजाय रसायनज्ञ होने के पक्ष में प्राप्त कर ली।

सन् १८४४ ई० में विलयमसन को जगत्गुरु लीबिग की प्रयोगशाला में भर्ती होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आरम्भ में तो उसको लीबिग के व्याख्यान

कुछ अधिक लाभदायक न प्रतीत हुये क्योंकि वह सर्वदा प्रारम्भिक और सरल बातों से अपने व्याख्यानों में रसायनिक समस्याएं समझाया करता था परन्तु बाद में विलयमसन के ऊपर उनका बहुत प्रभाव पड़ा जैसा कि उसके ब्रिटिश एसोसियेशन के सभापति के भाषण से प्रगट है। गीस्सेन की प्रयोगशाला में लीबिग के साथ उसने बड़े परिश्रम के साथ कार्य्य किया और कई महत्वपूर्ण लेख भी प्रकाशित किये। १८४५ ई० में डाक्टर की उपाधि पाकर विलयमसनने रसायनिक विषयों को छोड़कर प्रो० काम्टे के पास गणित इत्यादि सीखने के लिये पैरिस को प्रस्थान किया। दैवयोग से उसी समय जगत विख्यात टामस ग्रैहम जो उस समय लन्दन के यूनिवर्सिटी कालेज का रसायनाचार्य्य था पैरिस आया और विलयमसन के कार्य्यसे प्रसन्न होकर उसने अपने कालेजमें प्रयोगिक रसायनाचार्य्यका पद स्वीकार करने का प्रस्ताव किया जो उसी समय खाली हुआ था और ईश्वरकी कृपासे विलियमसन १८४९में यूनिवर्सिटी कालेज में रसायनाचार्य्यके पद पर नियुक्त हुआ और सन् १८८८ तक यहाँ रहा। १८५५ ई० में ग्रैहमको टकसालका उच्चपद मिलजाने पर विलयमसन कुल रसायन विभाग का अध्यक्ष बना दिया गया। नये पद को ग्रहण करके विलयमसन और भी परिश्रम और धैर्य्य से कार्य्य करने लगा और इसी वर्ष उसके कार्य्यके उपलक्षमें रायल सोसाइटीने उसको सदस्य चुन कर सम्मानित किया। परन्तु इसके पश्चात विलयमसन कोई मुख्य कार्य्य नहीं कर सका क्योंकि प्रथम तो उसका स्वास्थ्य भी बहुत कुछ बिगड़ गया था, दूसरे और सरकारी इत्यादि कार्यों से उसे कम अवकाश मिलता था क्योंकि वह उस समय सब अंगरेज़ी सोसाइटियों का सदस्य था, साथ ही साथ लन्दन विश्वविद्यालय के सम्बंध में भी उसे बहुत कुछ समय लगाना पड़ता था। १८८८ ई० में विलयमसन ने विश्वविद्यालय से अपने पद को त्याग दिया, जिस पर उसके बाद सर विलयम रैमज़े को नियुक्त किया गया। विलयमसन साधारणतः तो बहुत दयालु था परन्तु कुछ कुछ हुकूमत प्रिय भी था जैसा कि कई बार देखा गया क्योंकि वह सर्वदा अपने से छोटे अध्यापकों को काफ़ी सख़्ती से रखता था। सन् १९०४ ई० में विलयमसन की लगभग ८० वर्ष की आयु भोग कर मृत्यु हुई।

चार्ल्स अडोल्फ़ वूर्ज़ (१८१७–१८९४)

रूप सिद्धान्त को दूसरी बड़ी सहायता वूर्ज़ के अनुसन्धानों से हुई। यद्यपि वह स्वयं सैद्धान्तिक बातों में अधिक भाग न लेता था परन्तु उसके कार्य्य कई सिद्धान्तों को और विशेषकर कार्बनिक यौगिकों की उत्पत्ति समझाने में अति लाभदायक हुये। वूर्ज़ का जन्म स्ट्रासबर्ग के पास वोल्फ़शाइममें १८१७ में हुआ। वूर्ज़ की बाल्यावस्था के विषय में कुछ अधिक विदित नहीं है आरम्भ में वूर्ज़ गरहर्ड का सहपाठी रहा और उसके साथ ही लीबिग की प्रयोगशाला को चला गया जहांपर उसने बहुत कुछ प्रशंसनीय कार्य्य किया। लीबिग की प्रयोग शाला छोड़ने पर वूर्ज़ डूमा का सहकारी नियुक्त हुआ। १८५३ ई०में डूमा के छोड़ जाने पर वैद्यक कालेज में (Ecole de Medecine) में रसायनाचार्य्य के पद पर रक्खा गया। और अन्त में १८७५ में सारबोन विश्वविद्यालय में प्रधान रसायनाचार्य्य के पद पर नियुक्त हुआ।

वूर्ज़ का सबसे उच्च कोटि का काम जिससे उसका नाम सर्वदा वैज्ञानिक जगत में जीवित रहेगा अमिनों पर हुआ। यद्यपि अमिनों की उत्पत्ति के विषय में लीबिग ने सम्भावना प्रगट की थी परन्तु सन् १८४८ में वूर्ज़ ने उनको स्पष्ट रूप में निकाला। वूर्ज़ की अमिनों को बनाने की पहिली रीति मद्यील सम श्यामेत के उदलेषण से थी। यद्यपि साधारणतः तो कोई विशेष महत्त्व इस कार्य्य का नहीं विदित होता परन्तु यदि ज़रा ध्यान दिया जाय तो पाठकों को इसका महत्व स्वयं ही विदित हो जायगा। गरहर्ड के रूप सिद्धान्त के अनुसार जिस में कुछ यौगिक अमोनिया रूप के

माने गये हैं अमिनों की उत्पत्ति से ठीक सिद्ध हुये क्योंकि अमोनिया के एक उदजन परमाणु को किसी भी मद्यील मूल से स्थापित करने से अमिन बनना चाहिये और दूसरे इन अमिनों के साधारण गुण अमोनिया के समान होने चाहिये। वास्तव में वूर्ज़ के बनाये हुये नये यौगिकों में लग भग अमोनिया के सब गुण पाये जाते थे अर्थात् एक प्रकार से अमिन केवल अमोनिया के मद्यील स्थापित यौगिक होने का प्रथम, प्रत्यक्ष और प्रयोगिक प्रमाण वूर्ज़ से ही मिला। निम्नलिखित समीकरणों से इस कर्य्य का महत्व और भी भली प्रकार प्रगट हो जायगा।

नो उ$_{२}$ } उ }	नोउ$_{२}$ } क उ$_{३}$ }	नो उ$_{२}$ } क$_{२}$उ$_{५}$ }
अमोनिया	दारीलअमिन	ज्वलीलअमिन
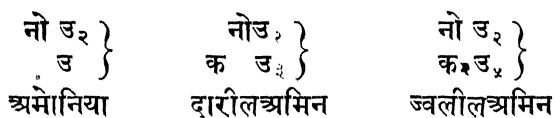
यदि अमोनिया का एक उदजन परमाणु मद्यील मूल से स्थापित किया जा सकता है तो कोई सन्देह नहीं कि शेष दोनों भी इसी प्रकार स्थापित किये जा सकें और वास्तव में इसकी सम्भावना हाफ़मैन के कार्य्य से सिद्ध हुई जिसने बन्द मुख की नलियों में अमोनिया पर मद्यील हरिदों के प्रभाव से प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय अमिन बनाए। यदि मद्यील मूल को म से दर्शाया जाये तो तीनों अमिनों के निम्न लिखित सूत्र होंगे:—

म—नो उ$_{२}$, (म)$_{२}$ =नो उ, (म)$_{३}$ ≡नो
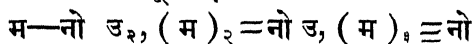
शायद गरहर्ड के सिद्धान्त का दूसरा सबसे बड़ा प्रयोगिक प्रमाण अमिनों का अन्वेषण है क्योंकि इससे स्पष्ट विदित होता है कि किस प्रकार अमोनिया के उदजन परमाणुओं को स्थापित करके अमिन इत्यादि बनते हैं जिनके गुण लगभग अमोनिया से मिलते हैं जैसे तीनों अमिन उदहरिकाम्ल या किसी भी अम्ल से अमोनियम हरिद इत्यादि की ही तरह यौगिक बनाते हैं:—

नो उ$_{३}$ + उह=नो उ$_{४}$ ह [नो उ$_{३}$. उह] अमोनियम हरिद

(म) नो उ$_{२}$ + उह=(म) नो उ$_{३}$ ह [(म) नो उ$_{२}$ उह)]मद्यील अमिन उद हरिद.

(म)$_{२}$ नो उ + उह = (म)$_{२}$ नो उ$_{२}$ ह [(म)$_{२}$ नो उ . उह] द्विमद्यील अमिन उद हरिद

(म)$_{३}$ नो + उह = (म)$_{३}$ नो उह [(म)$_{३}$ नो उह] त्रिमद्यील अमिन उद हरिद.
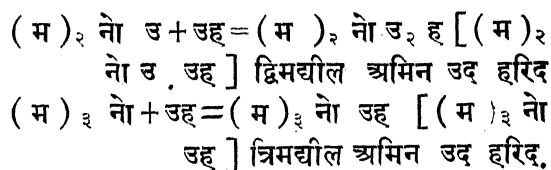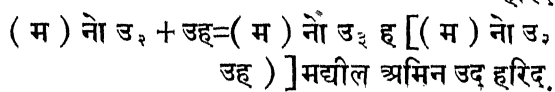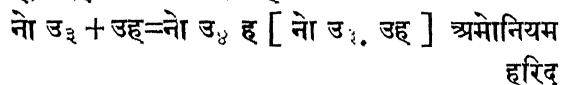
वूर्ज़ का दूसरा बड़ा कार्य्य उदकर्बनों के संश्लेषण पर हुआ। यद्यपि ध्यान देकर देखा जाय तो वूर्ज़ का लगभग सब कार्य्य कार्बनिक रसायन के सिद्धान्तिक ज्ञान को बढ़ाने में अति ही लाभदायक हुआ। वूर्ज़ की मद्यमज्जिक उदकर्बनों को बनाने की विधि मद्यील हरिदों को सैंधकम् के साथ लिप्त करने की थी। उदाहरण के लिये ज्वलेन का संश्लेषण नीचे दिया जाता है।

क उ$_{३}$ ह सै सै ह क उ$_{३}$ = २सै ह + क$_{२}$ उ$_{६}$
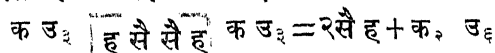
यदि देखा जाये तो इन संश्लेषणों से केवल गरहर्ड के सिद्धान्त का ही प्रमाण नहीं मिलता बल्कि सब से उत्तम और सुगम प्रमाण केक्यूले के कर्बन परमाणु बन्धन नियम का मिलता है क्योंकि इस प्रयोग से स्पष्ट ज्ञात है कि बिना एक दूसरे कर्बन परमाणु का मिला केवल यही नहीं वूर्ज़ ने सुरभित उदकर्बनों को भी इसी रीति से बनाने की चेष्टा की और उसमें उसे सफलता प्राप्त हुई। यदि दोनों अणु मद्यमज्जिक हरिदों के बजाय एक मद्यमज्जिक और दूसरा सुरभित हरिद का अणु लेकर सैन्धकम् के साथ लिप्त किया जाय तो सुरभित उदकर्बनों के समश्रेणिक बनेंगें।

क उ$_{३}$ ह + सै सै + ह क$_{६}$ उ$_{५}$ = २सै ह + क$_{६}$ उ$_{५}$ क उ$_{३}$
टोल्वीन
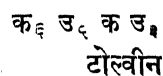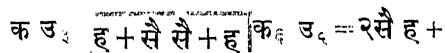
भिन्न भिन्न प्रकार के हरिद लेने से लगभग सब उदकर्बन इस प्रकार संश्लेषित किये जा सकते हैं।

इन मुख्य कार्य्यों के अतिरिक्त वूर्ज़ ने धातु उदिदों पर भी अच्छे कार्य्य किये जिससे उनके गठन समझाने में बड़ी सहायता मिली। इन के अतिरिक्त स्फुरकार्बनिक यौगिकों तथा उदौष अम्लों पर भी वूर्ज़ का कार्य्य वर्णन योग्य है। इतने कार्य्य

करने पर वूर्ज़ ने अद्भुत परिश्रम के साथ साहित्यिक कार्य्य किया। उसकी बहुत सी पुस्तकों में रसायन का इतिहास (Histoire des Doctrines Chimiques) विशेष वर्णन योग्य है। यद्यपि जन्मसे वूर्ज़ जर्मन था परन्तु उसकी अधिकतर शिक्षा फ्रांस में ही हुई और फ्रांस में ही प्रोफेसर नियत हुआ। इस कारण उसका स्वभाव अधिकतर फ्रांसीसियों से ही अधिक मिलता था और यहां तक कि फ्रांस को ही अपना देश मानता था। फ्रांसीसीभाषा में रसायनका इतिहास लिखते हुए उसने उसे इस प्रकार आरम्भ किया था—"रसायन फ्रांसीसी विद्या है और उसे अमर लैवासिये ने स्थापित किया था" वूर्ज़ के ऐसा लिखने से बहुत से देशाभिमानी वैज्ञानिक उससे बहुत द्रोह रखने लगे थे। फ्रांस के रसायनज्ञों में वूर्ज़ अपनी दयालुता और साधारण स्वभाव के लिये प्रसिद्ध है। यह गौरव की बात है कि सर्वोच्च भौतिक रसायनज्ञ प्रो० वाण्टहाफ और प्रसिद्ध रसायनज्ञ ला बेल ने आधुनिक शिक्षा वूर्ज़ की ही अध्यक्षतामें पाई थी और वाण्ट हाफ़ तथा ला बेल का प्रसिद्ध अवकाश समरूपता सिद्धान्त इसी समय निकला था। स०१८९४ ई० में वूर्ज़ की मृत्यु हुई।

संयोग शक्ति सिद्धान्त का आरम्भ

जिस समय गरहर्ड, लोरें और वूर्ज़ इत्यादि रूप सिद्धान्त की नींवडाल रहे थे उसी समय दो नवयुवक कोल्बे और फ्रैंकलैंड एक दूसरे नये सिद्धान्त की सामग्री तैयार कर रहे थे। यद्यपि गरहर्ड के रूप सिद्धान्त से बहुत सी बातों के ज्ञान में वृद्धि हो चुकी थी परन्तु उससे मूलों की दशा का कुछ पता न चलता था। इस नये सिद्धान्त का दर्शाने वाला मुख्य व्यक्ति केक्यूले था जिसका नाम कार्बनिक रसायन के किसी भी विद्यार्थी की आखों से न बचा होगा। इसके साथ ही साथ फ्रैंकलैण्ड इत्यादि के अनुसन्धानों से इस सिद्धान्त को विशेष सहायता मिली। इस सिद्धान्त का वर्णन करने के पश्चात इन तीनों पुरुषों की जीवनी का कुछ वृत्तान्त दिया जायगा। संयोग शक्ति सिद्धान्त के महत्व को पूरे तौर से समझने के लिये कुछ पहिले विचारों का वर्णन करना भी अति आवश्यक है यद्यपि वह पिछले पृष्ठों में भली भाँति समझाये जा चुके हैं।

रसायनिक यौगिकों की उत्पत्ति समझाने के लिये बरज़ेल्यूसने युगल-विधान (Dualistic system) रक्खा था परन्तु इसका कार्बनिक यौगिकोंमें प्रयोग करनेमें कोई विशेष सफलता न प्राप्त हो सकी। इसके बाद डूमाका यांत्रिक सिद्धान्त कुछ दिनों तक चला परन्तु इसको भी ओस की भांति सूख जाना पड़ा। बरज़ेल्यूस ने सिरकाम्ल इत्यादि के उदजन परमाणुओं का हरिन् इत्यादि से स्थापित होना समझाने के लिये एक और अद्भूत कल्पना की कि प्रत्येक यौगिक दो प्रकार के भागों से बनता है जिनमें से केवल एक ही के परमाणु स्थापित होते हैं और इस प्रकार इस भाग में भिन्नभिन्न प्रकार के परमाणु आ जाने से कोई भेद नहीं पड़ता परन्तु दूसरे भाग में स्थापन होने से अवश्य ही उसके स्वभावमें अन्तर आ जाता है। इस कल्पना के अनुसार सिरकाम्ल और त्रिहरि-सिरकाम्ल को इस प्रकार लिखा जा सकता है :—

$$क_2 उ_3 + क_2 ओ_3 + ओ उ$$

$$क_2 ह_3 + क_2 ओ_3 + ओ उ$$

अर्थात् सिरकाम्ल का $क_2 उ_3$ ऐसा भाग है जिसमें स्थापन होनेसे उसके स्वभावमें विशेष भेद नहीं पड़ता। इस प्रकार बरज़ेल्यूस ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि की क्योंकि यह बात मेलसन के कार्य्य से भली भाँति विदित हो गई थी कि इन दोनों अम्लों में विशेष भेद नहीं है क्योंकि दोनों एक दूसरे में परिवर्तित किये जा सकते हैं। पाठक देखेंगे कि बरज़ेल्यूस की इस कल्पना में ही वर्त्तमान सिद्धान्त की झलक दिखाई देती है परन्तु वह इसको भले प्रकार न समझ सका और अपने पुराने विचारों की पुष्टि की धुन में अपने कार्य्य को स्वयं ही न समझ सका।

कोल्बे ने जो कि बरज़ेल्यूस सिद्धान्त का अनुयायी था बरज़ेल्यूस के नये विचारों का समर्थन

किया और उनमें वृद्धि भी की और अधिक संकीर्ण मूलों का विचार प्रगट किया जिसके अनुसार सिरकाम्ल के दो भाग हुये, क$_2$ उ$_3$ क$_2$ (सिरकील) जिसमें कर्बन दारील मूल के साथ आबद्ध है। यह सिरकील ओषजन से मिलकर सिरकोषील क$_2$ उ$_3$—क$_2$ ओ$_3$ बनाता है और सिरकोषीलके जल से मिलने पर सिरकाम्ल प्राप्त होता है। यदि ध्यान देकर देखा जाय तो कोल्बेके विचार वर्तमान विचारों से अधिक दूर नहीं हैं क्योंकि इससे स्पष्ट दिखाई देता है कि सिरकाम्ल में आधा कर्बन दारील मूल में मिला है और आधा ओषजन के रसायनिक स्नेह को संतुष्ट करता है।

डूमा और गरहर्ड के शेष और रूप सिद्धान्तों का वर्णन विस्तार पूर्वक पिछले कुछ पृष्ठों में दिया जा चुका है। हाफ़मैन और वूर्ज़ के कार्य्य से अमोनिया रूप के यौगिकोंकी उत्पत्ति हुई और एक नये प्रकार का रूप विदित हुआ। विलयमसन ने १८५० ई० में ज्वलक और मद्य का जल रूप यौगिक होना सिद्ध किया। इसके कुछ ही पश्चात् गरहर्ड ने स्वयं अम्ल अनार्द्रिद बना कर यह सिद्ध किया कि सिरकाम्ल और सिरकील अनार्द्रिद में वही संबंध है जो मद्य और ज्वलक में अर्थात् अनार्द्रिद भी जल रूप के यौगिक हैं। इस कार्य से मद्यील मूलों की भांति सिरकील मूलों की सम्भावना भी विदित हुई। जब एक बार यह सिद्ध हो गया कि कार्बनिक यौगिक साधारण अकार्बनिक यौगिकों से केवल स्थापन क्रिया से ही प्राप्त हो सकते हैं और भिन्न भिन्न रूपों से उनकी उत्पत्ति समझाई जा सकती है तो और नये नये रूप विदित करने की लालसा रसायनज्ञों के मन में स्थान पाने लगी। इस प्रकार गरहर्ड और लोरें ने चार प्रकार के रूप चुने; जल, अमोनिया, उदहरिकाम्ल और उदजन (गरहर्ड और लोरें के अनुसार उदजन का सूत्र उ$_2$ था)।

१८५१ ई० में विलयमसन ने भिन्न भिन्न अकार्बनिक अम्लोंके गठन समझानेकी चेष्टाकी और उनको जलरूप के यौगिकों में रक्खा और बतलाया कि कुछ मूल जैसे क$_2$उ$_5$ओ और नो ओ$_2$ इत्यादि जल का एक उदजन परमाणु स्थापित कर के इकद्वारिक अम्ल देते हैं और क ओ, क$_2$ओ$_2$, ग ओ$_2$ इत्यादि। जल के दो अणुओं में से प्रत्येक का एक उदजन परमाणु स्थापित कर के द्विद्वारिक अम्ल देते हैं। विलयमसनका आज से ८० वर्ष पहिले इतने स्पष्ट रूप में अम्लों की उत्पत्ति को इतनी ठीक रीति से समझाना कोई कम महत्त्व की बात नहीं हैं क्योंकि वैसे भले ही संयोग शक्ति इत्यादि के विचार आ गये हों परन्तु उनके गठन के विचार बिल्कुल अभी तक वैसे ही चले जाते हैं और काफ़ी हद तक ठीक हैं। फिर १८५४ ई० में विलयमसन ने स्फुर पंचहरिद के प्रभाव से गंधकाम्ल से गन्धकोल हरिउदेत तथा गन्धकील द्विहरिद प्राप्त किये और गन्धकाम्ल को ग ओ$_2$ (ओउ)$_2$ का सूत्र दिया। इसके पश्चात ओडलिंग ने गन्धकी गन्धकाम्ल का गठन समझाने में इसी सिद्धान्त का प्रयोग करके निम्न लिखित सूत्र बतलाया

ग ओ$_2$ }
२ सै' } ओ'' + ग'', इस प्रकार

मिले हुए रूपों की यौगिकों में विद्यमानता की शर्तें पहिली बार जानी गईं। उसी वर्ष बरथेलो ने मधुरिन के लवणों का इक-द्वारिकाम्ल के एक, दो, तीन अणुओं के साथ बनाया और इनकी उत्पत्ति वूर्ज़ ने मधुरिन के त्रिउदिक मद्य होने के कारण बतलाई और इसी के आधार पर वूर्ज़ ने मधुओल का अन्वेषण दूसरे ही वर्ष किया। इस प्रकार बहुसंयोगिक मूलों का विचार रसायनज्ञों को

क$_2$ उ$_4$'' }
उ$_2$ } ओ$_2$

भली भांति प्रतीत होने लगा। पाठकों को याद रहे कि उस समय मधुरिन को

क उ$_2$ओ उ
|
क उ ओ उ
|
क उ$_2$ ओ उ

की तरह

नहीं लिखा जाता था क्योंकि उस समय तक सूत्र लिखनेकी विधि ज्ञात नहीं थी। इसका श्रेय केक्यूलेको है जैसा कि आगे दिखाया जावेगा। संयोग शक्तिके विचारकी कुछ कुछ झलक ओडलिंगके फ़ारमूलोंसे प्रतीत होती है। फ्रैंकलैंडने १८५२ ई० में संयोगशक्ति पर सबसे पहिले अपने विचार प्रगट किये परन्तु यह कहना कि संयोगशक्ति का पहिला प्रयोग करने वाला फ्रैंकलैंड था या केक्यूले कठिन है क्योंकि इस विषय में वैज्ञानिकों के सम्मति में भेद है। केक्यूले का सर्व प्रथम लेख जिसमें उसने स्पष्ट रूप में इस पर ज़ोर दिया है १८५४ ई० में छपा था, परन्तु हम तो दोनोंको ही इसका श्रेय देना ठीक समझते हैं। परन्तु केक्यूले का नाम इस कारण अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध हो गया कि उसने इसी के आधार पर सब यौगिकों की रचना और सूत्र समझाये। यद्यपि इस विषय पर दोनों ओर से बहुत से प्रमाण दिये गये हैं पर इस जगह न उनके देने की आवश्यकता है और न स्थान है। केक्यूले का विचार था कि किसी तत्व का तुल्यांक भार भले ही बदलता रहे उसकी संयोग शक्ति परमाणु भार की ही भांति स्थिर रहती है परन्तु यहां केक्यूले बिल्कुल ग़लती पर था। इसके विरुद्ध फ्रैंकलैंड संयोग शक्ति को घटने बढ़ने वाली संख्या समझता था और वास्तव में वह ठीक भी है। तत्वों की संयोगशक्ति का ज्ञान भी सबसे पहिले फ्रैंकलैंड के ही कार्य्य से विदित हुआ यहां पर केक्यूले और फ्रैंकलैंड के पहिला या दूसरा होने में मत भेद है परन्तु प्रो० जैष का कहना है कि वास्तव में इस का श्रेय फ्रैंकलैंड को ही है। क्योंकि केक्यूलेकी परिवर्तनशील संयोग शक्तियां और वह भी तुल्यांकों के साथ (परमाणुओं के साथ नहीं) संयोग शक्ति से बिल्कुल पृथक् थीं। परन्तु हमें इन बातों को यहीं छोड़कर आगे बढ़ना चाहिये क्योंकि न तो मूल सिद्धान्त और न रूप सिद्धान्त दोनों में से कोई भी नहीं रहा है और वास्तव में दोनों के मिलने से ही संयोगशक्ति सिद्धान्त उत्पन्न हुआ। फ्रैंकलैंड को इस बात का अवश्य ही अपने विचार प्रगट करते हुये ध्यान था कि उसके विचारों से दोनों सिद्धान्तों का मेल हो जायगा और रसायनज्ञों के विचार जो कि अभी तक इन सिद्धान्तों के कारण एक दूसरे के विरुद्ध रहे थे एक हो जायेंगे। यद्यपि साधारणतः केक्यूले को संयोग शक्ति का अन्वेषक नहीं माना जाता परन्तु रसायनिक रचना का संयोगशक्ति के आधार पर समझाने का मुख्य श्रेय उसी को है। जैसा कि फ्रैंकलैंड के शब्दों से प्रतीत होता है—"मैं यह कभी नहीं भूल सकता कि वर्तमान संयोगशक्ति सिद्धान्त का विस्तार बहुत कुछ दूसरे रसायनज्ञों और विशेषकर केक्यूले और कैनीज़ारो के परिश्रम का फल है। और यदि कैनीज़ारो ने तत्वों के परमाणु भारों को वर्तमान दशा में न दिखाया होता तो संयोगशक्ति सिद्धान्त का विस्तार एक प्रकार से असम्भव ही होता।

यह पहिले ही बतलाया जा चुका है कि गुणक मूलोंका प्रयोग विलयमसन गन्धकाम्ल की रचना समझाने में कर चुका था और १८५४ ई० में केक्यूले ने इसीका प्रयोग एक अद्भुत रीतिसे सिरकाम्ल और स्फुर पंचगन्धिद के मिलने से गन्धकी सिरकाम्ल की उत्पत्ति समझाने में किया और दिखलाया कि स्फुर पंचगन्धिद का प्रभाव बिलकुल सिरकाम्ल पर स्फुर पंचहरिद के प्रभावके समान है। परन्तु गन्धिदके साथ जो यौगिक बनता है वह हरिद के समान विभाजित नहीं होता क्योंकि गन्धककी मात्रा जो दो हरिन् परमाणुओं के तुल्य है विभाजनीय नहीं है जैसे

$$\text{५ क}_{२}\,\text{उ}_{३}\left.\begin{matrix}\text{ओ}\\ \text{उ}\end{matrix}\right\}\text{ओ} + \text{स्फु}_{२}\text{ग}_{५} = \text{५ क}_{२}\text{उ}_{३}\left.\begin{matrix}\text{ओ}\\ \text{उ}\end{matrix}\right\}\text{ग}$$

$$+ \text{स्फु}_{२}\,\text{ओ}_{५}$$

$$\text{५ क}_{२}\,\text{उ}_{३}\left.\begin{matrix}\text{ओ}\\ \text{उ}\end{matrix}\right\}\text{ओ} + \text{२स्फुह}_{४} = \text{५क}_{२}\text{उ}_{३}\left.\begin{matrix}\text{ओ}\\ \text{उह}\end{matrix}\right\}\text{ह ओ}$$

$$+ \text{स्फु}_{१}\,\text{ओ}_{४}$$
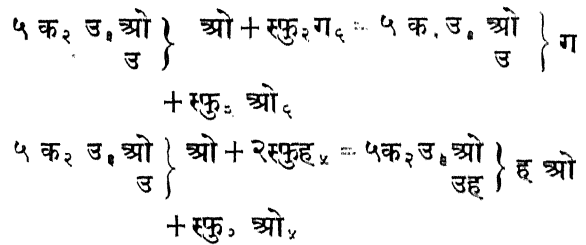
परन्तु हरिद के साथ बना हुआ यौगिक तुरन्त ही उदहरिकाम्ल और सिरकीलहरिद में विभाजित हो जाता है।

५ क२ उ३ ओ | ह ओ
उह | ——> ५ क२ उ३ ओह + ५ उह

केक्यूले के शब्द जिनमें उसने इस प्रकिया का वर्णन किया है नीचे दिये जाते हैं।

"यह केवल सूत्र लिखने में ही अन्तर नहीं है परन्तु वास्तव में एक ठीक बात है कि जल का एक परमाणु उदजन के दो और ओषजन के एक परमाणु से मिलकर बनता है और हरिन् की वह मात्रा जो ओषजन के एक अविभाजनीय परमाणु के बराबर है दो से भाग दी जा सकती है परन्तु ओषजन की भांति गन्धक भी द्विवारिक है अर्थात् गन्धक का एक परमाणु हरिन् के दो परमाणुओं के समान है।"

१८५७ ई० में केक्यूले ने डूमा के मार्श गैस रूपों को दोहराते हुये उनमें जल, अमोनिया तथा उदजन की वृद्धि की और उसी समय निश्चित रूपों का विचार भी प्रस्तुत। यद्यपि यह रूप लगभग गुणक रूपों से मिलते थे परन्तु इनमें भिन्न भिन्न रूपों के परमाणुओं का साथ साथ प्रयोग भी शामिल था। इस प्रकार निम्न लिखित पदार्थ सरलता से प्राप्त हो सकते थे।

उ }
क२ उ४ }
} ओ
ग ओ२ }
} ओ
उ }

उ }
{ उ }
{ उ } ओ से; और
{ उ }
{ उ } ओ
उ }

ज्वलील गन्धकाम्ल

उ } नो
उ }
गओ२ }
} ओ
उ }

उ }
उ } नो
} से
उ }
उ } ओ

गन्धामिकाम्ल

बाईं ओरके (कोष्ठकों) से उन उदजन परमाणुओं का अर्थ है जो बहु परमाणिक मूलों से स्थापित हुये हैं। मूल के विषय में केक्यूले के विचार निम्नलिखित शब्दों से भली भांति विदित हो जायेंगे:—

"हमारे विचारों के अनुसार मूल किसी मुख्य विभाजन से अप्रभावित शेष है, इसलिये एक और उसी वस्तु में हम बड़े या छोटे समूह के अनुसार जिसपर कोई प्रभाव न हुआ हो बड़े या छोटे मूल की सम्भावना की कल्पना कर सकते हैं।" जिस प्रकार लवण बनने के अनुसार गन्धकाम्ल में (ग ओ४) मूल की उपस्थिति मानी जाती है उसी प्रकार यह बिल्कुल जल के समान जिसका ओषजन परमाणु (ग ओ४) से स्थापित किया गया हो प्रतीत होती है,

उ } ओ   उ } ग ओ४
उ }   उ }

और यदि गन्धकाम्ल पर स्फुर पंचहरिद का प्रभाव देखा जाय तो विदित होता है कि गन्धकाम्लके दो ओषजन परमाणु उदजन के साथ हरिन् से स्थापित हो जाते हैं अथवा ग ओ२ ह२ प्राप्त होता है इस प्रयोग से यह विदित होता है कि गन्धकाम्ल में गओ२ मूल है न कि गओ४ इसलिये किसी मूल का बड़ा या छोटा होना मुख्य विभाजन क्रिया पर निर्भर है और बड़ा मूल छोटे मूल से कुछ और परमाणु मिलाकर बन सकता है"। इन शब्दों से स्पष्ट विदित होता है कि उस समय मूलों का परिवर्तन उनके परमाणुओं के आयोजन क्रमसे समझाने की रुचि बढ़ती जा रही थी।

१८५८ ई० में केक्यूले ने अपना विश्वविख्यात लेख छापा जिसमें उसने दारेन रूप की महत्ता दर्शाई और दिखलाया कि जब कभी दारेन का एक उदजन परमाणु स्थापित हो जाता है कर्बन शेष उदजन् परमाणु के साथ एक मूल के समान बन जाता है और इस मूल की संयोगशक्ति १ और बढ़ जाती है। यदि देखा जाय तो इन कुछ शब्दों ही में कार्बनिक रसायनका सारा कोष भरा हुआ है क्योंकि जिन दोनों नियमोंके लिये केक्यूले का नाम प्रसिद्ध है उनका मुख्य तत्व इन्हीं पर निर्भर है।

कउ$_4$ -> कउ$_3$ह -> कउ$_2$ ह$_2$ -> क उ ह$_3$ -> क ह$_4$
इसके पश्चात उसने इन मूलों में कर्बन और उदजन का अनुपात निकाल कर मूलों का साधारण सूत्र क$_n$ उ$_{2n+1}$ रक्खा। इन सब के करने से केक्यूले को एक बड़ी महत्व पूर्ण बात विदित हुई कि जब कभी मूल में १ से अधिक कर्बन परमाणु होते हैं वह सर्वदा एक दूसरे से जुड़े रहते हैं यद्यपि आजकल यह बात साधारण सी ही विदित होती है परन्तु उस समय इसके छपते ही वैज्ञानिक जगत् में हल चल मच गयी क्योंकि पहिले किसी सिद्धान्त में इसकी झलक तक भी नहीं थी। एक बार कुञ्जी मिल गई तो फिर कार्बनिक यौगिकों की रचना समझाना बहुत सहल हो गया।

यद्यपि केक्यूले ने सब से पहिले यह सिद्धान्त रक्खा परन्तु चित्रमय सूत्रसे कार्बनिक यौगिकोंको समझाने वाला कूपर था पर इनसे कुछ अधिक प्रभाव न पड़ सका। उसके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

```
क उ₃      क उ₃      क उ₃
 |         |         |
क उ₂      क उ₂      क उ₂
 |         |         |
ओ—ओ उ     ओ      ——ओ

ज्वलील मद्य        ज्वलक
```
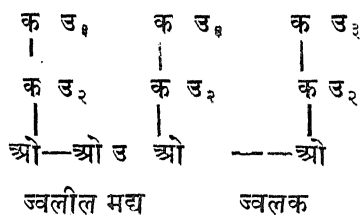
सन् १८६१ में केक्यूले की पुस्तक का पहिला भाग छपा और इसमें बहुत से यौगिकों से उदाहरण देकर इस सिद्धान्त का महत्व पूरे तौर पर समझाया गया। बरजेल्यूस का विद्युत् रसायनिक सिद्धान्त लग भग छिन्न भिन्न होने लगा था और कर्मवीरों के परिश्रम से कार्बनिक रसायन में संयोग शक्ति सिद्धान्त की जड़ जमने लगी।

केक्यूले ने दूसरी बड़ी बात कर्बन की संयोगशक्ति के विषय में की। यहां पर फिर इस कार्य्य की महत्ता पाठकों को दिखाने के लिये केक्यूले के ही शब्दों में वर्णन किया जायगा।

"कार्बनिक यौगिकों के स्वभाव समझाने से लिये मैं यह आवश्यक समझता हूँ कि हमको उन तत्वों का ज्ञान जिनसे मिलकर यौगिक बनताहै होना चाहिये। मैं नहीं समझता कि अब मूल-समूहों की उपस्थिति सिद्ध करने की कोई विशेष आवश्यकता शेष रह गई है और न केवल कुछ स्वभावों से ही हमें इन मूलों के विषय में कुछ अनुमान लगा लेना चाहिये बल्कि अब हमारा मुख्य कार्य्य इन मूलोंकी रचना को समझाना है और उनका एक दूसरे से संबन्ध बताना है और तत्वों के स्वभाव से मूलों और यौगिकों के स्वभाव का पता लगाना एक विशेष कार्य्य होना चाहिये।"

इस प्रकार केक्यूले ने संयोगशक्ति सिद्धान्त को बढ़ाने के प्रयत्न करने पर जोर दिया। इस विषय में उसने कर्बनकी संयोग शक्ति परभी विशेष ध्यान दिया और भिन्न भिन्न यौगिकोंके उदाहरण देकर कर्बनकी ४ रक्खी जैसे क उ$_3$ ह, क उ$_2$ ह$_2$, क ह$_4$, क उ$_4$, क उ ह$_3$, क ओ ह क ओ$_2$, क ग$_2$, ह क नो इत्यादि। इनके साथ ही साथ कर्बन परमाणुओंके बन्धने का विचार भी प्रगट किया। इस प्रकार केक्यूले ने संयोग शक्ति सिद्धान्त से पुराने मूल और रूप सिद्धान्त दोनोंको ढक दिया। पाठक इन सब पृष्ठों को पढ़ कर समझ गये होंगे कि क्यों केक्यूले को ही इस सिद्धान्त का का मुख्य अन्वेषक माना जाता है क्योंकि उसने लगभग अपनी सारी आयु इसी कार्य्य में लगा दी और दूसरे इसकी सहायता से कार्बनिक यौगिकोंकी उत्पत्ति तथा रचना ठीक ठीक समझा दी।

कर्बन की संयोगशक्ति ४ होने पर भी कोल्बे और फ्रैंकलैंड ने अपने को प्रथम सिद्ध करने में बहुत से प्रमाण दिये हैं। पर जो भी हो जो प्रभाव केक्यूले के लेखों का कार्बनिक रसायन की दशा सुधारने में पड़ा वह इन दोनों व्यक्तियों के लेखोंका नहीं पड़ा यद्यपि कोल्बेके लेख में स्पष्टतया कर्बन के चतुर्शक्तिक होने का वर्णन है तो भी कर्बन परमाणु बन्धन का वर्णन उसके लेख में कहीं नहीं मिलता। कोल्बे अन्त तक केक्यूले के इस सिद्धान्त के विरुद्ध ही रहा और वैसे तो कोल्बे रसायन क्षेत्र में सबसे

प्रसिद्ध आलोचक हुआ है जैसा कि आगे बतलाया जायगा। परन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि इसी सिद्धान्त (अथवा कर्बनिकाम्लसे भिन्न भिन्न कार्बनिक अम्लों, मद्यानार्द्रों तथा कीतोनोंके बनने) की सहायता से कोल्बे ने द्वि-और त्रि-मद्यों की उत्पत्ति की सम्भावनाकी भविष्यवाणीकी और जिसकी सत्यताका प्रमाण प्रत्यक्ष उपस्थित है। वास्तवमें यह उसके लिये पूर्ण विजयकी बात थी।

केक्यूले ने परमाणुओं के मूर्ति रूप भी बताने की चेष्टा की थी और उसमें काफ़ी सफलता भी प्राप्त हुई। क्रमब्राउन ने परमाणु का रूप एक गोले की भाँति बतलाया परन्तु केक्यूले ने इसके विरुद्ध बात बतलाई कि यदि कर्बन की चारों संयोग-शक्तियां गोले की बाहरी सतह के चार विन्दुओं के केन्द्र से मिली हुई रेखाओं से दशाई जायें तो सिर-किलीन, ज्वलीलिन इत्यादिकी रचना नहीं समझाई जा सकती अथवा एक कर्बन परमाणु से एक से अधिक संयोग शक्ति से नहीं मिल सकता इसलिये उसने अपना चतुष्तलीय फ़ारमूला रक्खा, जिसका महत्व वाएट हाफ़ द्वारा अवकाशरसायन समझाने में पूरे तौर से विदित हुआ।

केक्यूले ने इसके पश्चात् बानजावीनकी रचना पर एक नया सिद्धान्त रक्खा जिसको कहते हैं कि उसने स्वप्न में देखा था। इसके अनुसार बानजावीन के छओं कर्बन परमाणु एक बन्द शृङ्खला में बंधे हुये हैं और प्रत्येक परमाणु के साथ एक उदजन परमाणु भी लगा हुआ है। यद्यपि बानजावीन के संबन्धी यौगिकों का बनना और स्वभाव इत्यादि पर बहुत कुछ कार्य्य उस समय तक हो चुका था परन्तु इनकी रचना का कोई भी ज्ञान किसी को प्रतीत न होता था, केवल यह ही नहीं केक्यूले ने इस सिद्धान्त के आधार पर बहुत से अज्ञात यौगिकों के बनने की सम्भावना और बहुत से बनने की असम्भावना भी प्रगट की। केक्यूले ने यह वाणी आज से ७५ वर्ष पहिले निकाली है और यह देखकर किसको आश्चर्य न होगा कि लगभग वह सब यौगिक जिनकी सम्भावना उसने दर्शाई थी बन चुके हैं और जो यौगिक उसके अनुसार बनने असम्भव थे उनमें से एक भी नहीं बन सका है जैसे $क_{६} उ_{४}$ ओ, $क_{६} उ_{४}$ ग, $क_{६} उ_{५}$ नो इत्यादि। आसन्न शृङ्खला तथा बन्द केन्द्र का ज्ञान पहिले केक्यूले से ही प्राप्त हुआ था। इससे भी महत्त्व पूर्ण कार्य्य बानजावीन के यौगिकों की समरूपता समझाना था जैसे पूर्व, मध्य और पर। इस लेख में बन्द शृङ्खला और आसन्न शृङ्खला का भेद और स्थापन नियम का भी वर्णन है। इसी विचार का प्रयोग अरलेनमायर ने नफ्थलिन और डेवार ने पिरीदिन की रचना समझाने में किया है। केक्यूले के सिद्धान्त से और गठनात्मक सूत्रोंसे समरूपता समझाने में बहुत सहायता मिली है। कहां तक वर्णन किया जाये, संयोग शक्ति सिद्धान्त पर अकेले केक्यूले का ही कार्य्य दिखाने के लिये एक पूरी पुस्तक लिखी जा सकती है परन्तु इन थोड़े से पृष्ठों को पढ़ने से पता लग जायगा कि केक्यूले का मस्तिष्क कितना तीक्ष्ण और उपजाऊ था। नई तरहसे तत्त्वोंकी संयोग शक्ति निकालने और रसायन को एक ठीक और सुरक्षित आधार पर रखने में हमें कैनीज़ारो की सेवा को न भूल जाना चाहिये। यदि कैनीज़ारो ने अवेगाड्रो के सिद्धान्त का महत्त्व न समझाया होता तो हम लोग आज उतनी ही उलझन और अन्धेरे में होते जितने कि पहिले थे। इस सब का वर्णन आवर्त संविभाग (Periodic Law) के साथ किया जायगा। संयोग शक्ति के सम्बन्ध में फ्रैंकलैंड और डूमा का कार्य्य सिरकोसिरकिल सम्मेल पर भी वर्णन योग्य है। इन पृष्ठों में संयोग शक्ति सिद्धान्त का वर्णन एतिहासिक दृष्टि से किया गया है, यद्यपि इसका पूरा इतिहास इतनी थोड़ी जगह में देना असम्भव है पर तब भी आशा है कि इसमें कुछ लाभदायक बातें विदित होंगी। शेष कुछ पृष्ठों में कोल्बे, फ्रैंकलैंड तथा केक्यूलेके जीवन और कुछ दूसरे कार्य्योंका वृत्तान्त दिया जायेगा।

अडोल्फ़ विलयम हरमन कोल्बे

(१८१८-१८८४)

कोल्बे का जन्म १८१८ ई० गोटिंगन के पास ऐलीहाउसन में हुआ था। उसकी प्रारम्भिक विद्या वहीं के एक स्कूल में हुई। २० वर्ष की आयु होने पर उसने वोलर के यहां रसायनका अध्ययन आरम्भ किया और १८४२ में मारबर्ग विश्वविद्यालयमें बुनसन का सहकारी नियुक्त हुआ परन्तु इस के तीन ही वर्ष बाद लार्ड प्लेफ़ेयर की अध्यक्षता में कार्य्य करने के लिये लन्दन चला गया और १८४७ ई० से १८५१ तक लीबिग तथा वोलर की पुस्तकों के सम्पादन करता रहा। इसके एक वर्ष पश्चात् बुनसन के स्थान पर मारबर्ग विश्वविद्यालय में नियुक्त किया गया और १८६५ ई० में लाइपज़िग में मुख्य रसायनाचार्य्य के पद को ग्रहण किया।

कोल्बे का सब से महत्व पूर्ण कार्य्य अम्लों के विद्युत् विश्लेषण पर हुआ जिससे कार्बनिक रसायन के सैद्धान्तिक विषय को अति लाभ पहुँचा जैसा कि पहिले कहा जा चुका है। बरज़ेल्यूस सिरकाम्ल को दारील तथा काष्ठिकाम्ल का योग मानता था। कोल्बे को ध्यान आया कि यदि सिरकाम्ल से यह दोनों वस्तुऐं बन सकें तो इसका प्रयोगिक प्रमाण सहज ही में मिल जायगा और वास्तव में उसने जब इस प्रयोग को किया तो ज्वलेन तथा कर्बन द्वि ओषिद मिली। परन्तु उस समय के अनुसार कोल्बे ने इसको निम्न लिखित रीति से समझाया क्योंकि वह भी सिरकाम्ल को काष्ठिकाम्ल तथा दारीलका योग मानता था।

क$_2$ उ$_3$, क$_2$ ओ$_3$ = क$_2$ उ$_3$ + २क ओ$_2$

परन्तु वतर्मान प्रणाली के अनुसार इसको दूसरी रीति से समझाया जाता है:—

क उ$_3$क ओ ओ उ   क उ$_3$
                  = उ$_2$ + २क ओ$_2$ + |
क उ$_3$क ओ ओ उ   क उ$_3$

सिरकाम्लका उदजन तथा (क उ$_3$ क ओ ओ)। में यापन हो जाता है। उदजन यवन ऋणोद पर चले जाते हैं परन्तु सिरकेत यवन धनात्मक बिजलोद पर विभाजन होकर ज्वलेन तथा कर्बन द्विओषिद बनाते हैं। कोल्बे का विचार था कि उसको दारील मूल मिल गया क्योंकि मूल सिद्धान्त के कारण मूल तैय्यार करने की धुन उसको भी सवार थी, और इस प्रयोग से उसे बड़ी ही प्रसन्नता हुई परन्तु वास्तवमें यह दारील नहीं था बल्कि ज्वलेन था, क्योंकि दो दारील मूलों को मिल जाने से ज्वलेन बन जाती है।

क उ$_3$ + क उ$_3$ = क$_2$ उ$_6$

यदि कोल्बे ज़रा भी अपने विचारों को उदार करता तो केक्यूले के बजाय वह ही कर्बन परमाणु बन्धन नियम का प्रथम बनाने वाला होता क्योंकि इस प्रयोग से यह स्पष्ट विदित है कि बिना एक दूसरे कर्बन परमाणु के जुड़े हुये ज्वलेन नहीं उत्पन्न हो सकती।

कोल्बे और फ़्रैंकलैंड ने दारील श्यामिद के उदकरण से सिरकाम्ल तथा अमोनिया बनाया और इस प्रयोग को अपने सिद्धान्त का दूसरा प्रमाण समझा क्योंकि श्यामजन के उदकरण से काष्ठाम्ल बनता है।

क$_2$ उ$_5$, क$_2$ नो + ३ उ$_2$ ओ = क$_2$ उ$_5$, क$_2$ ओ$_3$ + नो उ$_3$.

सैंधक विटपेत के अद्भुत संश्लेषण का श्रेय कोल्बे ही को है। यदि सैंधक दिव्येत को गर्म करके उसमें कर्बन द्विओषिद प्रवाहित की जाये तो विटपेत बन जाता है इस प्रक्रिया को भले प्रकार अभी तक कोई भी नहीं समझा सका है। अपने सैद्धान्तिक विचारों में कोल्बे बड़ा दृढ़ था और कभी सरलता से उनमें परिवर्तन नहीं करता था यद्यपि उसके समय में संयोग शक्ति सिद्धान्त काफी जड़ पकड़ चुका था तब भी वह अपनी ही बातों पर अन्त तक डटा रहा। हां यह बात सत्य है कि उसके विचार गरहर्ड के रूप सिद्धान्त से कहीं लाभदायक

और गूढ़ थे और इन्हीं के आधार पर उसने द्वि-और त्रि-मद्यों के बनने की भविष्य वाणी की। और यही नहीं बल्कि उनके ओषदीकरण इत्यादिके विषय में भी काफ़ी गूढ़ बातें बतलाई थीं जो कि उसके कुछ ही दिनों बाद ठीक विदित हुईं।

कोल्बे उच्च कोटिके अन्वेषकों और विचार-वान पुरुषों में से था, साथ ही साथ उसके लिखने की रीति बड़ी प्रभाव शाली और रोचक थी परन्तु समालोचना करने में वह कभी कोई बात उठा न रखता था और इसमें कुछ सन्देह नहीं कि उसकी समालोचनाओं से कार्बनिक रसायन के विस्तार पर काफ़ी प्रभाव पड़ा। वास्तव में वह अपने समयका जहां तक कि समालोचना का सम्बन्ध है बरज़ेल्यूस ही था। जबकि वाएट हाफ़ और ला-बेलने अवकाश रसायन का सिद्धान्त जो कि आजकल इतना प्रसिद्ध है दिया तो उसने भरपूर वाएटहाफ़ के कार्य्य की निन्दा की क्योंकि उस समय वाएटहाफ़ नव युवक ही था और एक पशु चिकित्सा के स्कूल में अध्यापक था, इस कारण कोल्बे उसके कार्य्य को सराह न सका परन्तु समय ने बता दिया कि यह कोल्बे की भूल थी। १८८४ ई० में ६६ वर्ष की आयु में कोल्बे का देहान्त हुआ।

सर ऐडवर्ड फ्रैंकलैंड

१८२५—१८९९

फ्रैंकलैंड का जन्म १८ जनवरी १८२५ ई० को लङ्काशायर के एक छोटे से चर्च टाउन नामक गांव में हुआ। उसकी प्रारम्भिक शिक्षा उसी गांव के स्कूल में हुई, इस के पश्चात् उसके पिता का विचार हुआ कि नवयुवक फ्रैंकलैंड कुछ वैद्यक पढ़ कर घर बार के कार्यों में लग जाय। इस विचार को पूरा करने के लिये वह एक वैद्य की दूकान पर नौकर हो गया परंतु वहां पर उसे कोई तृप्ति न हुई क्योंकि यहां तो व्यापार का मामला था, शिक्षा का क्या काम। वहीं पर एक महानुभाव डा० जानसन रहते थे जिन्होंने फ्रैंकलैंड की तीक्ष्ण बुद्धि को पहिचान कर उसकी सहायता की और बहुत सी वैज्ञानिक पुस्तकें तथा अपनी छोटी सी प्रयोगशाला में कार्य्य करने की सुविधा भी प्रदान की। छः वर्ष इस दूकान पर रहकर फ्रैंकलैंड को इस कार्य्य से छुटकारा मिला क्योंकि यहाँ पर उसका कार्य्य पीपों में दवा भरना, अग्नि इत्यादि जलाना ही था जिसको करते करते उसे घृणा हो गई थी। लन्दन जाकर फ्रैंकलैंड डा० प्लेफ़ेयर (लार्ड प्लेफ़ेयर) की प्रयोगशाला में भर्ती कर लिया गया। पाठकों को याद रखना चाहिये कि प्राचीन काल के बहुत से रसायनज्ञों को रसायन का प्रेम वैद्यों की ही दूकानों से उत्पन्न हुआ था यद्यपि उनमें रहकर वह कोई विशेष कार्य्य नहीं कर सके। प्लेफ़ेयर उस समय प्रसिद्ध रसायनज्ञों में से था क्योंकि कुछ दिनों पहिले ही वह लीबिग की प्रयोगशाला में कार्य्य करके लौटा था। अब फ्रैंकलैंड की रसायनिक शिक्षा का आरम्भ हुआ और उसके कार्य्य से उसका स्वामी इतना प्रसन्न हुआ कि तुरन्त ही उसने उसे अपने व्याख्यानोंका प्रयोगिक सहकारी बना लिया। इसके छः मास पश्चात् ही फ्रैंकलैंड को सरकारी कृषि कालेज सोन-स्सेटरमें आचार्य्यका पद ग्रहण करनेका प्रस्ताव हुआ परन्तु दैवयोग से उसी समय उसकी कोल्बे से जो प्लेफ़ेयर का सहकारी नियुक्त हुआ था मित्रता हुई और उसके कहनेसे फ्रैंकलैंड ने बुनसन की अध्यक्षता में कार्य्य करने के लिये मारबर्ग को प्रस्थान किया। सन् १८४९ ई० में मारबर्ग विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. की उपाधि पाकर जगतगुरु लीबिग के ज्ञान मन्दिर को रवाना हुआ जहाँ कि उस समय के बड़े बड़े रसायनज्ञों ने शिक्षा प्राप्त की थी।

१८४९ ई० में एक स्कूल में उसको छोटे से वेतन की जगह मिली परन्तु १८५१ ई० में ओवेन्स कालेज मानचेस्टर में रसायनाचार्य्य के पद पर नियुक्त किया गया। इस के छः वर्ष पश्चात् सेन्ट बारथोलोम्यू चिकित्सालय में रहकर १८६३ में रायल इन्सटीट्यूशन में अध्यापक नियुक्त हुआ और इसके दश वर्ष पश्चात् हाफ़मैन के जर्मनी लौट जाने पर

उसकी जगह रायल कालेज में मुख्य आचार्य्य नियुक्त किया गया।

फ्रैंकलैंड का सब से उत्तम कार्य्य जिससे उसका नाम सर्वदा जगत में जीवित रहेगा संयोगशक्ति सिद्धान्त के सम्बन्ध में कार्बनिक-धातविक यौगिकों-पर हुआ। यह पहले ही कहा जाचुका है कि केक्यूले और फ्रैंकलैंड दोनों ही ने बिना एक दूसरे का कार्य्य जाने हुये संयोग-शक्ति सिद्धान्त के विचारों को प्रगट किया। यद्यपि इस में कोई सन्देह नहीं कि केक्यूले के विचार फ्रैंकलैंड से अधिक गूढ़ और पूर्ण थे परन्तु प्रयोगिक कार्य्य की स्वच्छता और चतुरता के लिये फ्रैंकलैंड केक्यूले से कहीं बढ़ा चढ़ा था। वूर्ज़ ने मद्यील हरिदों पर धातविक सैंधकम् के प्रभाव से उदकर्बनों के बनाने की विधि निकाली थी और यदि वास्तव में देखा जाय तो वह केक्यूले सिद्धान्त का प्रथम प्रमाण था परन्तु इन में से किसी को भी यह बात न सूझी। यों तो बाग़ में आम और जामुन वृक्षों से पृथ्वी पर गिरा ही करते हैं परन्तु उन के गिरने का महत्व कुछ थोड़े से न्यूटनों के ही मस्तिष्क में आता है। फ्रैंकलैंड की उदकर्बनों के बनाने की विधि लगभग वूर्ज़ से मिलती जुलती ही थी, केवल बजाय सैंधकम् के दस्तम् धातु प्रयोग की जाती थी।

$$\text{क उ}_3 \left| \overline{\text{ह + ह}} \right. \text{क उ}_3 = \text{द ह}_2 + \text{क उ}_3\ \text{क उ}_3$$
$$\left| \underline{\text{द}} \right|$$

परन्तु यदि दस्तम् की मात्रा अधिक हो तो कार्बनिक धातविक यौगिक बन जाते हैं

$$\text{क उ}_3 \left| \overline{\text{ह + ह}} \right. \text{उ}_3\ \text{क}$$
$$\left| \underline{\text{द}} \right| \quad = \text{द (क उ}_3)_2 + \text{दह}_2$$
$$\text{द}$$

अभी तक ऐसा कोई उदाहरण नहीं था जिसमें कि धातु केवल मद्यील मूलों से मिली हो, हालाँ कि बुनसन ने पहिले ही केकोडिल यौगिक बनाकर इसाका प्रमाण दे दिया था परन्तु उनमें ओषजन भी साथ में होती थी। यों तो इस कार्य्य का कोई विशेष महत्व नहीं प्रतीत होता परन्तु आजकल कार्बनिक रसायन में धातविक यौगिक केवल अच्छे ही नहीं बलिक आवश्यक हो गये हैं। इन यौगिकों की सहायता से भिन्न प्रकार के यौगिक जैसे उदकर्बन, मद्य, कतोन, अम्ल इत्यादि सब ही तैयार किये जा सकते हैं। बुनसन के अनुसन्धान के पश्चात् उसकी कोई विशेष रुचि धातविक यौगिकों की ओर आकर्षित न हो सकी थी परन्तु फ्रैंकलैंड के कार्य्य से एक नई ही रीति विदित हो गई और कई प्रयोग-शालाओं में इन पर कार्य्य आरम्भ हो गया। जैसा कि आगे बताया जायेगा, ग्रिगनार्ड ने मगनीसम् का प्रयोग करके इसी प्रकार के यौगिक बनाये जिनका वर्णन एक पूरी पुस्तक में भी नहीं हो सकता।

फ्रैंकलैंड का दूसरा मुख्य कार्य्य डूमा के साथ सिरकोसिरकिक सम्मेल पर हुआ। १८६३ ई० में गोथर ने ज्वलील सिरकेत पर सैंधकम् के प्रभाव से एक नया सम्मेल तैयार किया था जिसका नाम बादमें सिरको सिरकिकाम्ल सम्मेल पड़ा। यहाँ पर उन सब लेखों का वर्णन देना जिनमें कि इस विषय पर दोनों में वादविवाद रहा कठिन है परन्तु तब भी इतना कहना आवश्यक है कि इस कार्य्य में गोथर को अधिक सफलता प्राप्त हुई क्योंकि फ्रैंकलैंड और डूमा के विचारों के अनुसार इस प्रक्रिया की सफलता के लिये ज्वलील मद्य का होना आवश्यक था जो बाद में ग़लत सिद्ध हुआ। इन्हीं प्रयोगों के करने में इन दोनों ने चार या पाँच सम्मेल और विदित किये। यदि सिरकोसिरकित को अलग न किया जाय और इस पदार्थ को ज्वलील हरिद के साथ गरम किया जाये तो निम्नलिखित चार सम्मेल मिलेंगे:—१—नवनीतिक सम्मेल, २—द्विज्वलील सिरकिक सम्मेल, ३—गोथरके सम्मेलके समान एक यौगिक जिसका नाम इन्होंने ज्वलील का ज्वसिर-कोन कर्बनेत और ४—ज्वलील का द्विज्वसिरकोन कर्बनेत। इन अनुसन्धानों का पूरा वर्णन कोहेन की कार्बनिक रसायन (अँगरेज़ी भाषा) में भलीभाँति मिल सकता है।

फ्रैंकलैंड मुख्यतया प्रयोगिक था क्योंकि उसके

अधिकतर अनुसन्धान प्रयोगिक ही हैं और ऐसा होने से उसे कांच फूकनें में बड़ी निपुणता हो गई थी। विश्वविख्यात भौतिक सर नारमन लोकयर के साथ फ्रैंकलैंड ने सूर्य्य रश्मि चित्र पर भी अच्छा कार्य्य किया और चित्र की कुछ रेखाएँ ऐसी प्राप्त कीं जो पृथ्वी पर उपस्थित तत्वों में किसी से भी न मिलती थीं, इसलिये इस रेखाओं वाले तत्व का नाम हिमजन (Helium) रक्खा जिसको १८९६ में सर विलयम रैमजे ने वायु में से पृथक् किया।

फ्रैंकलैंड को देशाटन का बड़ा शौक़ था, अपनी युवावस्था में ही वह एक बार टिनडन के साथ पैरिस, जर्मनी इत्यादि सबमें खूब घूमा था और बहुत से वैज्ञानिकों से मित्रता की। विशेषकर नार्वे जाने का उसे विशेष चाव था यहां तक कि उसकी मृत्यु भी नार्वे ही में हुई। फ्रैंकलैंड अपने समय के मुख्य वैज्ञानिकों में से था, उस समय की वैज्ञानिक सभाओं का सदस्य होना उसके लिये साधारण बात थी। १८९७ ई० में महाराणी विक्टोरियाकी हीरक-जयन्ती पर उसे सर की उपाधि मिली, और बहुत से पदक भिन्न भिन्न सभाओं से मिले, मुख्यकर रायल सोसाइटी का रायलपदक और १८९४ में कापले पदक जो सोसाइटी का सर्वोच्च पदक है उसको अर्पण करके सोसाइटीने अपना और उसका गौरव बढ़ाया। फ्रैंकलैंड अपनी स्त्रीको बेहद प्रेम करता था, अभाग्य-वश जिसकी मृत्यु जनवरी १८९९ में अकस्मात् ही हो गई। इसका दुःख फ्रैंकलैंड को असहनीय हो गया और आयु भी ७४ वर्षकी हो चुकी थी। अपने दुःख के दिलासे के लिये बेचारे ने दूसरी प्रेमिका (नार्वे) को प्रस्थान किया परन्तु वह प्रेमिका उसकी स्त्रीसे भी दृढ़ थी। अन्तमें ९ अगस्त् १८९९ में अपनी स्त्री के पूरे ७ मास बाद इस संसार से विदाली।

फ्रेडरिक आगस्ट केक्यूले

१८२९——१८९६

केक्यूले का जन्म ९ सितम्बर सन् १८२९ को डर्मस्टेड में हुआ (डर्मस्टेड वह प्रसिद्ध नगर है जहाँ पर विश्वविख्यात "मर्क कार्य्यालय" है)। केक्यूले बचपन से ही तीक्ष्ण बुद्धि और चतुर था। स्कूल में ही इसका प्रमाण उसके गणित ज्ञान से मिल चुका था। १८४७ ई० में शिक्षा पा चुकने पर उसके पिता का विचार नवयुवक को शिल्पी बनाने का हुआ। इस विचार की पूर्ति के लिये केक्यूले गीसेन विश्वविद्यालय के शिल्प विभाग में भर्ती हो गया। यद्यपि केक्यूलेका जीवन किसी ऐसे कार्य्य में नहीं बीता जिसका शिल्पसे कोई सम्बन्ध रहा हो पर तब भी वह कभी इस समय को जो इस विद्या के सीखने में लगा बेकार नहीं समझता था क्योंकि इस से उसके विचारों को जिनके कारण उसका नाम सर्वदा अमर रहेगा बड़ी सहायता मिली और जैसा कि बहुत से लोगों को विदित है कि सर्वदा वह प्रत्येक गवेषणा का चित्र अपनी आखों के सामने रखना चाहता था। जैसा कि पिछले कुछ पृष्ठों में वर्णन किया जा चुका है उसके बानजावीन फ़ारमूले तथा कर्बन परमाणु बन्धन नियम में इस ज्ञान की अच्छी ख़ासी झलक मालूम पड़ती है। बानजावीन एक समषड्भुजसे दर्शाई जाती है। गीसेन विश्व-विद्यालय में केक्यूलेको लीबिग के व्याख्यान सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। बस अब क्या था केक्यूले के हृदय को रसायन की लालसा ने भी मोहित कर दिया और अन्त में अपने पिता की आज्ञा पाकर उसने लीबिग की अध्यक्षता में कार्य्य आरम्भ कर दिया। लीबिग ने न जाने अपने व्याख्यानों से कितने नव-युवकों को रसायन की ओर आकर्षित किया और वास्तव में वैज्ञानिक कार्य्यों के अतिरिक्त इतने रसाय-नज्ञोंको उत्पन्न करना उसकी सबके ऊँची और उत्तम सेवा है। यहां रहकर केक्यूले ने अपने गुरु की बुद्धि को भी चकित कर दिया और केक्यूले को अपने पास रखने की सुविधा और लालच देने के विचार से लीबिग ने तुरन्त ही उसको एक सहकारी का पद देने का प्रस्ताव किया परन्तु कुछ कार्य्यमें निपुण होनेके लिये १८५१ से १८५२ तक डूमा की प्रयोगशाला का स्वाद चक्खा और १८५२ में गीसेन विश्वविद्यालय

से पी-एच० डी० की उपाधि पाई। इसी वर्ष उसे लार्ड प्लाँटा के पास सहकारी का पद मिलगया। यहां रह कर प्लांटा के साथ दो लेख ताम्बुलिन पर ब्वलील नैलिद के प्रभाव के संबंध में छापे जिनसे उसका नाम वैज्ञानिक केन्द्रों में प्रसिद्धि पाने लगा। १८५४ ई० में उसने इसी कारण अपना पद स्टेनहाउज़ से बदल लिया। यहां पर उसे ओडलिंग और विलयमसन से मित्रता करने का अवसर मिला जिससे उसके विचारों पर बहुत प्रभाव पड़ा। जैसा कि केक्यूले ने कहा है:—

"यदि पैरिस में रह कर मुझे गरहर्ड के बिना प्रकाशित किये हुये लेखों के पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तो लन्दन में विलयमसन और ओडलिङ्ग की मित्रता का अद्भुत लाभ मिला, आरम्भसे लीबिग का शिष्य होते हुये भी मैं विलियमसन, डूमा तथा गरहर्ड का शिष्य बना; इसलिये मैं अपने को किसी एक व्यक्ति का शिष्य नहीं कह सकता।"

इस समयमें जो जगह जगह घूम कर उसने ज्ञान सञ्चित किया उनके प्रभाव और गुण का पता उसके कार्य्यों के पढ़ने से लग सकता है। यदि केक्यूले का विलयमसन तथा गरहर्ड से परिचय न हुआ होता तो बहुत कुछ सम्भव है कि वह सैद्धान्तिक कार्यमें इतना निपुण न हुआ होता। यदि उसने लीबिग के प्रस्ताव को लालची होकर मान लिया होता तो सम्भव है कि और सहकारियों की भांति वह भी एक गुरु की अध्यक्षता में सारी आयु कार्य किये जाता, जैसा कि बहुत से अच्छे और तीक्ष्ण बुद्धि वाले अपने गुरुओं के साथ कार्य करते करते आयु बिता देते हैं। लीबिग की प्रयोगशाला का बनाया हुआ केक्यूले कभी भी बरज़ेल्यूस के सिद्धान्तों का विरोध करने को न खड़ा होता और कार्बनिक रसायन भी इतनी शीघ्र विस्तृत न हुई होती।

इगलैंडसे लौटनेके पश्चात केक्यूले हाइडेलबुर्ग विश्वविद्यालय में नियुक्त किया गया और वहीं उसने अपनी एक छोटी सी प्रयोगशाला बनाली। इस छोटे से मन्दिर में पहिला शिष्य होनेका सौभाग्य अडोल्फ बायर को जिसका वृत्तान्त आगे दिया जायगा प्राप्त हुआ। यहां रहकर केक्यूले ने पारद विस्फुटेत (१८५७-१८५८) तथा सिरकाम्ल के मधुओलिकाम्ल पर दो उत्तम लेख छपवाये और यहीं उसका संयोगशक्ति तथा कर्बन परमाणु बन्धन नियम पर कार्य हुआ। इसका प्रभाव उस समय के वैज्ञानिकों पर ऐसा पड़ा कि तुरन्त ही स्टास की सिफ़ारिश से केक्यूले घेन्ट विश्वविद्यालयमें रसायनाचार्य के पद पर नियुक्त कर दिया गया। घेन्टमें नौ वर्ष रह कर उसने अपने जीवन के कार्य्य का अधिकतर भाग समाप्त किया और अपने भविष्य कार्य्य, नहीं बल्कि कार्बनिक रसायन के भविष्य की नींव डाली। इसी विश्वविद्यालय में इमलिक, रालिक तथा सेबिकाम्ल का एक दूसरे से संबन्ध दिखलाया। उदौष अम्लों का अरुणो अम्लों में परिवर्तन, द्विक्षारिक अम्लों का विद्युत् विश्लेषण, अरुणो बानजावीनोंमें अरुणिन् परमाणु को कर्बोषिल मूल से स्थापित करके बानजावीन श्रेणी के अम्लों का संश्लेषण, अजीव तथा द्वयजीव यौगिकों की रचना का समझाना और द्वयजीव यौगिकों का अजीवों में परिवर्तन सब इसी महापुरुष के मस्तिष्क का प्रसाद है।

केक्यूले ने घेन्ट में ही अपनी विश्वविख्यात पुस्तक (Lehrbuch) का बहुत कुछ भाग लिखा जिसमें उसने अपने दोनों सिद्धान्तों को भिन्न भिन्न प्रकार के उदाहरणों से समर्थन किया, यह पुस्तक कार्बनिक रसायन की अमूल्य सम्पत्ति ख्याल की जाती है।

१८६७ ई० में केक्यूले को बोन विश्वविद्यालय में मुख्य रसायनाचार्य के पद पर नियुक्त किया गया। यहां पर कार्य करने का घेन्ट से अधिक सुभीता था और अधिक विद्यार्थी भी रक्खे जा सकते थे। इसके मुख्य विद्यार्थियों के नाम निम्न लिखित हैं:— बेडसन, बन्र्थसन, क्लेसन, डिटमार और वाण्ट हाफ़ इत्यादि।

केक्यूले का स्वास्थ पिछले दिनों में कुछ बिगड़ गया परन्तु इतने पर भी उसके मस्तिष्क की शक्ति और तीक्ष्णता में कोई अन्तर नहीं पड़ा। यद्यपि

केक्यूले की विचार-शक्ति बहुत बढ़ी चढ़ी थी परन्तु जैसा कि कभी कभी होता है उसकी समझाने तथा प्रयोग करने की शक्तिभी किसी प्रकार कम न थी और सर्वदा उसके साधारण व्याख्यानों में प्रयोगों की भरमार रहती थी। व्याख्यान की स्पष्टता, प्रयोगों की सफलता तथा सुन्दरता से केक्यूले की व्याख्यान-शाला सर्वदा नीचे से ऊपर तक भीड़ से डटी रहती थी। अनुसन्धानिक प्रयोगशाला में केक्यूले की रीति बहुत से आचार्य्यों के बिलकुल विरुद्ध थी। वह स्वयं विद्यार्थियों को अधिक नहीं बताता था ताकि वह अन्ध विश्वाससे उसके कहने को ही न करते रहें बल्कि उनकी विचार शक्ति चतुरता तथा स्वयं विचार शक्तिके लिए अधिक ज़ोर देता था। इस प्रकार से आजकल और कम से कम भारतवर्ष में तो बहुत ही कम शिक्षा दी जाती है।

केक्यूले उदार चित्त, दयावान, तथा विचार शील होते हुए भी बड़ा रसिक था और अपने शिष्यों में अधिक से अधिक समय रहना उसके सबसे बड़े सन्तोष का कारण था। यद्यपि आज केक्यूले जीवित नहीं परन्तु उसका पौधा जिसको उसने बोया था उसके शिष्यों तथा अन्य वैज्ञानिकों के परिश्रम द्वारा फल फूल रहा है और यही महापुरुष का सबसे बड़ा लक्षण है कि उसका कार्य्य उसके मृत्यु-उपरान्त उसके जीवनकाल से अधिक प्रसिद्ध हो। केक्यूले के बिना कार्बनिक रसायन उतनी ही अधूरी होती जितनी पास्ट्यूर के बिना कीटाणु विज्ञान। भिन्न भिन्न सभाओं का सदस्य होनेके अतिरिक्त केक्यूले को अनेक पदक मिले जैसे रायल सोसाइटीका कौपले पदक, केमिकल सोसाइटी लन्दन का फ़ैरेडे पदक इत्यादि। १८८९ ई० में यह महान व्यक्ति इस संसार से सर्वदा के लिये छीन लिया गया।

———

भारतवर्ष में वनस्पति विज्ञान का कार्य (२)

[ले० डा० हरप्रसाद चौधरी, एम. एस-सी., पी-एच. डी., डी. आई. सी.]

(गतांक से आगे)

गतांक में १९ वीं शताब्दीके कार्य्य का उल्लेख किया गया था। अब २० वीं शताब्दी के कार्य्य का कुछ विवरण दिया जावेगा। इस शताब्दी के प्रथम १५–२० वर्ष तक तो जितने अन्वेषण संबन्धी लेख प्रकाशित हुए वे अधिकांशतः यूरोपवासियों के ही थे। इसका तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि भारत में विश्वविद्यालयों को स्थापित हुए पचास वर्ष हो चुके थे तो भी भारतवासियों का ध्यान मौलिक कार्य्य की ओर नहीं गया था। अगरकर ने १९२७ में इण्डियन बोटानिकल सोसायटी के सभापति-भाषण में ठीक कहा था कि 'पहले ज़माने के बृटिश शासकों का शिक्षा से उद्देश्य केवल इतना था कि भारतवासी उनके काम चलाने के लिये नौकरी करने के योग्य होजांय जिससे बृटिश शासन ठीक चलसके,—किसी बड़ी नौकरी के नहीं, प्रत्युत छोटे दर्जे की नौकरियों के योग्य ही।' जहाँ कहीं अन्वेषणालय खुले भी, वहाँ भारतीयों को प्रोत्साहन देना तो अलग, प्रत्युत तिरस्कृत ही किया गया। लोगों की यह धारणा थी कि भारतीय इस काम के लिये सर्वथा अयोग्य हैं। सब जगह यही कहा जाता था कि 'भारतवासी स्वभावतः स्वतन्त्र मौलिक अन्वेषण करने के अयोग्य हैं, अधिक से अधिक वे किसी के सहायक होकर रह सकते हैं। पर सर जगदीशचन्द्र वसु का जीवन इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि अनेक कठिनाइयों और बाधाओं का सामना करते हुए भी किस प्रकार मौलिक कार्य्य किया जासकता है। सन् १८९५ में एशियाटिक सोसायटी बंगाल में जब से उन्होंने अपना पहला लेख पढ़ा तब से भारत में एक नये युग का जन्म हुआ। अब तो

भारतवासी ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में समुचित भाग ले रहे हैं," और यह कहने का कौन साहस कर सकता है कि उनमें मौलिक अन्वेषण करने की क्षमता विद्यमान नहीं है।

राष्ट्रीय भावना के विकास ने भी इस ओर बड़ी सहायता दी और भारतवासी उच्चशिक्षा के लिये विदेश भी समुचित संख्या में जाने लगे। सरकारी अन्वेषण विभागों में अवस्था अब भी बड़ी ही निरुत्साह जनक थी। भारतीयों को नीचे ओहदे दिये जाते थे और अन्वेषण के लिये सुविधा पाना कठिन होता था। भारतीयों की दृष्टि विश्वविद्यालयों की ओर थी और इन्हीं से उन्हें कुछ आशा थी। ज्यों ज्यों नये विश्वविद्यालय खुलते गये और पुरानों ने भी अन्वेषण के कार्य्य में रुचि लेनी आरम्भ की त्यों त्यों भारतीयों को अधिक अवसर मिलने लगा। आजकल १८ विश्वविद्यालय हैं, और उनसे सम्बन्धित बहुत से ऐसे कालेज भी हैं जहाँ कुछ अन्वेषण कार्य्य हो सकता है। इन सब जगहों में भारतीयों ने अपना कार्य्य आरम्भ कर दिया है। यद्यपि वनस्पतिशास्त्र में अभी उतने रुचि लेने वाले नहीं हुए हैं, जितने कि रसायन में, तथापि इस क्षेत्र में भी आशाजनक कार्य्य होरहा है। वनस्पतिशास्त्र के लगभग प्रत्येक विभाग में ही कुछ न कुछ कार्य्य होरहा है। क्योंकि मेरा पंजाब से सम्बन्ध है अतः स्वभावतः में इस विवरणके उल्लेख का आरम्भ पञ्जाब से ही करूँगा। पंजाबके प्रोफेसर कश्यप (एस० आर०) ने इस क्षेत्र में जो प्रोत्साहन दिया है वह चिरस्मरणीय रहेगा। उनकी आजीवन सेवाओं का ही यह फल है कि आज उनके विद्यार्थी देश के कोने कोने में फैले हुए हैं, और शिक्षा एवं अन्वेषण का कार्य कर रहे हैं। आप के अतिरिक्त घोष और चौधरी भी अलगोलोजी और वनस्पति पैथोलोजी में न केवल स्वयं ही अनुसन्धान कर रहे हैं प्रत्युत विद्यार्थियों को भी इस ओर सहायता दे रहे हैं। पंजाब विश्वविद्यालय ने जिन जिन विषयों में तीन वर्ष का आनर्स का पाठ्यक्रम निर्धारित किया है, उनमें एम. एस-सी. की उपाधि विद्यार्थियों को उनके अन्वेषण कार्य्य की दृष्टि से दी जाती है। इस नियम से भी अन्वेषण कार्य्य को अच्छा प्रोत्साहन मिला है। विश्वविद्यालय से संबद्ध अन्य संस्थाओं में कठिनाइयाँ होते हुए भी कुछ न कुछ हो ही रहा है। गार्डन कालेज पिंडी में स्टीवार्ट, मुलतान कालेज में सेठी, सनातनधर्म कालेज लाहौर में आनन्द कार्य्य कर रहे हैं। लायलपुर के कृषि विभाग में एम. एस-सी. की उपाधि अन्वेषण की दृष्टि से ही दी जाती है। वहाँ पर लुथा महोदय शरीर विज्ञान और पौधों की जातियों के संबन्ध में अच्छा कार्य्य कर रहे हैं। कृपाराम मोहिन्द्र की मृत्यु से इस कालेज को बड़ी क्षति पहुँची। मोहिन्द्र ने योरुप से लौटने पर फंफूदी (माइकोलोजी) पर कार्य्य आरम्भ किया था।

आगरा विश्वविद्यालय में मेहता गेहूँ के जंग पर और माहेश्वरी वनस्पति की एनाटोमी पर अच्छा कार्य्य कर रहे हैं।

लखनऊ विश्वविद्यालयके डा० बीरबल साहनीही एक मात्र ऐसे वनस्पतिज्ञ हैं जो वनस्पतियोंके पुरातत्व पर कार्य्य कर रहे हैं। आप इंडियन सायंस कांग्रेस के वनस्पति और भूगर्भ दोनों विभागों के सभापति रह चुके हैं। लखनऊ के अन्य कार्य्यकर्ता मुकर्जी (परिस्थिति विज्ञान पर) चौधरी, पांडे, सिंह आदि हैं।

प्रयाग विश्वविद्यालय में डा० जूलियन मित्र फंफूदी में, श्री रंजन वनस्पति की शरीर रचना में और डजन* परिस्थिति विज्ञान (इकोलोजी) मोर्फोलाजी और साइटोलोजी में कार्य कर रहे हैं।

काशी विश्वविद्यालय में डा० इमामदार और उनके शिष्य बी० एन० सिंह शरीर विज्ञान में, तिवारी मार्फोलाजी में और भारद्वाज अलगोलाजी में कार्य्य कर रहे हैं।

*डा० डजनकी अकस्मात् अभी हालमें ही २२ दिसम्बर १९३२ को मृत्यु हो गई।

संयुक्त प्रान्त के पांच विश्वविद्यालयों में से प्रयाग, लखनऊ, काशी और आगरा में तो वनस्पति विज्ञान सम्बन्धी कुछ कार्य्य होरहा है पर अलीगढ़ में काम ठीक तरह से आरम्भ नहीं होने पाया है। थोड़े दिन हुए रफ़ीक़ ने यूरोप से लौटने पर शरीर-विज्ञान पर कार्य्य आरम्भ किया है, और आशा की जाती है कि यह कार्य्य शीघ्र ही उन्नत हो जायगा। विश्वविद्यालय के क्षेत्र के बाहर एलेनका केरेसिआई पर कार्य्य और केनोअर का परिस्थितिविज्ञान पर कार्य्य उल्लेखनीय है।

विहार-उड़ीसा प्रान्त में केवल एक ही स्थान पर उल्लेखनीय कार्य हो रहा है। वह है पटना विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कटक में जहाँ प्रो० परीजा शरीर-विज्ञान पर कार्य्य कर रहे हैं।

बङ्गाल में दो विश्वविद्यालय हैं—कलकत्ता और ढाका। ढाका में तो वनस्पति की कोई उच्च शिक्षा नहीं दी जाती है। कलकत्ता विश्वविद्यालय में वनस्पति विभाग के सर्व प्रथम अध्यक्ष डा० ब्रूहल थे जिन्होंने गत शताब्दी में (१८६०-७०) ही कार्य्य आरंभ कर दिया था। उनके शिष्य और सहयोगी विश्वास महोदय जो आजकल रायल बोटानिक गार्डन के हर्बेरियमके क्यूरेटर हैं, अलगोलोजी पर बहुतही अच्छा कार्य्य कर रहे हैं। विश्वविद्यालय की प्रयोगशाला में इकोलोजी और मार्फोलोजी में आग़रकर, साइटोलोजी में आई. बनर्जी, और प्रेसिडेन्सी कालेज में एस० सी० बनर्जी, मजूमदार, सेन और के. बनर्जी मौलिक कार्य्य में संलग्न हैं। कलकत्ते के बोस-इन्सटीट्यूट में सर जगदीशचन्द्र वसु और उनके सहकारी वनस्पति जीवन के निहित रहस्यों का भेद पता लगाने में व्यस्त हैं। कार्मेकल मेडिकल कालेज में एस० आर० बोस बङ्गाल पोलीपोरासिआईके सम्बन्ध में शान्त रूप से हमारे ज्ञान की वृद्धि कर रहे हैं।

रंगून विश्वविद्यालय में अन्वेषण का कार्य्य घोष ने आरंभ किया था, और उनके चले आने के पश्चात् हण्डा और प्रसाद के मौलिक लेख प्रकाशित होते रहते हैं।

नागपुर विश्वविद्यालय में वनस्पति का उच्च अध्ययन अभी हाल में ही आरंभ हुआ है। अलगोलोजी में नीरुल अच्छा काम कर रहे हैं। कृषि कालेज में जे० एफ० दस्तूर माइकोलोजी में और महता अर्थशास्त्रिक वनस्पति विज्ञान में अच्छी रुचि ले रहे हैं।

मद्रास विश्वविद्यालय में फाइसन एञ्जिओस्पर्म पर, आयंगर अलगोलोजी पर, और एकम्बरम् शरीर-विज्ञान पर उल्लेखनीय कार्य्य कर रहे हैं। मैसूर विश्वविद्यालयमें सम्पतकुमारन् और उनके शिष्य साइटोलोजी पर अन्वेषण कर रहे हैं। बङ्गलोर इन्सटीट्यूट में स्पाइक-रोगों पर कुछ कार्य्य हो रहा है।

बम्बई विश्वविद्यालय में टैक्सोलोजी में ब्लैटर, माइकोलोजी में अज्रेकर और शरीर विज्ञान में आर. एच. दस्तूर अन्वेषण के कार्य्य में बहुत ही दिलचस्पी ले रहे हैं। सैक्सटन और सेजविक ने बम्बई में अभी हाल में ही काम करना छोड़ा है। कृषि और उपवन विभागोंमें उप्पल, जी० एस० कुलकर्णी, लिखिते, चीमा, पटेल, प्रयाग, कोट्टर, थडानी, भीडे, आदि व्यक्ति कार्य्य कर रहे हैं।

आंध्र, अन्नमलाई, उसमानिया और देहली विश्वविद्यालयों में अन्वेषण सम्बन्धी कुछ भी कार्य्य नहीं हो रहा है। आशा की जाती है कि शीघ्रही इन विश्वविद्यालयोंका भी ध्यान वनस्पति अध्ययनकी ओर जावेगा। हमारे पड़ोसी सीलोनमें भी इस विज्ञानकी अवहेलना नहीं की गई है। कोलम्बो में बाल, सर्वाधिकारी और पेच अच्छा काम कर रहे हैं।

वनस्पति विज्ञानके क्षेत्रमें विश्वविद्यालयों में जो कार्य्य कर रहे हैं उनकी यह संक्षिप्त नामावली दी गई है, यद्यपि बहुतों के इसमें नाम रह गये हैं, पर इससे यह पता चल जायगा कि भारत में इस सम्बन्धमें अब काफ़ी काम होने लगा है। विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त कृषि और जङ्गल विभागों ने एवं बोटानिकल सर्वे ने भी वनस्पति विज्ञान के उच्च अध्ययन में अच्छा प्रोत्साहन दिया है। बोटानिकल

सर्वे के उल्लेखनीय व्यक्ति गेज, कालडर, देब-बरमन रामस्वामी, विश्वास, हूपर, और कार्टर हैं। जङ्गल विभाग के स्टेबिङ्ग, ट्रूप, होल, गैम्बैल, बैम्बर, पार्कर और बागची हैं। कृषि विभाग के बटलर, हावर्ड, श्रीमती हावर्ड, मैकराय, शौ, दस्तूर, मित्र, बर्न्स, हेक्टर, सबनिस, सुन्दररमन, रङ्गाचारी, पिल्ले, जोशी, नरसिंहम्, और राव हैं। कीर्तिकर और मेजर बी० डी० बसुकी पुस्तक 'इण्डियन मेडिसनल प्लांट्स, बड़ी ही उपयोगी है।

सन् १९२० में इण्डियन बोटानिकल सोसाइटीकी स्थापना की गई और उसका एक जर्नल भी प्रकाशित होता है। इससे भी वनस्पति विज्ञान के कार्य्य को अच्छा प्रोत्साहन मिला है। इंडियन सायन्स कांग्रेसने भी वनस्पतिज्ञों को प्रोत्साहित किया है। अतः इन सबका हमें कृतज्ञ होना चाहिये।

पूसा में इम्पीरियल एग्रीकलचरल रिसर्च इन्सटीट्यूट की स्थापना और देहरादून में फोरस्ट रिसर्च इन्सटीट्यूट और कालेज की स्थापना बहुत ही महत्व की बात है क्योंकि पहले तो केवल इम्पीरियल सर्विस के सदस्यों द्वारा ही अनुसन्धान का कार्य्य किया जाता था।

निम्न श्रेणी के पौधों का अध्ययन भी अच्छी प्रकार किया जा रहा है। लोगों का इनकी ओर अब ध्यान प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। डा० डजन ने अपने सभापति-भाषण में सन् १९२२ में इस प्रकार के कार्य्यों का कई विभागों में उल्लेख किया था और सन् १९२८ की वक्तृता में आयंगर ने अलगोलोजी पर के कार्य्य की समीचीन मीमांसा की है। महता ने १९२९ में संयुक्तप्रान्त में जंग के आविर्भाव का उल्लेख किया है। कश्यप के लिवरवोर्ट्स (१९२९) और ब्रूह्ल (१९३१) का 'सैन्सस आव इंडियन मौसेज" भी उल्लेखनीय एवं उपयोगी है।

इंडियन सायंस कांग्रेस के विभिन्न विभागों के सभापति-भाषणों में होल (१९१८, वनस्पति), फिनलो (१९२५, कृषि) और हावर्ड (१९२६ सामान्य सभापति) ने पौधों के रोगों का उल्लेख किया है। होल और हावर्ड दोनों ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि रोगों के उपचार के लिये परिस्थिति-शास्त्र या इकोलाजी का विशेष अध्ययन करना चाहिये। होल का कथन है कि जल और प्राणवायु की क्षीणता होने पर पौधे केवल मर ही नहीं जाते हैं, प्रत्युत ऐसी अवस्था में अन्य कीटाणुओं का घातक प्रभाव भी उन पर अधिक पड़ता है। फिनलो का विचार है कि भिन्न भिन्न लवणों का पौधों के रोगों पर प्रभाव जानना भी आवश्यक है। हम जानते हैं कि पौधों के रोगों पर तीन बातों का विशेष प्रभाव पड़ता है—होस्ट, परोपजीवी कृमि और परिस्थिति प्रभाव। इन सबमें कभी कभी परिस्थिति का प्रभाव सब से अधिक महत्व का हो जाता है, और रोग का होना न होना मुख्यतः इस पर ही निर्भर रहता है।

(क्रमशः)

वैज्ञानिक पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका भाग १—ले० प्रो० रामदास गौड़, एम. ए., तथा प्रो० सालिग्राम, एम.एस-सी. ।)

२—मिफताह-उल-फ़नून—(वि० प्र० भाग १ का उर्दू भाषान्तर) अनु० प्रो० सैयद मोहम्मद अली नामी, एम. ए. ... ... ।)

३—ताप—ले० प्रो० प्रेमवल्लभ जोषी, एम. ए. तथा श्री विश्वम्भरनाथ श्रीवास्तव ... ॥=)

४—हरारत—(तापका उर्दू भाषान्तर) अनु० प्रो० मेहदी हुसेन नासिरी, एम. ए. ... ।)

५—विज्ञान प्रवेशिका भाग २—ले० अध्यापक महावीर प्रसाद, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद १)

६—मनोरंजक रसायन—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम. एस-सी. । १॥)

७—सूर्य सिद्धान्त विज्ञान भाष्य—ले० श्री० महावीर प्रसाद श्रीवास्तव, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद

मध्यमाधिकार ... ... ॥=)

स्पष्टाधिकार ... ... ।॥)

त्रिप्रश्नाधिकार ... ... १॥)

चन्द्रग्रहणाधिकारसे ग्रहयुत्यधिकार तक १॥)

उदयास्ताधिकारसे भूगोलाध्याय तक ॥।)

८—पशुपक्षियोंका श्रृङ्गार रहस्य—ले० अ० सालिग्राम वर्मा, एम.ए., बी. एस-सी. ... -)

९—ज़ीनत वहश व तयर—अनु० प्रो० मेहदी-हुसैन नासिरी, एम. ए. ... ... -)

१०—केला—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली -)

११—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली ।)

१२—गुरुदेवके साथ यात्रा—ले० अध्या० महावीर प्रसाद, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद ।-)

१३—शिक्षितोंका स्वास्थ्य व्यतिक्रम—ले० स्वर्गीय पं० गोपाल नारायण सेन सिंह, बी.ए., एल.टी. ।)

१४—चुम्बक—ले० प्रो० सालिग्राम भार्गव, एम. एस-सी. ... ... ।=)

१५—क्षयरोग—ले० डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा, बी. एस. सी, एम-बी. बी. एस ... -)

१६—दियासलाई और फ़ास्फ़ोरस—ले० प्रो० रामदास गौड़, एम. ए. ... ... -)

१७—कृत्रिम काष्ठ—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली =)

१८—आलू—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली ... ।)

१९—फसल के शत्रु—ले० श्री० शङ्करराव जोषी ।-)

२०—ज्वर निदान और शुश्रूषा—ले० डा० बी० के० मित्र, एल. एम. एस. ... ।)

२१—कपास और भारतवर्ष—ले० पं० तेज शङ्कर कोचक, बी. ए., एस-सी. ... -)

२२—मनुष्यका आहार—ले० श्री० गोपीनाथ गुप्त वैद्य १

२३—वर्षा और वनस्पति—ले० शङ्कर राव जोषी ।)

२४—सुन्दरी मनोरमाकी करुण कथा—अनु० श्री नवनिद्धिराय, एम. ए. ... ... -)॥

२५—वैज्ञानिक परिमाण—ले० डा० निहाल करण सेठी, डी. एस. सी. तथा श्री सत्य-प्रकाश, एम. एस-सी० ... ... १॥)

२६—कार्बनिक रसायन—ले० श्री० सत्य-प्रकाश एम-एस-सी० ... ... २॥)

२७—साधारण रसायन—ले० श्री० सत्यप्रकाश एम० एस-सी० ... ... २॥)

२८—वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द, प्रथम भाग—ले० श्री० सत्यप्रकाश, एम० एस-सी० ... ॥)

२९—बीज ज्यामिति या भुजयुग्म रेखा गणित—ले० श्री० सत्यप्रकाश, एम० एस सी० ... १।)

३०—सर चन्द्रशेखर वेङ्कट रमन—ले० श्री० युधिष्ठिर भार्गव एम० एस-सी० ... =)

३१—समीकरण मीमांसा प्रथम भाग ... १॥)

३२—समीकरण मीमांसा दूसरा भाग—ले० स्वर्गीय श्री पं० सुधाकर द्विवेदी ... ॥=)

३३—केदार बद्रीयात्रा ... ।)

पता—मंत्री विज्ञान परिषत्, प्रयाग।

मुद्रक—शारदा प्रसाद खरे, हिन्दी-साहित्य प्रेस, प्रयाग।

पूर्ण संख्या— Approved by the Directors of Public Instruction, United Provinces and
२१३ Central Provinces for use in Schools and Libraries. Reg. No. A. 708.

भाग ३६ VOL. 36.

मेष, संवत् १९८९
मार्च, १९३३

संख्या ६ No. 6

विज्ञान

प्रयागकी विज्ञान परिषत्‌का मुखपत्र

'VIJNANA' THE HINDI ORGAN OF THE VERNACULAR SCIENTIFIC SOCIETY, ALLAHABAD.

अवैतनिक सम्पादक

ब्रजराज एम. ए., बी. एस-सी., एल-एल. बी.,

सत्यप्रकाश, डी. एस-सी., एफ. आई. सी. एस.

प्रकाशक

वार्षिक मूल्य ३)] विज्ञान परिषत्, प्रयाग [१ प्रतिका मूल्य ।)

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्, विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति, विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥ तै० उ० ।३।५॥

भाग ३६ | मेष, संवत् १६८६ | संख्या ६

राष्ट्र-भाषा और वैज्ञानिक साहित्य

[ले० डा० सत्यप्रकाश, डी० एस-सी०]

संसार में वैज्ञानिक साहित्य बड़ी ही प्रगति से बढ़ रहा है। आधुनिक विज्ञान का जन्म योरप में हुआ। इस महाद्वीप के तीन देशों ने इसके विकासमें विशेष भाग लिया-फ्रान्स, जर्मनी और इंग्लैण्ड। अन्य छोटे-छोटे देश जैसे हालैंड, डेनमार्क, नार्वे, स्वेडन, इटली आदि भी १९ वीं शताब्दी से ही वैज्ञानिक उन्नतिके लिए प्रयत्नशील हो रहे हैं। यों तो आधुनिक विज्ञान का आदि स्रोत यूनान देश है, पर इस समय इस देश की गणना नगण्य ही है।

भारतवर्ष की परिस्थिति कई अंशों में योरप से मिलती जुलती है। भेद इतना है कि जो अवस्था योरप में १८ वीं शताब्दी में थी वही अवस्था भारतवर्ष में २० वीं शताब्दी में है। योरप के प्रत्येक देश की भिन्न-भिन्न भाषाएँ है, आचार व्यवहार में भी समुचित भिन्नता है, यही भारत की अवस्था है। यहाँ का प्रत्येक प्रान्त भिन्न भाषा-भाषी है, और सब प्रान्तों की प्रवृत्तियाँ भी पृथक्-पृथक् हैं। जिस प्रकार १८ वीं शताब्दी में योरप के किसी देशवासी ने यह न सोचा कि वैज्ञानिक साहित्य सार्वभौमिक साहित्य होगा अतः इसकी भाषा और विशेषतः परिभाषाएँ--एक ही होनी चाहिये, पृथक्-पृथक् नहीं, और सब ने अपनी व्यक्तिगत भाषाओं में अलग-अलग साहित्य का निर्माण किया, उसी प्रकार की परि-

स्थिति हमारे देश की भी है। भाषाओं की भिन्नता का योरपीय साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा यह सर्व विदित है। यदि जर्मन भाषा में कोई प्रमाणिक ग्रन्थ प्रकाशित होता है, तो यह आवश्यक समझा जाता है कि इसका अनुवाद अंग्रेजी और फ्रांसीसी भाषा में भी कर दिया जाय। इस अनुवाद के प्रकाशित होने में ४-५ वर्षों का अन्तर अवश्य पड़ जाता है। और इतने ही समय में मौलिक पुस्तक का संशोधित संस्करण प्रकाशित हो जाता है। उच्च विज्ञान के पाठक यह जानते हैं कि वैज्ञानिक पुस्तक के संशोधित संस्करण का अर्थ बहुधा पूर्ण-परिवर्तन या काया पलट होता है, क्योंकि तीन चार वर्ष में ही पूर्व-प्रतिपादित विषय पुराने पड़ जाते हैं, और नवीन खोजों के अनुसार उनमें परिवर्त्तन की आवश्यकता हो जाती है। इस प्रकार अनूदित संस्करण बहुत ही पिछड़े होते हैं और उनका महत्व मौलिक ग्रन्थ की अपेक्षा बहुत ही कम होता है।

भारतवर्ष में इस समय चार आर्य भाषाएँ-हिन्दी, मराठी, गुजराती और बंगाली, तीन द्राविड़ भाषाएँ-तामिल, तेलगू और मलायालम और एक यावनिक भाषा-उर्दू विशेष रूप से प्रचलित है। इन सब भाषाओं में प्रचुर साहित्य विद्यमान है। साहित्य की पुष्टि के तीन विशेष अङ्ग हैं। गद्य, पद्य और नाटक पर इन तीनों में सब से स्थायी अंग पद्य का है। भारत की उक्त आठों भाषाओं में प्रचुर पद्य साहित्य विद्यमान है। हिन्दी के साहित्य से सूर और तुलसी पृथक् नहीं किये जा सकते। बंग-साहित्य विद्यापति, मधुसूदन और रवींद्र का विस्मरण नहीं कर सकता। इसी प्रकार मराठी-साहित्य में समर्थ रामदास और तुकाराम की अवहेलना नहीं की जा सकती। तात्पर्य यह है कि पद्य-साहित्य का बाहुल्य भाषा में स्थायी भाव ला देता है, और यह भिन्न-भिन्न भाषाओं के एकीकरण में बाधक होता है। जिस प्रकार योरप के देशों के संबन्ध में यह कल्पना करना प्रलाप मात्र ही होगा कि कभी अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी, इटेलियन आदि भाषाएँ मिलकर एक यूरोपियन या उटोपियन भाषा बन सकेंगी, उसी प्रकार हमारे देश में भी यह होना असम्भव ही है कि सब प्रान्तों की भाषाएँ मिलकर एक भाषा बन जाय।

दूसरा उपाय एकीकरण का द्विभाषी होना है। इसका अर्थ यह है कि अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषा को न छोड़ते हुए भी सार्वदेशिक व्यवहार के लिए किसी एक भाषा को अपना लिया जाय। इस प्रकार प्रत्येक को दो भाषाएँ सीखनी पड़ेंगी। एक अपनी प्रान्तीय भाषा और दूसरी देशी भाषा। द्विभाषी होना असम्भव तो नहीं, पर अस्वाभाविक अवश्य है।

दो भाषाएँ तो इस प्रकार भारतीयों को सीखनी ही हैं। अब प्रश्न विज्ञान का है। वैज्ञानिक साहित्य के लिए कोई एक विदेशी भाषा जानना इस समय अनिवार्य है। अतः प्रत्येक विज्ञान-शिक्षित भारतीय को द्विभाषी ही नहीं, प्रत्युत त्रिभाषी होना आवश्यक हो रहा है। इन तीनों भाषाओं के लिखने पढ़ने और बोलने की अच्छी योग्यता होनी चाहिये। अपनी प्रान्तीय भाषा पर समुचित अधिकार न होना लज्जा की बात होगी, फिर सार्वदेशिक भाषा ठीक न आने पर समस्त देश में उपहास होगा। यहाँ भी चलतू भाषा से काम न चलेगा। अन्तर्जातीय वैज्ञानिक साहित्य के लिए एक न एक योरपीय भाषा का दास रहना ही होगा और उसका ज्ञान समुचित होना चाहिये। हाँ, जिन्हें अत्युच्च विज्ञान-विशेषज्ञ होना है, उन्हें तो एक दो और भाषाएँ भी सीखनी पड़ेंगी। अतः प्रत्येक वैज्ञानिक विद्यार्थी का त्रिभाषी होना अनिवार्य है।

योरप के देशों की अवस्था हम से भिन्न है। साधारणतः वहाँ एक भाषी होने से ही काम चल जाता है, योंतो अपनी रुचि से वहाँ कितनी ही

भाषाएँ क्यों न सीखलें। इङ्गलैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी आदि किसी भी देश का विद्यार्थी अपनी ही भाषा में विज्ञान की उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त कर सकता है। वहाँ के देशों में प्रान्तीय भाषाओं का प्रश्न नहीं है, क्योंकि प्रत्येक देश की एक साहित्यिक भाषा है। इस दृष्टि से भारतीय विद्यार्थी की अवस्था बड़ी ही करुण है। तीन-तीन भाषाओं का अध्ययन करना हँसी खेल नहीं है। आधा जीवन तो भाषा-सीखने में ही चला जायगा। शक्ति का इतना ह्रास होना उपादेय नहीं है।

यहाँ हमने पारिभाषिक शब्दों का प्रश्न नहीं उठाया है। यही दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि भारत की परिस्थिति संसार के अन्य देशों की अपेक्षा बहुत ही भिन्न है। यहाँ की समस्याएँ ही विचित्र हैं। इसका भविष्य बहुत ही विपदा-जनक है। अनेक भाषाओं का संघट्ट और इसके ऊपर मानसिक एवम् राष्ट्रीय पराधीनता! इसका अनुमान योरपवाले तभी कर सकते हैं, जब उनके समस्त देशों को मिलाकर एक देश बना दिया जाय और उस नये देश का शासन-भार किसी अन्य भाषा-भाषी विदेशी सत्ता को—भारत, चीन या तुर्क को प्रदान कर दिया जाय, तब वहाँ वही कठिनाइयाँ उपस्थित हो जायँगी जो इस समय भारतवर्ष में हैं।

क्या ऐसा संभव है कि समस्त भारत में सार्वदेशिक कार्यों के लिए कोई एक देशी भाषा प्रचलित हो जाय? आज कल हमारे सार्वदेशिक कार्य्य अंग्रेजी में हो रहे हैं क्योंकि यह हमारी राष्ट्रीय भाषा, अर्थात् हमारे शासकों की भाषा है। हिन्दी-भाषा सिद्धान्त-रूप से देश की राजकीय भाषा होने की अधिकारिणी अवश्य है, पर इसे अभी तक अंग्रेजी का स्थानापन्न होने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ, और देश की प्रवृत्ति को देखते हुए हमें अधिक आशा नहीं बँधती है कि भारत के स्वतंत्र हो जाने पर भी यह कभी पूर्ण रूप से राष्ट्र-भाषा स्वीकार की जावेगी। अर्थात् एसम्बली, काउन्सिल, न्यायालय, कोषविभाग आदि में इसे वह स्थान मिल जायगा जो इस समय अंग्रेजी को प्राप्त है। परन्तु कल्पना कर लीजिये कि समस्त देश में सार्वदेशिक व्यवहार के लिए एक राष्ट्र-भाषा हमारी किसी देशी भाषाओं में से ही हो गयी। यदि ऐसा हो जाय, तो यह आवश्यक होगा कि समस्त प्रान्तों के उच्च स्कूलों में इस राष्ट्रीय भाषा की शिक्षा दी जाय, अर्थात् इसका सीखना अनिवार्य्य समझा जाय। प्राइमरी स्कूलों में केवल प्रान्तीय भाषा पढ़ाई जाय। जिस प्रकार इस समय एंग्लोवर्नाक्यूलर स्कूल हैं उसी प्रकार उस स्वतंत्र भारत में हिन्दी-वर्नाक्यूलर स्कूल खुलें (भारत की राष्ट्र-भाषा का नाम हिन्दी हो)। बंगदेश के इन स्कूलों में शिक्षा का माध्यम बङ्गाली हो, पर हिन्दी की उतनी ही योग्यता प्राप्त करा दी जाय जितनी कि आजकल अंग्रेजी की हो रही है। इसी प्रकार महाराष्ट्र के स्कूलों में भी मराठी और हिन्दी की शिक्षा दी जाय।

हाई स्कूल तक की शिक्षा का माध्यम प्रान्तीय भाषा रहे। इसके उपरान्त कालेज और विश्व-विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम प्रान्तीय भाषा न हो, प्रत्युत राष्ट्रीय भाषा हो। अर्थात् समस्त प्रान्तों की उच्च शिक्षा का माध्यम राष्ट्रभाषा ही रहे। समस्त प्रान्त इस भाषा को अपनी भाषा समझें। आरम्भ में तो यह भाषा किसी एक प्रान्त की भाषा होगी और प्रान्तिकता की गन्ध इसमें अवश्य आवेगी परन्तु कुछ वर्षों तक की उदारता के उपरान्त यह सम्भव है कि मनोवृत्ति इतनी परिवर्त्तित हो जाय कि समस्त प्रान्तवाले इस राष्ट्र-भाषा को अपनी भाषा समझने लगें। यदि ऐसा हो गया तो सब प्रान्त इस राष्ट्रीय भाषा के साहित्य को परिपूर्ण करना अपना कर्त्तव्य समझेंगे। यही नहीं, इस भाषा में रचना करने में ही वे अपना गौरव समझेंगे।

समस्त देश के कालेजों और विश्वविद्यालयों की शिक्षा का माध्यम यही राष्ट्र-भाषा होगी।

यदि ऐसा हो जाय तो वैज्ञानिक साहित्य का प्रश्न बहुत कुछ सुलझ जावे। यदि ऐसा न हुआ तो वैज्ञानिक साहित्य का भविष्य अन्धकारमय ही रहेगा।

राष्ट्र-भाषाके निर्माण और प्रचारके उपरान्त हाई स्कूल तक की कक्षाओंके विज्ञान विषयक ग्रन्थ तो प्रान्तिक भाषाओं में बनेंगे। सामान्य जनताके योग्य मनोरंजक पुस्तकें (पापुलर साहित्य) भी प्रान्तीय भाषाओं में रहेंगी। पर उच्च कक्षाओं का टेकनिकल साहित्य हमारी मनोनीत राष्ट्र-भाषामें ही होगा। इसके लेखक समस्त प्रान्तोंके व्यक्ति होंगे, यह किसी एक प्रान्त की सम्पत्ति न होगी। तात्पर्य यह है कि प्रान्तीय भाषाओं में साधारण साहित्य होगा और उच्च वैज्ञानिक साहित्य केवल राष्ट्र-भाषा में होगा। अन्य भाषाओं को इसके निर्माण में अपनी शक्ति का ह्रास न करना पड़ेगा। उनको इस बन्धन से मुक्त रखा जायगा।

प्रान्तीय भाषा और राष्ट्र-भाषाके साहित्य में भेद अवश्य होना चाहिए। प्रान्तीय भाषा का सम्बन्ध प्रान्त की सामान्य अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षित जनतासे होता है, और राष्ट्र-भाषा का सम्बन्ध उन उच्च शिक्षित पुरुषोंसे होता है जो अन्तर्प्रान्तीय सम्बन्ध स्थापित करते हुए समस्त राष्ट्र की उन्नति के इच्छुक होते हैं। इस दृष्टि से प्रान्तीय भाषा के साहित्यमें इन विषयों का समावेश होगा—काव्य, गद्य-साहित्य, उपन्यास, नाटक, धार्मिक ग्रन्थ, शिल्प और कलाकी प्रारम्भिक पुस्तकें तथा राजनीति और चिकित्साके साधारण ग्रन्थ। राष्ट्र-भाषामें भाषा विज्ञान, भौतिक, रसायन, जीवविज्ञान आदिके प्रमाणित वैज्ञानिक ग्रन्थ, तथा अर्थशास्त्र, राजनीति एवम् कृषिका साहित्य रहेगा।

हमारे कहनेका तात्पर्य यह है कि विशिष्ट वैज्ञानिक साहित्य का निर्माण प्रत्येक प्रान्तीय भाषाका ध्येय न होना चाहिए, प्रत्युत इस कार्यमें प्रत्येक प्रान्तके सहयोगसे किसी भी निश्चित राष्ट्र-भाषा का साहित्य परिपूर्ण होना चाहिये।

ऐसा होनेसे दो लाभ होंगे। एक तो यह कि वैज्ञानिक साहित्य की उन्नति बड़ी ही तीव्रता से होगी और दूसरा यह कि पारिभाषिक शब्दों की समस्या आसानीसे सुलझ जावेगी। हमारे देशमें वैज्ञानिक साहित्य को विकसित हुए ३०-३५ वर्ष हुए हैं। इस अवधि में मराठी, बंगाली, हिन्दी और उर्दू वालों ने पृथक्-पृथक् चेष्टाएँ की हैं। जनता भी इस ओर अनुदार है। फल यह हुआ है कि इतने वर्षों में कुछ शालोपयोगी पुस्तकें ही बन पायी हैं, जिनका आदर्श इण्टर मीजियेट कक्षा से अधिक नहीं है। कुछ मनोरञ्जक पुस्तकें भी तैयार हुई हैं। अन्य प्रान्तीय भाषाओं की अपेक्षा इस समय हिन्दीका वैज्ञानिक साहित्य सब से प्रौढ़ है, पर वह भी कितना कम है यह सभी जानते हैं। ३०-३५ वर्षों की निःस्वार्थ सेवा का फल यही है। परन्तु इससे तो कुछ भी नहीं होता। विज्ञान सार्वभौमिक विषय है। इतने समयमें तो संसार का वैज्ञानिक साहित्य बहुत ही बढ़ गया है और उसने इस जगत् को बिलकुल नया रंग दे दिया है। हम तो अभी उस साहित्य के निर्माण की चिन्ता में हैं जो योरोप में २०० वर्ष पहले बन चुका है। योरप की प्रगति हमारी प्रगति से लगभग सौ गुनी अधिक है। समय और गति की दृष्टि से जो इतने आगे है, उसके साथ प्रतियोगिता, समता या सहयोग करना उपहासास्पद ही है। इसका एक ही उपाय है, और वह यहकि समस्त राष्ट्र की शक्ति प्रान्तीय भाषाओं से हटकर राष्ट्रीय भाषा के वैज्ञानिक साहित्य की ओर लग जाय। भारतवर्ष विशाल देश है, यदि यह एक सूत्रमें मिलकर कार्य करे तो संसारके किसी भी देश से पिछड़ नहीं सकता।

पारिभाषिक शब्दों की समस्या भी इसी प्रकार सुलझ सकती है। इस बात पर सदा जोर दिया जाता रहा है कि संस्कृत-गर्भित शब्द पारिभाषिकशब्दों की एकता को स्थापित करा सकते हैं, पर पृथक्-पृथक् प्रान्तों में पृथक् प्रयत्न होनेके कारण ऐसा होना सम्भव नहीं हो रहा है। एक ही भाव के लिए संस्कृत

में सामान्यतया कई पर्याय मिलते हैं, और फिर उपसर्गों का व्यवहार तो स्वच्छन्दता का क्षेत्र और भी परिविस्तृत कर देता है। ऐसी अवस्था में संस्कृत-मूलकशब्द भी प्रत्येक भाषा में भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। वैज्ञानिक साहित्य ही नहीं, प्रत्युत साधारण साहित्य में भी यही बात देखी जाती है। जिस अर्थ में मराठी में कादम्बरी शब्द का व्यवहार होता है, उसके लिए हमारा शब्द उपन्यास है, दोनों ही संस्कृत शब्द हैं। मराठी में स्कूल के लिए शाला शब्द का बड़ा प्रचार है पर हमारी भाषा में जब तक शाला के स्थान में पाठशाला न कहा न जायगा तब तक स्कूल की भावना जाग्रत ही न होगी। मराठी में सम्पादक के लिए बहुधा तन्त्री शब्द और मंत्री के लिए चिटणीस शब्द का व्यवहार होता है। इस प्रकार के भेद हिन्दी और बंगला में भी बहुत पाये जाते हैं। सामान्य शब्दों की जब यह अवस्था है तब वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दों में वह और भी विकट हो जायगी।

पारिभाषिक शब्दों की भिन्नता हमारे भविष्य को अन्धकारमय करती जा रही है। भिन्न-भिन्न भाषाओं में क्या; हमारी हिन्दी में ही, कई प्रकार के पारिभाषिक शब्द विद्यमान हैं। इस समस्याका भी समाधान यही है कि केवल राष्ट्र-भाषा में ही उच्च वैज्ञा-साहित्य हो, न कि प्रत्येक प्रान्तीय भाषा में। इसका परिणाम यह होगाकि पारिभाषिक शब्दों की भिन्नता मिट जावेगी। यह तो स्वाभाविक ही है कि जिन परिभाषाओं का प्रयोग उच्च साहित्य में होगा उनको उसी रूपमें प्रान्तीय भाषा के सामान्य शालोपयोगी साहित्य में भी अपना लिया जायगा और सब प्रान्त वाले राष्ट्रीय भाषा के पारिभाषिक शब्दों के निर्माण में सहयोग देंगे।

केवल राष्ट्रीय भाषा में ही वैज्ञानिक साहित्य हो न कि प्रान्तीय भाषाओं में, इससे एक लाभ और भी होगा। राष्ट्रीय भाषा की राष्ट्रीयता भी इससे दृढ़ होगी और भाषाकी राष्ट्रीयतासे राष्ट्र भी परिपुष्ट होगा। यदि प्रत्येक प्रान्त अपनी प्रान्तीय भाषा को सर्वोत्कृष्ट बनाने का प्रयत्न करता रहा तो फिर राष्ट्र-भाषा का न कोई अर्थ है और न कोई गौरव। कौंसिलों और सभाओं में भाषण करने या राज्य के कुछ अर्जीनामों का माध्यम हो जाना ही वस्तुतः राष्ट्र-भाषा के लिए पर्याप्त नहीं है। राष्ट्र-भाषा का तो यह अर्थ है कि समस्त राष्ट्र की शक्ति उसके साहित्य-निर्माण में लगे, जिससे अन्य राष्ट्रों से उसकी प्रतियोगिता की जा सके। इस प्रकार राष्ट्रीय भाषा का वैज्ञानिक साहित्य हमारे राष्ट्रीय भावों को जाग्रत और उन्नत करने में सहायक होगा।

गत वर्षों के वैज्ञानिक साहित्य की प्रगति से यह बात स्पष्ट हो रही है कि जनता कि रुचि अभी इस ओर आकर्षित नहीं होने पायी है। जो कुछ वैज्ञानिक साहित्य अब तक उत्पन्न हुआ है वह केवल निःस्वार्थ भावसे। निःस्वार्थ परायणता से बहुत दिन काम नहीं चल सकता। मनुष्य स्वभावतः वणिक-प्रवृत्तिवाला है। जब तक उसे स्पष्ट लाभ प्रतीत नहीं होगा तब तक उसकी रुचि उधर आकर्षित न होगी। विज्ञान विषयक लेखकों की अपेक्षा पाठकों की संख्या बहुत कम है। होना इससे उलटा चाहिये था। जिनको अंग्रेजी आती है वे अंग्रेजी में वैज्ञानिक विषय पढ़ते हैं और जिनको अंग्रेजी नहीं आती, उनको विज्ञान से कोई प्रेम नहीं है, अथवा उनकी योग्यता इतनी कम है कि हिन्दी में लिखे हुए वैज्ञानिक विषय उनकी समझ में ही नहीं आते। इसका परिणाम यह होता है कि लेखक और सम्पादक को छोड़कर और कोई वैज्ञानिक लेखों का पढ़नेवाला ही नहीं होता।

यह सब क्यों है? इसका एक मात्र कारण यही है कि हम अभी अंग्रेजी भाषा के मानसिक दास हैं। यह मानसिक परतन्त्रता राष्ट्रीय परतन्त्रतासे भी अधिक भयंकर है। जब तक राष्ट्र-भाषा अंग्रेजी रहेगी, तब तक यह आशा करना कि लोग वैज्ञानिक साहित्य देशी भाषामें पढ़ने लगेंगे व्यर्थ है। यदि प्रवृत्ति हुई भी तो बहुत ही कम। अतः, इस दृष्टिसे वैज्ञानिक साहित्य की उन्नति तभी

हो सकती है जब हमारे देश में देशी राष्ट्र-भाषा का विधान हो जाय।

विज्ञान के दो अंग हैं, एक दार्शनिक और दूसरा औद्योगिक। गूढ़तम सिद्धान्तों की मीमांसा करना दार्शनिक अङ्ग है। यह विशेषज्ञों के काम की चीज़ है। कला-कौशल, शिल्प, एवम् दैनिक व्यवहार में आनेवाली आवश्यकताओं का समावेश औद्योगिक अङ्ग में है। सामान्य जनताके महत्व का यही अङ्ग है। भारत कृषि-प्रधान देश है, परन्तु इस समय यह अन्य आवश्यकताओं के लिए विदेशों के आश्रित है। हमारी राष्ट्रीय परिस्थिति भी ऐसी है कि इस समय भारत का कला-कौशल उन्नत होना बड़ा ही कठिन प्रतीत हो रहा है। वैज्ञानिक साहित्य का मूल्य इस औद्योगिक क्षेत्र में बहुत है, अतः जब तक हमारे देश में हमारी निजी उद्योगशालाएँ स्थापित न होंगी तब तक वैज्ञानिक साहित्य की उन्नति नहीं हो सकती। विदेशों में वैज्ञानिक साहित्य की खपत विश्वविद्यालयों में इतनी नहीं होती जितनी उनके कारखानों में। यह हमारा दुर्भाग्य है कि देशी राष्ट्र-भाषा के अभाव के कारण हमारे कारखानों में जिस साहित्य की माँग है वह भी अंग्रेजी का ही साहित्य है। एक तो कारखाने हैं ही कितने और जो हैं भी वहाँ हमारे देशी साहित्य का प्रचार नहीं है। यही कारण है कि देशी भाषा में लिखे गये वैज्ञानिक साहित्य को कोई पूछनेवाला ही नहीं है। राष्ट्र-स्वतन्त्र होने पर ही यह सम्भव हो सकेगा कि हमारे देश में अपने बहुतसे कारखाने और धन्धे स्थापित हों, और साथ ही साथ राष्ट्र-भाषा का निर्माण हो जिससे राष्ट्र-भाषा में लिखे गये साहित्य का अधिक प्रचार हो। यदि साहित्य की अधिक माँग होगी और बिक्री अधिक होगी तो लेखक भी अधिक उपयोगी साहित्य भेंट कर सकेंगे, और प्रकाशक भी उत्साहित होंगे।

देशी राज्यों की स्थिति भाषा की दृष्टि से अधिक आशाजनक प्रतीत हो रही है। अनेक राज्यों ने हिन्दीको राष्ट्र भाषा के नाते अपनाया है, यह भी अच्छे लक्षण हैं। यदि ये राज्य हिन्दी के वैज्ञानिक साहित्य की ओर रुचि लें तो उन्नति की कुछ आशा हो सकती है। अपने राज्य की परिस्थिति को देखते हुए इन्हें यह निश्चय करना चाहिये कि किस प्रकारके कारखाने इनके यहाँ खुल सकते हैं, और उनको प्रोत्साहन दिलाने के लिए कैसा साहित्य उत्पन्न कराया जाय।

सिद्धान्त रूपसे हिन्दी को राष्ट्र-भाषा माना ही गया है, अतः हिन्दी-भाषियों का उत्तर-दायित्व सब से अधिक है। इस समय यदि एक काम कराया जा सके तो अच्छा होगा-यद्यपि इस विषय की संगति इस लेखसे अधिक नहीं है—वह यह है कि—भारत में कुछ देशी कारखाने इस समय भी बहुत अच्छे चल रहे हैं। यदि इन कारखानों के अध्यक्षों के पास साहित्य-सम्मेलन की ओरसे डेपुटेशन जाय या लिखा पढ़ी हो तो यह हो सकता है कि कारखानेवाले अपने कारखाने से सम्बन्ध रखनेवाले विषय पर एक अच्छी प्रमाणिक औद्योगिक पुस्तक प्रकाशित करा सकें। यह पुस्तक उनके कारखानेके विज्ञापन का भी काम करेगी, अतः इससे उन्हें अधिक आर्थिक हानि न होगी। सम्पत्तिवान् अध्यक्ष थोड़ी-सी हानि सह सकते हैं। यदि ऐसा हो जाय तो कांच, शक्कर, लाख, ऊन, रुई, चमड़ा, लोहा, नमक आदि विषयों पर एक-एक अच्छी पुस्तक सस्ते में प्रकाशित हो सकती है। यह पुस्तक भारतीय परिस्थिति के अनुकुल होगी, अतः इसकी विशेषता और भी अधिक होगी। अस्तु।

इस लेख में हमने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि वैज्ञानिक साहित्य की उन्नति तब तक आशातीत नहीं हो सकती जब तक हमारे देश में राष्ट्र-भाषा का निर्माण न हो। यह बात अभी स्वप्न के गर्भ में निहित है। यदि राष्ट्र-भाषा बन जाय और समस्त राष्ट्र का उसके प्रति अनुराग हो तो इस भाषा में ही वैज्ञानिक साहित्य का विकास किया जाय और प्रान्तीय भाषाओं को

इससे मुक्त रखा जाय। इस समय तो यह विचार भी काल्पनिक आदर्श है। देखें भविष्य में क्या होनेवाला है।※

('वीणा' से उद्धृत)

वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्दोंकी समस्या

[ले० डा० निहाल करण सेठी, डी० एस-सी०]

यद्यपि हिन्दी भाषा में काव्य, नाटक, उपन्यास कथा-कहानी इत्यादि साहित्यकी दिन प्रति दिन वृद्धि हो रही है और अनुवादों के अतिरिक्त मौलिक पुस्तकों की संख्या भी अब धीरे धीरे बढ़ रही है तथापि यह दुःख का विषय है कि अभी तक इस ललित साहित्य को छोड़ कर अन्य किसी भी गंभीर विषय पर अच्छी पुस्तकों का प्रायः अभावही है। विशेष कर वैज्ञानिक साहित्य का तो अबतक प्रारम्भ ही नहीं हुआ है। प्रयाग की विज्ञान परिषद् के प्रयत्न से जो थोड़ी सी पुस्तिकायें प्रकाशित हुई हैं वे इस अभाव को और भी स्पष्ट करदेती हैं।

※यह लेख गवालियर-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के साथ होने वाली विज्ञान-परिषद में पढ़े जाने के लिए लिखा गया था। समयाभाव के कारण वहाँ नहीं पढ़ा जा सका। इस लेख में लेखक महोदय ने जो विचार प्रकट किये हैं उनसे हम पूर्णतया सहमत हैं। वास्तव में यदि सम्मेलन इस प्रश्न पर विचार करता तो अत्यन्त सुन्दर होता। परन्तु सम्मेलन को तो 'धन्यवाद देता है' 'बधाई देता है' और 'प्रार्थना करता है' ऐसे प्रस्तावों से ही समय नहीं मिलता। अच्छा तो यह हो कि सम्मेलन के अवसर पर विभिन्न भाषाओं के विद्वानों को बुलाकर महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया जाया करे। राष्ट्र-भाषा के उत्थान की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार होना अत्यन्त आवश्यक है। किसी साहित्यिक संस्था को इस ओर शीघ्र ध्यान देना चाहिये।

—सम्पादक 'वीणा'

भारतवर्ष की अन्य भाषाओं का भी यही हाल है। बंगला, मराठी और गुजराती भषाओं में भी वैज्ञानिक साहित्य की उत्पत्ति अभी तक नहीं हुई है। जहां एक ओर बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय द्विजेन्द्रलाल राय और जगन्मान्य रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उत्पत्ति हुई है वहां भौतिक विज्ञान, रसायन, वनस्पति विज्ञान आदि विषयों पर स्कूल के विद्यार्थियों के लिये भी एक छोटी सी अच्छी पुस्तक नहीं नज़र आती। कौन कह सकता है कि यह इस देश वासियों के लिए लज्जा की बात नहीं है?

इस बात के स्पष्टतया दो कारण हैं। सबसे पहला और प्रबल कारण तो हमारी शिक्षा प्रणाली है। प्रारंभ से लेकर अंत तक प्रत्येक विषय की शिक्षा अंगरेज़ी भाषा के द्वारा दी जाती है। इससे न तो देशी भाषाओं में वैज्ञानिक विषयों की पुस्तकों की मांग है और न ऐसे लेखक ही तैयार होते हैं जो अपनी मातृ भाषा में गंभीर साहित्य की रचना कर सकें। यह हर्ष की बात है कि अब कुछ वर्षों से लोगों का ध्यान हमारी शिक्षा प्रणाली में मातृभाषा को उसका उचित और स्वाभाविक स्थान देने की ओर जाने लगा है किन्तु अब भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो अंगरेज़ी भाषा ही को इस देश की मातृभाषा बनादेने के स्वप्न देखते रहते हैं। इस असंभव उद्देश्य की पूर्ति में हमारे बालकों के मानसिक विकास में कितनी अड़चन पड़ती है, इसके कारण किस प्रकार उनकी विचार शक्ति का नाश होकर वे मनुष्य के स्थान में केवल रट्टू तोते मात्र रह जाते हैं और देश की आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति के सुधार में भाग लेने के स्थान में परमुखापेक्षी बने रहने को बाध्य होते हैं इन बातों की व्याख्या का यह स्थान नहीं है। शिक्षा का माध्यम मातृभाषाही को होना चाहिये यह बात अब अधिकतर लोग मानने लगे हैं। किन्तु इस सदिच्छा को कार्य में परिणत करने के लिये वे कहते हैं कि पहिले उपयुक्त पुस्तकें तैयार होना चाहिये। लेखक और प्रकाशक तब तक ऐसी पुस्तकों में हाथ न लगावेंगे जब

तक उनकी विक्री की यथोचित आशा न हो। और मातृ-भाषा तब तक माध्यम न बनेगी जब तक यथेष्ट पुस्तकें न उपलब्ध हों। यह समस्या कब हल होगी और कैसे हल होगी यह बात विचारणीय है।

किन्तु वैज्ञानिक साहित्य के अभाव का दूसरा प्रबल कारण यह है कि लेखक यह नहीं जानते कि वे कैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करें। मैं ऐसे अनेक महानुभावों को जानता हूँ जो इस बात के उत्सुक हैं कि हिन्दी भाषा में वैज्ञानिक पुस्तक लिखें। पुस्तक लिखने से उन्हें आर्थिक लाभ की आशा न होने पर भी वे मातृभाषा की सेवा के इच्छुक हैं किन्तु ये पारिभाषिक शब्द उनके उत्साह को नष्ट कर देते हैं। लिखना प्रारम्भ करते ही उन्हें पद पद पर अटकना पड़ता है और अत्यन्त कठिनाई से एक दो पृष्ठ लिखते लिखते तो उन्हें यह कार्य प्रायः असम्भव सा प्रतीत होने लगता है। यही कारण है कि वैज्ञानिक विषयों पर पुस्तकें नहीं लिखी जातीं।

हिन्दी भाषा की उन्नति का भार जिन संस्थाओं ने अपने हाथ में लिया है यथा नागरी प्रचारिणी सभा तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन उनका यह कर्त्तव्य है कि इस कठिनाई को जितना शीघ्र हो सके दूर कर दें। खेद है कि साहित्य सम्मेलन ने अब तक इस ओर बिलकुल भी ध्यान नहीं दिया। नागरी प्रचारिणी सभा ने अवश्य ही इस आवश्यकता को आज से ३५ वर्ष पूर्व ही समझ लिया था और १८९८ में हिन्दी वैज्ञानिक कोष प्रकाशित करने का कार्य प्रारंभ भी कर दिया था।

यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि वह कोष सर्वथा निर्दोष था तथापि इसमें सन्देह नहीं कि उसके कारण लेखकों को बड़ी सहायता मिली। और न केवल हिन्दी ही में किन्तु बंगला, मराठी और गुजराती भाषाओं में भी इसी कोष के पारिभाषिक शब्द काम में आने लगे। बंगीय साहित्य परिषद ने अपनी पत्रिकामें समय समय पर जो पारिभाषिक शब्दों की तालिकायें छापीं उनमें अधिकांश शब्द उक्त वैज्ञानिक कोष ही में से लिये गये थे। मराठी भाषा में जो अंग्रेज़ी मराठी कोष प्रकाशित हुआ उसमें भी उन्हीं शब्दों ने स्थान पाया। प्रायः २० वर्ष तक इस कोष ने साहित्य की अच्छी सेवा की।

किन्तु न तो यह कोष सर्वांग परिपूर्ण था और न यह सर्व मान्य ही हो सका। वनस्पति तथा जन्तु-विज्ञान के शब्दों का तो उसमें नाम भी न था। और भौतिक, गणित आदि विषयों के भी सैकड़ों साधारण शब्द उसमें सम्मिलित होने से रह गये थे। अतः लेखकों को नये नये शब्द गढ़ना ही पड़ा। फल यह हुआ कि भिन्न भिन्न लेखकों के द्वारा एक ही भाव के द्योतक भिन्न भिन्न शब्दों का व्यवहार होने लगा, क्योंकि इन शब्दों के बनाने के कोई सिद्धान्त अथवा नियम निश्चित न हो पाये।

इस सम्बंध में प्रयाग की विज्ञान परिषद का भी नाम श्रद्धा के साथ लेने योग्य है। इसके मासिक पत्र 'विज्ञान' के लिए लेख लिखने के प्रयत्न में और इस संस्था द्वारा प्रकाशित पुस्तकावली में सैकड़ों नये शब्द गढ़े गये। किन्तु यह कार्य भी बिना किसी सिद्धान्त या नियम स्थिर किये ही चलता रहा। हां पिछले कुछ वर्षों से इसके संचालकों ने इस शब्द-निर्माण को कुछ हद तक नियमित करने का प्रयत्न किया है। इस ही का परिणाम है कि कम से कम रसायन-विज्ञान सम्बन्धी शब्दोंका व्यवहार 'विज्ञान' में अब कुछ निश्चित नियमों के अनुसार होता है। श्रीयुत सत्यप्रकाश जी की रासायनिक शब्दावली इसी प्रयत्न का परिणाम है।

जहां तक मैं समझ सका हूँ विज्ञान परिषद के मुख्य सिद्धान्त इस सम्बंध में ये हैं कि (१) विदेशी भाषा का कोई भी शब्द ज्यों का त्यों न लिया जाय (२) अंग्रेजी शब्द का जो शाब्दिक अर्थ है (पारिभाषिक नहीं) वही उसके हिन्दी रूपान्तर का होना चाहिए। Chlorine के लिए हरिण hydrogen के लिये उदजन। (३) जहां यह अर्थकी समता संभव न हो वहां अंग्रेज़ी शब्द की ध्वनि से मिलते-जुलते और संस्कृत अथवा हिन्दी का सा मालूम देने वाले शब्द का व्यवहार करना चाहिए। इस सिद्धान्त का

नाम हम विदेशी बहिष्कार सिद्धान्त रख सकते हैं।

दूसरी ओर सरकारी शिक्षा-विभाग का प्रयत्न यह होता रहा है कि अंग्रेजी भाषा के समस्त पारिभाषिक शब्द ज्यों के त्यों हिन्दी साहित्य में ले लिये जावें। इस इच्छा को वे कितनी दूर तक ले जाना चाहते हैं। यह इस बात से प्रकट हो जाता है कि साधारण अंक-गणित में भी वे संख्या-लेखन के लिये रोमन-लिपि का व्यवहार प्रचलित कर देने के पक्षपाती हैं। इसमें सन्देह नहीं इस रीति से एक तो हिन्दी उर्दू का झगड़ा बच जाता है, और दूसरे नये पारिभाषिक शब्दों की रचना का अत्यन्त कठिन कार्य अनावश्यक हो जाता है। साधारण दृष्टि से ऐसा भी जान पड़ता है कि देशी भाषाओं में वैज्ञानिक पुस्तकों का लिखना इस उपाय से अत्यन्त सरल हो सकता है। किन्तु मैं अपने निज के अनुभव से कह सकता हूँ कि इस प्रकार की सर्वथा विदेशी पारिभाषिक शब्दावली के द्वारा हिन्दी भाषा में पुस्तकें लिखना सहज नहीं है। विदेशी शब्दों के साथ साथ विदेशी व्याकरण भी यदि हम पचा-सकें तब तो कदाचित् कुछ सुविधा हो जाय। किन्तु तब उन वैज्ञानिक पुस्तकों को हिन्दी भाषाकी पुस्तकें कहना दुस्साहस मात्र होगा। कई सार्वजनिक परीक्षाओं में आज कल (विशेष कर हाईस्कूल की परीक्षाओं में) प्रश्नों का उत्तर यदि इच्छा हो तो विद्यार्थी मातृभाषा में लिख सकता है। मुझे भी कुछ ऐसे उत्तरों को देखने का अवसर मिला है। इनमें अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। किन्तु उन उत्तरों की भाषा को पढ़कर वस्तुतः यह समझना कठिन है कि यह किस देश की भाषा है। जहां अंग्रेजी पलटनें रहती हैं, ऐसी छावनियों में साधारण दूकानदार धोबी, नाई और खानसामें जैसी अद्भुत भाषा बोलते हैं उसी की याद आ जाती हैं। क्या यही भाषा हमारे साहित्य की भाषा हो सकती है ? क्या इसका जन्मदाता यह स्वदेशी-बहिष्कार सिद्धान्त हमारी पारिभाषिक समस्या को हल कर सकता है ?

इन दोनों विपक्षी सिद्धान्तों के मध्य में एक और सिद्धान्त के लिए स्थान है। इसमें बहिष्कार के स्थान में सम्मेलन को आदरणीय स्थान दिया गया है। इसमें न तो हिन्दी का व्याकरण दूषित होता है और न अंगरेजी शब्दों को सर्वथा त्याज्य समझने का हठ है। इस सिद्धान्तका मुख्य प्रतिपादक काशी हिन्दु-विश्वविद्यालय का हिन्दी-पब्लिकेशन बोर्ड है। इस बोर्ड के सदस्य उक्त विश्व-विद्यालय के वे अध्यापक हैं जो स्वयं भिन्नभिन्न विषयों पर हिन्दी-भाषा में पुस्तकें लिख चुके हैं या लिख रहे हैं। इनके मत को काशी की नागरी प्रचारिणी सभा ने भी स्वीकार किया है और यह इस स्वीकृतिका ही परिणाम है कि नागरी प्रचारिणी सभा के वैज्ञानिक कोष के संशोधन तथा संवर्धन का भार विश्व-विद्यालय के बोर्ड के सदस्यों को दिया गया था। उक्त कोष के नवीन संस्करण के जितने भाग प्रकाशित हो चुके हैं उनमें उस मध्यवर्त्ती सिद्धान्त का प्रत्यक्ष उपयोग दिखाई पड़ता है।

संक्षेप में इस सिद्धान्त का रूप यह है:—

(१) जितने नाम-वाचक शब्द ऐसे हैं कि जिनका प्रयोग न केवल अंगरेजी भाषा में किन्तु संसार की अन्य भाषाओंमें भी होता है वे ज्यों के त्यों ले लिये जावें। यथा रासायनिक तत्वोंके नाम, इलैक्ट्रन, प्रोटन आदि। आधुनिक भौतिक विज्ञान के शब्द, मोटर, डायनमो इत्यादि यंत्रों के नाम।

(२) रासायनिक तत्वों के सांकेतिक नाम जिनसे रासायनिक सूत्रों तथा समीकरणों की रचना होती है वे भी ज्यों के त्यों ले लिये जावें।

(३) यौगिक द्रव्यों के रासायनिक नाम यथा कार्बनेट, नाइट्रेट आदि का भी रूपान्तर न किया जाय।

(४) इनके अतिरिक्त जितने ऐसे शब्द हैं जिनसे किसी अर्थ का बोध होता हैं उन सब के लिये हिन्दी के शब्द बनाये जायँ किन्तु वे सदा अर्थ के द्योतक हों। अँग्रेजी शब्द के उच्चारण का परिवर्तन मात्र करके सन्तोष न किया जाय।

इसके अतिरिक्त दो और भी नियम इसमें सम्मि-

लित हैं। एक तो यह कि यद्यपि यह सर्वथा वांछनीय है कि पारिभाषिक शब्द समस्त भारतवर्ष में एकही होने चाहिये और हिन्दी तथा उर्दू का भेद भी न रहना चाहिये तथापि इस समय यह भेद मिटाना असम्भव सा प्रतीत होता है। उसमानिया युनिवर्सिटी ने जो पारिभाषिक शब्द बनाये हैं वे भारतके किसी भी प्रान्त की भाषा को ग्राह्य हो सकेंगे यह नितान्त असम्भव नहीं तो कम से कम अभी विश्वाससे परे की बात है। अतः इस समय हिन्दी तथा उर्दू का भेद मिटाने का प्रयत्न व्यर्थ है। हिन्दुस्थानी अकैडमी इस दिशामें कुछ प्रयत्न करना चाहती है। हम इस प्रयत्न को सम्मान की दृष्टिसे देखेंगे किन्तु जब तक यह सफल न हो ले तब तक हाथ पर हाथ धर कर नहीं बैठे रहसकते। अपने साहित्य की यथोचित वृद्धि को रोक कर चुप नहीं रह सकते।

इसके अतिरिक्त हिन्दी का बंगला मराठी गुजराती आदि अन्य देशी भाषाओंसे अत्यन्त निकट का संबन्ध है। यद्यपि यह भाषा-भेद मिटना कठिन ही नहीं कदाचित् असम्भव भी हो किन्तु वैज्ञानिक परिभाषाके शब्द सब भाषाओंमें अवश्य ही एक हो सकते हैं। यह बात अब तक के प्रकाशित साहित्यसे भली भांति प्रकट है। अतः हिन्दू-विश्वविद्यालयके बोर्डने यह भी नियम अपने सामने रखा है कि प्रत्येक शब्द ऐसा हो जो भारत की अन्य भाषाओंमे भी सम्मिलित हो सके। संस्कृत भाषा इन सब आधुनिक भाषाओंके मूलमें इस प्रकार अवस्थित है कि यह कार्य अधिक दुष्कर नहीं।

इन तीनों मतोंमें कौन अच्छा है और कौन नहीं यह प्रतिपादन करना इस लेख का उद्देश्य नहीं है। लेखक की मंशा तो केवल यह है कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन का ध्यान इस ओर आकर्षित करे। अब समय आगया है कि केवल वाद-विवाद को छोड़ कर कुछ ठोस निश्चय कर लिया जाय। यह अनिवार्य है कि प्रत्येक मतमें कुछ दोष भी हो और कुछ गुण भी हों। सर्वथा निर्दोष मत ऐसी बातमें हो ही नहीं सकता। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या हिन्दी संसारमें यह अनिश्चितता चलती ही रहेगी? क्या वैज्ञानिक साहित्य ऐसा ही प्रकाशित होता रहेगा कि भिन्न भिन्न पुस्तकों की भाषा समझनेके लिये भिन्न भिन्न कोष पासमें रख कर ही पाठकों को कुछ अर्थ समझने की चेष्टा करना पड़े? और लेखकों के मार्ग में क्या यह कठिनाई बराबर बनी ही रहेगी?

मेरा अनुरोध है कि अब कुछ न कुछ उपाय ऐसा करना चाहिये कि ये सब भिन्न भिन्न मतोंके प्रतिपादक किसी प्रकार एकत्रित हो कर एकमत निर्णय करलें। मिथ्या आग्रह छोड़ कर वह मार्ग ग्रहण करें कि जिस के द्वारा हिन्दी भाषा का यह अपूर्ण अंग अत्यन्त शीघ्रता पूर्वक हृष्ट-पुष्ट हो सके। नागरी प्रचारिणी सभा भीऐसा एक सम्मेलन करना चाहती थी कि जिसमें हिन्दीके अतिरिक्त बंगला, मराठी, गुजराती और दक्षिण की भाषाओंके प्रतिनिधि भी उपस्थित हों और सब मिल कर भारतवर्ष भरके लिये एक समुचित मार्ग निश्चित करलें। हिन्दी साहित्य सम्मेलन को भी इस कार्यमें केवल हाथही न बटाना चाहिये किन्तु अगुआ बन कर इस समस्या को हल करही डालना चाहिये। यह आशा की जाती है कि राजनैतिक परिवर्तनके साथ साथ शिक्षा-प्रणालीमें भी मातृ-भाषा को उसका उचित स्थान प्राप्त होगा। उस समयके लिये अभीसे तैयार रहना अत्यन्त आवश्यक है। सम्मेलन को इसे कुछ समयके लिये तो अपना मुख्य कार्य बना लेने की अत्यन्त आवश्यकता है। और इसके लिये तुरन्त एक कमेटी की स्थापना हो जानी चाहिये।

वैज्ञानिक हरिजन रामदीन

[ले० श्री रामदास गौड़ एम० ए०]

रामदीनसे मुझे तब परिचय हुआ जब मैं १९०२ ई० की जुलाईमें प्रयागके म्योर सेंट्रल कालिजमें पढ़ने लगा था। वह रसायन प्रयोगशाला-का मुख्य सहायक था। उस समय उसकी उम्र लगभग

४२ बरसके होगी। रसायन विज्ञान पर व्याख्यान देनेको जिस घंटेमें प्रोफेसर आनेको होता उससे पहले वाले घंटेमें रामदीन प्रयोग दिखानेके सारे उपकरणोंको प्रस्तुत करके सभीको जोड़ कर ऐसा तय्यार कर रखता कि रसायनकी पोथियोंमें दिये हुए चित्रसे आचूड़ान्त मिल जाता था। प्रोफ़सरको केवल तमाशा दिखाना बाकी रह जाता था। कभी कभी प्रोफेसरकी आज्ञासे उस तमाशेको रामदीन ही दिखा देता था। रामदीन उस समय बीस बरसका पुराना नौकर था। उसके नीचे चार पाँच और सहायक थे जो उतने पुराने न थे। उनमेंसे दो और हरिजन थे। शेष हरिजन न थे। और हरिजनों पर रामदीन का प्रभाव पड़ा हुआ था।

रामदीनके माता पिता मेहतर जातिके थे। परन्तु रामदीन ने बाल्यावस्थासे कोई गंदा काम नहीं किया था। वह रसायन शालामें अपनी युवावस्थामें ही नौकर हुआ और आज बहत्तर बरस की अवस्थामें भी वहीं नौकरी कर रहा है। म्योर कालिजका आरंभ ही उसकी नौकरीका आरंभ था। म्योर कालिज समाप्त हो गया। उसकी रसायनशाला प्रयाग विश्वविद्यालयके अधिकारमें आ गयी। परन्तु रामदीन अभी जीवित है और उसकी रसायनशालामें ईश्वरेच्छा से अभी मौजूद है। अनेक प्रोफेसर आये और चले गये। नौकरीकी और मर गये। कई छात्रोंने रामदीन के सामने ही जन्म लिया, पढ़ा, प्रोफेसर हुए और मर भी गये। इनमें कई ब्राह्मण थे, और कई कायस्थ थे। सभी जानते थे कि रामदीन कौन जातिका आदमी है, परन्तु किसीने उससे कभी ऐसा व्यवहार न किया जैसा कि उन दिनों उसकी जातिके लोगोंसे साधारणतया किया जाता था। यदि रामदीनको छूनेसे परहेज किया जाता तो वह एक दिन भी रसायनशालामें काम न कर सकता। जब मैं स्वयं छात्र था तब मैं इसका कारण नहीं समझता था। यद्यपि सबकी तरह उसे छूनेमें, सबकी देखा देखी मुझे भी कोई उज्र न था। मैंने अपने मनको समझा रखा था कि रामदीन बोतलों शीशियों और उपकरणोंकी सफ़ाई करता है, उपकरणों को सजाता है, काँचकी चीज़ोंकी फूँक कर मरम्मत करता है, वह कोई गंदाकाम तो करता नहीं कि परहेज किया जाय। अस्तु।

रामदीन के ऊंचे भाव को मैंने पीछे जाना जब मैं वहीं पर रसायन-शाला में नौकरी करने लगा।

सन १९०७ की बात है। मैं वहां अध्यापन कार्य पर नियुक्त था। परीक्षाके समय की घटना है। बी०-एस-सी० की व्यवहारिक रसायन की परीक्षा हमारी ही रसायन शालामें हो रही थी। सबेरे से बारह बजे तक परीक्षा हुई। फिर मेजोंकी सफाई हुई। तड़के पौ फटेसे लगे लगे हम लोगों को दो बजे दिन को कहीं दम लेने की फ़ुरसत मिली। साधारण सहायकों और अध्यापकोंको मिला कर हम लोग लगभग दस आदमी के थे। एक आदमी बाज़ार भेजा गया। ताजी पूरियाँ निकलवा कर लाया। इस बीच दूसरे दिन के लिए धीरे धीरे मेजें सजाई जाने लगी थीं। तीन बजे हम पूरियाँ बाँटने को बैठे। रामदीन की पहले बारी थी। रामदीन है कहाँ? लोगों ने कहा "वह तो अभी अभी गंगा नहाने गया।" गंगा? अरे! क्या दारागंज गया?" "जी हां।" "तब तो दो घंटे में लौटेगा" "इसमें क्या शक।"

"यह गंगा जी का क्या वक्त था। खा लेता। फिर छुट्टी पाकर दिन छिपे जाता।" "खाता कैसे? वह बिना गंगा नहाये पानी तक नहीं पीता।" सुनकर मेरे मुँह से बरबस निकला "धन्य है।" और मन में लज्जा हुई कि रामदीन मुझसे नेम धर्म में लाख दर्जे अच्छा है। सोचा कि तुम भी रामदीनके आनेके पहले मत खाओ। औरों को पूरियां परोस दीं और शेष रख दीं और अपने काममें लग गया। पांच बजे रामदीन लौटा तो उसने खाना खाया। मैंने पूछा "रामदीन यह नेम कितने दिनों से है"। बोला "सरकार, बीसों बरस से है। आज तो पांच ही बजे हैं। कभी कभी रात हो हो गई है। और कुछ बन नहीं पड़ता तो इतना ही कर रखा है। फिर इम्तिहानके दिनोंमें ही चार पांच दिनका यह कष्ट है, नहीं तो नित्य तो दिन चढ़ते घर लौट आता हूँ। चार पांच दिन कष्ट ही सही, व्रत

क्यों तोड़ूँ। रामदीन बूढ़ा हो गया है पर व्रत उसका जारी है। रामदीन अच्छे से अच्छे प्रोफेसर की तरह प्रयोग कर लेने में कुशल है। उसका अनुभव और कौशल दोनों देखनेकी चीजें हैं। वह बहुत थोड़ी नागरी जानता है। अब तो आंखों से कम दीखता है बिल्कुल बूढ़ा है।परन्तु युवावस्था में जब वह नौकर हुआ, यदि रसायन की शिक्षा हिन्दी में देने की प्रथा होती तो यह बहुत संभव था कि रामदीन कमसे कम अध्यापक तो हो ही गया होता, यदि उसके अच्छे अन्वेषक हो जाने की बात हम दूर की कल्पना समझें। हम इतिहास की इस बात को जानते हैं कि सर हम्फ्री डेवी का सहायक फैरेडे जो बोतल धोया करता था विज्ञान का कैसा नामी विद्वान् और अन्वेषक हो गया है।

हरिजन रामदीन हिन्दू महल्लेमें रहता आया है। उसके आचरणसे पास पड़ोसके हिन्दू उससे परहेज़ नहीं करते हैं। उसको वह सभी अधिकार सदा प्राप्त रहे हैं जो वर्णाश्रमी हिन्दू को प्राप्त हैं। वह शराब आदि नशोंसे परहेज़ करता है, मुरदार नहीं खाता, राम राम जपता है, गंगा-स्नान करता है। उसकी साधारण आदतें सफ़ाई की हैं। अत्यन्त विनम्र है, सच्चा है, ईमानदार है, बे उज्र काम करने वाला है।

मेरा ऐसा ख्याल है कि उत्तर भारतमें अनेक हरिजन जो चपरासी आदि का काम करते हैं, शराब, गांजा, भङ्ग आदि मादक द्रव्योंसे परहेज़ करते हैं और सफ़ाईके साथ अन्य वर्णाश्रमियोंके महल्लोंमें रहते हैं, मुद्दतसे अछूत नहीं माने जाते। इस लिये हरिजनों की बस्ती का अलग होना भी उनके अछूत बनाने का बहुत कुछ कारण हुआ है। साथ ही बस्तियाँ अलग उनके पेशे की गंदगीके कारण हुईं हैं। चमरौटी अलग इस लिये रखी जाती है कि चमड़ा सिझाने का काम बड़ा गंदा और अस्वास्थ्य कर है। परन्तु होना यह चाहिए कि चमड़ा सिझाने का काम गाँवसे दूर हो। काम करने वालों का घर गाँवसे अलग बस्तीमें न हो। उन्हें गाँवोंमें ही रहना चाहिये।

यद्यपि अछूत वाला प्रश्न समाजसे संबन्ध रखता है, तथापि यह लेख विज्ञानके ही सेवकोंसे संबन्ध रखता है, इसीलिये इसके विज्ञानमें प्रकाशित होनेमें अनौचित्य नहीं है।

जीवन और चिकित्सा में सूर्य्य प्रकाश की महत्ता

[ले० श्री आत्माराम एम० एस०-सी रसायन-विभाग प्रयाग विश्वविद्यालय]

मनुष्य जब किसी घटना को देखता है तो स्वभावतः ही उसकी रुचि उस घटनाका कारण ज्ञात करनेकी ओर आकर्षित हो जाती है। इसी प्रकार रोगों का कारण ज्ञात करना भी प्राचीन समय से आज तक मनुष्य बुद्धि का पारस पत्थर रहा है। पैसट्यूर और लिसटर के प्रसिद्ध अनुसन्धानों से यह ज्ञात हो गया था कि प्रत्येक रोग के कीटाणु होते हैं जिन के शरीर में प्रवेश करने या छू जाने से भिन्न भिन्न रोग लग जाया करते हैं परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में रोगों के कीटाणु सिद्धान्त पर भी कुछ वैज्ञानिकों को शंका होने लगी और अन्त में यह सिद्ध ही हो गया कि प्रत्येक रोग केवल कीटाणु से ही नहीं बल्कि और कुछ विचित्र कारणों से भी उत्पन्न हो सकता है।

विटेमिन पर जो कार्य्य हुआ है उस से यह सिद्ध हो गया है कि कुछ रोग खाने में केवल विटेमिन की कमी से ही हो जाते हैं और इस प्रकार के कई रोगों के समूह को "न्यूनता रोग" का नाम दिया गया है। साथ २ यह भी विदित हुआ कि ऐसी बहुत सी बीमारियां रोगी को केवल सूर्य्य प्रकाश या किसी भी प्रकाश में रखने से दूर हो जाती हैं। क्या सूर्य्य प्रकाश से कीटाणविक रोग भी दूर हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर फ़िनसेन के अनुसन्धानों से मिला।

ऐसे रोगों को केवल सूर्य्य प्रकाश से दूर करने वाला पहिला व्यक्ति फ़िनसेन ही था और इसी कारण उस को "प्रकाश चिकित्सा" का स्थापक माना जाता है।

१८९३ में फ़िनसेन ने अपना महत्त्व पूर्ण कार्य्य आरम्भ किया और उस में बहुत सफलता प्राप्त की और सब से बड़ी सफलता जिसको बहुत से मनुष्य ठीक न मानेंगे क्षयरोग को केवल सूर्य्य प्रकाश से दूर करने की थी। १२०० रोगियों में से ११०० रोगी केवल इस अद्भुत औषधी से ही अच्छे हुये। १९०३ ई० में प्रकाश चिकित्सा में एक बड़ा आन्दोलन हुआ जब कि डा० रोलयर ने जिस को वर्त्तमान समय के सूर्य्य पूजकों का महर्षि कहते हैं लीसिन (स्वीटज़रलैंड) में एक बड़ा औषधालय खोला जिसमें क्षयरोग की केवल प्रकाश द्वारा ही चिकित्सा की जाती थी।

प्राचीन समय में आर्य्य लोग सूर्य्य पूजा करते थे। इस का यह आशय नहीं कि अन्ध विश्वास से ही अपना समय बिताते थे, नहीं। वह अवश्य जानते थे कि सूर्य्य प्रकाश से हमारे जीवन को कितना लाभ है। फ़ारिस के लोग भी प्राचीन समय से सूर्य्य पूजक प्रसिद्ध हैं। फ़ारसी में सूर्य्य को "मिथरा" कहते हैं मिश्री में "रा" यूनानी में "हीलया" और रोमन में "साल" हीलयोपालिस (यूनान) का प्रसिद्ध मन्दिर यूनानियों की मूर्त्ति पूजा का मुख्य स्थान था।

डा० रोलयर और फ़िनसेन ने अपनी सफलता का मुख्य श्रेय पराकासनी किरणों को दिया। इस कारण ऐल्प्स पर्वत पर प्रकाश चिकित्सा में अधिक सफलता हुई क्योंकि पर्वतों की बरफ़ ग्रीष्म किरणों को सोख लेती हैं जो कि इस चिकित्सा में हानिकारक हैं और पराकासनी किरणों को परावर्त्तन कर देती हैं। परन्तु यह बिल्कुल आवश्यक नहीं कि पराकासनी किरणों से ही यह चिकित्सा की जाय क्योंकि सूर्य्य प्रकाश में भी काफ़ी पराकासनी किरणें होती हैं। क्योंकि पश्चिमी देशों में सूर्य्य प्रकाश कम होता है इस लिये प्रकाश चिकित्सा में दो प्रकार के पराकासनी लैम्प प्रयोग किये जाते हैं। एक तो वायु से ठंडा किया जाता है जिसे 'सूर्य्य लैम्प' कहते हैं और दूसरा जल से ठंडा किया जाता है।

प्रकाश किस प्रकार रोग दूर करता है ?

यद्यपि प्रकाश द्वारा बहुत से रोग अच्छे किये जा चुके हैं परन्तु किस प्रकार प्रकाश से रोग दूर होते हैं इस बात को बहुत ही कम वैज्ञानिकों ने जानने की चेष्टा की है। विशेष कर यदि कुछ कार्य्य वैज्ञानिक दृष्टि से हुआ है तो वह प्रयाग विश्व विद्यालय की रसायन शाला में आचार्य्य नीलरत्न धर की अध्यक्षता में हुआ है। पालित और धर ने पिछले कुछ वर्षों में खाद्य पदार्थों के ओषदीकरण से यह दिखा दिया है कि प्रकाश का मुख्य कार्य्य शरीर में खाद्य पदार्थों के पाचन को बढ़ाना है। इस प्रकार रोगी का चित्त ठीक हो जाता और रोग से भी छुटकारा मिल जाता है। उपचर्म के भीतर से काफ़ी प्रकाश निकल सकता है। इस प्रकार जो प्रकाश शरीर के भीतर जाता है इस से शरीरिक कोष्ठ शक्तिशाली हो जाते हैं और उन के शक्तिशाली हो जाने से खाद्य पदार्थ का जिस में विशेषकर कर्बोदेत, प्रत्यामिन, मज्जा होते हैं ओषदीकरण बढ़ जाता है। जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है बहुत से रोगों के कीटाणु नहीं होते परन्तु वह केवल मनुष्य की पाचन शक्ति में विघ्न पड़ जाने से होते हैं इस लिये ऐसे रोग प्रकाश द्वारा अवश्य ही दूर हो जाने चाहियें। और ऐसा बहुधा देखा गया है। जैसे मधुमेह, रिकेटस्, बेरी बेरी इत्यादि।

अब पाठकों यह उत्कंठा होगी कि किस प्रकार प्रकाश से मनुष्य की पाचन शक्ति ठीक हो जाती है। इस मत के समर्थन को भले प्रकार जानने के लिये कुछ प्रयोगिक प्रमाण भी हैं जिनसे कम से कम इन सब प्रक्रियाओं की गूढ़ता पर कुछ झलक पड़ती है।

धर और सान्याल ने १९२५ में यह दिखा दिया है कि दारील मद्य ज्वलील मद्य मधुरिन इत्यादि का ओषदीकरण प्रकाश में साधारण तापक्रम पर ही केवल वायु गमन से बड़ी सुगमता से हो जाता है। पालित और धर ने १९३० में यह

सिद्ध कर दिया कि भिन्न भिन्न कर्बोदेत, मधुजन मूत्रिया, मधुन, क-रेशमिन, अश्वमूत्रिकाम्ल, सैंधक मूत्रेत० खजूरेत, जैतूनेत, काष्ठेत, इमलेत, लेसिथिन, दुग्ध, कोलेस्टेराल, अण्डा का श्वेत व पीला भाग इत्यादि सब साधारण तापक्रम पर केवल उनके घोलों में सूर्य्यप्रकाश की उपस्थिति में वायुप्रवाहित करने पर ओषदीकृत हो जाते हैं। उनके कुछ प्रयोगिक फल नीचे दिये जाते हैं।

पदार्थ	पदार्थ का भार जो कि प्रयोग में लाया गया	भार जिसका कि ओषदीकरण हो गया	ओषदीकरण की प्रति शत
गोंदोज	०'१००० ग्राम	०'००७५ ग्राम	७'५ प्रति शत
दुग्धस्योज	०'०८६१ "	०'००६७ "	७'८ " "
इक्षु शर्करा	०'९६४ "	०'००९८ "	१०'२ " "
द्राक्षोज	०'९६२ "	०'०१४४ "	१४'९ " "
नशास्ता	०'१०२७ "	०'०३९९ "	३८८ " "
मधुजन	०'०९८७ "	०'०१९५ "	१९'७ " "
मूत्रिया	०'२००० "	०'०१७५ "	८७ " "
क-रेशमिन	०'०९९७ "	०'०३६५ "	३६ ६ " "
सैंधक मूत्रेत्	० ०४२० "	०'००८२ "	१९'६ " "
सैंधक इमलेत	०'०९८९ "	०.०३१० "	३१'८ " "

साथ ही साथ यह भी दिखाया गया है कि प्रकाश-उत्तेजक वस्तुयें जैसे दस्त-ओषिद, पिनाक-नोषेत, लोह-हरिद इत्यादि इन पदार्थों के ओषिदीकरण में वृद्धि कर देते हैं इन प्रयोगों से यह भली भाँति जान पड़ता है कि प्रकाश हमारे खाद्य पदार्थों को ओषदीकरणमें वृद्धि कर देता है, मनुष्य जीवनकी रसायनिक परिभाषा केवल खाद्य पदार्थों का ओषदीकरण है। इस कारण ऐसे रोग जो केवल पाचन क्रिया में विघ्न पड़ जानेसे उत्पन्न हो जाते हैं सूर्य्य प्रकाशके प्रभावके नष्ट हो जाने चाहिये। अब पाठकों को अवश्य विदित हो गया होगा कि सूर्य्य प्रकाश हमारे दैनिक जीवन में कितनी प्रधानता रखता है।

यह तो केवल ऐसे प्रयोग रहे जिनमें कि प्रत्येक वस्तु शुद्ध दशा में ली गई, परन्तु हमारे भोजन में केवल ऐसी वस्तुयें मिली हुई ही नहीं बल्कि गूढ़ दशा में होती हैं। पालित और धरने इस समस्या को सुलझाने में भी काफी महत्त्व-पूर्ण कार्य किया है। अर्थात् कर्बोदेत के साथ मज्जा और प्रत्यामिन मिलाकर उनका ओषदीकरण ठीक उसी प्रकार जैसे कि उनका पृथक् निकाला है किया है। ऐसे प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि प्रत्येक ओषदीकरण दूसरेकी उपस्थितिसे कम हो जाता है। यह बात बड़े महत्त्वकी है। यदि ऐसा न होता तो केवल एक पदार्थका ओषदीकरण अति शीघ्र हो जाया करता और दूसरी वस्तु बिना ओषदीकृत हुये ही मलके साथ केवल बाहर ही न निकल जाती बल्कि शरीर में भयंकर रोगों का कारण हो जाता। इसके समर्थन में निम्नलिखित प्रयोग लाभदायक है।

चक्रवर्ती और धर ने मज्जा इत्यादि पदार्थों के शीघ्र ओषदीकरण में सिरकोन पदार्थों की विद्यमानता बतलाई है। यह सिरकोन पदार्थ बड़े बड़े भयंकर रोग उत्पन्न कर देते हैं। यदि किसी मनुष्य के मूत्र में सिरकोन अथवा सिरकोसिरकिकाम्ल निकले तो उसको सिरकोमूत्रिया (acetonuria) कहते हैं। यह रोग अधिक मज्जा पदार्थ खाने से हो जाता है जैसे घी इत्यादि। इसलिये किसी मनुष्य को आवश्यकता से अधिक घी न खाना चाहिये। यह केवल बेकार ही नहीं निकल जाता परन्तु रोग का कारण होता है। इन सब प्रयोगों से विदित हुआ कि भोजन में तीनों पदार्थ अर्थात् कर्बोदेत, प्रत्यामिन

और मज्जा समानता में होने चाहिये किसी एक के अधिक होने से रोग हो जाते हैं।

धर महोदय का कहना है कि रिकेटस् (हड्डी का चूर्ण होना) जो अकसर बच्चों को हुआ करती है। मज्जा पदार्थों की पाचन क्रिया में विघ्न पड़ जाने से हो जाती है। जब कि हमारे भोजन में विटेमिन अ, ब, स की न्यूनता होती है तो मज्जा भले प्रकार कर्बन द्विओषिद और जलमें ओषदीकृत नहींहोती और ऐसा न होने से बहुत से कार्बनिक अम्ल बन जाते हैं। यह वैद्य जानता है कि रिकेटस् होने पर रक्त में अम्ल उत्पन्न हो जाते हैं, जिसके कारण खटिक कर्बनेत और स्फुरेत (जो हड्डी के मुख्य पदार्थ हैं) रक्त में अम्लों के कारण घुले रहते हैं और हड्डी पर जमने नहीं पाते। इसलिए यदि किसी प्रकार मज्जा से अम्लों का उत्पन्न होना बन्द हो जाये तो हड्डियों पर खटिक क्षार भले प्रकार जमने लगे। यह बता चुके हैं कि सूर्य्य प्रकाश से मज्जा का ओषदीकरण बढ़ जाता है और कार्बनिकाम्ल नहीं बनने पाते बल्कि कर्बन द्विओषिद और जल ही बनते हैं। इस लिए सूर्य्य प्रकाश से रिकेटस की चिकित्सा हो सकती है।

यह सब जानते हैं कि मधुमेह में रोगी के मूत्र में शकर अर्थात् द्राक्षोज इत्यादि आने लगती हैं। यह कर्बोदेत पदार्थों के असाधारण पाचनसे उत्पन्न हो जाती है अथवा द्राक्षोज जो कि एक कर्बोदेत है बिना पचे हुए ही मूत्र के साथ बाहर निकल जाता है। परन्तु पाठकों को प्रयोगिक फलों कोजो पहले दिये जा चुके हैं देखने से बिदित होगा कि सूर्य प्रकाश से द्राक्षोज का ओषदीकरण बढ़ जाता है इसलिए यदि मधुमेह के रोगी को सूर्य्य प्रकाश में रक्खा जाये तो वह शीघ्र ही अच्छा हो जायगा। क्योंकि उपचर्म में काफ़ी सूर्य्य प्रकाश घुस कर रक्त पर पड़ता है और इसकी सहायता से भीतर के पदार्थों के ओषदीकरण में वृद्धि हो सकती है।

प्रयोगिक फलों से एक बात और विदित होती है। वह यह कि प्रकाश से मज्जा के ओषदीकरण में कर्बोदेत और प्रत्यामिन के ओषदीकरण की अपेक्षा वृद्धि होती है इसलिए प्रकाशसे रिकेटस् के रोगी को मधुमेह और गठिया (जो प्रत्यामिन के असाधारण पाचन से होती है) के रोगी की अपेक्षा अधिक लाभ होगा।

भारतवर्ष जैसे निर्धन देश में जहाँ पर दुग्ध इत्यादि पदार्थों की जो मनुष्य भोजन में अवश्य होने चाहिये न्यूनता है। केवल इतना ही नहीं बहुत से मनुष्यों को तो मानुष जन्म में दुग्ध के दर्शन भी नहीं हो पाते। खाना तो दूर रहा। मधुमेह, गठिया, पेलाग्रा, रिकेटस् जैसे रोग भारतवर्ष में अधिक संख्या में हुआ करते हैं क्योंकि भारतवासियों का खाना गिरे से गिरे दर्जे का होता है। सूखी रोटी मिल जाना बड़ा कल्याण है परन्तु आश्चर्य की बात है कि ऐसे रोग योरोप के देशों में अधिक पाये जाते हैं। कारण है सूर्य प्रकाश की कमी। धन्य है ईश्वर परमात्मा को जिसने भारतवर्ष में सूर्य प्रकाश का मनमाना भण्डार खोल दिया वरना भारतवासी तो १० वर्ष की अवस्था को भी न पहुँचा करते। हम लोग सर्वदा सूर्य प्रकाश में रहते हैं और इसके कारण हमारा बुरा खाना भी भली भाँति पच जाता है। इस लिये हमें तनिक भी खेद नहीं कि भारतवासी योरोपवासियों की अपेक्षा काले हैं (क्योंकि सूर्य प्रकाश की पराकासनी किरणें चर्म को काला कर देती हैं) क्योंकि सूर्य देवता की असीम कृपा से हम लोग अपनी शरीर को रद्दी खाने से भी पुष्ट बना सकते हैं। इस लेख के पढ़ने के पाठकों को बिदित हो जायगा कि सूर्य्य प्रकाश का हमारे (मुख्य रूप से भारतवासियों के) जीवन में कितना उच्च स्थान है और कोई संदेह नहीं कि प्राचीन आर्य्य जाति के लोग सूर्य्य को इसी कारण देवता मानकर पूजते हों।

हिन्दी में लोक प्रिय साहित्य

[ले० श्री हीरा लाल जी दुबे, एम० एस-सी०]

यदि हिन्दी भारत की राष्ट्रीय भाषा होने वाली है और इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि केवल हिन्दी ही इसके उपयुक्त है तो फिर इस भाषा को हर एक विषयों में परिपूर्ण होना आवश्यक है। यदि भारत और दूसरे देशों तथा इस नवीन वैज्ञानिक युग व सभ्यता के साथ रहना चाहता हो तो उसे अपने हिन्दी साहित्य की हर प्रकार उन्नति करनी होगी। यदि आपको किसी देश की सभ्यता का अनुमान करना हो तो आप उसके साहित्य को देखिये। यदि साहित्य बढ़ा चढ़ा हो तो वह देश भी बढ़ा चढ़ा है। इसको देखते हुये हिन्दी साहित्य का तो अभी जन्म ही हुआ है और हिन्दी वैज्ञानिक साहित्य का तो कुछ पूछना ही नहीं है। इसमें दोष हमारा नहीं है क्योंकि विज्ञान को इस देश में प्रवेश किये हुये थोड़े ही दिन हुये हैं और अभी तक तो कई वैज्ञानिक विषयों में हमें शिक्षा ही नहीं दी जाती और यदि दी भी जाती है तो केवल कुछ ही स्थानों में। इस वैज्ञानिक शिक्षा के अभाव से हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य होना तो दुर्लभ था और दूसरे हमारे विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अंगरेज़ी भाषा है। इस कारण जो सज्जन कुछ विज्ञान जानते भी हैं वे अपने विचार मातृभाषामें प्रगट भी नहीं कर सकते और लोगों ने इस ओर कुछ ध्यान भी नहीं दिया है। परन्तु आजकल इस ओर काफ़ी ध्यान दिया जा रहा है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में इस ओर अच्छा काम हो रहा है। वे इन्टरमीडिएट की वैज्ञानिक विषयों की पुस्तकों को हिन्दी में अनुवाद कर रहे हैं। इसी प्रकार उसमानिया यूनिवर्सिटी (हैदराबाद स्टेट) में भी उर्दू में वैज्ञानिक पुस्तकें लिखी जा रही हैं। परन्तु ये पुस्तकें केवल शालाओं के ही लिये उपयुक्त होंगी। उनसे साधारण जनता को कोई लाभ नहीं पहुँच सकता।

इस लेख में तो लोक प्रिय वैज्ञानिक साहित्य का उल्लेख करना है। अभी तक केवल कुछ ही सज्जनों ने इस ओर ध्यान दिया है और वे सफलीभूत नहीं हुए। केवल हिन्दी ही में नहीं परन्तु बंगाली, मराठी, उर्दू आदि भाषाओं में भी प्रयत्न हुए हैं। हिन्दी में केवल मुझे एक ही पत्रिका मालूम है जो कि इस ओर कुछ प्रयत्न कर रही है। परन्तु उसे इस ओर तनिक भी सफलता नहीं हुई। वह वैज्ञानिक विषयों को लोकप्रिय न बना सकी। मेरा मतलब इलाहाबाद के 'विज्ञान' से है। यदि आप चार पांच साल के 'विज्ञान' को लेकर देखें तो आप को निराश होना पड़ेगा। उसमें लोकप्रिय लेख शायद एक ही या दो होंगे। इस असफलता का क्या कारण है? सबसे पहिला कारण जो मुझे विदित हुआ वह यह है कि लोकप्रिय वैज्ञानिक विषयों पर लेख लिखने वालों की कमी है। कमी क्या बिलकुल अभाव ही है। कभी कभी सरस्वती, माधुरी, सुधा आदि में वैज्ञानिक लेख निकलते हैं। वे लेख साधारण जनता के लिये अच्छे होते हैं परन्तु वे लेख उसी समय निकलते हैं जब कि उस विषय पर किसी अंगरेज़ ने लोकप्रिय पुस्तक या लेख लिखा हो और उन्हीं का उलथा हिन्दी में करके इन पत्रिकाओं में छापा जाता है। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि अनुवाद करना बुरा है। पहले तो हमें अनुवाद ही करना पड़ेगा परन्तु हिन्दी में लोकप्रिय वैज्ञानिक साहित्य के लिखने वालों का अभाव है।

सरस्वती आदि में वैज्ञानिक विभाग में जो नोट आदि निकलते हैं वे पाठकों को विज्ञान का असली चमत्कार न दिखला कर केवल उनके मनोरंजनार्थ होते हैं। ऐसे लेख होना या न होना एक सा ही है।

दूसरा कारण यह है कि अंगरेजी वैज्ञानिक शब्दों को हिन्दी में करना—भारतमें आधुनिक विज्ञान के सम्बन्धमें केवल थोड़े से ही पढ़े लिखे हुये सज्जनों को ज्ञान है और विशेष कर उन्हें जिनका कि शालाओं में एक विषय विज्ञान भी रहा है। कई बी०

ए० और एम० ए० ऐसे मिलेंगे जो कि नहीं जानते कि उनके घर में बिजली की रोशनी व पंखा किस प्रकार से काम करते हैं। कालेजों में यह विख्यात कहानी है कि एक महाशय पहिले पहल कालेज में पढ़ने आये उनके कमरे में बिजली का बटन दबा था इसलिये सन्ध्या होते ही उनके कमरे में बिजली की रोशनी हो गई। जब वे रात को सोने लगे तब उन्होंने बिजली की रोशनी को बुझाना चाहा। वे बेचारे फूकने लगे कि दिया बुझ जावे परन्तु दिया काहे को बुझने चला। अन्त में निराश हो कर वे एक दूसरे विद्यार्थी के पास गये और कहने लगे कि अरे भाई यह बिजली तो बुझती ही नहीं। वह लड़का इन महाशय की करतूत समझ गया और उनके कमरे में जाकर बिजली के बटन के पास खड़ा हो गया और उन महाशयसे जोर से फूँकने को कहा—जब वह फूँकने लगे तो उस लड़के ने बटन दबा दिया और बिजली बुझ गई। बस फिर उन महाशय जी को तो पूरा विश्वास हो गया कि बिजली जोर से ही फूँकने से बुझी और इस तरह उनके सहपाठियों ने उन्हें मूर्ख बनाया। इससे आप समझ सकते हैं कि हममें विज्ञान का कितना अभाव है।

एक समय एक लेखक ने 'भोजन' पर लेख लिख कर सम्पादक महोदय को दिया। उन्होंने लेख की बड़ी प्रशंसा की। परन्तु कहने लगे कि भाई यह आक्सीजन और कार्बनडाइ औक्साइड को लोग न समझ सकेंगे तो लेखक ने कहा कि लाइये मैं ओषजन और कर्बन द्विओषिद लिख दूँ तो सम्पादक जी कहने लगे कि यह तो लोग और भी न समझ सकेंगे। अब बतलाइये लेखक क्या लिखें।

हमें सबसे पहले इन दो समस्याओंको हल करना चाहिये। वैज्ञानिक शब्दों के लिए एक राष्टीय संस्था का स्थापन होना आवश्यक है जिससे भारत की सब भाषाओं में क़रीब क़रीब एकही से वैज्ञानिक शब्द हों और यदि सम्भव हो तो अगरेजी वैज्ञानिक शब्दों से भी मिलते जुलते होंवें।

दूसरे—अच्छे २ हिन्दी लेखकों से जिन्हें विज्ञान से प्रेम हो प्रार्थना की जावे कि वे सरल तथा रोचक हिन्दी में लोकप्रिय वैज्ञानिक विषयों पर लेख व छोटी छोटी पुस्तकें लिखें। इन लेखकों को संस्था की ओर से पुरस्कार-स्वरूप कुछ दिया भी जाना चाहिये।

अँग्रेज़ी साहित्यमें कई पुस्तकें लोकप्रिय वैज्ञानिक विषयों पर हैं। मेरी समझ में उनका अनुवाद भारतीय जनता के लिये बहुत ही कठिन होगा क्योंकि पाश्चात्य विज्ञान में बहुत ही आगे बढ़ गया है परन्तु उसी ढङ्ग पर साधारण विज्ञान व गृह सम्बन्धी विज्ञान पर सरल पुस्तकें लिखी जा सकती हैं जो कि हमारे देशके लिये बहुत ही लाभदायक हो सकती हैं। हिन्दी के कुछ लेखकों ने इस ओर कुछ ध्यान दिया है और कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित हुई हैं जैसे—

मनोरंजक रसायन—(गोपाल स्वरूप भार्गव)

सौर-परिवार } —(डाक्टर गोरख प्रसाद)
फोटोग्राफी } —(,, ,,)

वायु पर विजय
समुद्र पर विजय } —(जगपति चतुर्वेदी)
इत्यादि

विज्ञान परिषद के पैम्फ़ल्यट आदि

परन्तु इनकी संख्या नहीं के बराबर हैं।

इस युग में यह विषय बड़े ही महत्व का है। और यदि भारत का उत्थान होना है तो हम विज्ञान को नहीं छोड़ सकते और उसे लोकप्रिय बनाने के लिये हर प्रकार से प्रयत्न करना हमारा कर्त्तव्य है। मेरी समझ में इस महान कार्य का भार एक अनुभवी तथा विद्वान् संस्था को सौंप देना चाहिये और वे सोच विचार कर वैज्ञानिक साहित्य को हिन्दी में लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न करें।

———

यक्ष्मा

फुफ्फुस-यक्ष्मा की चिकित्सा।

[ले० श्री डा० कमला प्रसाद जी०, एम. बी०]

पूर्व कथित सभी चिकित्सायें फुफ्फुस-यक्ष्मामें लागू होती हैं, अर्थात् यक्ष्मा की साधारण चिकित्सा फुफ्फुस-यक्ष्मा-चिकित्सा का एक प्रधान अंश है। फुफ्फुसकी चिकित्साके लिए सैनाक्राइसिनका एक विशेष स्थान है। इसके अतिरिक्त यदि रोगका निदान बहुत आरम्भमें ही हो जाय तो बहुधा पूर्ण विश्राम, स्वास्थ्यकर-जीवन-यापन इत्यादि सरल नियमोंके पालनसे ही इस रोगसे मुक्ति मिल सकती है। तथापि बहुतसे रोगियोंके लिए कुछ अन्य उपायों का भी अवलम्बन करना पड़ता है। इन उपायों का एक मात्र लक्ष्य होता है क्षत फुफ्फुस को यथा-सम्भव निश्चेष्ट कर देना। यद्यपि मनुष्य की जीवितावस्थामें फुफ्फुस का कार्य बन्द नहीं हो सकता तथापि दो फुफ्फुसोंके वर्त्तमान रहने का लाभ उठा कर क्षत फुफ्फुस को कम वा अधिक निश्चेष्ट कर देने की चेष्टा की जाती है इसकी कई रीतियां हैं जो भिन्न अवस्थाओं में काममें आती हैं। इन रीतियों को अर्ध-क्षत-चिकित्सा*में सम्मिलित किया जाता है।

फुफ्फुसावरण गर्त्त में वायु प्रवेश कराना

(Pneumothorax)

ऐतिहासिक। प्रायः एक शताब्दिसे अधिक हुआ जब सन् १८२१ में लिवरपुलके डाक्टर जेम्स कार्सनने इस चिकित्सा का सूत्रपात किया था। किन्तु उस समय इस रीतिसे काम नहीं लिया जा सका तथा बहुत काल तक इसकी चर्चा बन्द रही। पुनरपि सन् १८९०के लगभग इटलीके फौर्लैनिनी तथा अमेरिकाके मर्फीने इसका व्यवहार किया। इस समयसे ही इस चिकित्सा का वास्तविक इतिहास आरम्भ होता है। हालमें सौगमैन (Saugmann) ने जल चाप-मापक (Water manometer) का आविष्कार कर इस रीति को पूर्ण कर दिया, तथा गत २० वर्षोंसे इसका प्रचार भूमंडलके सभी देशोंमें क्रमशः बढ़ता जाता है।

चिकित्साके सिद्धान्त। यह चिकित्सा जिस सिद्धान्त पर आधारीभूत है, वह है रुग्न फुफ्फुस को वायुचाप द्वारा दबा कर निरन्तर निश्चेष्ट कर देना। अन्तर-फुफ्फुसावरण गर्त्तमें इतनी वायु वा गैस प्रवेश करा दिया जाता है कि इस गर्त्त का चाप*प्रायः वायुमण्डलके चापके बराबर हो जाता है, जिससे फुफ्फुस दब कर सिकुड़ जाता है तथा निश्चेष्ट हो जाता है। फुफ्फुस तंतुओंके सिकुड़नेसे यक्ष्मा केन्द्रोंके विष-युक्त पदार्थ (बलगम, विगलित तंतु, कीटाणु इत्यादि) फुफ्फुसके बाहर निकल जाते हैं, तथा पुनरपि उन स्थानोंमें इनका इकट्ठा होना बन्द हो जाता है, जिससे सौत्रिक तंतुओंके प्रादुर्भाव एवं अन्य क्षति-पूर्त्ति-जनक निर्माण-कारी क्रियायोंमें सहायता मिलती है।

इस चिकित्साके लाभ

(१) यदि उचित रीतियों का अवलम्बन किया जाय तो यह चिकित्सा प्रायः भयसे रहित है।

(२) यह दोनों फुफ्फुसोंके कार्यों का सिलसिला ठीक कर देती है—एक वा दूसरा फुफ्फुस आवश्यकता से अधिक भार-ग्रस्त नहीं होने पाता।

(३) रुग्न-फुफ्फुस इतना धीरे २ दबता है कि रोगी का शरीर इस नये परिवर्त्तन को सहन करनेके लिए अपने को क्षम बना लेता है।

(४) वक्षस्थल की बनावटमें कुछ भी अन्तर नहीं होता।

(५) फुफ्फुस की आवश्यकताओंके अनुसार वायु वा गैस की मात्रा कम वा अधिक की जा सकती है।

(६) आवश्यकतानुसार संकुचित फुफ्फुस को पुनरपि स्फालित होने का अवकाश दिया जा सकता है।

*Quassisurgical treatment of Pulmonary Tuberculosis.

*साधारणतः इस गर्त्त का चाप वायुमण्डलके चापसे बहुत कम रहता है।

(७) यक्ष्मा केन्द्रों पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। रुग्न फुपफुस संकुचित होकर निश्चेष्ट तंतुओं का एक थोक सा बन जाता है; जिससे उसकी वायुनलिकायें तथा गर्त्त चिपटे हो जाते हैं, और उनमें सौत्रिक तंतुओं की उत्पत्ति एवं विस्तार में सहायता मिलती है। फलतः रोग का विस्तार रुक जाता है, नयी गांठें नहीं प्रस्तुत होतीं, अधःक्षेपित पदार्थ सूख जाते हैं और गर्त्त की दीवारें आपस में जुट जाती हैं। इनके अतिरिक्त लसीका धारा अवरुद्ध हो जाती हैं जिससे शरीर में अधिक कीटाणु-विषका संचार नहीं होने पाता।

(८) सारे शरीर पर भी अच्छा प्रभाव पड़ता है। फुफ्फुस के निश्चेष्ट हो जाने के कारण रक्त धारा में कीटाणु-विष का संचार कम होजाता है, जिस से शरीरकी अवरोधिनी शक्तियों के बढ़ने का अवकाश मिलता है। खांसी कम हो जाती है, बलगम भी बहुत कम निकलता है तथा इसमें यक्ष्माकीटाणु नहीं पाये जाते। रोग की साधारण अवस्था सुधर जाती है।

यह चिकित्सा किन रोगियों के लिए उपयुक्त है ?

(१) ऐसे रोगी जिनका केवल एक ही फुफ्फुस क्षत-ग्रस्त हो इस चिकित्सा के उपयुक्त पात्र हैं। किन्तु रोग जब बढ़ है जाता (बहुधा जिस अवस्था में इसका निदान होता है) ऐसे रोगी कदाचित ही मिलते हैं, जिनका केवल एक ही फुफ्फुस आक्रान्त रह जाता हो। अस्तु।

(२) यह उन रोगियों के लिए भी उपयुक्त है, जिनका एक फुफ्फुस बहुत क्षत ग्रस्त हो, तथा दूसरे में रोग बहुत सीमित हो, अर्थात् ऐसी अवस्था में जब कि अधिक रुग्न फुफ्फुस के निश्चेष्ट कर दिये जाने पर अल्प-रोग-युक्त फुफ्फुस दोनों फुफ्फुसों का काम सरलता पूर्वक कर सके।

(३) यदि दोनों फुफ्फुस एक से ही क्षत-ग्रस्त हों तो दोनों ओर के गर्त्तों में कुछ २ वायु प्रवेश कराने की सम्भावना पर विचार किया जा सकता है।

(४) रक्तक्षरण।

(क) यदि रक्तक्षरण अधिक मात्रा में तथा निरन्तर होता हो, अथच जिस से रोगी का जीवित रहना संदिग्ध हो जाय, तो यह चिकित्सा बड़े काम की होगी।

(ख) यदि रक्त-क्षरण समय २ पर होता हो, तथा रोगी अन्यतः सभी प्रकार साधारण जीवन-यापन करने में समर्थ हो तो इस रीति से रक्तक्षरण बन्द हो जा सकता है।

(५) जिन रोगियों के अन्तर फुफ्फुसावरण-गर्त्त में स्वतः वायु प्रवेश कर जाती है (फुफ्फुस के यक्ष्मा केन्द्रों के विस्तार एवं किसी क्षीण स्थान में फुफ्फुस तंतुओं के फूट जाने के कारण) और यदि कीटाणु मिश्रित द्रव अन्तर फुफ्फुसावरण गर्त्त में नहीं प्रवेश कर सका हो, तथा यह अवस्था एक ही ओर सीमित हो तो इस रीति से काम लिया जा सकता है।

(६) फुफ्फुसावरण-प्रदाह (pleurisy) में इस रीति से यथेष्ट लाभ उठाया जा सकता है। इस झिल्ली के दोनों तल संयुक्त होने से बच जाते हैं।

यह चिकित्सा किन के लिए अनुपयुक्त है ?

(१) फुफ्फुस के सौत्रिक यक्ष्मा के रोगियों के लिए।

(२) जिनके फुफ्फुसावरण के दोनों तलों में बहुत से सौत्रिक तंतु इकट्ठे हो गये हों, अथच दोनों तल स्थान २ में संयुक्त हो गये हों।

(३) यक्ष्मा के अतिरिक्त अन्य फुफ्फुस-रोग के रोगियों के लिए।

(४) हृदय एवं वृक्क के रोगियों के लिए।

(५) मधुमेह के रोगियों के लिए।

(६) उपदंश वा मूत्र-कृच्छ्र के रोगियों के लिए।

चिकित्सा के यंत्र।

वायु प्रवेश कराने के लिए निम्न लिखित वस्तुओं की आवश्यकता होती है:—

(१) एक वायुधारक, जिस में प्रवेश कराये जाने के लिए वायु, वा ओषजन वा नोषजन भरा रहता है।

(२) कोई ऐसा प्रबन्ध जिस से धारक का गैस जल वा कीटाणु-नाशक घोल (antiseptic solu-

tion) द्वारा स्थानान्तरित किया जा सके।

(३) गैस धारकसे अन्तर फुफ्फुसावरण गर्त्त में गैस प्रवेश कराने का प्रबन्ध।

(४) नम्बर ३ से सम्मिलित एक वायु-चाप-मापक।

(५) एक ऐसी वस्तु जो वायु-चाप-मापक का सम्बन्ध गत्त को छोड़ कर अन्य सभी भागों से पृथक् कर सके, जिस से अन्तर-फुफ्फुसावरण गर्त्त का चाप किसी समय सुविधापूर्वक जाना जा सके।

इन कतिपय उपायों के अवलम्बन के लिए बहुत से दुरूह यंत्रों का आविष्कार किया गया है, किन्तु जिन साधारण यन्त्रों द्वारा ये कार्य सम्पन्न हो सकते है वे निम्न लिखित हैं।

प्रथम बार वायु प्रवेश कराने के लिए जिन यंत्रों की आवश्यकता होती है वे दूसरी तथा अन्य बार में काम आने वाले यंत्रों से कुछ भिन्न हैं।

पहले प्रकारके निम्नलिखित यंत्र व्यवहृत होते हैं—
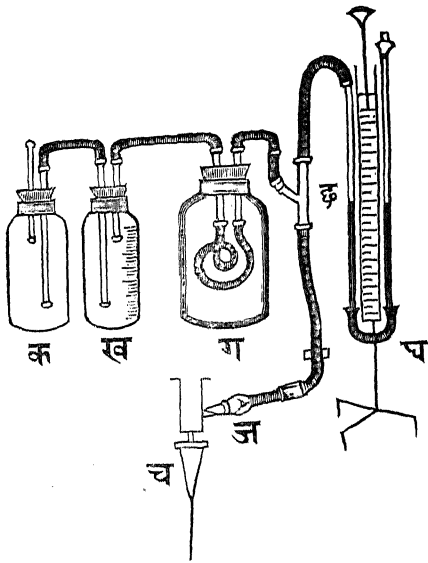
(चित्र १)

(क) चौड़े मुख का एक बोतल, जिसका मुख काग द्वारा बन्द रहता है। इस काग को छेद कर कांच की दो नलिकायें बोतल में प्रवेश करती हैं। काग के छेद नलिकाओं की परिधि के माप के होते हैं। जिस से इन के अतिरिक्त वायु तक (इन छेदों द्वारा) बोतल में प्रवेश नहीं कर सकती।

बोतल का आधा भाग जल वा कीटाणुनाशक घोल से भरा रहता है। तथा आधा भाग रिक्त वा वायु पूर्ण रहता है।

(ख) एक दूसरा बोतल जो सब प्रकार पहले का सा रहता है। दोनों में अन्तर केवल इतना ही रहता है कि इस बोतल में मापकचिह्न बनाये रहते हैं। प्रत्येक बोतल आयत में १,००० घन शतांशमीटर से कम नहीं रहता। दूसरे बोतल में भी कांच की दो नलिकायें प्रवेश करती हैं। पहले और दूसरे बोतल की एक २ नली, रबर की एक नली द्वारा आपस में जुड़ी रहती है, जिससे एक का जल आसानी से दूसरे में प्रवेश कर सकता है। दूसरे बोतल की दूसरी नली एक तीसरे बोतल (ग) की एक नली से उसी प्रकार जुड़ी रहती है।

(ग) यह पहले दो के समान एक तीसरा बोतल है। इस में भी कांच की दो नलिकायें प्रवेश करती हैं। किन्तु इन के वे छोर जो बोतल के अन्दर रहते है, आपस में रबर की एक लम्बीनली द्वारा जुड़े रहते हैं (प्रथम दो बोतलो में ये छोर खुले रहते हैं।) इस बोतल में कुछ गर्म जल रहता है और इस पर कपड़े का एक गद्दा इस लिए मढ़ा रहता है कि इसका जल बहुत शीघ्र ठंढा न हो जाय।

(घ) वायु-चाप-मापक। इसके बीच में लकड़ी का एक स्केल (मापक) रहता है, जिस पर शतांशमीटरके अंक (०से ४० तक) बने रहते हैं, और इसके दोनों ओर कांच की एक ही परिधि (Calibre) की दो नलिकायें रहती हैं, जिनके निम्न भाग रबर की नली द्वारा आपसमें जुड़े रहते हैं। इन नलिकाओंके आधे भागमें रंगीन जल भरा रहता है।

(च) सुई (चित्र नम्बर ३ का वर्णन देखिये)

(छ) बोतल ग, वायु-चाप-मापक (घ) तथा सुई च को रबर की नलियों द्वारा जोड़ने वाली, धातु की बनी हुई तीन मुख की (T-shaped or-

Yshaped) एक नली है जिसके एक छोर पर एक पेंच लगा हुआ है। इसको पेंच घुमा कर इस त्रिमुख नली का छेद बन्द कर दिया जा सकता है, तथा खोला जा सकता है जिससे चापमापक एवं सुईसे वायुधारक बोतलों का सम्बन्ध छिन्न व स्थापित किया जा सकता है।

यन्त्रोंके कार्य। यदि बोतल (क) को (ख) से कुछ ऊँचा उठाया जाय तो इसका जल (ख) में प्रवेश करेगा और उसमें स्थित वायु को आगे की ओर संचालित करेगा। यह निस्सारित वायु (ग) बोतलसे होती हुई (जिसमें यह कुछ गर्म हो जायगी) (छ) नली तक पहुँचेगी और तब वायु-चाप-मापकमें इसका वास्तविक चाप लक्षित होगा।❀ इसके साथ वायु सुई की ओर भी जायगी और यदि इसका मुख खुला हो तो इस मार्गसे बाहर निकल जायगी, अथवा यदि सुई का खुला मुख इस समय फुफ्फुसावरण गर्त्तमें हो तो वायु उसी गह्वरमें प्रवेश करेगी। कितनी वायु प्रवेश करती है, यह बोतलके माप चिह्नोंसे (उसमें-बोतल ख में-आये हुए जलके परिमाण से) जाना जायगा, तथा फुफ्फुसावरण गर्त्त का चाप-माप क्या है यह चाप मापक द्वारा जाना जायगा।

दूसरी तथा अन्य बारमें काम आने वाले यन्त्र।

ये भी प्रायः पूर्व कथित यन्त्रोंके से हैं, अन्तर इतना ही है कि बोतल (क) और (ख) केस्थान पर इनमें चाप मापकके दोनों पार्श्वों पर स्थित कांचके दो धारक (चित्र २—क और ख) रहते हैं। एक रिक्त वा वायु पूर्ण रहता है, दूसरे धारक में जल वा कीटाणुनाशक घोल भरा रहता है। दूसरे धारक पर माप चिह्न बने रहते हैं, इन दोनोंके निम्न भाग रबर की नली द्वारा जुड़े रहते हैं। जल पूर्ण धारक (ख) के ऊपरी मुख पर रबर की एक छोटी नली लगी रहती है जो क्लिप द्वारा बन्द रहती है। इस क्लिप को खोल देने पर इस धारक का जल दूसरेमें पहुँचता है, तथा उसमें स्थित वायु को आगे की ओर संचालित करता है।

आवश्यकता होने पर एक धारक का जल पम्प द्वारा दूसरे में पहुँचा दिया जाता है।❀
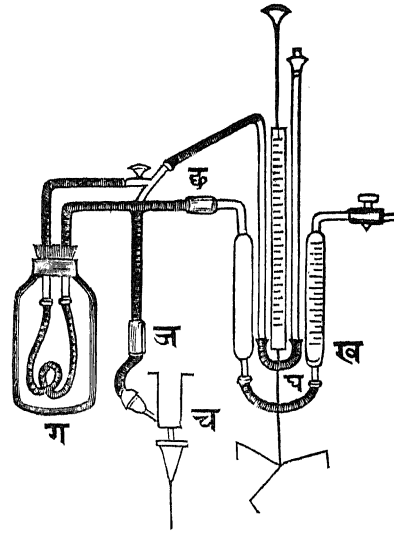
(चित्र २)

सुइयां।

इस्पात की बनी हुई दो प्रकार की सुइयां व्यवहृत होती हैं—एक प्रथम बारके लिए, दूसरी, दूसरी तथा अन्य बारके लिए। प्रत्येकके कई भाग हैं। (चित्र ३

(क) निम्नांश। यह साधारण पिचकारी (Injection syringe) का सुईकी सी खोखली सुई रहती है, जिसकी (केवल सुई की) लम्बाई प्रायः १½ इञ्च होती है। केवल यही अंश शरीरके तंतुओंमें प्रवेश करता है।

(ख) एक टोंटी का सा निकला हुआ भाग है, जिसके खुले हुए छोर पर रबर की नली लगी रहती है, जिसके द्वारा धारकसे वायु आती है। इसका बन्द

❀ वायु व गैस चाप-मापक की एक नली के जल पर चाप डालेगा जिस से उस ओर का जल नीचे की ओर जायगा तथा दूसरी नली में यह कुछ ऊपर चढ़ेगा। चाप मापक की दोनों नलिकाओं के जल-तल की ऊँचाई का अन्तर वास्तविक वायु-चाप

❀इसके लिये एक साधारण क्लोरोफौर्म-पम्पसे काम लिया जा सकता है।

मुख सुईके खोखले अंशमें मिल जाता है। (ख) एक पेंच जिसके घुमानेसे सुई का ऊपर-नीचे जाने वाला छिद्र (खोखला अंश) बन्द होता तथा खुल जाता है।
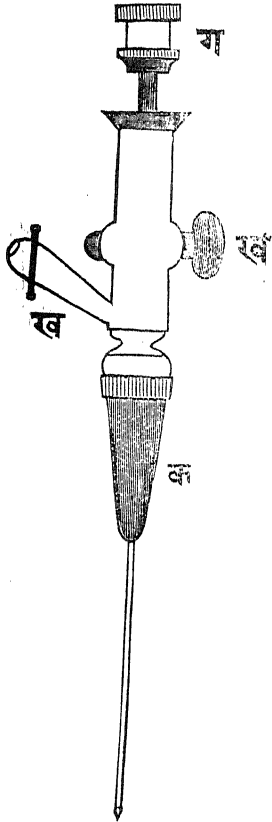
(चित्र ३)

(ग) ऊपरी अंश वा शिर। इसका ऊपर नीचे जाने वाला छेद सुईके छेदसे मिला हुआ। वायु प्रवेश करने पर यदि फुफ्फुसावरण गर्त्त का चाप अधिक जान पड़े तो इस अंश को पृथक् कर देने पर उक्त गर्त्तसे कुछ वायु बाहर निकल जायगी।

(घ) एक लम्बा तार है जो सुईमें (ग) से (क) तक पहिनाया हुआ रहता है। यह सुईके छिद्र की रक्षा करता है।

(क) और (ग), (क) तथा (ग) के बढ़ाये हुये चित्र हैं।

(च) दूसरी तथा अन्य बारमें काम आने वाली सुई केवल नोक पर कुछ परिवर्तित रहती है, अन्यथा दोनों सुइयोंमें और कोई भेद नहीं रहता। दोनों की नोकके चित्र देखनेसे यह स्पष्ट हो जायगा।

सुईमें प्रवेश करनेके पूर्व वायु कांच की एक पतली नली हो कर जाती है। इस नली (ज, चित्र १ और २) में कीटाणुविहीन रुईके गुच्छे भरे रहते हैं, जो छनने का काम करते हैं।

शरीरमें प्रवेश करानेके पूर्व सुई को कीटाणु विहीन कर लिया जाता है। इसके लिए सुई को पिपीलिन को कुछ गोलियोंके साथ एक चौड़े मुखके बोतल में बन्द कर दिया जाता है, और बातल को पानीमें डाल कर पानी कुछ उबाला जाता है। पिघलने पर पिपीलिन वाष्प का रूप धारण करता है, जिसके द्वारा सुई कीटाणुविहीन हो जाती है—अर्थात् उसमें संलग्न कीटाणु नष्ट हो जाते हैं।

वायु प्रवेश कराने की रीति।

रोगीको तैयार करना। यदि खांसी बहुत होती हो, अथवा रोगी अत्यन्त चंचल स्वाभावके हों, तो वायु-प्रवेश करानेके आधे घंटे पूर्व अफीमिन (morphine) ($\frac{1}{6}$ ग्रेन) साधारण सुई द्वारा त्वचाके नीचे प्रवेश करा दिया जाता है। जिस ओर (वक्षस्थलमें) वायु प्रवेश करानी हो उसकी दूसरी ओर रोगीको करवट लिटा दिया जाता है। तथा वक्षस्थल के नीचे एक तकिया रख दिया जाता है। इससे रोगी का वक्षस्थल कुछ धन्वाकार हो जाता है, तथा पर्शुकान्तर स्थान कुछ स्फालित हो जाते हैं। एक स्थान चुन लिया जाता है जो बहुधा छठे पर्शु कान्तरस्थान की कक्षीया मध्य रेखा (mid-axillary line of the Sixth Intercostal space) में होता है। इस स्थान में भली भाँति नैलिन् का टिन्चर लगा दिया जाता है। चेतना शून्य करनेके लिये वायु प्रवेश करानेके पूर्व १°/₀ नवोषेन (१वा २ घन शतांश) मीटर स्थान की सभी मांस पेशियों इत्यादि में (फुफ्फुसावरण तक—अर्थात् जिस मार्गसे वायु

प्रवेश कराने के लिए सुईप्रवेश करायी जायगी) प्रवेश करा दिया जाता है।

अब यन्त्रों को ठीक कर लिया जाता है, जैसा कि चित्र १वा चित्र २ में दिखाया गया है। तथा इस बात की परीक्षा कर ली जाती है कि ये ठीकर काम कर रहे हैं वा नहीं। वायुधारक तथा सुई का सम्बन्ध बन्द कर दिया जाता है (त्रिमुखी नली (छ) के पेंच को घुमा कर), जिससे सुई का सम्बन्ध केवल चाप मापक के साथ रह जाता है। चेतना-शून्य अंशों में सावधानी एवं दृढ़ता पूर्वक सुई प्रवेश करा दी जाती है। (इस समय चिकित्सक का पूरा ध्यान चाप मापक पर रहता है)। जब सुई फुफ्फुसावरण के तल तक पहुँच जाती है तब एक प्रकार की कठोरता का ज्ञान होता है, अथच जब इसको छेद कर फुफ्फुसावरण गर्त में पहुँच जाती है तब चाप मापक में प्रायः १० से २० घन शतांशमीटर ऋणात्मक चाप लक्षित होता है, जो श्वास के साथ साथ ४ से ६ घ० श० मीटर तक बढ़ता घटता है, तथा यह चढ़ाव उतार गहरे श्वास अथवा खांसी के समय और भी स्पष्ट हो जाता है। जब इस प्रकार के अचूक चिह्न लक्षित हो जायँ तभी आगे बढ़ना उचित है। वायुधारक एवं सुई के बीच का जो सम्बन्ध पेंच को घुमाकर बन्द कर दिया गया था, उसे खोल दिया जाता है, तथा चित्र १ में बोतल (क) को धीरे धीरे ऊपर उठाकर और चित्र २ में जल-धारक (क) का ऊपरी मुख खोलकर धीरे धीरे फुफ्फुसावरण गर्त्त में वायु प्रवेश करने दी जाती है। प्रथम बार प्रायः ३०० से ४०० घ० श० मीटर तक वायु प्रवेश करायी जाती है। पुनरपि वायुधारक का सम्बन्ध बन्द कर दिया जाता है तथा अन्तर फुफ्फुसावरण गर्त्त का वायु-चाप नोट कर लिया जाता है — यह वायु-चाप प्रथम तथा दूसरी बार तक ऋणात्मक ही रहने दिया जाता है।❀ अन्यथा कई प्रकार के उपद्रवों का का भय रहता है। इसके उपरान्त सुई निकाल ली जाती है तथा छिद्र कौलोडियन वा टिंक्चर बानज़ाविन (Tr-benzoin) से बन्द कर दिया जाता है।

इसका कोई विशेष नियम निर्धारित नहीं है। साधारणतः फुफ्फुसावरण आरम्भ में प्रायः ८० से १०० घनशतांश मीटर नोषजन प्रतिदिन सोख लेता है, किन्तु कुछ समय के उपरान्त केवल २५ से ५० तक ही सोख सकता है। अस्तु आरम्भ में यथासम्भव शीघ्र वायु प्रवेश कराने की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु कुछ दिनों के उपरान्त दुहराने का समय बढ़ा दिया जा सकता है। साधारणतः यह क्रिया इस प्रकार दुहरायी जाती है:—

प्रथम बार—पहले दिन
द्वितीय बार—दूसरे दिन
तृतीय बार—चौथे दिन
चतुर्थ बार—सातवें दिन
पंचम बार—ग्यारहवें दिन

अर्थात् प्रत्येक बार इसकी अवधि पूर्वापेक्षा एक दिन अधिक बढ़ा दी जाती है और अन्त में १८ से २० दिनों के अन्तर पर (अथवा जितने दिनों में वायु फुफ्फुसावरण द्वारा शोषित हो जाय) वायु प्रवेश करायी जाती है। दूसरी तथा अन्य बार वायु प्रवेश कराने में कठिनता अधिक नहीं होती किन्तु उतनी ही सावधानियां वर्तना आवश्यक होता है।

गैस वा वायु का परिमाण।

दूसरी वा अन्य वार कितनी वायु प्रवेश करायी जाय यह रोगी की अवस्था पर निर्भर करता है। यदि रोगी को ऐसा जान पड़े कि वह बहुत कस गया है, वा उसकी छाती में अधिक भार पड़ता हो, वा दर्द हो, अथवा नाड़ी विरूप हो जाय, अथवा चेहरे पर नीलापन छा जाय तो वायु प्रवेश कराना बन्द कर देना चाहिये। यदि चाप अधिक हो गया हो तो सुई के शिर (चित्र ३, ग) को सुई से पृथक कर देने पर कुछ वायु वक्षस्थल से बाहर निकल जायगी। दूसरी तथा अन्य बार में प्रायः ३०० से १,००० घन शतांश-

❀ प्रायः तीसरी बार वायु प्रवेश कराने पर यह चाप धनात्मक किया जा सकता है। अन्यथा कई प्रकार के उपद्रवों का भय रहता है।

यह चिकित्सा कितकु दिनों पर दुहरायी जाती है।

मीटर तक वायु प्रवेश करायी जा सकती है। किन्तु वायु-चाप केवल क्रमशः बढ़ाया जा सकता है और कुछ दिन बीत जाने पर १० से १५ तक कर दिया जा सकता है।

चिकित्सा कितने दिनों तक की जाती है।

यह भी निर्धारित करना कठिन है। बहुधा एक से दो वर्षों तक इसको जारी रखना आवश्यक है किन्तु कभी २ तो सात आठ वर्ष तक चिकित्सा की जाती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उतने दिनों तक रोगी शय्या-शायित रहें। वास्तव में रोगी अपना साधारण व्यवसाय कर सकता है, (किन्तु उतनी स्वच्छन्दता पूर्वक नहीं जितना कि पूर्ण स्वास्थ्य के समय)।

कुछ खतरे

ये बहुत कम हैं और यदि खूब सावधानी से काम लिया जाय तो इनकी सम्भावना एकदम नहीं रहती। निम्नलिखित उपद्रव सम्भव हैं—

(१) फुफ्फुसावरण—आघात (pleural shock) यह उस समय सम्भव है जब सुई फुफ्फुसावरण को छेद कर भीतर प्रवेश करती है। यदि चिकित्सा आरम्भ करने के पूर्व रोगी की त्वचा के भीतर सुई द्वारा ¼ ग्रेन अफीमिन प्रवेश करा दिया जाय तो इसका भय नहीं रहता।

(२) शिरामें वायु प्रवेश कर जाना (Gas-embolism through veins) यह तभी सम्भव है जब सुई किसी शिरा में प्रवेश कर जाय। इससे बचने का उपाय यह है कि चिकित्सा चाप-मापक पर अपनी पूरी दृष्टि रखें अथवा जब तक इसका पूरा पता न लग जाय कि सुई वास्तव में अन्तर फुफ्फुसावरण गर्त में पहुँच गयी है (जो चाप मापक में कम से कम १० से २० घन शतांशमीटर ऋणात्मक चाप द्वारा जाना जायगा) वायु प्रवेश नहीं करने दें।

(३) फुफ्फुस में छेद हो जाना। इसकी भी सम्भावना चापमापक पर निरन्तर ध्यान रखने से नहीं रहती।

(४) त्वचा इत्यादि के भीतर वायु प्रवेश कर जाना (Surgical emphysema) सुई निकाल लेने के पूर्व इसकी चारों ओर के तंतुओं को मल देनेसे इसका भय नहीं रह जाता।

(५) सुई प्रवेश कराते समय अन्य कीटाणुओं का प्रवेश कर जाना। इस अवस्था का पूर्ण उत्तर दायित्व चिकित्सक पर रहता है, और यदि रोगी का इस प्रकार अनिष्ट हो तो इसका महापातक चिकित्सक को ही होगा। नैलिन् (के टिंक्चर) के स्वच्छन्द व्यवहार से तथा क्षत-चिकित्सा सम्बन्धी साधारण नियमों के पालन से इसका भय एक दम नहीं रह जाता।

चिकित्सा की उपयोगिता का ख्याल करते हुए ये भय कुछ भी नहीं रह जाते और यदि चिकित्सक सावधान हों तो ये उपस्थित भी नहीं होते।

इस चिकित्सा के फल

चिकित्सा यदि सफल हुई तो इसके निम्नलिखित प्रभाव शीघ्र ही लक्षित होते हैं:—

(क) ज्वर। ताप क्रम एक वा दो बार वायु प्रवेश करने के उपरान्त कम होने लगता है अथच ३।४ सप्ताहों में बहुत कुछ कम जाता है। (यद्यपि जिस दिन वायु प्रवेश करायी जाती है, उस दिन तथा उसके एक दो दिन उपरान्त तक कभी कभी ताप-क्रम कुछ बढ़ भी जाता है क्योंकि वायु चाप द्वारा फुफ्फुस्थयक्ष्मा-कीटाणु-विष कुछ अंशों में निस्सारित होकर साधारण रुधिर प्रवाह में प्रवेश कर जाते हैं।

(ख) बलगम। प्रथमतः तो इसका परिणाम बढ़ जाता है किन्तु शीघ्र ही यह घटने लगता है तथा ३।४ महीनों में प्रायः एक दम ही कम हो जाता है और इसमें यक्ष्मा कीटाणुओं का निकलना भी बन्द हो जाता है। इसका रोगी के शरीर पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है।

(ग) रक्तक्षरण बहुत जल्द बन्द हो जाता है।

(घ) साधारण स्वास्थ्य। अन्य अवस्थाओं की उन्नति के साथ साथ साधारण स्वास्थ्य भी उन्नत होता जाता है। तौल बढ़ जाती है, क्षुधा उत्तेजित हो जाती है।

इस चिकित्सा का सद्यःफल जितना भड़कीला मालूम होता है, आगे चल कर भी इतनी ही उन्नति की आशा नहीं की जा सकती। इसमें सन्देह नहीं कि कष्टप्रद लक्षण हट जाते, साधारण स्वास्थ्य सुधर जाता तथा आयु की सीमा कुछ बढ़ जाती है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह चिकित्सा रोगियों को रोग-रहित व्यक्तियों की अवस्था में पहुँचा देती है।

——

वेद और विज्ञान की समीक्षा ❀

[श्रीयुत रामदास गौड़ एम्० ए०]

(१) परिभाषा

वेद शब्द का प्रयोग लोग अनेक अर्थों में करते आए हैं। साधारण बोलचाल में वेद का अर्थ होता है शास्त्र अथवा विद्या, और पिछले एक हज़ार बरसों से प्रायः ऐसा ही लाक्षणिक अर्थ माना जाता है। "लोकहुँ-बेद सुसाहिब रीती।" "लोक-बेद तें बिमुख भा, अधम को बेनु-समान?" इस तरह के उदाहरणों में लोक और शास्त्र ही अभिप्राय है। महर्षि स्वामी दयानंद सरस्वती के पहले 'वेद' शब्द का शास्त्रीय अर्थ ऐसा ही व्यापक था। चारो संहिताएँ मुख्य समझी जाती थीं। उनके छः अंग और चार उपांग थे। चारों उपवेदों को जोड़कर अठारह विद्याएँ कही जाती थीं। इन सबका नाम था वेद, और चौदहो को चार की व्याख्या मानते थे। स्वामी जी ने केवल चार संहिताओं को ही वेद कहा, और छ अंग के सिवा उपांगों को प्रमाण नहीं माना। आर्य-समाज का आज भी यही मत है। प्रस्तुत समीक्षा में हम वेद शब्द को इसी संकुचित अर्थ में बर्तेंगे। इसी प्रकार विज्ञान शब्द का व्यवहार अपने यहाँ दूसरी तरह पर होता है। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कंध में विज्ञानी उसे कहा है, जो संपूर्ण विश्व को ब्रह्ममय जाने, और ब्रह्ममय अनुभव करे। परंतु विज्ञान शब्द का आजकल का वाच्यार्थ है अनुभव-जन्य ज्ञान। किसी सत्य को बारंबार अनुभव की कसौटी पर परखकर जो धारणा दृढ़ कर ली जाती है, वह विज्ञान का सूत्र बन जाती है। ऐसे ही सूत्रों को एकत्र करके उनका वर्गीकरण करने से अनेक आधुनिक पाश्चात्य विद्याएँ बनी हैं, और बनती चली जा रही हैं। ....

वेद सत्य, ज्ञान और अनंत ब्रह्म का प्रतीक है। उसमें त्रिगुणात्मिका सृष्टिके रहस्य निहित हैं। परा और अपरा विद्याओं का वह आगार है। उसमें शाश्वत विषयों की चर्चा है, जो नित्य और अक्षय्य हैं, जिनमें रत्ती-भर का हेर-फेर नहीं हो सकता। हेर-फेर ही हुआ, तो नित्य और सत्य कैसा? वेदांत के अनुसार ब्रह्म-प्रतिपादक अपौरुषेय वाक्य-समूह का नाम 'वेद' है। किसी विशिष्ट विषय के तत्त्वों या सिद्धांतों का विशेष रूप से प्राप्त किया हुआ ज्ञान, जो किसी ठीक क्रम से एकत्र या संगृहीत हो, या किसी विषय का अनुभव-जन्य पूरा और क्रम-बद्ध ज्ञान, 'विज्ञान' कहलाता है। मनुष्य के द्वारा अनुभूत या संगृहीत होने के कारण विज्ञान में त्रुटियों और कमियों का होना अनिवार्य है। मनुष्य नित्य नए-नए अनुभव करता जाता है। उसके ज्ञान का भंडार बढ़ता ही जाता है। यह निरंतर वर्द्धमान पद्धति विज्ञान को सदा अपूर्ण रखती है, और आए दिन के होनेवाले आविष्कार और अन्वेषण विज्ञान की इमारत पर नए-नए रद्दे रखते जाते हैं। और, देखते-देखते इस इमारत का नक़्शा बदल जाता है। विज्ञान नित्य नहीं है। उसके खोजे हुए नियम चाहे शाश्वत हों, परंतु निष्कर्षों में और उन नियमों के प्रयोगों में तत्त्व-ज्ञान के विस्तार और प्रसार के साथ-साथ ऐसे अंतर पड़ते जा रहे हैं कि विज्ञान में नित्यता का सर्वथा अभाव ही पाया जाता है। ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक, लगभग तीन सौ वर्षों से, न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण का नियम निर्विवाद रूप से प्रकृति में व्यापक माना जाता था। परंतु ऐन्सटैन के सापेक्षवाद ने उस नियम को कहीं का न रक्खा। डाल्टन का

❀ श्री गौड़ जी का यह लेख बहुत विचारणीय है, अतः हमने विज्ञान के पाठकों के लाभार्थ इसे सुधा से उद्धृत करने की चेष्टा की है। स्थानाभाव से पूरा लेख यहां नहीं दिया जा सका है।—सम्पादक

परमाणुवाद सौ बरसों से बहुत ही स्पष्ट रूप से स्थिर हो गया था, परंतु नई शताब्दी के विद्युत्कण-वाद ने डाल्टन के निश्चित परमाणुओं के भी खंड-खंड कर दिखाए, और वस्तु-सत्ता और तड़ित् का अभेद प्रतिपादित किया। ऐंस्टैन के सापेक्षवाद ने अभी हाल में ही देश-काल और वस्तु की कल्पना को ऐसा नया रंग-रूप दिया कि उसके पुराने रूप अत्यंत विद्रूप और विकृत दिखाई पड़ने लगे।

विज्ञान की उत्तरोत्तर वर्द्धमानता और विकास से जहाँ यह प्रमाणित होता है कि वैज्ञानिक सिद्धांत केवल अपेक्षाकृत नित्य हैं, अर्थात् वास्तव में अनित्य हैं, वहाँ यह भी सिद्ध होता है कि बुद्धि, अनुभव और विवेक के सहारे मनुष्य विलक्षण रीति से विकास करता जा रहा है, और प्रकृति के यथार्थरीत्या अनुशीलन में उसके रहस्य के बाद रहस्य खुलते जा रहे हैं। प्रकृति के संपूर्ण और परम ज्ञान तक वह कभी पहुँच सकेगा या नहीं, यह कहना तो असंभव है। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि विज्ञान के अपार सागर के किनारे जैसे न्यूटन कंकड़ बटोर रहा था, वैसे ही आज उसके समकक्ष ऐंस्टैन के हाथ भी शायद समुद्र के किनारे की तुंग तरंगों से निक्षिप्त शंखों, घोंघों और सीपियों के सिवा न तो अधिक अनमोल पदार्थ लगे हैं, और न उसके किनारे के जल तक पहुँचने की नौबत ही आई है। भविष्य में यदि विकास की प्रगति वर्तमान वेग से होती रही, अथवा इसका वेग बहुत बढ़ भी गया, तो अभी तो अपार सागर पड़ा हुआ है, जिसका विस्तार और गांभीर्य, दोनों अपरिमित हैं। सभ्य, शिष्ट और निरंतर उन्नति के शिखर पर वेग से चढ़ती हुई मानव-जाति क्या विकास करते-करते ब्रह्मांड के सप्तावरण का भेद कर सकेगी ? क्या विज्ञान के अगाध पारावार का पूर्ण अव-गाहन कर सकेगी ? हम तो ऐसी पूर्णता की कल्पांत तक आशा नहीं कर सकते। आधुनिक विज्ञान के नोबेल-पुरस्कारभोगी प्रोफ़ेसर साडी अपने एक व्याख्यान में यह अनुमान करते हैं कि ईसाइयों की धर्म-पुस्तक में जो ज्ञान-वृक्ष का फल खा लेने से आदिम मनुष्य का स्वर्ग से पतन बतलाया है, वह वस्तुतः किसी अत्यंत प्राचीन कल्पांतर की सभ्यता के शिखर पर चढ़े हुए मनुष्य के आकस्मिक पतन का रूपक है। यह घटना कभी प्राचीन काल में ऐसे प्रसंग में हुई होगी कि मनुष्य प्रकृति के रहस्यों के उद्घाटन में लगा रहा होगा, वह सभ्यता के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुका होगा, और संयोग-वश किसी अज्ञात, परंतु असीम शक्ति के भ्रमात्मक प्रयोग में किसी एक परमाणु के पूर्ण और तात्कालिक भयंकर विस्फोट हो जाने से सारा जगत् फटकर नष्ट हो गया, और विधाता को दूसरी सृष्टि और नए कल्प की नींव रखनी पड़ी, तथा फिर से ज्ञान-विज्ञान के विकास को कहानी दोहरानी पड़ी। प्रोफ़ेसर साडी का अनुमान है कि वर्तमान जगत् का भी अंत, संभव है, किसी आगामी भविष्य में ऐसी ही किसी वैप्लविक दुर्घटना से हो जाय, और विधाता को फिर से जड़ और चेतन जगत् के एवं बुद्धि के विकास का सूत्रपात करना पड़े।

सृष्टि की कहानी के बारंबार दोहराने की क्रिया का कोई-कोई विज्ञानी इस तरह अनुमान-मात्र करता है; क्योंकि सृष्टि के आरंभ से लेकर अंत तक का लिखित इतिहास न तो विज्ञानी को मिल सकता है, और न उसे पुराणों की कथा मान्य है। इस अनुमान का भी विज्ञान के कट्टर संप्रदाय में विशेष सम्मान नहीं है। ... ...

विज्ञान कभी पूर्ण नहीं हो सकता। उसकी परि-वर्तन शीलता ही उसकी विशेषता है। वेद सर्वथा पूर्ण समझा जाता है। उसकी नित्यता ही विशेषता है। परंतु यह कहा जाता है कि प्रत्येक कल्प में, संसार की आवश्यकताके अनुसार, वेदों का एक थोड़ा-सा अंश ही मानव-जाति को मिलता है। जो चारों वेद हमें उपलब्ध हैं, संपूर्ण नहीं। एक छोटा-अंश मात्र है। उस अंश की भी भाषा की दुरूहता इतनी अधिक है कि उतने का भी अर्थ समझना अत्यंत कठिन है। यह कठिनता कुछ आज की नहीं है। वेदों की ही व्याख्याके लिये ब्राह्मण, उपनिषद्, उपवेदादि

आदि कालमें ही बन चुके थे। अंगों और उपांगों की रचना भी उतनी ही पुरानी है। उपांगोंमें से पुराणोंके संबंधमें आधुनिक विद्वानों का विचार है कि इनकी रचना पिछले दो हज़ार बरसोंके भीतर-ही-भीतर की है। हाँ, परन्तु जिन पुराणों की चर्चा छांदोग्यब्राह्मणादिमें है, वे तो ब्राह्मणों से भी पुराने हैं, और प्रचलित पुराणोंके संबंधमें तो ऐसा जान पड़ता है कि ये भी अत्यंत प्राचीन अन्य पुराणोंके ही आधार पर बने हैं। फिर वेदोंके पद-पाठ, शब्दोंके निर्वचन आदि जो पाठ और अर्थ-संबन्धी सुभीते हैं, वे भी किसी प्राचीन कालमें दुर्बोधता को कम करनेके लिये ही निर्मित हुए हैं। निदान, जितने कुछ वेदांश हमें उपलब्ध हैं, वे भी आदिसे ही अत्यंत दुर्बोध चले आए हैं। उनकी दुर्बोधता हाल की नहीं है।..............

(२) दोनों की एकता दिखाने की चेष्टा।

वेद और विज्ञान, दोनों ही दुर्बोध हैं। जैसे बिना विधिवत् अंगों और उपांगों का पूर्ण परिशीलन किए कोई न तो वेदवित् हो सकता है, और न होने का दावा कर सकता है, उसी तरह विज्ञानके परिशीलनके लिये भी अनेक शास्त्रों का वर्षों अध्ययन कर लेना आवश्यक होता है। और, कोई बिना उसके सांगोपांग अध्ययन के विज्ञानी नहीं कहला सकता। साधारणतया जैसे किसी एक-दो अंग या संहिता का पूर्ण परिशीलन होना ही अत्यंत कठिन समझा जाता है, बल्कि चारों संहिताओं का एक ही व्यक्ति पूर्ण ज्ञाता कहीं मिलता ही नहीं, उसी तरह विज्ञानके किसी एक अंग या शास्त्र का पूर्ण परिशीलन ही अत्यन्त कठिन विषय समझा जाता है, और समस्त विज्ञानों का एक ही व्यक्ति पूर्ण ज्ञाता कहीं मिल नहीं सकता। मनुष्य का एक जीवन ऐसे ज्ञातृत्वके लिये पर्याप्त नहीं है। जैसे वेदवित् भी बिना उपयुक्त आचरणके, बिना आवश्यक तपस्याके वास्तविक वेदज्ञ नहीं कहला सकता, उसी तरह केवल पुस्तकें पढ़ लेनेसे, स्वानुभवजन्य ज्ञानके बिना, कोई मनुष्य विज्ञानी भी नहीं कहला सकता। जैसे सांगोपांग ऋग्वेद पढ़ा हुआ ही ऋग्वेदी विद्वान् कहला सकता है, उसी तरह व्यावहारिक शिक्षागृहीत रसायन विज्ञान का अनुशीलन करनेवाला ही रासायनिक या केमिस्ट कहलाने का अधिकारी हो सकता है। जब वेद और विज्ञान, दोनों ही ऐसे कठिन विषय हैं कि प्रत्येक का अलग-अलग पूर्ण ज्ञाता दुर्लभ है, तो ऐसा सर्वज्ञ विद्वान् कहाँ मिलेगा, जो वेदवित् भी पूरा हो, और विज्ञानी भी पूर्ण हो? संसारमें वर्तमान मंगलमय वैज्ञानिक युगमें तो ऐसा मनुष्य कोई नहीं है, और विज्ञान की उत्तरोत्तर वर्धमानता और वेदों के प्रकृत अनुशीलन की कठिनाइयाँ भविष्यमें भी ऐसे पुरुषोत्तम की सत्ता की कल्पना करने देने में बाधक हैं। फिर जब तक वेद और विज्ञान, दोनो का पारंगत वेत्ता न हो, तब तक दोनों विषयों की समीक्षा तो कर ही नहीं सकता। पल्लवग्राहित्व यहाँ काम नहीं दे सकता। जहाँ समीक्षा का काम इतना कठिन है, वहाँ एक में दूसरे का साधिकार और साधारण प्रमाण देना कितना भयानक है।

परन्तु इधर कुछ कालसे इस तरह की समीक्षा और विज्ञानके तथ्यों का प्रमाण देना अथवा विज्ञान के ही आधार पर वेद-मंत्रों की व्याख्या का प्रयत्न करना आवश्यक समझा जाने लगा है। जैसे योरपीय देशोंमें वहाँके पौराणिक वर्णनों और कथानकों को तर्क की कसौटी पर कसा गया, और मिथ्या कल्पना ठहराया गया, उसी तरह हमारे देशमें भी योरपीय विद्वानोंने पुराणों का एक विशेष दृष्टिसे अनुशीलन करके उन्हें मिथ्यावाद ठहराया। इनमें जो पादरी थे, उनका तो उद्देश्य ही था कि भारतीय धार्मिक साहित्य को मिथ्या ठहराकर ईसाई मत का प्रचार करें। वे बात-बातमें पौराणिक कथाओं की अस्वाभाविकता को लेकर हिन्दूधर्म पर प्रहार करने लगे, और अपने तर्कों की पुष्टिमें अपने कालके विज्ञान का प्रमाण देने लगे। विज्ञान व्यवहार की कसौटी पर कसा जा सकता है, और उसकी दलीलें अखंडनीय होती हैं। हिंदुओं को इस नए प्रकारके प्रहार का जब

सामना करना पड़ा, तब वे निरुपाय-से हो गए। उच्च कोटि का दार्शनिक वाद जनताके सामने कोई मूल्य नहीं रखता। साधारण श्रोताओंके निकट पादरियों का तर्क इस तरह अपना प्रभाव जमाने लगा। अँगरेजी पद्धति की शिक्षाने इससे भी अधिक प्रभाव डाला। एक ओरसे तो अपने धर्म की अनभिज्ञता थी, और दूसरी ओरसे उसका विकृत रूप दिखाकर, विज्ञान की दुहाई देकर निंदा की जाती थी। पढ़ा-लिखा आदमी भी ऐसे प्रहार को सह नहीं सकता था। हिंदू-धर्म का त्याग करनेके लिये और कई कारणोंके सिवा यह मुख्य कारण हो गया। ऐसी ही परिस्थिति का सामना स्वामी दयानंद सरस्वती को करना पड़ा। स्वामीजी अँगरेजी शिक्षाके अवगुण खूब जानते थे; परन्तु स्वयं उससे विरहित थे। तो भी उन्होंने प्रधान दुर्बलताओंसे बचनेके लिये वेदों की संहिताओं को छोड़कर समस्त हिंदू धार्मिक साहित्य को अप्रामाणिक ठहराया, और संहिताओं की व्याख्या बिलकुल नए सिरेसे की, और ऐसे ढंग पर की कि अहिंदू संप्रदायोंके प्रहार भी न हो सकें, एवं जनता के हृदयमें उसके पक्ष की दलीलें दृढ़ रूपसे बैठ जायँ। स्वामीजी की व्याख्यानने तथा आर्य-समाजने इस विधिसे लाखों भारतीयों को हिंदुत्व छोड़नेसे बचा लिया। यह नई व्याख्या यत्र-तत्र विज्ञानके प्रमाणोंसे 'भूषित' है; और विज्ञान का हवाला ऐसे स्थलों पर भूषणसे अधिक महत्व भी नहीं रखता। स्वामीजी की व्याख्या की सत्यता की बहुत बड़ी सिद्धि इस बातमें होती कि वह अपने समय की विज्ञान की गुत्थियों को सुलझा सकते, अपने वेद-ज्ञान द्वारा, सैकड़ों बरस बाद विदित होनेवाले सत्यों की भविष्यवाणी कर सकते, समसामयिक वैज्ञानिक सिद्धांतों की भूलों को दिखाकर उनका संशोधन करके नए आविष्कारों को प्रोत्साहित करते। परन्तु वह इनमें से एक भी न कर सके, यद्यपि ऐसे वैज्ञानिकों ने, जिन्होंने वेदों का एक अक्षर भी अपने जीवनमें न जाना होगा, इस तरहके सभी काम कर दिखाए। जहाँ-जहाँ वैज्ञानिक तथ्योंके हवाले व्याख्यामें पाए जाते हैं, अत्यन्त ओछे हैं, और पल्लवग्राहित्व ही सिद्ध करते हैं। इन हवालोंसे वेदों की तर्क-युक्तता सिद्ध करना ही उद्देश्य था; परन्तु दुर्भाग्य-वश नित्य सत्य वेदों को अनित्य और विकारी वैज्ञानिक सिद्धांतों के हवाले करना बड़ी भूल है। विज्ञानके सिद्धांत बराबर बदलते रहते हैं। वेदों की व्याख्या कदापि ऐसे विज्ञानके आधार पर न होनी चाहिए। दोनों में कोई समानता नहीं है। वेदोंमें उस लीलामय पुरुषोत्तम का प्रतिपादन है, जिसकी सहज लीला यह समस्त विश्व है। उसी की महती लीलाके अंतर्गत तुच्छातितुच्छ सृष्टि इस मनुष्य की बुद्धि की लीला से उत्पन्न विज्ञान की वेदोंसे क्या तुलना है? रेल, तार, मोटरकार, रेडियो आदि यंत्र स्वाभाविक गतिके पिंडोंके सामने, जो बच्चोंके खिलौनों की हैसियत भी नहीं रखते, यदि हमारे ऋषि न भी जानते रहे हों अथवा इनसे भी अधिक जानते रहे हों; परंतु वेदोंमें उनकी कोई चर्चा न हो, तो इससे प्राचीन हिंदू-संस्कृति की या उसके आचार्य महर्षियों की कोई अप्रतिष्ठा नहीं होती, और साथ ही हमारा यह दावा कि अखिल ज्ञान का मूल वेद है' खंडित नहीं होता। हमारा वेदोंके बारेमें ऐसा दावा करना विश्वास पर अवलंबित है, इसमें किसी को इनकार नहीं हो सकता। परन्तु ऐसी व्याख्या का प्रयत्न करना कि हम उसके द्वारा अपने दावे को प्रमाणित कर दें, वेदोंके निष्पक्ष अध्ययन की विधिके विपिरीत है। यह बात बिल्कुल दूसरी है कि हम विज्ञानके सिद्धांतों एवं आविष्कारों का वर्णन करते हों, और प्रसंग पर हम यह भी चर्चा कर दें कि अमुक-अमुक प्रसङ्गमें वेदों या पुराणोंमें भी इस तरहके वर्णन आते हैं, जिनसे वैज्ञानिक अनुमानों का पोषण या समर्थन होता है। इस विधिसे आस्तिकके मनमें वेदों-पुराणोंके प्रति श्रद्धा दृढ़ होती है। परन्तु यदि वेदोंमें तार की खबरों की व्याख्या हुई, और पीछे सिद्ध हुआ कि तार बेकार हैं, उनके बिना भी खबरें आ-जा सकती हैं, तो आस्तिकके मनमें जमी हुई श्रद्धा को ठेस पहुँचती है कि वेदोंमें असमर्थता और अल्प-

ज्ञता का महान् दोष है। यह कहा जा सकता है कि हिंदू-साहित्य द्वारा पुष्ट वैज्ञानिक अनुमान यदि खंडित हो जांय, तो वहाँ भी श्रद्धा को चोट लगेगी। परन्तु जब यह तथ्य हमारी आँखोंके सामने है कि विज्ञान के सिद्धांत अनित्य और परिवर्तनशील हैं, और जो बात आज खण्डित हो गई है, कल किसी दूसरे रूप में मण्डित हो सकती है, तो विज्ञानके साहित्यमें धार्मिक साहित्यके हवालेसे धार्मिक साहित्य का किसी तरह का असम्मान नहीं होता। अतः वैज्ञानिक साहित्य में अन्य साहित्यों का हवाला उन साहित्यों को कोई हानि नहीं पहुँचाता; परन्तु वेदोंमें विज्ञान का हवाला देना वेदों की प्रकृति प्रतिष्ठा को घटाता है। कोई समय था, जब वेदों की व्याख्या उस समय के विज्ञान के अनुकूल करने की इसलिये ज़रूरत थी कि हिंदुओं की रक्षा हो। परन्तु वह काम आर्य-समाज ने यथेष्ट उत्तमता से किया है। वेदों के अनुशीलन और व्याख्या में आर्य-समाज ने चाहे कितनी ही भूलें की हों, परन्तु इस समाज-रक्षा के लिये तो समस्त हिंदू-समाज आर्य-समाज का सदा ऋणी रहेगा। जनता में जहाँ ९३ प्रतिशत निरक्षरता है वेदों का प्रचार तो क्या, साधारण मानवोचित अधिकारों के ज्ञान का ही प्रचार असंभव है। आर्य-समाज ने बड़े स्थूल आस्तिक भावों का कुछ थोड़ा प्रचार करके विधर्मियों से तो बचा ही लिया है। उस परिस्थिति में विज्ञान की अनुकूलता दिखाकर पादरियों का मुँह बंद कर दिया गया। यह उचित ही हुआ। परन्तु वेद-जैसी गहन विद्या का अध्ययन यथोचित रूप से इसलिए नहीं हो पाया कि इस महान् यज्ञ के लिये बड़े भारी राज्याश्रय की आवश्यकता थी, जो न मिली। अनुशीलन भी निरपेक्ष बुद्धि से सांगोपांग होना चाहिए। उसके लिए चरित्रवान् तपस्वियों, ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थियों और संन्यासियों को अपना जीवन दे देना चाहिये। इस भूली हुई विद्या के पढ़ाने वाले किसी आधुनिक सारस्वत महर्षि की खोज करनी चाहिए। पुस्तकें छपवाने और प्रचार की उतावली न करनी चाहिए; क्योंकि जहाँ उँगलियों पर गिनने योग्य दो-चार विद्वान् भी उस कोटि के नहीं हैं वहाँ हज़ारों की संख्या में हिंदी पढ़ने वाली जनता इस महती विद्या की अधिकारिणी कैसे हो सकती है। गीता की पोथी दो आने में ख़रीदना और बात है, उसे रख लेना और नित्य पाठ करना भी सहज है; परंतु गीता का अधिकारी होना कठिन है। गीता के टीकाकारों में महात्मा गांधी लिखते हैं कि उनकी जान में कोई टीकाकार गीताका आचरण करके टीकाकार बना हुआ नहीं देखा गया। वह स्वयं लगभग ४० वर्ष उसके अनुकूल आचरण करने के बाद उसके टीकाकार बनने की हिम्मत कर सके। यह तो गीता का हाल है। इस कलयुग में वेदों की व्याख्या के लिये कितनी तपस्या, कितना शील, कितनी धर्मवत्ता के साथ ही साथ कितनी विद्या चाहिए, इसका अनुमान करना सहज नहीं है। फिर भी हम कहेंगे कि वेदों का सर्वदा लोप संभव नहीं है। अज्ञात संसार में बड़े बड़े तपोनिधि शीलवान् विद्वान् हैं जिनकी बदौलत फिर से ज्ञात संसार में इस विद्या का उद्धार हो सकता है। किसी अध्यवसायी को इस पक्ष में नितांत निराश न होना चाहिए।

साथ ही मेरी यह धारणा है कि नित्य वेदों की व्याख्या अनित्य विज्ञान के आधार पर न करनी चाहिए, और न वेदों को विज्ञानानुकूल दिखाने की कोशिश करनी चाहिए। यह भयानक मार्ग है, कल्याण-मार्ग नहीं है। इस विचार से कि विज्ञान अमुक बातों का खंडन करता है, और वेदों में उनकी चर्चा है, अतः किसी ढंग से विज्ञानानुकूल अर्थ करना चाहिए, शब्दों और अर्थों की खींच-तान करके अनुकूलता लाना मैं बेईमानी समझता हूँ। विज्ञान का इतना भारी विस्तार हो गया है कि जो लोग किसी एक विज्ञान के विद्वान् समझे जाते हैं, वे दूसरे विज्ञानों के अधिकारी, साधारणतया, नहीं समझे जाते। परन्तु सर्वसाधारणके सामने तो वे सर्वज्ञ बन जाते हैं, और अनधिकारचर्चामें भी नहीं चूकते। इसका उदाहरण लीजिए। यजुर्वेद में जगह-जगह असुरों और राक्षसों से याग कर्म में पड़नेवाली

बाधाओं के निवारणार्थ उपाय और मंत्र हैं। ऐसी योनियों की चर्चा है, जिन्हें विज्ञानवाले उन रूपों में नहीं मानते। अथर्ववेद में अभिचारों का वर्णन है। मंत्रों के प्रयोग हैं। परन्तु कोई विज्ञान मंत्रों की शक्ति को नहीं मानता। अभिचारों की किसी जगह कोई चर्चा नहीं*। वेदों में जहाँ-जहाँ ये विषय आए हैं, वहाँ आधुनिक विद्वानों ने खींच-तानकर ऐसा अर्थ किया है, जो असुरादि योनियों और अभिचारों को न माननेवालों का ग्राह्य हो। वैज्ञानिकों ने इन विषयों का अध्ययन नहीं किया है। इस लिये वे इतना ही कह सकते हैं कि हम इन विषयों को नहीं जानते। परन्तु कोई समझदार वैज्ञानिक यह नहीं कह सकता कि विज्ञान ने इस विषय का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया है, इसलिये ये बातें असत्य हैं। अपने अज्ञान को स्वीकार करना विद्वान् को शोभा देता है। अनधिकार चेष्टा-पूर्वक किसी बेजानी बात को असत्य कहने लग जाना ओछी बुद्धिवाले का काम है। 'गंगा' के ही अंकों में मुझे ऐसे लेख भी पढ़ने में आये हैं, जनसे वेदों के इन विज्ञान द्वारा अनधीत विषयों के सम्बन्ध में अश्रद्धा-सूचक वाक्य लिखे गए हैं। इस तरह के वाक्य पल्लवग्राहित्व को छोड़ कर गंभीर विचार के सूचक नहीं हैं। सच्चा वैज्ञानिक बहुत ही विनयी अत्यंत नम्र होता है। विद्वत्ता, विनय और गंभीरता सहगामिनी हैं। विद्वान् जो वाक्य बोलता है, सामर्थ्य-पूर्वक बोलता है। सामर्थ्य-हीन ओछी बुद्धिवाला बकता है। विज्ञानानुकूल बनाने की चेष्टा पक्षपात है, जो यथावत् ज्ञान से बड़ी दूर है। निरपेक्ष, निष्पक्ष, निर्भय भाव से ही वेदों की व्याख्या करनी उचित है।

"पक्षपातविनिर्मुक्तं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।"

—'सुधा से'

*मैंने स्वयं मंत्रों के कुछ वैज्ञानिक प्रयोग किए हैं; परन्तु प्रकाशक के अभाव से प्रयोगमाला अभी अप्रकाशित है।—लेखक

समालोचना ।

New Conceptions in Biochemistry.

(जीव रसायन में कुछ नवीन बिचार) ले० प्रो० नीलरतन धर, प्रयाग विश्व विद्यालय, प्रकाशक-इण्डियन ड्रग हाउस, इलाहाबाद, पृ० सं० १६७ काग़ज़ इत्यादि अत्युत्तम ।

इस छोटी सी पुस्तक में आचार्य्य धर ने शरीर संबंधी भिन्न भिन्न घटनाओं को वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर समझाने की भरपूर चेष्टा की है । पहिले अध्यायमें प्रारम्भिक विचारों का वर्णन संक्षिप्त रूप में किया गया गया है और बाद के दो तीन अध्यायों में मनुष्य के खाद्य पदार्थों के ओषदीकरण पर दूसरे वैज्ञानिकों के विचारों को भली भांति समझाया है ।

प्रयाग विश्वविद्यालय की प्रयोगशालाओं में धर महोदय लगभग पिछले दस वर्षों से जीव रसायन पर प्रयोगिक महत्व पूर्ण रूप में कार्य करते रहे हैं और इस पुस्तक में विशेष कर और सब बातों के साथ इस कार्य तथा इसके महत्व का पूरा वृत्तान्त है । उनके विचारों के अनुसार शरीर घटनाएं विशेष कर रसायनिक प्रक्रियाएं ही कहीजा सकती हैं । मनुष्य जो भोजन करता है उसमें मुख्यतया कर्बोदेत, प्रत्यामिन तथा मज्जा और कुछ अकार्बनिक लवण होते हैं । अभी तक शरीर में इन पदार्थों के पाचन को समझने के लिये डेकिन का उदजन परओषिद् सिद्धान्त ही प्रचलित था परन्तु इस पुस्तक में प्रो० नीलरतन धर ने इस सिद्धान्त के विरुद्ध बहुत सा प्रयोगिक कार्य्य प्रस्तुत किया है । उनका कथन है कि अच्छा स्वास्थ्य रखने के लिए शरीर में खाद्य पदार्थों का धीरे धीरे पाचन होना चाहिये क्योंकि यदि यह पदार्थ शीघ्रता से पच जायें तो सिरकोन सम्बन्धी पदार्थों के उत्पन्न होने की सम्भावना होती है जो स्वास्थ के लिये हानिकारक हैं ।

इन सब बातों के प्रमाण के लिये कर्बोदेत, प्रत्यामिन तथा मज्जा पदार्थों का ओषदीकरण प्रयोगशाला में साधारण तापक्रम पर वायु के साथ किया गया है । ऐसा करनेसे ग्लूकोज़ और नशास्ता इत्यादि पदार्थ आवेशकों (Inductors) की उपस्थितिमें वायुके साथ ओषिद् हो जाते हैं और कोई अम्ल या सिरकोन पदार्थ नहीं बनते । परन्तु यदि यही पदार्थ वायु के बजाय उदजन परओषिद् के साथ प्रयोग किये जायें तो सर्व दशाओं में अम्ल तथा सिरकोन पदार्थ उत्पन्न होते हैं । कर्बोदेत, प्रत्यामिन और मज्जा के मिश्रितों का भी ओषदीकरण किया गया है और यह दर्शाया गया है कि एक दूसरे की विद्यमानता में इनका पाचन धीरे से होता है अथवा कोई एक वस्तु अधिक खाने से पाचन शक्ति अम्लों की उत्पत्ति के कारण बिगड़ जाती है और यही कारण है कि अधिक घी (मज्जा सम्बन्धी) का प्रेम तथा मांस खाने वाले मनुष्य का स्वास्थ भंग हो जाता है । इसलिये प्रत्येक मनुष्य को थोड़ी थोड़ी संख्या में सब पदार्थ खाने चाहियें ।

विटेमिन का खाद्य पदार्थों में क्या महत्त्व है और उनके न होने से क्या क्या बिगाड़ हो जाते हैं, इसका भी वैज्ञानिक दृष्टि से अच्छा उत्तर दिया गया है । जैसे बिटेमिन (द) से रिकेट (हड्डीजीर्ण हो जाना) रोग दूर हो जाता है और विटेमिन (ब) से बेरी बेरी । विशेषकर इन दोनों विटेमिनों का शरीर रसायन में महत्व इनके क्रियोत्तेजक (acclerator) होने पर समझाया गया है । बहुत से नये रोग जैसे प्लाग्रा, मीज़ेलस, एनीमिया इत्यादि "न्यूनता रोगों" में शामिल किये गये हैं । और डाइबिटिज़ (मधुमेह) में इनसुलिनके प्रयोगकी वैज्ञानिक व्याख्या भले रूपमें दी गयी है ।

बहुधा लोहम् तथा क्षारिक सम्बन्धी पदार्थों को लगभग सभी वैद्य, डाक्टर तथा हकीम रोग दूर हो जाने पर रोगी की पुष्टि के लिये देते हैं । लोहे का पाचनशक्ति से कहां तक सम्बन्ध और इससे क्या क्या लाभ होते हैं इसकी व्याख्या लोहेके उत्प्रेरक होने पर दी गई है ।

इस पुस्तक में सब से अधिक महत्व की बात प्रकाश चिकित्सा के सम्बन्ध में है । इस अद्भुत और

अमूल्य चिकित्साका महत्त्व दिखाया गया है क्योंकि धर महोदय तथा उनके शिष्य डा० पलित इत्यादि ने यह बात स्पष्ट दिखला दी है कि सूर्य प्रकाश में कबोंदेत तथा सभी खाद्य पदार्थों का ओषदीकरण कहीं अधिक बढ़ जाता है, अथवा यदि किसी व्यक्ति की पाचन क्रिया बिगड़ गई हो तो यदि वह सूर्य्य की नरम किरणों में बैठे तो कुछ दिनों में उसकी यह न्यूनता पूरी हो जायगी। प्रकाश चिकित्सा आज कल एक स्वयं ही एक काफी बड़ा विज्ञान हो गयी है और इस पर भिन्न भिन्न रोगों में काफी कार्य्य हो रहा है, परन्तु इसका वैज्ञानिक रूप में महत्त्व समझाने का श्रेय आचार्य्य धर तथा उनके सुशिष्यों को ही है। धर महोदय का कथन है कि क्षयरोग, मधुमेह जैसे भयानक रोग भी सूर्य्य प्रकाश का साधारण प्रकाश की सहायता से दूर किये जा सकते हैं। सूर्य्य प्रकाश, विटेमिन तथा आवेशकों का प्रभाव एक ही प्रकार का है।

पिछले दो अध्यायों में वृद्धावस्था तथा मृत्यु पर भी लेखक ने कुछ उत्तम विचार प्रगट किये हैं और रक्त इत्यादि की बहुत सी रसायनिक क्रियाओं का भी वर्णन है।

विशेष कर इस पुस्तक में धर महोदय तथा उनके शिष्यों के ही विचार दिये गये हैं। चाहे इन विचारों से सब लोग सहमत न हों परन्तु हमें पूर्ण विश्वास है कि इस पुस्तक में जो वैज्ञानिक व्याख्या शरीर सम्बन्धी रचनाओं की दी गई हैं वह अवश्य ही अति गूढ तथा मौलिक हैं और उनसे आचार्य्य जी के परिश्रम तथा गूढ विचारों का पता चलता है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिये विशेष कर क्लोरोजेनिकाम्ल और ग्लूटाथायोन के समान अवकारक पदार्थ, तथा इन्सुलिन, हारमोन, विटेमिन, मन्दक्षार, प्रकाश तथा लोह-लवणों की आवश्यकता है।

वास्तव में यह पुस्तक अति उत्तम हैं और यदि सब देशों में नहीं तो कम से कम भारतवर्ष में अपने ढंग की प्रथम ही पुस्तक है। इस विषय की किसी पुस्तक में भी शरीर घटनाओं के वैज्ञानिक आधार पर इतनी अच्छी व्याख्या नहीं दी गई हैं। वैद्यों, डाक्टरों, हकीमों तथा जिनको शरीर रसायन से कुछभी प्रेम है उनके लिये यह पुस्तक अत्यन्त ही उपयोगी और लाभदायक है, और प्रत्येक सज्जन को इससे कुछ न कुछ ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये।

इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने की चेष्टा की जा रही है।

—आत्माराम

विषयानुक्रमणिका

अर्थशास्त्र

आरोग्य शास्त्र

इतिहास और जीवन चरित्र

भौतिक

रसायन शास्त्र

विकासवाद

मिश्रित

———

प्रयागकी विज्ञानपरिषत्का मुखपत्र

Yijnana, the Hindi Organ of the Vernacular Scientific Society, Allahabad.

अवैतनिक सम्पादक

प्रोफ़ेसर ब्रजराज,
एम० ए०, बी० एस-सी०, एल० एल० बी०

श्रीयुत डा० सत्यप्रकाश,
डी० एस-सी०, एफ० आई० सी० एस०

भाग ३६

मेष संवत् १९९०

प्रकाशक

विज्ञान परिषत् प्रयाग ।

वार्षिक मूल्य तीन रुपये

वैज्ञानिक पुस्तकें

१—विज्ञान प्रवेशिका भाग १—ले० प्रो० रामदास गौड़, एम. ए., तथा प्रो० सालिग्राम, एम.एस-सी. ।)
२—मिफताह-उल-फ़नून—(वि० प्र० भाग १ का उर्दू भाषान्तर) अनु० प्रो० सैयद मोहम्मद अली नामी, एम. ए. ... ... ।)
३—ताप—ले० प्रो० प्रेमवल्लभ जोषी, एम. ए. तथा श्री विश्वम्भरनाथ श्रीवास्तव ... ॥=)
४—हरारत—(तापका उर्दू भाषान्तर) अनु० प्रो० मेहदी हुसेन नासिरी, एम. ए. ... ।)
५—विज्ञान प्रवेशिका भाग २—ले० अध्यापक महावीर प्रसाद, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद १)
६—मनोरंजक रसायन—ले० प्रो० गोपालस्वरूप भार्गव एम. एस-सी. । १॥)
७—सूर्य सिद्धान्त विज्ञान भाष्य—ले० श्री० महावीर प्रसाद श्रीवास्तव, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद
  मध्यमाधिकार ... ... ॥=)
  स्पष्टाधिकार ... ... ।॥)
  त्रिप्रश्नाधिकार ... ... १॥)
  चन्द्रग्रहणाधिकारसे ग्रहयुत्यधिकार तक १॥)
  उदयास्ताधिकारसे भूगोलाध्याय तक ॥)
८—पशुपक्षियोंका शृङ्गार रहस्य—ले० अ० सालिग्राम वर्मा, एम.ए., बी. एस-सी. ... -)
९—ज़ीनत वहश व तयर—अनु० प्रो० मेहदी-हुसैन नासिरी, एम. ए. ... ... -)
१०—केला—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली -)
११—सुवर्णकारी—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली ।)
१२—गुरुदेवके साथ यात्रा—ले० अध्या० महावीर प्रसाद, बी. एस-सी., एल. टी., विशारद ।-)
१३—शिक्षितोंका स्वास्थ्य व्यतिक्रम—ले० स्वर्गीय पं० गोपाल नारायण सेन सिंह, बी.ए., एल.टी. ।)
१४—चुम्बक—ले० प्रो० सालिग्राम भार्गव, एम. एस-सी. ... ... ।=)
१५—क्षयरोग—ले० डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा, बी. एस. सी, एम-बी. बी. एस ... -)
१६—दियासलाई और फ़ास्फ़ोरस—ले० प्रो० रामदास गौड़, एम. ए. ... ... -)
१७—कृत्रिम काष्ठ—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली -)
१८—आलू—ले० श्री० गङ्गाशङ्कर पचौली ... ।)
१९—फसल के शत्रु—ले० श्री० शङ्करराव जोषी ।-)
२०—ज्वर निदान और शुश्रूषा—ले० डा० बी० के० मित्र, एल. एम. एस. ... ।)
२१—कपास और भारतवर्ष—ले० पं० तेज शङ्कर कोचक, बी. ए., एस-सी. ... -)
२२—मनुष्यका आहार—ले० श्री० गोपीनाथ गुप्त वैद्य १
२३—वर्षा और वनस्पति—ले० शङ्कर राव जोषी ।)
२४—सुन्दरी मनोरमाकी करुण कथा—अनु० श्री नवनिद्धिराय, एम. ए. ... ... -)॥
२५—वैज्ञानिक परिमाण—ले० डा० निहाल करण सेठी, डी. एस. सी. तथा श्री सत्य-प्रकाश, एम. एस-सी० ... ... १॥)
२६—कार्बनिक रसायन—ले० श्री० सत्य-प्रकाश एम-एस-सी० ... ... २॥)
२७—साधारण रसायन—ले० श्री० सत्यप्रकाश एम० एस-सी० ... ... २॥)
२८—वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द, प्रथम भाग—ले० श्री० सत्यप्रकाश, एम० एस-सी० ... ॥)
२९—बीज ज्यामिति या भुजयुग्म रेखा गणित—ले० श्री० सत्यप्रकाश, एम० एस-सी० ... १।)
३०—सर चन्द्रशेखर वेङ्कट रमन—ले० श्री० युधिष्ठिर भार्गव एम० एस-सी० ... =)
३१—समीकरण मीमांसा प्रथम भाग ... १॥)
३२—समीकरण मीमांसा दूसरा भाग—ले० स्वर्गीय श्री पं० सुधाकर द्विवेदी ... ॥=)
३३—केदार बद्रीयात्रा ... ।)

पता—मंत्री विज्ञान परिषत्, प्रयाग।

मुद्रक—शारदा प्रसाद खरे, हिन्दी-साहित्य प्रेस, प्रयाग।